जगद्गुरु श्री रामानुजाचार्य कृत

श्रीभाष्य

द्वितीय खण्ड

प्रस्तोता
निम्बार्काचार्य श्री ललितकृष्ण गोस्वामी

श्री निम्बार्काचार्य पीठ
१२, महाजनी टोला
प्रयाग

जगद्गुरु श्री रामानुजाचार्य कृत

श्री भाष्य

द्वितीय खण्ड

प्रस्तोता
निम्बार्काचार्य श्री ललितकृष्ण गोस्वामी

श्री निम्बार्काचार्य पीठ
१२, महाजनी टोला
प्रयाग

श्री विष्णुकान्त गोस्वामी
श्री निम्बार्क पीठ
१२, महाजनी टोला, प्रयाग

मूल्य : ...न रुपये मात्र

मुद्रक
ईश्वर शरण आश्रम मुद्रणालय
इलाहाबाद

द्वितीय अध्याय

प्रथम पाद
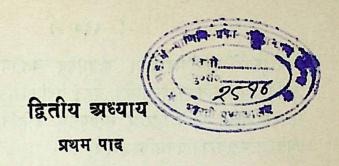
१ स्मृत्यधिकरण :—

स्मृत्यनवकाश दोषप्रसंग इतिचेन्नान्य स्मृत्यनवकाश दोष प्रसंगात् ।२।१।१।

प्रथमे अध्याये प्रत्यक्षादिप्रमाण गोचरादचेतनत्तत्संसृष्टाद् वियुक्ताच्च चेतनादर्थान्तरभूतं निरस्तनिखिलाविद्याद्यपुरुषार्थं गंधमनंतज्ञानानंदैकतानमपरिमितोदारगुणसागरं निखिलजगदेक कारणं सर्वान्तरात्मभूतं परंब्रह्म वेदांतवेद्यमिप्युक्तम्। अनन्तरस्यार्थस्य संभावनीयसमस्तप्रकारदुर्धर्षणत्वप्रतिपादनाय द्वितीयोऽध्यायः आरभ्यते। प्रथमंतावत् कपिलस्मृति विरोधात् वेदांतानामतत्परत्वमाशंक्य तन्निराक्रियते।

प्रथम अध्याय में कहा गया कि-प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सुस्पष्ट, अचेतन से संयुक्त और वियुक्त, चेतन जीव से भिन्न, अविद्या आदि सभी अपुरुषार्थों से रहित, असीम ज्ञान और आनंद से पूर्ण, अपरमित उदार गुणों के सागर, समस्त जगत के एक मात्र कारण, सर्वान्तर्यामी परंब्रह्म ही वेदांत वाक्यों के वेद्य तत्त्व हैं। इसके बाद अब, उक्त संबंध में संभावनीय सभी प्रकार की शंकाओं के निवारण के लिए और तत्त्व के प्रतिपादन के लिए, द्वितीय अध्याय का प्रारंभ करते हैं। सर्व प्रथम, सांख्य स्मृति के साथ विरोध होने से, वेदांत वाक्यों का, अन्यपरत्व है, ऐसी आशंका करते हुए, उसका निवारण करेंगे

कथं स्मृति विरोधाच्छ्रुतेरन्यपरत्वम्? उक्तं हि "विरोधेत्वनपेक्ष्यंस्यात् "इति श्रुतिविरुद्धायाः स्मृतेरनादरणीयत्वम्। सत्यम्

"औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्" इत्यादिषु स्वतएवार्थं निश्चयसंभवात्त-द्विरुद्धा स्मृतिरनादरणीयैव, इहतु वेदांतवेद्यतत्त्वस्य दुःखबोधत्वेन परमर्षिप्रणीत स्मृति विरोधे सत्ययमर्थं इतिनिश्चयायोगात् स्मृत्या श्रुतेरतत्परत्वोपपादनमविरुद्धम् ।

सांख्य स्मृति, विरुद्ध होने से श्रुति वाक्यों का अन्य परत्व कैसे संभव है?कहते हैं कि"श्रुति के साथ, विरोध अर्थ वाली स्मृति अनपेक्षणीय है" इत्यादि में, श्रुति विरुद्ध स्मृति की अनादरणीयता बतलाई गई है वह ठीक ही है । "उदुम्बरी का स्पर्श करके गान करो ।" इत्यादि स्थलों में तो विना विचारे ही, श्रुति का अर्थ निश्चय किया जा सकता है । इसलिए यह स्मृति, श्रुति विरुद्ध और अनादरणीय मानी जावेगी किन्तु वेदांत तत्त्व दुर्बोध हैं,इसलिए कापिल स्मृति के विरुद्ध होते हुए भी उनका यही अर्थ होगा ऐसा निश्चित करना कठिन है, अतः स्मृति से श्रुति का अन्यपरत्व मानना ठीक ही है ।

एतदुक्तं भवति-प्राचीनभागोदितनिखिलाभ्युदयसाधनभूत अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिकर्माणि यथावदभ्युपगच्छता श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु"ऋषिं प्रसूतं कपिलम्"इत्यादिवाक्यैराप्तत्वेन संकीर्त्तितेन परमर्षिणा कपिलेन परमनिः श्रेयसतत्साधनावबोधित्वेनोपनिबद्धस्मृत्युपवृंहणेन विना अल्पश्रुतैर्मंदमतिभिर्वेदांतार्थं निश्चयायो- गाद्यथा श्रुतार्थग्रहणे चाप्त प्रणीतायाः सांख्यस्मृतेः सकलाया एवानवप्रकाशप्रसंगाच्च स्मृतिप्रसिद्ध एवार्थो वेदांतवेद्य इति बलादभ्युपगमनीयमित्ति ।

कहने का तात्पर्य यह है कि-महर्षि कपिल कर्मकाण्ड में उपदिष्ट अभ्युदय के साधन-अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास ज्योतिष्टोम आदि कर्मों की महिमा यथारूप में स्वीकारते हैं, तथा श्रुति-स्मृति -इतिहास -पुराणादि में "ऋषिं प्रसूतं कापिलम्" इत्यादि में उन्हे आप्त ऋषि भी कहा गया है। इसलिए कपिल प्रणीत, परमनिःश्रेयस (मोक्ष) और उसके साधनों के

प्रतिपादक, स्मृति शास्त्र की सहायता के विना, अल्पज्ञ और मंदवुद्धि व्यक्तियों को, वेदांत के वास्तविक अर्थ का ज्ञान असंभव है, ऐसा मानना चाहिए। यथाश्रुत (अविचारित) अर्थ का मान लेने से तो आप्त प्रणीत सांख्य स्मृति की निर्विषयता हो जायेगी जो कि-दोष है, इसलिए सांख्य स्मृति प्रसिद्ध (प्रतिपादित) विषय ही, वेदांत शास्त्र का प्रतिपाद्य है, ऐसा तुम्हें, अनिच्छा होते भी स्वीकारना पड़ेगा।

न च वाच्यं मन्वादिस्मृतीनां ब्रह्मैककारणत्ववादिनामेवं-सति अनवकाशदोष प्रसंग इति, धर्मप्रतिपादनद्वारा प्राचीन भागोप-बृंहणएव सावकाशत्वात्। अस्यास्तु कृत्स्नायास्तत्त्वप्रतिपादनपरत्वा-त्तथाऽनभ्युपगमे निरवकाशत्वमेव स्यात्। तदिमाशंकतेस्मृत्यनवकादोष प्रसंग इति चेत्।

ऐसा मानने से तो, एकमात्र ब्रह्म को ही कारण मानने वाली मनु आदि स्मृतियाँ भी निर्विषय हो जावेंगी, ऐसा नहीं कह सकते, क्यों -कि-मनु आदि स्मृतियों की तो, पूर्वकाण्डोक्त धर्म के प्रतिपादन से ही, चरितार्थता है। यह सांख्य स्मृति तो सारी की सारी, तत्त्व प्रतिपादन में ही तत्पर है, यदि उसके एक अंश को भी अस्वीकार करेंगे तो वह, पूरी ही निर्विषय हो जावेगी यही बात सूत्र में "स्मृत्यनवकाश दोष प्रसंग इतिचेत्" में निहित है, जो कि शंका रूप से प्रस्तुत की गई है।

सिद्धान्त :—तत्रोत्तरं-नान्यैस्मृत्यनवकाशदोष प्रसंगात् इति। अन्या हि मन्वादिस्मृतयो ब्रह्मककारणतां वदंति, यथाह मनुः "आसीदिदं तमोभूतम्" इत्यारभ्य "ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यंजयन्निदम्, महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः "सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः, अपएव ससर्जादौ तासुवीर्यम-पासृजत्" इति। भगवद्गीतासु च "अहंकृत्स्नस्य जगत, प्रभवः प्रलयस्तथां अहं सर्वस्यप्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" इति च। महा-भारते- "कुतः सृष्टिमिदं सर्वं जगत् स्थावरजंगमम्, प्रलये च

कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह !" इति पृष्टश्राह-"नारायणोजगन्मूर्त्ति-रनंतात्मा सनातन." इति । तथा-"यस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणद्विज-सत्तम" इति । "अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मनिष्क्रिये सम्प्रलीयते" इति च । आह च भगवान् पराशरः "विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् ,स्थितिसंयमकर्त्ताऽसौजगतोऽस्य जगच्चसः" इति । आह-चापस्तम्बः "पूः प्राणिनः सर्वएवगुहाशयस्य अहन्यमानस्य विकल्म-षस्य इत्यारभ्य-"तस्मात्कायाः प्रभवंतिसर्वे समूलं शाश्वतिकः सनित्यः" इति । यदिकपिलस्मृत्या वेदांतवाक्यार्थंव्यवस्थास्यात् तदैतासां सर्वासां स्मृतीनामनवकाशत्वरूपो महान् दोष प्रसज्येत् ।

सूत्रकार सिद्धान्त रूप से उक्त शंका के उत्तर में- "नान्यस्मृत्यनव-काश दोषप्रसंगात्" ऐसा वाक्य सूत्रार्थ में प्रस्तुत करते हैं । अन्य मनु आदि स्मृतियाँ,, ब्रह्मैककारणता का ही प्रतिपादन करती हैं–जैसे–कि–मनु में- "यह सब तमोभूत था से प्रारंभ करके- "इसके बाद अव्यक्त (प्राकृत बुद्धि से अगोचर)भगवान स्वयम्भू, महाभूत आदि चौबीस तत्वों में स्वशक्ति संचार करके जगत को क्रमशः अभिव्यक्त करके तमोनुद (प्रलय कालीन अंधकार शक्ति) को विध्वस्त कर प्रकट हो गए उन्होने विविध प्रजा की सृष्टि की और उसमें वीर्य का संचार किया" इत्यादि । भगवद् गीता में भी इसी प्रकार–"मैं ही समस्त जगत की उत्पत्ति और प्रलय का कारण हूँ "मैं ही समस्त जगत का कारण हूँ, मुझसे ही सारा जगत प्रादुर्भूत होता है इत्यादि । महाभारत में भी"हे पितामह! स्थावर जंगममय यह सारा जगत कहाँ से उत्पन्न हुआ है? एवं प्रलय काल में कहाँ रहता है? "ऐसा पूछने पर उत्तर "अनंतमूर्त्ति सनातन नारायण ही जगत रूपी मूर्त्ति हैं "तथा– "हे द्विजसत्तम,उससे त्रिगुणात्मक अव्यक्त(प्रकृति का उद्भव हुआ, वह अव्यक्त, निष्क्रिय और निरवयव नारायण में विलीन हो जाता है । ऐसा ही भगवान पराशर विष्णु पुराण में कहते हैं–"यह जगत विष्णु से उत्पन्न है एवं उन्ही में अवस्थित है, वे ही इस जगत के संयामक है, यह जगत उन्ही का रूप है" इत्यादि, आपस्तम्ब स्मृति में भी जैसे–"ये सारे प्राणी, सर्वान्तर-

यामी, अविनश्वर निष्पाप (विष्णु) के शरीर हैं "सारे शरीर उन्हीं से प्रकट हुए हैं, वह परमात्मा ही मूल और निर्विकार हैं एवं वही नित्य हैं" इत्यादि। यदि कपिल स्मृति के अनुसार वेदांत वाक्यों का निर्णय किया जावेगा तो, उक्त सभी स्मृतियाँ निर्विषय हो जावेंगी, तब तो महान् दोष होगा।

अयमर्थ :—यद्यपि वेदांतवाक्यानामतिक्रान्तप्रत्यक्षादि सकलेतर प्रमाण संभावनाभूमिभूतार्थप्रतिपादनपरत्वात्तदर्थं वैशद्यायाल्पश्रुतानां प्रतिपत्तृणां तदुपवृंहणमपेक्षितम् 'तथापि तदर्थानुसारिणीनामाप्ततम प्रणीतानां वह्वीनां स्मृतीनां तदुपवृंहणाय प्रवृत्तानामनवकाशत्वं मा प्रसांक्षीदिति श्रुतिविरुद्धार्थं कपिलस्मृतिरुपेक्षणीया।

कहने का तात्पर्य यह है कि-यद्यपि समस्त वेदांत, प्रत्क्षादि प्रमाणों से अतीत परमात्मा के प्रतिपादन में तत्पर हैं, तथापि अल्पज्ञों के लिए इसका विशादीकरण आवश्यक है। वेदांत अर्थ का अनुसरण करने वाली आप्ततम (कपिल से भी अधिक मान्य) वेदांत तत्त्व के उपवृंहण में संलग्न स्मृतियाँ निर्विषय न हो जायें, इसलिए भी, वेदांतविरुद्ध कपिल स्मृति उपेक्षणीय है।

उपवृंहणं च श्रुतिप्रतिपन्नार्थं विशदीकरणम्। तच्च विरुद्धार्थया स्मृत्या न शक्यते कर्त्तुम्। न चैतासां स्मृतीनां प्राचीनभागोदितधर्मांश विशदीकरणेन सावकाशत्वम्, परब्रह्मभूतपरमपुरुषाराधनत्वेनधर्मान् विदधतीनामेतासामाराध्यभूतपरमपुरुष प्रतिपादनाभावे सति तदाराधनभूतधर्मं प्रतिपादनासंभवात्।

श्रुति प्रतिपादित अर्थ के विशदीकरण को ही उपवृंहण कहते हैं। वह उपवृंहण, विरुद्धार्थ प्रतिपादिका स्मृति से होना संभव नहीं है। एक मात्र कर्म काण्ड के धर्मांशा के प्रतिपादन से ही, मनुआदि स्मृतियों की सार्थकता हो, ऐसा कहना असंगत है, परब्रह्म परमात्मा की उपासना के उद्देश्य से ही धर्म का प्रतिपादन करने वाली ये स्मृतियाँ हैं, यदि इन स्मृतियों में आराध्य परमपुरुष का प्रतिपादन किया न गया होता तो

आराधनारूपी धर्म के प्रतिपादन का क्या अर्थ होता? अर्थात् बिना परब्रह्म के प्रतिपादन के आराधनारूपी धर्म का प्रतिपादन हो नहीं सकता।

तथाहि परमपुरुषाराधनरूपता सर्वेषां कर्मणां स्मृर्यते—"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येनसर्वमिदंततम्, स्वकर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धि विदंतिमानवः" "ध्यायेन्नारायणंदेवं स्नानादिषु च कर्मसु, ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेह्वावर्त्ततेपुनः "यैः स्वकर्मपरैर्नाथनरैराराधितोभवान् ते तरन्त्यखिलामेतां मायामात्मविमुक्तये। "इति, न च ऐहिकामुष्मिकसांसारिकफलसाधनकर्मप्रतिपादनेनैतासां सावकाशत्वम्, यतस्तेषामपि कर्मणां परमपुरुषाराधनत्वमेवस्वरूपम्,यथोक्तं "येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजंते श्रद्धयान्विताः, तेऽपिमामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च, नतु मामभिजानंति मयाच्युत, हव्यकव्यभुगेकस्त्वम् पितृदेवस्वरूपधृक "इति।

सभी कर्मों को, परमपुरुष की आराधना के साधन रूप से स्मृतियों में स्पष्ट वर्णन किया गया है—"जिनसे समस्तभूतों की उत्पत्ति है, एवं जो समस्त जगत में व्याप्त है, मनुष्य अपने अधिकारनुसार कर्मों से उनकी अराधना करके, सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त करते हैं "स्नानादि कर्मों में नारायण काध्यान करना चाहिए, ऐसा करने वाले ब्रह्मलोक की प्राप्ति करते हैं, फिर कभी इसलोक में नहीं लौटते "हे प्रभु जो अपने अधिकारानुसार कर्मों में आरूढ रहकर आपकी आराधना करते हैं, वे माया से मुक्त होने के लिए ही ऐसा करते हैं। "इत्यादि, ऐहिक व पारलौकिक,सांसारिक फलों के साधन रूप कर्मों का प्रतिपादन करने के कारण ही, इन स्मृतियों की सार्थकता हो ऐसा नहीं कहा जा सकता, वस्तुतः परमपुरुष अराधना ही, इन समस्त कर्मों का स्वरूप है जैसा कि—"जो भक्ति और श्रद्धा से अन्य देवताओं की आराधना करते हैं, वे भी मेरी ही, विधिरहित पूजा करते हैं "मैं ही समस्त यज्ञों का भोक्ता और स्वामी हूँ किन्तु साधक मुझे भली भाँति नहीं जानते इसलिए पतित होते हैं, "हे सर्वदेवमय अच्युत! आप सदा समस्त यज्ञों द्वारा अर्चित होते हैं, एकमात्र आपहीदेव-

रूप धारण करके यज्ञीय और श्राद्धीय द्रव्य को ग्रहण करते हैं "इत्यादि से ज्ञात होता है।

यदुक्तं "ऋषिं प्रसूतं कपिलम् "इति कपिलस्याप्तया संकीर्त्तना-त्तत्स्मृत्यनुसारेण वेदान्तार्थंव्यवस्थापनंन्याय्यम्-इति, तदसत् ,बृहस्पतेः श्रुतिस्मृतिषु सर्वेषामतशयितज्ञानानां निदर्शनत्वेन संकीर्त्त-नात्तत्प्रणीतेन लोकायतेन श्रुत्यर्थंव्यवस्थापनप्रसक्तेः, इति

जो यह कहा कि—शास्त्रों में "ऋषिं प्रसूतं कपिलम्,, इत्यादि कह कर कपिल की आप्त रूप से प्रशंसा की गई है, इसलिए उनकी स्मृति के अनुसार वेदांतार्थ का व्यस्थापन करना उचित है, यह कथन भी असंगत है, ऐसा मानोगे तो, सर्वश्रेष्ठ ज्ञानियों के अग्रगण्य परं बुद्धिमान बृहस्पति का श्रुतिस्मृतियों में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ उल्लेख किया गया है, उनके लोकायत (नास्तिक) सिद्धान्त के अनुसार भी वेदांतों का सामंजस्य करना पड़ेगा।

अथ स्यात् कपिलस्य स्वयोगमहिम्ना वस्तुयाथात्म्योपलब्धेः तत्स्मृत्यनुसारेण वेदांतार्थो व्यवस्थापयितव्यः इति अतउत्तरं पठति। यदि कहें कि.......................................इसका उत्तर देते हैं

इतरेषां चानुपलब्धेः ।२।१।२॥

च शब्दः तु शब्दार्थः चोदिताशंकानिवृत्यर्थः। इतरेषां मन्वादी-नां बहूनां स्वयोगमहिम साक्षात्कृतपरावरतत्त्वयाथात्म्यानां निखिल जगद् भेषजभूतस्ववाक्यतया "यदवैकिं च मनुरवदत्तदभेषजम् "इति श्रुतिप्रसिद्धानां कपिल दृष्टप्रकारेण तत्त्वानुपलब्धेः श्रुतिविरुद्धा कपिलोपलब्धिर्भ्रान्तिमूलेति न तया यथोक्तो वेदांतार्थश्चालयितुं शक्य इतिसिद्धम्।

सूत्रस्थ "च" शब्द "तु शब्द का समानार्थक है, जो कि की गई शंका की निवृत्ति के उद्देश्य से प्रयोग किया गया है। अन्यान्य मनु आदि अनेक महात्माओं ने अपने अर्जित यौगिक बल से परतत्त्व (ईश्वर) और

अपरतत्त्व (जगत) का यथार्थ रूप से साक्षात् करके, अपने अर्जित ज्ञान को जगत के लिए औषधिरूप से प्रस्तुत किया "जो कुछ भी मनु कहता है वह औषध रूप है "इत्यादि। उन्हीं मनु आदि के ग्रन्थों में कहा गया है कि-कपिल के उपदेश से अनुरूप तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती इसलिए कपिल की उपलब्धि (तत्त्व चिन्तन प्रणाली) श्रुति विरुद्ध और भ्रांति मूलक है। इसलिए वेदांतार्थ के यथार्थ स्वरूप को, उसके आधार पर, अन्यथा नहीं किया जा सकता।

२ योगप्रत्युक्त्यधिकरण:

एतेन योगप्रत्युक्तः ।२।१।३॥

एतेन—कापिलस्मृति निराकरणेन योगस्मृतिरपि प्रत्युक्ता कापुनरत्राधिशंका, यन्निराकरणायन्यायातिदेशः योगस्मृतावपि ईश्वराभ्युपगमान्मोक्षसाधनतया वेदांतविहितयोगस्य चाभिधानात् वक्तुर्हिरण्यगर्भस्य सर्वेदांतप्रवर्त्तनाधिकृतत्वाच्च तत्स्मृत्या वेदांतोपवृंहणं न्याय्यम्-इति।

इस कपिल स्मृति के निराकरण से, योग स्मृति का भी निराकरण हो जाता है,। प्रश्न होता है कि-योग स्मृति में कौन सी ऐसी वेदांत भिन्न विशेषता है, कि जिसके निराकरण की आवश्यकता पड़ गई? योग स्मृति में भी, वेदांत विहित, मोक्ष साधना रूप, ईश्वर प्रणिधान को मान्यता दी गई है, योगवक्ता हिरण्यगर्भ ने, लोक प्रवृत्ति के उद्देश्य से ही, संपूर्ण वेदांत तत्त्वों का उपदेश दिया है, इसलिए योग स्मृति के अनुसार, वेदांत वाक्यों की व्याख्या न्याय संगत ही है।

परिहारस्तु — अब्रह्यात्मकप्रधानकारणवादानिमित्ताकारण-मात्रेश्वराभ्युपगमात् ध्यानात्मकस्य योगस्यध्येयैकनिरूपणीयस्य ध्येयभूतयारात्मेश्वरयोर्ब्रह्मात्मकत्वजगदुपादानतादिसर्वंकल्याणगु-णात्मकत्वविरहेण अवैदिकत्वाद् वक्तुर्हिरण्यगर्भस्यापि क्षेत्रज्ञ-भूतस्य कदाचिद्रजस्तमोभिभवसंभवाच्च योगस्मृतिरपितत्प्रणीत रजस्तमोमूलपुराणवद् भ्रांतिमूलेति न तया वेदांतोपवृंहणंन्याय्यम्-इति

उक्त संशय का परिहार करते हैं-योग स्मृति, अब्रह्मात्मक प्रधान कारणवाद का ही अनुमोदन करती है तथा ईश्वर को केवल निमित्त कारण ही मानती हैं। उनके मत में, ध्येय आत्मा और ईश्वर को अब्रह्मात्मक तथा जगत को उपादान कारण संपूर्णगुणात्मक तत्त्वों का निराकरण एवं वेदविरुद्ध तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है। जीव रूप हिरण्यगर्भ भी कभी, रज, तम गुणों से अभिभूत हो जाता है, इसलिए योग स्मृति भी उन्ही के प्रणीत, रजस्तमोमूलक पुराण की तरह भ्रांतिमूलक ही है इसलिए योगस्मृति के आधार पर वेदांत वाक्यों की व्याख्या न्यायोचित नहीं है।

३ विलक्षणत्वाधिकरणः—

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ।२।१।४।।

पुनरपि स्मृतिविरोधवादी तर्कमवलम्बमानः प्रत्यवतिष्ठते, यत्सांख्यस्मृतिनिराकरणेन जगतो ब्रह्मकार्यत्वमुक्तम्, तन्नोपपद्यते, अस्यप्रत्यक्षादिभिरचेतनत्वेनाशुद्धत्वेनानोश्वरत्वेन दुःखात्मकत्वन चोपलभ्यमानस्य चिदचिदात्मकस्य जगतः भवदभ्युपेतात् सर्वज्ञात् सर्वेश्वराद् हेयप्रत्यनोकादानंदैकतानात् ब्रह्मणो विलक्षणत्वात् ।

विरोधी, स्मृति वादी पुनः तर्क का आश्रय लेकर सम्मुख आते है कि-जो तुमने सांख्य स्मृति का निराकरण करके, जगत को ब्रह्म का कार्य बतलाया 'वो असंगत् है; प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञात होता है कि यह जगत, अचेतन, अशुद्ध, अनीश्वर, दुःखात्मक और जड़चेतानात्मक है तथा वह तुम्हारे अभिमत सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वोत्तम एकमात्र आनंदमय से विलक्षण है।

न केवलं प्रत्यक्षादिभिरेव जगतो वैलक्षण्यमुपलभ्यते, शब्दस्वाच्च तथात्वं विलक्षणत्वम् उपलभ्यते-"विज्ञानं चाविज्ञानं च" एवमेवैताभूममात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राप्राणेऽर्पिता "समानेवृक्षेपुरुषो निमग्नोऽनीशयाशोचतिमुह्यमानः" अनीशश्चात्माबध्यतेभोक्तृभावात् इत्यादिभिः। कार्यस्य हि जगतोऽचेतनत्वदुःख-

त्वादयोनिर्दिश्यंते। यद्धि यत्कार्यं, तत्तस्मादविलक्षणम् यथा मृत्सुवर्णादि-कार्यंघटरुचकादि । अतो ब्रह्मविलक्षणस्यास्यजगतः तत्कार्यत्वं न संभवतीति सांख्यस्मृत्यनुरोधेन कार्यसलक्षणं प्रधानमेव कारणंभवितुमर्हति ।

केवल प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही जगत की विलक्षणता ज्ञात होती हो ऐसा नहीं है अपितु शब्द शास्त्र भी उसे विलक्षण बतलाता है–"यह जगत विज्ञान और अविज्ञान (जड़ चेतन) है "ये भूतमात्रायें (शब्द आदि विषय) बुद्धि वृत्ति के अधीन हैं, वह बुद्धि प्राण के अधीन है "जीव एक ही वृक्ष पर अवस्थित होकर,अनीश्वर होने से,मुग्ध और शोकाकुल होता है जीव भोक्ता होने के कारण, पराधीन होकर विषयानुभूति करता है" इत्यादि शास्त्र वाक्यों में कार्यभूत जगत की जड़ता, दुखात्मकता आदि विलक्षणतायें बतलाई गई हैं। जिस कारण का जो कार्य होता है, वह कारण से कभी विलक्षण नहीं होता, जैसे कि मिट्टी और सुवर्ण के, घट, आभूषण आदि कार्य । इसलिए ब्रह्म से विलक्षण, यह जगत् ब्रह्म का कार्य नहीं हो सकता । कार्य के अनुरूप,सांख्य प्रतिपादित प्रधान ही,जगन की कारण हो सकती है ।

अवश्यं च शास्त्रस्यानन्यापेक्षस्यातीन्द्रियार्थगोचरस्यापि तर्कोऽनुसरणीयः, यः, यतः सर्वेषां प्रमाणानां क्वचिद् क्वचिद् विषये तर्कानुगृहीतानामेवार्थनिश्चय हेतुत्वम् । तर्को हि नाम अर्थस्वभाव-विषयेण वा सामग्री विषयेण वा निरूपणेनार्थविशेषे प्रमाणंव्यवस्था-पयस्तदितिकर्त्तव्यतारूपमूहापरपर्यायं ज्ञानं तदपेक्षा च सर्वेषां प्रमाणानां समाना, शास्त्रस्य तु विशेषणाकांक्षासन्निधियोग्यताज्ञाना-धीनप्रमाणभावस्य सर्वत्रैव तर्कानुग्रहापेक्षा, उक्तं च मनुना– "यस्तर्केणानुसंधत्ते सधर्मं वेदनेतरः" इति तदे वहि तर्कानुगृहीत शास्त्रार्थं प्रतिष्ठापनंश्रुत्या च मन्तव्यः इत्युच्यते ।

निश्चित ही इंद्रियातीत, अर्थ प्रतिपादक शास्त्र, अपने अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं करता, फिर भी उसके लिये तर्क का आश्रय

लेना आवश्यक हो जाता है। क्यों कि-सभी प्रमाण, किसी न किसी विषय में तर्क का सहारा लेकर ही, वास्ताविक अर्थ का निर्णय कर पाते हैं। वस्तु विशेष के स्वाभावविशेष के निरूपण से हो अथवा सामग्री (कारण) विशेष के निरूपण से हो, ऐसे विषय विशेष के प्रामाण्य व्यवस्थापक, इत्तिकर्त्तव्यता रूपी ज्ञान का नाम ही तर्क है, इसी का दूसरा प्रर्यायवाची नाम "ऊह" है [अर्थात्- किसी एक विषय में, दो या उससे अधिक प्रमाणों के परस्पर विरोधी होने पर, जिसके द्वारा उक्त विरोध का परिहार करके सांमंजस्य स्थापना की जाय उसे ही तर्क या ऊह कहते हैं- विरोध परिहार के दो उपाय हैं-(१) विवादास्पद विषय के स्वाभाविक, विषय का निर्धारण (२) विवाद के कारण की पर्यालोचना] विषय के समाधान में, सभी प्रमाणों की तरह तर्क भी अपेक्षा होती है. ऐसा मनु ने भी कहा है "जो तर्क को द्वारा अनुसंधान करता है, वही धर्म तत्त्व को जान पाता है, दूसरा नहीं "ऐसे तर्क की सहायता से, शास्त्रार्थ निरूपण को ही श्रुति में "मंतव्य" कहा गया है।

अथोच्येत्—श्रुत्या जगतो ब्रह्मैककारणत्वे निश्चिते सति, तत्कार्यस्यापि जगतश्चैतन्यानुवृत्तिरभ्युपगभ्यते। यथा चेतनस्य सुषुप्तिमूर्च्छादिषु चैतन्यानुपलम्भः, तथा घटादिष्वपि सदेव चैतन्यमनुद्‌भूतं अतएव चेतनाचेतन विभाग इति। नैतदुपपद्यते यतो नित्यानुपलब्धिरसद्भावमेव साधयति। अतएव चैतन्यशक्तियोगोऽपि तेषु निरस्तः। यस्यहि क्वचित्कदाचिदपि यत् कार्यानुपलब्धिः, तस्य तत्कार्यशक्ति ब्रुवाणो, बन्ध्योसुतसमितिषु तज्जननीनां प्रजननशक्ति ब्रूताम्।

यदि कहो कि-श्रुति से जगत के एकमात्र कारण ब्रह्म को निश्चिय कर देने से, तदनुसार उसके कार्य रूप जगत को भी चैतन्य वृत्ति वाला मानलेंगे, जैसे कि-चैतन्य की सुषुप्ति मूर्च्छा इत्यादि अवस्थाओं में, चैन्योचित चेष्टायें नहीं पाई जातीं, उसी प्रकार घट आदि जागतिक पदार्थों में भी, जो कि चैतन्य ही हैं, चैतन्यता अव्यक्त रहती है. ऐसा मानने से, चेतनाचेतन का भेद भी संगत हो जाता है इत्यादि, तुम्हारा यह कथन सर्वथा हास्यास्पद है, जागतिक घट आदि पदार्थ सदा ही

अचेतन रहते हैं, कभी भी उनमें चेतनता नहीं पाई जाती, इसलिए, जगत् में अव्यक्त चैतन्य शक्ति भी है, यह कथन भी निरस्त हो जाता है। किसी अवस्था या किसी काल में भी, जिसका निर्धारित कार्य, प्रतीत गोचर नहीं होता उसे शक्ति संपन्न कहना तो वैसा ही हास्यास्पद है जैसे, कि-वह बंध्यापुत्रों की माताओं की प्रजनन शक्ति की चर्चाकर रहा हो।

किं च वेदांतैर्जगतो ब्रह्मोपादानताप्रतिपादन निश्चये सति-घटादीनां चैतन्यशक्तेः चैतन्यस्य वाऽनुद्भूतस्य सद्भावनिश्चिय-इतीतरेतराश्रयत्वम्। विलक्षणयोर्हि कार्यकारणभावः प्रतिपादयितुमेव न शक्यते।

एक बात और भी है-जब समस्त वेदांतों में ब्रह्म ही जगत का एक मात्र उपादान कारण निश्चित है तो घटादि जागतिक पदार्थों की चैतन्य शक्ति और उनकी चैतन्यस्वरूप अव्यक्त सत्ता भी निश्चिय हो जाती है, तथा उस अव्यक्त सत्ता के निश्चित हो जाने पर, ब्रह्मोपादानकारणता भी निश्चित हो जाती है इस प्रकार दोनों में परस्पर आश्रयता सिद्ध होती है। विसदृश पदार्थों का कार्य कारणरूप प्रतिपादन भी नहीं हो सकता।

किं पुनः प्रकृतिविकारयोः सालक्षण्यमभिप्रेतम्, यदभावाज्जगतो ब्रह्मोपादानताप्रतिपादनसंभवं ब्रूषे, न तावत् सर्वधर्मसारूप्यम्, कार्यं कारणभावानुपपत्तेः। न हि मृत्पिडकार्येषु घटशरावादिषु पिण्डत्वाद्यनुवृत्तिर्दृश्यते। अथयेनकेनचिद्धर्मेण सारूप्यम्, तज्जगद्ब्रह्मणोरपि सत्तादिलक्षणं संभवतितदुच्यते, येनस्वभावेन कारणभूतं वस्तु वस्त्वंतराद्व्यावृत्तम् तस्य स्वभास्य तत्कार्येऽप्यनुवृत्तिः कार्यस्य कारण सालक्षण्यम् येनहि आकारेण मृदादिभ्यो हिरण्यं व्यावर्त्तते तदाकारानुवृत्तिः तत्कार्येषु कुंडलादिषु दृश्यते। ब्रह्म च हेय प्रत्यनीकज्ञानानंदैश्वर्यस्वभावम, जगच्च तत्प्रत्मनीकस्वभावमिति न तदुपादानम्। ननु च वैलक्षण्येऽपि कार्यकारणभावो दृश्यते, यथा

चेतनापुरुषादचेतनानि केशखदंतलोमानिजायंते, यथाचाचेतनाद्-गोमयाच्चेतनो वृश्चिकोजायते, चेतनाच्चोर्णनाभेरचेतनस्तन्तुः, नैतदेवम्, यतस्तत्रप्यचेतनांश एव कार्यकारणभावः ।

(विवाद) आप, प्रकृति और विकार रूप जगत में किस प्रकार की समता मानते हैं कि जिसके अभाव में, ब्रह्मोपादानकता असंभव बतलाते हैं, कारण और कार्य में सभी प्रकार की समानता तो प्रायः होती नहीं, यदि ऐसा हो तो कार्य और कारण भाव की प्रतीति होगी कैसे? मिट्टी रूपी कारण में, घट आदि कार्यों की आकृति तो दृष्टिगोचर होती नहीं। इसलिए किसी न किसी प्रकार की समानरूपता कारण और कार्य में भी माननी होगी,जगत और ब्रह्म में भी सत्ता आदि रूपी समानता हो सकती है। कारण वस्तु में जो अपनी एक विशेषता होती है, जिससे कि वह अन्य वस्तुओं से पृथक् प्रतीत होती है, कारण की वही विशेषता यदि कार्य में भी तदनुरूप ही दिखलाई दे तो कारण और कार्य को समान कहना पड़ेगा। जैसे कि आकृति गुण आदि में मिट्टी, सोना से भिन्न है, वैसे हैं, सुवर्ण निर्मित पदार्थों से, मिट्टी के निर्मित प्रदार्थों में भी तन्नि-मित्तक भिन्नता दीखती है। पर ब्रह्म तो अत्युत्तम ज्ञान-आनंद और ऐश्वर्य स्वभाव से संपन्न है, जगत उससे सर्वथा विपरीत स्वभाव का है, इसलिए ब्रह्म, जगत का उपादान कारण कैसे माना जा सकता है? यदि कहें कि- विपरीत रूपों में भी कारण कार्य भाव देखा जाता है, जैसे कि चेतन पुरुष से अचेतन नख-दंत-केश आदि की उत्पत्ति तथा अचेतन गोबर से चेतन गुबरैले कीड़ों की उत्पत्ति एवं चेतन मकड़ी से अचेतन सूत्र की उत्पत्ति इत्यादि, वैसी ही विलक्षणता ब्रह्म और जगत में भी हो सकती है। यह कथन असंगत है, क्यों कि- वहाँ तो अचेतनांश में ही कारण कार्य भाव है [चेतनांश में नहीं]

अथ स्यात्- अचेतनत्वेनाभिमतानामपि चैतन्ययोगः श्रुतिषु श्राव्यते "तं पृथिव्यब्रवीत् "आपोवाअकामयन्त "त हेमेप्राणाअहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्माणं जग्मुः" इति। नदोसमुद्रपर्वतादीनामपि चेतनत्वं पौराणिक आतिष्ठंते, अतो नवैलक्षण्यमिति। अत उत्तरं पठति-

आप जिन्हें अचेतन कहते हैं, उन्हें ही श्रुतियों में चैतन्ययुक्त कहा गया है जैसे कि—"पृथ्वी ने उससे कहा "जलों ने कामना की "वे इंद्रिया आपस में अपनी श्रेष्ठता के लिए झगड़ती हुई ब्रह्मा के पास गईं" इत्यादि ऐसे ही, नदी समुद्र पर्वत आदि की भी, पौराणिक चैतन्यता मानते हैं, इसलिए कारण कार्य में कोई विलक्षणता नहीं है। इसका उत्तर देते हैं—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।२।१।५।।

तु शब्दश्चोदिताशंकानिवृत्त्यर्थः, पृथिव्याद्यभिमानिन्यो देवताः "तं पृथिव्यब्रवीत" इत्यादिषु पृथिव्यादिशब्दैर्व्यपदिश्यन्ते। कुतः? विशेषानुगतिभ्यां-विशेषः, विशेषणं, देवताशब्देन विशेष्य पृथिव्यादयोऽभिधीयंते "हंताऽहमिमास्त्रिस्रो देवताः "इति तेजोऽबन्नानि देवताशब्देन विशेष्यंते "सर्वाहिवै देवताग्रहं श्रेयसे विवदमानाः" ते देवाःप्राणेनिः श्रेयसं विदित्वा" इति च। अनुगतिः, अनुप्रवेशः, "अग्निर्वाग्भूत्वामुखं प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणीप्राविशत् वायुः प्राणोभूत्वानासिके प्राविशत् "इत्यादिना वागाधभिमानित्वेनाग्न्यादीनां अनुप्रवेशः श्रूयते। अतोजगतोऽचेतनत्वेन विलक्षणत्वाद्ब्रह्मकार्यत्वानुपपत्तेः तर्कानुग्रहीतस्मृत्यनुरोधेन जगतः प्रधानोपादानत्वं वेदांतैः प्रतिपाद्यते इति

सूत्रस्थ तु शब्द की गई शंका के निवारण के लिए प्रयुक्त है। पृथ्वी आदि के अभिमानी देवता ही "पृथ्वी ने उससे कहा" इत्यादि वाक्यों में पृथ्वी आदि शब्दों से बतलाए गए हैं। पृथ्वी आदि देवताओं को विशेष नाम तथा अनुप्रवेश वाला कहा गया है। सूत्रस्थ विशेष्य शब्द विशेषण अर्थ में प्रयुक्त है, देवता शब्द से विशेष्य, पृथिवी आदि का ही निर्देश है। "मैं इन तीनों देवताओं को नाम रूप वाला करूँगा" इत्यादि में तेज जल पृथिवी आदि, देवता शब्द से विशेषित किये गए हैं।" सारे देवता अपनी अपनी प्रधानता बतलाते हुए पहुँचे "वे देवता प्राण में निःश्रेयस जानकर" इत्यादि में भी इन्द्रियादि को देवता कहा गया है। सूत्रस्थ अनुगत शब्द का अर्थ है, मध्य में प्रवेश करना। "अग्नि वाक्य

रूप से मुख में प्रविष्ट है" सूर्य चक्षु रूप से नेत्रों में प्रविष्ट है," वायु प्राण रूप से नासिका में प्रविष्ट है" इत्यादि में वागादि इन्द्रियों के अभिमानी अग्नि आदि देवताओं का अनुप्रवेश बतलाया गया है। इसलिए युक्ति संगत सांख्य स्मृति के मतानुसार, वेदांतशास्त्र में, प्रकृति को ही जगत का उपादान कारण प्रतिपादन किया गया है, ऐसा ही मानना चाहिए।

उक्त तर्क के निराकरण में सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—एवं प्राप्तेऽभिधीयते,

दृश्यते तु ।२।१।६॥

तु शब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तते, यदुक्तं जगतो ब्रह्मविलक्षणत्वेन ब्रह्मोपादानत्वं न संभवति, इति, तदयुक्तम्, विलक्षणयोरपि कार्यं-कारणभाव दर्शनात्। दृश्यते तु माक्षिकादेर्विलक्षणस्यकृम्यादेस्त-स्मादुत्पत्तिः। ननु उक्तमचेतनांश एव कार्यकारणभावात्तत्र साल-क्षण्यम्। सत्यमुक्तम्, न तावता कार्यकारणयोर्भवदभिमत साल-क्षण्यसिद्धिः। यथाकथंचित्सालक्षण्ये सर्वस्य सर्वसालक्षण्येन सर्व-स्मात्सर्वोत्पत्ति प्रसंग भयाद्वस्तुनो, वस्त्वंतराद्व्यावृत्तिहेतु भूतस्याकारस्यानुवृत्तिः सालक्षण्यं भवताऽभ्युपेतं, स तु नियमो माक्षिकादिभ्यः कृम्यादि उत्पत्तौ न दृश्यत इति ब्रह्मविलक्षणस्यापि जगतो ब्रह्मकार्यत्वं नानुपपन्नम्। न हि मृत्हिरण्यघटमुकुटा-दिष्विव वस्त्वंतरयावृत्तिहेतुभूतासाधारणाकारानुवृत्तिर्माक्षिक गोमयकृमिवृश्चिकादिषु दृश्यते।

सूत्रस्थ तु शब्द, परपक्ष का द्योतक है। विलक्षणता के कारण जगत का उपादान कारण ब्रह्म नहीं हो सकता, यह कथन असंगत है, क्योंकि कार्य और कारण में विभिन्नता भी देखी जाती है। शहद की मक्खियाँ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। यदि कहें कि उक्त उदाहरण में केवल अचेतनांश में ही कार्य कारण की समानता है, सो तो आपने ठीक ही कहा, आपके कथन मात्र से ही, कार्य कारण की समानता सिद्ध न

होगी [अर्थात् अचेतन मक्खियों के शरीर में चेतनांश भी तो है, उसे किम कारण का कार्य सिद्ध करेंगे?] जिस किसी भी प्रकार की समानता तो हर पदार्थ में अवश्य होती है, अतः यह मान्य होगा कि समस्त पदार्थों में किसी न किसी प्रकार की समानता विद्यमान है, तथा इस समानता के सिद्धान्त के अनुसार यह भी मानना पड़ेगा कि—हर वस्तु से हर वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है? सो तुम मानने में हिचकोगे और तुम्हें यह स्वीकारना पड़ेगा कि—वस्तु से वस्तु का भेद बतलाने वाला जो लक्षण है वही समानता का भी लक्षण है। किन्तु यह नियम मधुमक्खी के प्रसंग में घटित नहीं होता, इसलिए विलक्षण ब्रह्म से, जगत की उत्पत्ति मानने में कोई बाधा, उपस्थित नहीं होती। मिट्टी से निर्मित घट एवं सुवर्ण रचित मुकुट आदि में, मिट्टी और सुवर्ण जैसी, अनुरूप आकृति समानता दिखाई देती है, वैसी मधुमक्खी, गुबरैले आदि में तो दीखती नहीं।

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ।२।१।७॥

यदि कार्यभूताज्जगतः, कारणभूतं ब्रह्मविलक्षणम् तर्हि कार्य-कारणयोर्द्रव्यांतरत्वेन कारणे परस्मिन् ब्रह्मणि कार्यं जगन्न विद्यत इत्सत एव जगदुउत्पत्तिः प्रसज्यत् इति चेत्—नैतदेवम्, कार्यं-कारणयोः सालक्षण्य नियम प्रतिषेधमात्रमेव हि पूर्वसूत्रेऽभिप्रेतम्, न तु कारणात्कार्यस्य द्रव्यान्तरत्वम्, कारणभूतं ब्रह्मैव स्वस्माद्-विलणणजगदाकारेण परिणमत इत्येतत्तु न परित्यक्तम्, कृमिमा-क्षिकयोरपि हि सति च वैलक्षण्ये, कुण्डलहिरण्योरिव द्रव्यैक्यमस्त्येव।

इस पर, यदि कहो कि—कार्य रूप जगत से, कारण रूप ब्रह्म भिन्न लक्षण वाला है, तो कार्य और कारण दो भिन्न पदार्थ हो जाते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि—परब्रह्म में, इस कार्य रूप जगत का अस्तित्व नहीं है, तथा इस जगत् की उत्पत्ति जड से ही है। सो ऐसी बात नहीं है ऊपर के सूत्र में केवल, कार्य और कारण की समानता के नियम का ही प्रतिषेध किया गया है, कारण से कार्य भिन्न है, ऐसा नहीं कहा गया है, तथा कारण ब्रह्म, जो कि—असमान स्वभाव जगत् के रूप में परिणत

हो जाते हैं, इस बात को भी छोड़ा नहीं गया है। कृमि और मक्खी आदि में स्वभावगत असमानता तो है, किन्तु सुवर्ण कुंडल की तरह द्रव्यैक्य भी है।

उक्त कथन का पुनः प्रधान कारणवादी खंडन करते हैं—अत्र चोदयति

अपीतौ तद्वतप्रसंगाद समंजसम् २।१।८॥

अपीताविति अपीतिपूर्वकसृष्ट्यादेः प्रदर्शनार्थम् "सदेव सोम्यइदमग्रआसीत् "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादिषु अप्ययावस्थोपदेशपूर्वकत्वदर्शनात् सृष्ट्यादेः। यदि कार्यकारणयोर्द्रव्यैक्यमभ्युपेतम् तदा कार्यस्य जगतो ब्रह्मणि अप्ययसृष्ट्यादिषु सत्सु, ब्रह्मण एव तत्तदवस्थान्वय इति कार्यंगताः सर्व एवापुरुषार्था ब्रह्मणि प्रसज्येरन्, सुवर्णं इव कुंडलगताविशेषाः। ततश्चं वेदांतवाक्यं सर्वमसमंजसं स्यात् यः सवंज्ञः सर्ववित् "अपहतपाप्मा विजरोविमृत्युः" न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते "तयोरन्नं पिप्पलं स्वाद्वत्ति" अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात् "अनीशया शोचति मुह्यमानः" इत्येकस्मिन्नेववस्तुनि येषां परस्परे विरुद्धानां प्रसक्तेः।

सूत्र में अपीति शब्द प्रलय पूर्विका सृष्टि का वाचक है। "हे सौम्य! सृष्टि से पूर्व यह सारा जगत् सत् ही था" सृष्टि के पूर्व यह जगत एकमात्र आत्मस्वरूप ही था "इत्यादि वाक्यों में सृष्टि के पूर्व की प्रलयावस्था का वर्णन किया गया है। यदि कार्य और कारण को एक ही द्रव्य माना जायेगा तो, ब्रह्म सृष्ट इस जगत का, जो कि उन्हीं से उत्पन्न, स्थित और लय हो जाता है, उसका ब्रह्म के साथ संबंध होना स्वाभाविक ही होगा ऐसा होने से कुंडल की द्रव्यगत विशेषतायें जैसे सुवर्ण में मिल जाती हैं, वैसे ही जगत् की अपुरुषार्थ रूप त्याज्य वस्तुएँ भी प्रलय काल में ब्रह्म से संसक्त हो जावेंगी। इस प्रकार—"जो सर्वज्ञ और सर्वविद है" वह निष्पाप जरामृत्यु रहित है" उसमें कार्य और

कारण नहीं हैं, और न उसमें वृद्धि और ह्रास ही है "उन दोनों में दूसरा जीव ही स्वादुफल का भोग करता है" परतंत्र जीव ही भोक्ता होने के कारण बंधन में पड़ता है "परतंत्र होने से ही मोहवश शोक करता है" इत्यादि वाक्यों में जो परस्पर भिन्नता दिखलाई गई है, वह कार्यकारण की एकता मानने से, असंगत हो जावेगी, अर्थात् उक्त वेदांत वाक्यों में असामंजस्य हो जावेगा।

अथोच्येत—चिदचिद्वस्तुशरीरकस्य परस्यैव ब्रह्मणः कार्य-कारणभावाच्छरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतत्वाच्च दोषाणाम् न शरीरिणि ब्रह्मणि कार्यावस्थे कारणावस्थेच प्रसंगः, इति। तद-युक्तम्जगद्ब्रह्मणोः शरीरशरीरिभावस्यैवासंभवात्, संभवे च, ब्रह्मणि शरीर संबंधनिबंधनदोषाणामनिवार्यत्वात्; न हि चिदचिद्-वस्तुनोर्ब्रह्मणः शरीरत्वं संभवति, शरीरं हि नाम कर्मफलरूपसुखदुःख-भोगसाधनभूतेन्द्रियाश्रयः, पंचवृत्तिप्राणाधीनधारणः पृथिव्यादिभूत संघातविशेषः, तथाविधस्यैव लोकवेदयोः शरीरत्व प्रसिद्धेः। पर-मात्मनश्च "अपहतपाप्मा विजरः अनश्नन्न्यो अभिचाकशीति-अपाणिपादोजवनोग्रहीतापश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः अप्राणो ह्यमनाः" इत्यादिभिः कर्मतत्फलभोगयोरभावादिन्द्रियाधीनभोग-त्वाभावात्प्राणवत्त्वाभावाच्च न तं प्रति चेतनाचेतनयोः शरीरत्वम् न चाचेतनव्यष्टिरूपतृणकाष्ठादीनां समष्टिरूपस्यभूतसूक्ष्मस्य च न विद्यते। चेतनस्य तु ज्ञानेकाकारस्य सर्वमेतन्नसंभवतीति नितरां शरीरत्वसंभवः।

जो यह कहते हो कि—चैतन्यजडमय समस्त वस्तुएं ब्रह्म का ही शरीर हैं, इस लिए उनका ब्रह्म के साथ कारण कार्य भाव संबंध है, जड़चेतनमय वस्तुओं के समस्त दोष शरीरी ब्रह्म में संसक्त नहीं होते, वह तो उसकी कार्य कारण अवस्था में ही रह जाते हैं। इत्यादि

कथन भी असंगत है, ऐसा मानने से तो जगत और ब्रह्म का शरीर शरीरी भाव ही असंभव हो जायेगा, यदि उनमें शरीर शरीरी भाव है, तो ब्रह्म में शरीर संबंध के कारण दोषों की अनिवार्यता भी निश्चित है। जड़-चेतनमय वस्तु, ब्रह्म का शरीर नहीं हो सकती, क्योंकि–कर्मफल सुखदुःख आदि के उपभोग कासाधन रूप, इन्द्रियों का आश्रय पंचवृत्ति (प्राण अपान उदान व्यान समान) के अधीन रहने वाला, पृथिव्यादि भूतों का संघात रूप विशेषांकार ही, लोक और वेद में शरीर रूप से प्रसिद्ध है। परमात्मा को तो "निष्पाप अजर अमर" "भोग नहीं करता केवल देखता ही है" बिना हाथ पैर का होते हुए भी दौड़ कर पकड़ने वाला, बिना नेत्र के देखने वाला, बिना कर्ण के सुनने वाला प्राण एवं मन हीन" कहा गया है। न वाक्यों से ज्ञात होता है कि––परमात्मा के लिए कर्म और कर्म का भोग नहीं है, और न इन्द्रिय साध्य भोग ही संभय हैं, तथा प्राणों संयोग भी संभव नहीं है। इसलिए उसे जडचेतन शरीर वाला नहीं कह सकते। और न, अचेतन व्यष्टि रूप तृण काष्ठ आदि के सूक्ष्म भूत सृष्टि रूप का, इन्द्रियों के आश्रित रहना ही संभव है तथा पृथ्वी आदि और सूक्ष्म भूत समष्टि का संघात (अर्थात् शरीराकार में परिणत होना) संभव ही है। एकमात्र ज्ञानस्वरूप चेतन में तो इन सब का होना, एक दम ही असंभव है। इसलिए उसका शरीरी होना भी संभव नहीं है।

न च भोगायतनत्वं शरीरत्वसंभवः भोगायतनेषु वेश्मादिषु शरीरत्वाप्रसिद्धः, यत्र वर्त्तमानस्यैव सुखदुःखोपभोग, तदेव भोगायतनमितिचेन्नत परकायप्रवेशजन्म सुखदुःखोपभोगायतनस्य परकायस्य प्रविष्टशरीरत्वाप्रसिद्धेः, ईश्वरस्य तु स्वतः सिद्धनित्यनिरतिशयानंदस्य भोगं प्रति चिदचितयोरायतनत्व नियमो न संभवति। एतेन भोगसाधनमात्रस्य शरीरत्वं प्रत्युक्तम्।

भोगायतन ही शरीर है, इस नियम से भी परमात्मा का शरीर होना असंभव है क्योंकि भोगायतन घर आदि को कहीं भी शरीर नही कहा गया है। यदि कहें कि जिसमें रहकर आत्मा को भोग प्राप्त होता है,

वही शरीर है ; तो परकाय प्रवेश जनित सुख दुःख आदि भोग के आयतन प्रविष्ट रूप में, परकाय में प्रविष्ट व्यक्ति का नहीं सुना जाता, अर्थात् परकाय में प्रवेश करने वाले व्यक्ति को शरीर संवन्ध होने पर भी सुख–दुःख आदि भोग का अनुभव नहीं होता। विशेष रूप से स्वतः सिद्ध नित्य निस्सीम आनन्दमय ईश्वर के भोग साधन के लिये जड़चेतन वस्तु को, आयतन या देह कहना संगत नहीं है । इस विवेचन से, भोग मात्र ही शरीर है, इस कथन का भी निराकरण हो जाता हैं।

अथ मतं–यदिच्छाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्ति यत् तत्तस्य शरीरमिति, सर्वस्येश्वरेच्छाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वेन ईश्वर शरीरत्वं संभवति इति, तदपि न साधीयः, शरीरतया, प्रसिद्धेषु तत्तच्चेतनेच्छायत्तस्वरुपत्वाभावात् रुग्णशरीरस्य तदिच्छाधीनप्रवृत्तित्वाभावात् मृतशरीरस्य तदात्मायत्तास्थित्वाभाव-च्च, सालभंजिकादिषु चेतनेच्छाधीन स्वरूपस्थिति प्रवृत्तिषु तच्छरी-त्वाप्रसिद्धेश्च, चेतनस्यनित्यस्येश्वरेच्छायत्त स्वरूपत्वाभावाच्च न तच्छरीत्वसंभवः ।

यदि कहो कि–जिसकी स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्ति उसकी इच्छा के ही अधीन है, वह इच्छा ही उसका शरीर है, जड़चेतनमय समस्त जगत का स्वरूप, स्थिति और चेष्टा, ईश्वर के इच्छा के ही अधीन है। इसलिए वही उसका शरीर है यह बात भी असंभव है । क्योंकि संसार में कहीं भी चेतन की इच्छानुसार शरीर के चेष्टा नहीं देखी जाती, चेतन की इच्छा होते हुये भी रुग्ण शरीर में, तदनुरूप कोई चेष्टा नहीं होती, मृत शरीर भी तो शरीर है, उसमें भी चेतन की इच्छा के अनुसार कोई प्रवृति नहीं होती। कठपुतली में चेतन की इच्छानुसार चेष्टा में अवश्य होती हैं, परन्तु वह चेतन का शरीर नहीं है। चेतन (जीव, स्वयं नित्य है, इसलिए उसका स्वरूप कभी ईश्वरेच्छा के अधीन तो हो नहीं सकता। इन सब कारणों से ईश्वर के इच्छामय शरीर का होना असंभव है।

न च यद्येकनियाम्यम्, यदेकधार्यम्, यस्यैकशेषभूतम्, तत्तस्यशरीरमिति वाच्यम्, क्रियादिषु व्यभिचारात्। "अशरीरंशरीरेषु" "अपाणिपादोजवनो ग्रहीता" इत्यादिभिश्चेश्वरस्य शरीराभावः प्रतिपाद्यते। अतो जगद्ब्रह्मणोःशरीरशरीरि भावस्य असंभवात्तत्संभवे च ब्रह्मणि दोषप्रसंगात्ब्रह्मकारणवादे वेदांतवाक्यानाम सामंजस्यम्—इति।

जो जिससे एकमात्र नियम्य, एकमात्र धार्य तथा कर्मभोग का सहायक हो, वही उसका शरीर हो, ऐसा भी कहना कठिन है, ऐसा मानने से क्रिया आदि में अड़चन पड़ेगी। अर्थात् सारी क्रियायें कर्त्ता की अधीनस्थ होकर परिचालित होती हैं तथा भोगादि साधन करती हैं, यदि उक्त प्रकार का शरीर का लक्षण स्वीकारेंगे तो समस्त क्रियायें उस कर्त्ता का शरीर हो जायेंगीं। "वह अशरीरी होकर शरीरों में स्थित है वह हाथ पैर वाले न होकर भी दौड़कर पकड़ते हैं" इत्यादि वाक्यों में कर्ता को शरीर रहित बतलाया गया हैं, इसलिए जगत और ब्रह्म में शरीर शरीरी भाव न होने से अथवा होने से किसी भी प्रकार, ब्रह्म में दोष प्रसंग उपस्थित करने वाले, ब्रह्मकारणवादी वाक्यों का असामंजस्य बना ही रहता है।

अत्रोत्तरम्—इसका उत्तर सिद्धांत रुप से प्रस्तुत करते हैं।

न तु दृष्टांत भावात् ।२।१।९॥

नैवमसामंजस्यम्-एकस्यैवावस्थाद्वयान्वयेऽपि गुणदोष व्यवस्थितेर्दृष्टान्तस्य विद्यमानत्वात्। तु शब्दोऽत्र हेयसंबंधगंधस्या संभावनीयतां द्योतयति। एतदुक्तं भवति—चिदाचिद् वस्तु शरीरतया तदात्मभूतस्य परस्य ब्रह्मणः संकोचविकासात्मककार्यकारण भावावस्थाद्वयान्वयेऽपि न कश्चिद् विरोधः यतः संकोच विकासौ परब्रह्म शरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतौ शरीरयंतास्तुदोषा नात्मनि प्रसक्यन्ते, आत्मगताश्चगुणाः न शरीरे अथ च "देवोजातो मनुष्योजातः, तथा स एव बालो युवा स्थविरश्च" इति व्यपदेशश्च मुख्यः

"भूतसूक्ष्मशरीरस्यैव क्षेत्रज्ञस्य देवमनुष्यादिभाव इति" "तदन्तर प्रतिपत्तौ" इति वक्ष्यते ।

उक्त प्रकार के असमंजस की संभावना नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु के अवस्थाभेद से गुण और दोष की व्यवस्था होती है, ऐसे दृष्टांत विद्यमान हैं। तु शब्द हेय संबंध की असंभावना का द्योतक है। कथन यह है कि–जड़चेतनमयशरीर होने से तदात्मक परब्रह्म की संकोचविकासात्मक कार्यकारणाभावरूप, दो अवस्थाओं के होते हुए भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि संकोचविकास, परब्रह्म के शरीरभूत जड़चेतनगत ही हैं। शरीरगत दोष आत्मा में तथा आत्मगत गुण शरीर में संसक्त नहीं होते। फिर भी "देवता हुआ, मनुष्य हुआ, वह बालक युवक वृद्ध हैं" इत्यादि व्यवहार जीव के लिए ही होता है, वस्तुतः सूक्ष्मभूत शरीर का ही, देव मनुष्य आदिभाव होता है, ऐसा "तदन्तर प्रतिपत्तौ" सूत्र में सूत्रकार बतलाते हैं।

यत्पुनरुक्तं–चिदचिदात्मकस्य जगतः स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च परमात्मानं प्रति शरीरभावो नोपपद्यते–इति। तदनाकलित सम्यङ्‌ न्यायानुगृहीत वेदांत वाक्य गणस्य स्वमतिपरिकल्पित कुतर्क कविविजृंभितम् सर्वं एवहि वेदांताः स्थूलस्य चेतनस्याचेतनस्य समस्तस्य च परमात्मानं प्रति शरीरत्वं श्रावयंति, वाजसनेयके तावत् काण्वशाखायां चांतर्यामिब्राह्मणे "यः पृथिव्यां तिष्ठन् यस्यपृथ्वी शरीरम्" इत्यारभ्य पृथिव्यादि समस्तमचिद्वस्तु "यो विज्ञाने तिष्ठन्–यस्य विज्ञानं शरीरं "य आत्मनि तिष्ठन्–यस्यात्मा शरीरं" इति चेतनमचेतनं च पृथङ्‌ निर्दिश्य तस्य तस्य परमात्मशरीरत्वमभिधीयते। सुबालोपनिषदि च "यः पृथिवीमंतरेसंचरन् यस्य पृथ्वीशरीरम्" इत्यारभ्य तद्वदेव चिदचितोः सर्वावस्थयोः परमात्म शरीरत्वमभिधाय "एष सर्वं भूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्योदेव एको नारायणः" इति तस्य सर्वभूतानि प्रत्यात्मत्वमभिधीयते।

जो यह कहा कि --स्थूल सूक्ष्मामक जडचेतनमय जगत परमात्मा का शरीर हो ही नहीं सकता, यह कथन, वेदान्तशास्त्र के सम्यक् ज्ञान न होने से मनः कल्पित कुतर्क का फल है। सारे ही वेदांतशास्त्र स्थूल सूक्ष्म चेतन अचेतन समस्त को परमात्मा का शरीर बतलाते हैं। वाजसेनयी काण्व और माध्यंदिन शाखा के अन्तर्यामी ब्राह्मण में जैसे—"जो पृथ्वी में स्थित हैं पृथ्वी जिनका शरीर है" इत्यादि से पृथिव्यादि समस्त अचिद् वस्तु तथा "जो विज्ञान में स्थित हैं विज्ञान जिनका शरीर है" "जो आत्मा में स्थित हैं आत्मा जिनका शरीर है" इत्यादि से चेतन वस्तुओं का पृथक—पृथक निर्देश करके, उनको परमात्मा का शरीर बतलाया गया है। सुबालोपनिषद में भी इसी प्रकार "जो पृथ्वी में संचरण करते हैं, पृथ्वी जिनका शरीर है' तथा "जो आत्मा में संचरण करते हैं, आत्मा जिनका शरीर है" इत्यादि में उसी प्रकार चिदचिद की समस्त अवस्थाओं को परमात्मा का शरीर बतलाकर "वह सर्वान्तिर्यामी निष्पाप दिव्य देव एक नारायण हैं" इत्यादि से उन परमात्मा को भूतों का अन्तर्यामी बतलाया गया है।

स्मरन्ति च "जगत्सर्वं शरीरं ते यदम्बुवैष्णवंकाय:" "तत्सर्वं वै हरेस्तनुः" तानिसर्वाणि तद्वपुः "सोऽभिध्याय शरीरा–त्स्वात्" इत्यादि। भूतसूक्ष्मत्वात्स्वाच्छरीरादित्यर्थः। लोके च शरीर शब्दो घटादिशब्दवदेकाकारद्रव्यनियत वृत्तिमनासादितः कृमिकीटपतंगसर्पनरपशुप्रभृतिष्वत्यंत विलक्षणाकारेषु द्रव्येष्वगौणः प्रयुज्यमानो दृश्यते। तेन तस्य प्रवृत्तिनिमित्त व्यवस्थापनं सर्वं प्रयोगानुगुण्येनैव कार्यम् त्वदुक्तं च "कर्मफलभोगहेतुः" इत्यादिकं प्रवृत्तिनिमित्त लक्षणं न सर्वं प्रयोगानुगुणम्, यथोक्तेष्वीश्वर शरीरतयाऽभिहितेषु पृथिव्यादिष्वव्याप्तेः।

"सारा जगत तुम्हारा ही शरीर है, जल विष्णु का शरीर है" यह सब हरि का शरीर है। "उन्होने संकल्प करके अपने शरीर से" इत्यादि स्मृति वाक्य भी उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं। लोक में शरीर शब्द, घर आदि शब्दों की तरह, अनेक प्रकार के द्रव्य संघातमय, कृमि-कीट-

पतंग-सर्प-नर-पशु आदि विभिन्न आकारों के लिए प्रयोग किया जाता है। प्रचलित प्रयोगों की सिद्धि के लिए तदनुसार ही शरीर शब्द का प्रयोग करना चाहिए। तुमने जो "कर्म फल के भोग का हेतु शरीर" इत्यादि लक्षण बतलाया वह सर्व प्रयोगानुसारी नहीं है, क्योंकि ईश्वर के शरीर रुप से वर्णित पृथ्वी आदि में, उक्त लक्षण की अव्याप्ति होती है [अर्थात् तुम्हारे लक्षणानुसार शास्त्रनिहित जगतशरीरत्व की सिद्धि नहीं होती]

किं च ईश्वरस्येच्छाविग्रहेषु मुक्तानां च "स एकधा भवति" इत्यादि वाक्यावगतेषु विग्रहेषु तल्लक्षणमव्याप्तम्, कर्मफलभोग निमित्तत्वाभावान्तेषाम्, परमपुरुषेच्छा विग्रहाश्च न पृथिव्यादि भूतसांघत विशेषाः "न भूतसंघ संस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" इति स्मृतेः। अतोभूतसंघात रुपत्वं च शरीरस्याव्याप्तम्। पंचवृत्ति प्राणाधीन धारणत्वं च स्थावरशरीरेष्वव्याप्तम्। स्थावरेषु हि प्राणसद्भावेऽपि तस्य पंचधा अवस्थाय शरीरस्य धारकत्वेनावस्थानं नास्ति। अहल्यादीनां कर्मनिमित्त शिलाकाष्ठादिशरीरेष्विद्रिया-श्रयत्वं सुखदुःख हेतुत्वं चाव्याप्तम्।

तथा ईश्वर के इच्छामय शरीर और "वह मुक्त पुरुष एक दो तीन आदि होता है" ऐसे मुक्त शरीर में भी तुम्हारा लक्षण अव्याप्त होता है। क्योंकि ये शरीर कर्मफल के भोग के लिए नहीं होते। परम पुरुष भगवान का स्वेच्छामय विग्रह पृथिव्यादि भूतों का संघात नहीं होता। "परमात्मा का यह देह भूत समुदायों का संस्थान नहीं है" ऐसा स्मृति का ही वचन है। इसलिए भूतसंघातत्व या भौतिकत्व लक्षण वाले शरीर की तुम्हारे लक्षणानुसार अव्याप्ति होती है। पांचवृत्ति वाले प्राणों के आधार पर जिनकी धारणा और रक्षा होती है, ऐसे स्थावर वृक्ष आदि) शरीरों में भी (उक्त लक्षण) अव्याप्त होगा। यद्यपि स्थावर आदि शरीरों में प्राण का अस्तित्व है, किन्तु पांच प्रकार के प्राणों के आधार पर ही उसकी स्थिति हो, ऐसा नहीं है। कर्म निमित्तक अहल्या आदि के पत्थर लकड़ी आदि के शरीरों में, इंद्रियाश्रमता और सुख दुःख हेतुता का अभाव होने से भी अव्याप्ति होगी।

अतो यस्य चेतनस्य यद्द्रव्यं सर्वात्मना स्वार्थे नियंतु धारयितुं च शक्यम्, तच्छेषतैक स्वरुपंच तत्तस्य शरीरमिति शरीरलक्षण-मास्थेयम्। रुग्णशरीरादिषु नियमनाद्यदर्शनं विद्यमानाया एव नियमन शक्तेः प्रतिबंधकृतम्, अग्न्यादेः शक्ति प्रतिबंधा दौष्ण्याद्य दर्शनवत्। मृतशरीरं च चेतनवियोग समय एव बिशरितुमारब्धम् क्षणान्तरे च विशीर्यंते पूर्वंशरीरतयापरिकृलप्त संघातैक देशत्वेन च तत्र शरीरत्व व्यवहारः। अतः सर्वंपरं पुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाक्यं धार्यं तच्छेषतैक स्वरुपमिति सर्वं चेतनाचेतनं तस्य शरीरम्।

जो चेतन को आत्मीय रुप से नियमन और धारण करने में समर्थ हो और वह उसके अधीन रहे, उसी द्रव्य को शरीर कहा जा सकता है। रोगी आदि शरीरों में जो स्वेच्छानुसार परिचालन क्षमता नहीं होती, वह दाहिका शक्ति रहित अग्नि की अनुष्णता के समान ही शक्त्यावरोध है। मृत शरीर आत्मा से अलग होते समय ही विशीर्ण होने लगता है और तत्काल बाद ही पूर्णंतः विषण्ण हो जाता है, पहले वह जीवात्मा, का शरीर था, इसलिए बाद में भी उसमें शरीर रुप से व्यवहार किया जाता है। यह सारा जगत, परं पुरुष परमात्मा से नियंतृत, धारित और हर प्रकार से अधीनस्थ है, इसलिए इसे उनका शरीर कहा गया है।

"अशरीरं शरीरेषु" इत्यादि च कर्म निमित्त शरीर प्रतिषेध-परम् यथोक्त सर्बंशरीत्वश्रवणात्। उपरितनादिकरषु चैतदुपपाद-यिष्यते। "अपोतौ तद्वत्प्रसंगादसमंजसं" नतु दृष्टान्तभावात्" "इतरव्यपदेशात्" इत्यधिकरण सिद्धोऽर्थः स्मारितः।

"अशरीरं शरीरेषु" इत्यादि वाक्य में, परमात्मा के कर्मनिमित्तक भोग्य शरीर का ही निषेध किया गया है, उनके सामान्य शरीर की कहीं भी चर्चा नहीं मिलती। बाद के अधिकरण में इस विषय का उपपादन करेंगे, "अपीतौ तद्वत् प्रसंगाद समंजसम्" न तु दृष्टांतभावात्" इन दो सूत्रों से "इतरव्यपदेशात्" अधिकरण की सिद्धि का स्मरण किया गया है।

स्वपक्षदोषाच्च ।२।१।१०॥

न केवल ब्रह्मकारणवादस्य निर्दोषतयैतत्समाश्रयणम्, प्रधान कारणवादस्य, दुष्टत्वाच्च तत्परित्यज्यैतदेव समाश्रयणीयम्। प्रधान कारणवादे हि जगत् प्रवृत्तिर्नोपपद्यते। तत्रहि निर्विकारस्य चिन्मात्रैकसस्य पुरूषस्य प्रकृति सन्निधानेन प्रकृतिधर्माध्यास निबन्धना जगत् प्रवृत्तिः। निर्विकारस्य चिन्मात्ररुपस्य प्रकृतिधर्माध्यासहेतुभूतं प्रकृतिसन्निधानं किं रुपम् इति विवेचनीयम्, किं प्रकृतेःसद्भाव एव उततद्गतः कश्चिद् विकारः अथ पुरुषगत एव कश्चिद् विकारः। न तावद् पुरुषगतः, अनभ्युपगमात्। नापि प्रकृतेर्विकारः तस्याध्यास कार्यतयाऽभ्युपेतस्यासहेतुत्वासंभवात्, सद्भाव मात्रस्य सन्निधानत्वे मुक्तस्याप्यध्यास प्रसंग इति त्वत्पक्षे जगत् प्रवृत्तिर्नोपपद्यते। अयमर्थः सांख्य प्रतिक्षेपसमये "अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्" इत्यादिना प्रपंचामिश्यते।

न केवल ब्रह्म कारणवाद के निर्दोष होने के कारण उक्त मत अग्राह्य हैं, अपितु, प्रधान कारणवाद दोषपूर्ण होने से स्वयं अग्राह्य है; इसलिए ब्रह्मकारणवाद, उक्त मत का त्याग कर ग्राह्य है। प्रधान कारणवाद के आधार पर जगत की रचना सिद्ध ही नहीं होती, क्योंकि उस मत में, निर्विकार एक मात्र चित्स्वरुप पुरूष में, प्रकृति के साहचर्य से, प्राकृतिक धर्मों के अध्यास से जगत की रचना होती है।

निर्विकार चिन्मात्र स्वरूप पुरुष का प्रकृति के धर्मों के अध्यास का कारण, प्रकृति का साहचर्य, किस प्रकार का होता है; यह विवेचनीय है। क्या प्रकृति का सद्भाव मात्र रहता है, अथवा उसका किसी प्रकार का विकार रहता है? अथवा पुरुष का ही किसी प्रकार का विकार रहता है? सो पुरुष का विकार तो हो नहीं सकता, क्योंकि—पुरुष में विकार स्वीकार नहीं किया गया है। प्रकृति का भी विकार नहीं हो सकता, क्योंकि—उसे ही अध्यास रूप कार्य स्वीकार किया गया है, अध्यास ही

अध्यास का पूर्व कारण नहीं हो सकता। प्रकृति का सद्भाव (विद्यमा-नता) सानिध्य मानने से तो मुक्त पुरूष का भी अध्यास हो जाएगा। इसलिए प्रधान कारणवाद से जगत की रचना नहीं बनती। "अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्" सूत्र की व्याख्या के समय सांख्य मत का नियम विस्तृत रूप से करेंगे।

तर्काप्रतिष्ठानादपि ।२।१।११।।

तर्कस्या प्रतिष्ठितत्वादपि श्रुतिमूलो ब्रह्मकारणवाद एव समाश्रयणीयः न प्रधानकारणवादः। शाक्योलूक्याक्षयादक्षपण-कपिलपंतजलि तर्काणामन्योन्यव्याधातात्तर्कस्याप्रतिष्ठित्वं गम्यते।

जो श्रुति सम्मत नहीं होता उस तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं होती, श्रुति मूलक ब्रह्म कारणवाद ही समाश्रयणीय है, प्रधान कारणवाद नहीं। शाक्य, उलूक्य, अक्षपाद, क्षपणक, कपिल, पतंजलि आदि के तर्क पर-स्पर भिन्न और खंडित हो जाते है, इसलिए वे सारे तर्क अप्रतिष्ठित माने जावेंगे।

अन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्य निर्मोक्ष प्रसंगः ।२।१।१२।।—

इदानीं विद्यमानानां शाक्यादीनां तर्कानुद्घ्ष्यान्यदथा प्रधान कारणवादमतिक्रान्ततदुपदर्षितदूषणत्वेनानुमास्यामह इति चेत्, एवमपि पुरुषबुद्धिमूल तर्कैकावलम्वनस्य तथैव देशान्तर कालान्त-रेषु त्वदधिक कुतर्क कुशल पुरुषोत्प्रेक्षिततर्कं दूष्यत्व संभावनया तर्का प्रतिष्ठान दोषादनिर्मोक्षोदुवरिः। अतोऽतीन्द्रियेऽर्थे शास्त्रमेव प्रमाणम्, तदुपवृंहणायैव तर्क उपादेयः तथा चाह—"आर्षंधर्मोपदेशं च वेदशास्त्र विरोधिना, यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेदनेतरः इति'। वेदाख्यशास्त्र विरोधिनेत्यर्थः। अतो वेद विरोधित्वेन वेदार्थविश-दीकरणरुपवेदोपवृंहणतर्कोपादानाय सांख्य स्मृतिर्नादरणीया।

हम विद्यमान शाक्य आदि के तर्कों का उद्घोष करते हुए प्रकारान्तर से, प्रधान कारण वाद की ऐसी सत्ता का अनुमान करेंगे जिससे कि दोष

उसमें घटित न हो सकेंगे, ऐसा तुम्हारा कथन भी व्यर्थ ही है क्योंकि-तुम मानव बुद्धि के आधार पर ही ऐसी चेष्टा करोगे, देशांतर या कालांतर में तुम्हारे बुद्धिजन्य तर्कों को काटने वाली कोई ऐसी तीक्ष्ण मानव बुद्धि, तुम्हारे समक्ष उपस्थित हो जाएगी, जिससे तुम्हारे सारे तर्क व्यर्थ हो जावेंगे, तुम्हारे तर्कों की प्रतिष्ठा बच न सकेगी। वस्तुतः अतीन्द्रिय अर्थ में शास्त्र ही प्रमाण हैं, उनके विवेचन में ही तर्क की उपादेयता है, ऐसा ही कहा भी गया है "जो वेदशास्त्र से अविरुद्ध तर्क द्वारा ऋषिप्रोक्त धर्मोपदेश को जानने की चेष्टा करते हैं वे ही वास्तविक धर्मतत्व को जानते हैं, दूसरे नहीं"। वेद विरोधी होने से, वेदार्थ विशदीकरण रूप उपवृंहण तर्क का उपपादन करने की चेष्टा करने पर भी, सांख्य स्मृति, आदरणीय नहीं है।

४ शिष्टा परिग्रहाधिकरणः—

एतेन शिष्टापरिग्रहा, अपि व्याख्याताः ।२।१।१३॥

शिष्टाः परिशिष्टाः, न विद्यते वेद परिग्रहो येषामित्यपरिग्रहाः शिष्टाश्चापरिग्रहाश्च शिष्टापरिग्रहाः, एतेन वेदापरिगृहीत सांख्य पक्ष क्षपणेन परिशिष्टाश्च वेदापरिगृहीताः कणभक्षाक्षपाद क्षपणक भिक्षुपक्षाः क्षपिता वेदितव्याः। परमाणु कारणवादेऽमीषां सर्वेषां संवादात् कारणवस्तुविषयस्य तर्कस्याप्रतिष्ठित्वं न शक्यते वक्तुं इत्याधिकाशंका।

शिष्टा का तात्पर्य है परिशिष्ट तथा अपरिग्रह का अर्थ है, जिसे वेदार्थ ग्रहण नहीं करता। वेदानुमत न होने से सांख्य मत की तरह परिशिष्ट, कणाद, अक्षपाद, क्षपणक (बौद्ध) भिक्षु (जैन) इत्यादि भी अग्राह्य हैं। परमाणु कारणवाद में कणाद आदि सभी जब एकमत हैं, तो कारणवस्तु परमाणु के विषय में, जो कि तर्क से अप्रतिष्ठ हो ही चुका, और अधिक कहने को क्या शेष रह जाता है ? (अर्थात् जब परमाणु कारणवाद को जब परास्त कर चुके तब परमाणु को माननेवाले सभी को परास्त ही समझना चाहिए सबका अलग-अलग खंडन करने की क्या आवश्यकता है ?)

तावन्मात्र संवादेऽपि तर्कमूलत्वाविशेषात् परमाणु स्वरूपेऽपि शून्यात्मकत्वाशून्यात्मकत्वज्ञानात्मकत्वक्षणिकत्व नित्यत्वैकान्तत्वानेकान्तत्वसत्यासत्यात्मकत्वादि विसंवाद दर्शनाच्चा प्रतिष्ठितत्वमेवेति परिहारः।

केवल एक मात्र परमाणु में ही सबका एकमत है, उसमें भी ये लोग परस्पर शून्यात्मक अशून्यात्मक, ज्ञानात्मक, अर्थात्मक सत्यत्व, असत्यत्व, एकान्तत्व, अनेकान्तत्व आदि विभिन्न भेद मानते हैं, इसलिए इन सबका अलग अलग अप्रतिष्ठित रूप में परिहार करना आवश्यक है।

५ भोक्त्रापत्यधिकरणः—

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ।२।१।१४॥

पुनरपि सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते—यदुक्तं, स्थूलसूक्ष्मचिदचिद् वस्तुशरीरस्य परस्य ब्रह्मणः कार्यकारणरूपत्वाज्जीव ब्रह्मणोः स्वभाव विभाग उपपद्यते—इति, स तु विभागो न संभवति—ब्रह्मणः शरीरत्वे तस्य भोक्तृत्वापत्तेः, स शरीरत्वे जीवस्येवेश्वरस्यापि सशरीरत्व प्रयुक्त सुख दुःखयोर्भोक्तृत्वस्यावर्जनीयत्वात्।

सांख्यवादी पुनः समक्ष उपस्थित होता है—कि वेदांत में स्थूल सूक्ष्म चिदचिद् जब सभी परब्रह्म के शरीर हैं और सभी का कारण ब्रह्म है; तथा जीव उसका कार्य है, तो जीव और ब्रह्म का भेद कहना असंभव नहीं हैं (अर्थात् वे तो स्वभाव से ही भिन्न हैं) पर वस्तुतः ऐसा कोई भेद होना नहीं चाहिए जबकि परमात्मा का शरीर संबंध है तो उसमें भी जीव की तरह शरीर के भोग्य सुख दुःख आदि अनिवार्य हो जावेगे।

ननु च—"संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशष्यात्" इत्यत्रेश्वरस्य भोग प्रसंग परिहार उक्तः, नैवम् तत्रहि उपास्यतया हृदयायतने सन्निहितस्य शरीरान्तर्वर्त्तित्वमात्रेण भोग प्रसंगो न विद्यत इत्युक्तम्, इह तु जीववद् ब्रह्मणोऽपि शरीरत्वे तद्वदेव सुख दुःखयो भोक्तृत्व

प्रसंगो दुर्वारि इत्युच्यते, दृश्यते हि स शरीराणां जीवानां शरीरगतं बालत्वस्थविरत्वादिविकारासंभवेऽपि शरीर धातु साम्यवैषम्य निमित्त सुखदुःखयोगः। श्रुतिश्च "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपह तिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति अतः सशरीर ब्रह्मकारणवादे जीवेश्वर स्वभावविभागा संभवात् केवल ब्रह्मकारणवादे मृत्सुवर्णा दिवज्जगद्गता पुरुषार्थादि सर्वविशेषाश्रयत्व प्रसंगाच्च प्रधानकारणवाद एव ज्यायान् इति चेत्—

—"संभोग प्राप्ति" इत्यादि सूत्र में भोग संभावना का परिहार कर दिया गया है इसलिए ब्रह्म में भोग संभव नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि—उस सूत्र में तो उपास्य रूप से हृदयायतन में शरीरान्तर्वर्ती होने मात्र से उनमें भोग प्रसंग नहीं होता, ऐसा कहा गया। पर यहां तो जीव की तरह ब्रह्म को भी शरीरी कहा गया है अतः वह जीव के समान सुख-दुःख आदि भोगों में अनिवार्य रूप से आसक्त होगा, शरीरी जीवों में शरीरगत बालत्व, स्थविरत्व आदि विकारों के न होते हुए भी धातु वैषम्य (वात पित्त कफ आदि की विषमता) से सुख दुःख होते देखा जाता है। श्रुति का भी ऐसा वचन है कि—"पुरुष जब तक शरीराभिमानी रहता है तब तक प्रिय अप्रिय संबंध निवारित नहीं होते पर अशरीरी होते ही उसे प्रिय अप्रिय स्पर्श भी नहीं कर पाते" इत्यादि से जीव ब्रह्म का भेद परिहृत हो जाता है तो घट कुंडल आदि के उपादान मिट्टी और सुवर्ण की तरह ब्रह्म में भी जागतिक हेय तत्त्वों का संक्रामित होना आवश्यक है इसलिए प्रधानकारणवादी सांख्यमत ही उत्कृष्ट है।

सिद्धान्तः—"स्याल्लोकवत्" इति। स्यादेव विभागो जीवेश्वर स्वभावयोः नहि जीवस्य शरीर धातुसाम्यवैषम्यनिमित्तं सुखदुःखयोभोक्तृत्वम् सशरीरत्व कृतं, अपितु पुण्यपापरूपकर्मकृतम्। "न ह वै सशरीरस्य" इत्यादि कर्मारब्ध देहविषयम्—"स एकधा भवति त्रिधा-भवति"—स यदि पितृलोक कामो भवति—"स तत्र पर्येतिजक्षद् क्रीडन् रममाणः" इति कर्मबंधविनिर्मुक्तस्याविर्भूतस्वरुपस्य सशरीर-

स्यैवापुरूषार्थं गंधाभावात् । अपहतपाप्मनस्तु परमात्मनः स्थूलसूक्ष्म रूपकृत्स्नजगच्छरीरत्वेऽपि कर्मसंवंधगंधो नास्ति इति नतरामपुरूषार्थं गंधप्रसंगः । लोकवत्—यथा लोके राजशासनानुवर्त्तिनां च राजानुग्रहनिग्रहकृत सुखदुःखयोगेऽपि न शरीरत्वमात्रेण शासके राज्यपि शासनानुवृत्यतिवृत्तिनिमित्तसुखदुःखयोर्भोक्तृत्व प्रसंगः ।

उक्त वक्तव्य का खंडन करते हुए कहते है कि—लोक व्यवहार की तरह दोनों का विभाग हो सकता है, जीव और ब्रह्म का स्वाभाविक भेद है, शारीरिक धातु वैषम्य के कारण जो जीव को सुखदुःखादि का अनुभव होता है, उसका कारण शरीरी होना नहीं हैं, अपितु पुण्य पाप रूपकर्म ही उसका कारण है । " शरीराभिमानी जीव के प्रिय अप्रिय अनिवार्य हैं" इत्यादि श्रुति भी, प्रारब्ध कर्मलब्ध देह संबंध का ही द्योतन करती है । "वह एक और बहुत हो जाता है, जब वह पितृलोक में जाने की इच्छा करता है तो वहाँ पहुँच जाता है, वह भोग-आमोद और क्रीडा करता है "इत्यादि वाक्यों में कर्मबंधन से मुक्त जीव के ब्रह्मभाव प्राप्त सूक्ष्म स्वरूप को, जागतिक हेय तत्वों से अस्पृष्ट बतलाया गया है । निष्पाप परमात्मा स्थूल सूक्ष्म समस्त जगत रूप शरीर वाले होकर भी, कर्मबद्ध न होने से जागतिक हेय तत्वों से सदा अस्पृष्ट ही रहते हैं । जैसे कि लोक में राजाज्ञा को मानने वाले और न मानने वाले राजा के अनुग्रह और कोप के भाजन होकर सुख और दुःख का अनुभव करते हैं, पर शरीरी होते हुए भी राजा का शासन निमित्तक सुख दुःख का रंचमात्र भी अनुभव नहीं होता ।

यथाह—द्रविडभाष्यकारः—"यथा लोके राजा प्रचुरदंदशकेघोरेऽनर्थसंकटेऽपि प्रदेशे वर्त्तमानो व्यजनाद्यवधूतदेहो दोषैर्नं स्पृश्यते, अभिप्रेतांश्च लोकान् परिपालयति, भोगांश्च गंधादीनविश्वजनोपभोग्यान्धारयति, तथाऽसौ लोकेश्वरो भ्रमत्स्वसामर्थ्यं चामरोदोषैर्नं स्पृश्यते, रक्षति च लोकान् ब्रह्मलोकादीन्, भोगांश्चाविश्वजनोपभोग्यान्धारयति "इति मृत्सुवर्णावद् ब्रह्मस्वरूप परिणामस्तु नैवाभ्युपगम्यते, अविकारत्वनिर्दोषत्वादि श्रुतेः ।

जैसा कि–भाष्यकार दविडाचार्य जी ने कहा भी है–"जैसा कि–राजा मक्खी मच्छर आदि कष्ट प्रद स्थान में भी पंखा और चमर आदि के ढुलने के कारण, उन कष्टों का अनुभव नहीं करता तथा अपने अभीष्ट सुखों को प्राप्त करता है और गंध आदि जागतिक भोग्य पदार्थों को धारण करता है; वैसे ही लोकेश्वर, अव्याहृत शक्ति रूप चामर के निरन्तर ढुलने से जागातिक दोषों से अनस्पृष्ट रहते हैं तथा समस्त जगत का परिपालन करते हुए, जागतिक और ब्रह्मलोकादि भोगों का आनंद लेते रहते हैं। "श्रुति जब ब्रह्म को निर्विकार और निर्दोष बतला रही है, तब मिट्टी और सुवर्ण की तरह, उसका परिणाम नहीं स्वीकारा जा सकता।

यत्तु परैर्ब्रह्मकारणवादे भोक्तृभोग्यविभागाभावमाशक्य समुद्रफेनतरंगदृष्टांतेन विभागप्रतिपादनपरं सूत्रंव्याख्यातम्, तद्युक्तम् अन्तर्भावितशक्त्यविद्योपाधिकाद् ब्रह्मणः सृष्टिमभ्युपगच्छतामेवमाक्षेपपरिहारयोरसंगतत्वात् कारणान्तर्गतशक्त्यविद्योपाधि उपहितस्य भोक्तृत्वाद् उपाधेश्च भोग्यत्वात्। विलक्षणयोस्तयोः परस्परभावापत्तिर्हि न संभवति, स्वरूप परिणामस्तु तैरपिनाभ्युपेयते "न कर्माविभादितिचेन्नानादित्वात्" इति क्षेत्रज्ञानां तद्गत कर्मणां चानादित्व प्रतिपादनात्। स्वरूपपरिणामभ्युपगमेऽपि भोक्तृभोग्यविभागाशंका कस्यचिदपि न जायते मृत्सुवर्णादिपरिणामरूपघटशरावकटकमुकुटादिविभागवद् भोक्तृभोग्यविभागोपपत्तेः स्वरूप परिणामे च ब्रह्मण एव भोक्तृभोग्यत्वापत्तिरिति पुनरप्यसामंजस्य स्यमेव।

जो लोग, ब्रह्मकारणवाद में भोक्ता और भोग्य विभाग न होने की आशंका करते हैं तथा समुद्र और उनके फेन तरंग आदि का दृष्टांत देकर इस सूत्र की व्याख्या करते हैं वे भी असंगत है, क्योंकि—वे लोग जब आवरण और विक्षेप शक्ति समन्वित, अविद्या उपहित ब्रह्म से सृष्टि मानते हैं तो उनके द्वारा, इस प्रकार का शंका समाधान कभी हो नही सकता (यदि वे करते हैं तो ग़लत करते हैं) क्योंकि आवरण विक्षेप अविद्या शक्तियुक्त ब्रह्म, स्वयं भोक्ता तथा उपाधिअविद्या (और अविद्या का परिणाम जगत) उसका योग्य है सिद्ध होता है, इस प्रकार उन दोनों में

वैलक्षण्य के रहते, परस्पर एकभावापत्ति (अविभाग संभव नहीं है। अन्य लोग तो स्वरूपतः ब्रह्म का परिणाम ही नहीं स्वीकारते । परवर्त्ती "न कर्मविभागात्" इत्यादि सूत्र में, जीव और जीवगत कर्मों की अनादिता का प्रतिपादन किया गया है, तब साक्षात् संबंध से, स्वरूपतः ब्रह्म का परिणाम स्वीकारने पर भी, भोक्ता और भोग्य के भेद के विषय में कोई आशंका कर ही नहीं सकता, क्योंकि मिट्टी सुवर्ण आदि के परिणाम घट मुकुट आदि की तरह, यहाँ भी भोक्ता और भोग्य का विभाग सिद्ध हो जाता है। फेन तरंगादि के दृष्टांत को स्वीकारने पर, स्वरूपतः ब्रह्म का परिणाम स्वीकार करते हुये भी, एक ही ब्रह्म में, भोक्ता और भोग्य भाव सिद्ध हो जाता है इसलिए इस मत में पुनः असामंजस्य ही उपस्थित होता है।

६ आरम्भणाधिकरणः—

तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।२।१।१५।।

"असदिति चेन्न प्रतिषेध मात्रत्वात्" इत्यादिषु कारणभूताद् ब्रह्मणः कार्यंभूतस्य जगतोऽनन्यत्वमभ्युपगम्य ब्रह्मणो जगद्कारण त्वमुपपादितम्, इदानीं तदेवानन्यत्वमाक्षिप्य समाधीयते ।

"असदिति चेन्न" इत्यादि सूत्र में कारण भूत ब्रह्म और कार्यभूत जगत् की अनन्यता बतलाकर, ब्रह्म की जगतकारणता का प्रतिपादन किया गया है। अब उस अनन्यता पर आक्षेप करते हुए, समाधान करेंगे।

तत्र काणादाः प्राहुः, न कारण कार्यस्यानन्यत्वं संभवति विलक्षण बुद्धि बोध्यत्वात्, न खलु तंतुपटमृत् पिंडघटादिषु कार्यका-रण विषया बुद्धिरेकरुपा । शब्दभेदाच्च, नहि तन्तवः पट इत्युच्यंते घटो वा तंतव इति । कार्यभेदाच्च, नहि मृतपिंडेनोदकमाह्रियते, घटे न वा कुड्निर्मियते । कालभेदाच्च, पूर्वकालं च कारणं, अपर-कालं च कार्यम्। आकारभेदाच्च, पिंडाकारं कारणम्, कार्यं च पृथुबुध्नोदराकारम्, तथा सत्यामेव मृदि घटोनष्ट इति व्यवह्रियते।

संख्याभेदश्च दृश्यते, बहवस्तंतवः, एकश्च पटः । कारकव्यापार वैयर्थ्यं च कारणमेवचेत्कार्यं किं कारणकव्यापारसाध्यं स्यात् । सत्यपि कार्ये कार्मोंपयोगितया कारक व्यापारेण भवतिब्यं चेत्– सर्वदा कारक व्यापारेणनोपरन्तव्यम् । सर्वस्य सर्वदा सत्वेन नित्यानित्यविभागश्च न स्यात् । अथ कार्यं सदेव पूर्वमनभिव्यक्तं कारकव्यापारेणभिन्यज्यते अतः कारक व्यापारार्थवत्वं, नित्यानित्यविभागश्चोच्यते, तदसत् अभिव्यक्तेरभिव्यक्त्यन्तरापेक्षत्वे अनस्यवानाद पेक्षत्वेकार्यस्य नित्योपलब्धि प्रसंगात्तदुत्पत्त्यभ्युपगमे चासत्कार्यवाद प्रसंगात् ।

कणाद कहते हैं कि–कारण से कार्य की अनन्यता कभी हो नहीं सकती कार्य कारण में देखने से भिन्न बुद्धि ही होती है। सूत और कपड़ा, मिट्टी और घट को देखकर स्पष्ट भिन्नता की प्रतीति होती है। दोनों का नाम भी भिन्न है, सूत को कपड़ा या कपड़े को कभी सूत नहीं कहा जा सकता। दोनों का कार्य भी भिन्न है मिट्टी के ढेले में जल नहीं भरा जा सकता, और न घड़े से कूंढ़ा ही बनाया जा सकता है दोनों में काल का भी भेद है, पहिले वह कारण था बाद में कार्य हो गया। दोनों में आकार भेद भी है, कारण पिंड आकार था जो कि कार्य रूप में, सुराही के आकार का हो गया। घड़ा का चूरा मिट्टी होते हुए भी प्रयोग यही होता है कि घड़ा फूट गया। दोनों में संख्या भेद भी है सूत अनेक होते हैं, कपड़ा एक होता हैं। कार्य यदि कारण सा ही रहे तो विचारे कर्त्ता द्वारा किए गए श्रम का प्रयोजन ही क्या होगा ? इन दोनों को एक मानने से कर्त्ता की क्रिया ही व्यर्थ हो जावेगीं। यदि कहो कि– कार्य के रहते भी कारण उपस्थित रहता है, तब तो विचारे कर्त्ता की सारी क्रिया ही गुड़गोवर हो जावेगी, वह विचारा जीवन पर्यन्त बनाता ही रह जावेगा । सब की सदा सत्ता मानने से नित्य और अनित्य का भेद भी तो न रह जाएगा।

यदि कहो कि–कार्य की सत्ता सदा रहती है, पूर्व में अव्यक्त कार्य, कर्त्ता के क्रिया कौशल से, बाद में व्यक्त हो जाता है, इसलिए कर्त्ता के श्रम की विफलता तथा वस्तु की नित्यता अनित्यता का प्रश्न ही नहीं

उठता । तुम्हारा यह कथन असंगत है । क्योंकि—यदि अव्यक्ति से भिन्न कोई दूसरी अनभिव्यक्ति मानी जावेगी तो अनवस्था दोष होगा, यदि ऐसा नहीं मानते तो कार्य की नित्योपलब्धि का प्रसंग उपस्थित होगा. तथा उत्पत्ति मानने पर असत् कार्यवाद का सिद्धांत उपस्थित होता है (जो कि तुम्हारे मत से भिन्न हमारा अभिमत है)

किं च कारकव्यापारस्याभिव्यंजकत्वे घटार्थेन कारकव्यापारेण कारकादेष्वभिव्यक्तिः प्रसज्यते, संप्रतिपन्नाभिव्यंजकभावेषु दीपादिष्वाभिव्यंग्य विशेष नियमादर्शनात् नहि घटार्कमारोपितः प्रदीपः करकादीन्नाभिव्यनक्ति। अतोऽसतः कार्यस्योत्पत्ति हेतुत्वेनैव कारकव्यापारार्थवत्वम अतश्च सत्कार्यवादासिद्धिः । न च नियत कारणोपादानं सत एव कार्यत्वं साधयति कारणशक्ति नियमादेव तदुपपत्तेः नन्वसत्कार्यवादिनोऽपि कारकव्यापारोनोपपद्यते, प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासत्वात् । कार्यादन्य कारकव्यापारेण भवितव्यम्, तत्रान्यत्वा विशेषात्तंतुगतकारकव्यापारेण घटोत्पत्तिरऽपि प्रसज्यते, नैव यत्कार्योत्पादन शक्तं यत्कारणम, तद्गत कारकव्यापारेण तत्कार्योत्पत्ति सिद्धेः ।

जैसे कि—अभिव्यंजक प्रदीप आदि के आलोक में, पहले से स्थित सारी वस्तुएं, आपसे आप दीखने लगती हैं, दीप वाहक को उसमें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, वैसे ही पाषाण में यदि पहिले से ही मूर्ति आदि का अस्तित्व है तो शिल्पी को प्रयास करने की क्या आवश्यकता है ? मूर्ति को तो केवल चेष्टा मात्र से स्वयं ही व्यक्त हो जाना चाहिए । क्या घड़े के खोजने के लिए जलाए गए दीपक से अन्यान्य वस्तुएं प्रकाशित नहीं होती ? असत् कार्यवाद मानने पर ही शिल्पी की कार्य सार्थकता सिद्ध होती है, इसलिए सत्कार्यवाद गलत है । भिन्न-भिन्न उपादानों को मानने से भी सत्कार्यवाद की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि—भिन्न कारणों में विभिन्न प्रकार की शक्ति निहित है, सभी वस्तुओं में सब कुछ प्रकट

करने की उर्वरा शक्ति नहीं होती इसलिए भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न उपादान मानना आवश्यक है यदि कहें कि—उत्पत्ति के पूर्व कार्य की सत्ता न मानने से असत्कार्यवादी के पक्ष में भी कर्त्ता का प्रयास सफल नहीं हो सकता; क्योंकि—उनके मत से, कार्य से भिन्न पदार्थों के आधार पर ही, कर्त्ता का व्यापार है, तो तंतुओं के साथ प्रयास करने से घड़ा उत्पन्न हो जाना चाहिए। सो बात भी नहीं है क्योंकि—जिस कार्य की क्षमता, जिस कर्त्ता में होती है, वह उसके कारण से उसी कार्य की उत्पत्ति कर सकता है (जैसे कि—कुम्हार मिट्टी से घड़ा आदि जुलाहा सूत से वस्त्र आदि। कुम्हार कपड़ा या जुलाहा घड़ा नहीं बना सकता)

अत्राहुः, कारणादनन्यत्कार्यम् नहि परमार्थतः कारणव्यतिरिक्तं कार्यंनामवस्तु, इति, अविद्या निवंधनत्वात् सकलकार्यतद्व्यवहारयोः। अतो यथा कारणभूतान्मृद्रव्याद् घटादिषु विकारेषूपलभ्यमानाद्व्यतिरिक्तं घट शरावादिकार्यं व्यवहारमात्रालंबनं मिथ्या, कारणभूतं मृव्यमैव सत्यं, तथा निर्विशेष सन्मात्रात् कारणभूताद् ब्रह्मणोऽन्यो अहंकारादि व्यवहारावलंबनः कृत्स्नः प्रपंचोमिथ्या, कारणभूत सन्मात्रं ब्रह्मैव सत्यम्। तस्माद कारणव्यतिरिक्तंकार्यं नास्तीति कारणादन्यत्कार्यंम्। न च वाच्यं, शुक्तिकारजतादीनामिव घटादिकार्याणामसत्यत्व प्रसिद्धे र्दृष्टांतानुपपत्तिरिति, यतस्तत्रापि युक्त्या मृद्द्रव्यमात्रमेव सत्यतया व्यवस्थाप्यते, तदतिरिक्तं तु युक्त्या बाध्यते का पुनरत्र युक्तिः? मृद्द्रव्यमात्रस्यानुवर्त्तमानत्वं तदतिरिक्तस्य च व्यावर्त्तमानत्वम् रज्जुसर्पादिषु हि अनुवर्त्तमानस्याधिष्ठानभूतस्य रज्ज्वादेः सत्यता, व्यावर्त्तमानस्य च सर्पभूदलनांबुधारादेरसत्यता दृष्टा, तथाऽनुवर्त्तमानमधिष्ठानभूतं मृद्द्रव्यमेव सत्यम्; व्यावर्त्तमानास्तु घटशरावादयोऽसत्यभूताः।

इस पर सत्कार्यवादी कहते हैं कि—कारण से कार्य अभिन्न है, वस्तुतः कारणके अतिरिक्त, कार्यनाम की कोई वस्तु नहीं है, जो कुछ भी कार्य

कारण व्यवहार है वह सब अविद्या (भ्रांति) मूलक है। मिट्टी के विकार घड़े आदि व्यवहारास्पद कार्य, जिस प्रकार काल्पनिक हैं, मिट्टी ही एक-मात्र सत्य है उसी प्रकार "मैं और मेरा कहलाने वाला व्यवहारास्पद जगत प्रपंच, अपने कारण निर्विशेष शुद्ध सत्य स्वरूप ब्रह्म के बजाय, मिथ्या है। सत् पदार्थ ही यथार्थ सत्य है, इसलिए कारण से भिन्न, कार्य-नामक कोई वस्तु नहीं है, और न कार्य ही कारण से भिन्न हैं।

ऐसा नहीं कह सकते, शुक्ति में रजत की मिथ्या भ्रांति का उदाहरण जैसे प्रसिद्ध है, वैसे घट आदि कार्यों में तो मिथ्या भ्रांति का उदाहरण प्रसिद्ध है नहीं इसलिए उक्त कथन असंगत है। उल्लेख मिट्टीघट आदि के प्रसंग में, युक्ति द्वारा केवल मिट्टी की ही सत्यता बतलाई गई तथा उनकी पृथकता की बात भी केवल युक्तिमात्र ही है। यदि कहें कि इसमें क्या युक्ति है? तो सुनिये-मिट्टी के सारे कार्यों में मिट्टी की अनुवृत्ति सदा रहती है तथा घट आदि आकृतियों में परस्पर व्यावृत्ति होने से सदा भिन्नता रहती है। रज्जुसर्प, शुक्ति रजत आदि में भ्रम कल्पित सर्प आदि की आश्रयभूत रज्जु सदा ही अनुवृत्त (जैसी की तैसी) रहती है, कभी भी उसकी रज्जुता का त्याग नहीं होता; इसलिए वह सर्प ही सत्य है, रज्जु, पृथ्वी की रेखा, जल की धारा, जिनमें कि सर्प भ्रांति होती है नितांत असत्य हैं। वैसे ही घट आदि कार्यों की आश्रय मिट्टी, मिट्टी से निर्मित पदार्थों से अनुवृत होने से सत्य, तथा परस्पर व्यावृत स्वभाव वाले घट प्याला आदि कार्य असत्य या मिथ्या हैं।

किं च सतआत्मनो विनाशाभावादसतश्च शशविषाणादेरुपवलब्ध्यभावादपलब्धिविनाशयोपिकार्यं सदसद्भ्यामनिर्वचनीय-मिति गम्यते। अनिर्वचनीयं च शुक्तिकारजतादिवन्मृषैव। तस्य चानिर्वचनीयत्वं प्रतीतिबाधाभ्यां सिद्धम्।

एक बात और भी है कि–सत्वस्वरूप आत्मा का विनाश नहीं होता तथा शशशृंग ऐसे असत् पदार्थों का कभी प्रत्यक्ष नहीं होता, इससे ज्ञात होता है कि–उपलब्धि (प्रतीति) और विनाश का विषयीभूत कार्य समूह अनिर्वचनीय है, अनिर्वचनीय वस्तु शुक्ति में रजत की भ्रांति के

समान मिथ्या ही होती है। शुक्तिऔर रजत की जो अनिर्वचनीयता है वह प्रतीति और बाधा द्वारा ही सिद्ध होती है।

किं च कार्यमुत्पादयन् मृदादि कारणद्रव्यं किमविकृतमेव कार्यमुत्पादयति, उत कंचन विशेषमापन्नम्। न तावदविकृतमुत्पादयति सर्वदोत्पाकत्वप्रसंगात्। नापिविशेषांतरमापन्नम्, विशेषान्तरापत्तेरपि विशेषान्तरापत्तिपूर्वकत्वेन भवितव्यम् तस्याअपि तथेत्यनवस्थानात्। अविकृतमेव देशकालनिमित्त विशेषसंबंधं कार्यमुत्पादयतीति चेन्न। देशादिविशेषसंबंधोऽपि हि अविकृतस्य विशैषांतरमापन्नस्य च पुववन्नसंभऽति।

तथा–मिट्टी आदि कारण, जो घट आदि कार्य उत्पन्न करते हैं वे अविकृत उत्पादन करते हैं या विकृत कार्योत्पादन करते हैं? अविकृत उत्पादन तो हो नहीं सकता, क्यों कि-वैसा होने से, एकही कारण से सभी कार्यों की उत्पत्ति हो जावेगी। विशेष अवस्थावाला विकृतोत्पादन भी नहीं हो सकता, वैसा होने से पुन पुनः विशेष अवस्था ही होती रहेगी जिससे अव्यवस्था हो जावेगी। देश–काल और कारण संबंध से अविकृत उत्पादन ही होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते, अविकृत अथवा विशेष अवस्थापन्न विकृत, दोनों का ही, पूर्वोक्त युक्ति से, देश काल आदि से संबंध संभव नहीं है।

न च वाच्यं मृत्सुवर्णदुग्धादिभ्यो घटरुचकदध्यादीनां उत्पत्तिदृश्यते, शुक्तिकारजतादिवद् देशकालादिप्रतिपन्नोपाधौवाधश्च न दृऽश्यते, अतः प्रतीतिशरणनां कारणात् कार्योत्पत्तिरवश्याश्रयणीया इति, विकल्पासहत्वात्-किं हेमादिमात्रमेव स्वस्तिकादेरारम्भकम् उतरुचकादि, अथरुचकद्याश्रयो हेमादिः, न तावद् हेमादिमात्रमा-रम्भकम्, हेमव्यतिरिक्तस्य कार्यस्याभावात्, स्वात्मानं प्रत्यात्मनः आरम्भकत्वासंभवाच्च। हेमव्यतिरिक्तं स्वस्तिकं दृश्यते इतिचेत्-

न हेमव्यतिरिक्तं तत् हेम प्रत्यभिज्ञानात् तदतिरिक्तवस्त्वन्तरानुपलब्धेश्च ।

यह भी नहीं कह सकते कि–मिट्टी–सुवर्ण दूध आदि कारणों से क्रमशः घट–कुंडल और दही आदि कार्यो की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, किन्तु शुक्ति में रजत की सी मिथ्या प्रतीति, किसी भी काल देश और कारण से, इन पदार्थों में नहीं होती। इसलिए–प्रतीति प्रामाण्य स्वीकृति के अतिरिक्त जिसके लिए कोई दूसरा उपाय नहीं है, उसके लिए कारण से नवीन कार्योत्पत्ति स्वीकारनी ही होगी। आपकी यह युक्ति विचार शून्य है, मैं पूछता हूँ कि–केवल सुवर्ण ही अलंकारों का उपादान कारण है, या हार आदि भी हैं? या जिसके आश्रय से हार आदि अलंकार उत्पन्न होते हैं वे सुवर्ण आदि समस्त कारण हैं? केवल सुवर्ण तो कारण हो नहीं सकता, सुवर्ण के विना, उसके कार्यरूप अलंकारों का कोई अस्तित्व ही नहीं है, न वे अलंकार ही स्वयं अपने कारण हो सकते हैं। सुवर्ण के विना भी अलंकार होते हैं ऐसा भी नहीं कह सकते, वे सब सुवर्ण से भिन्न हैं भी कहाँ? उनको सोना ही कहा जाता है, उन अलंकारों में सुवर्ण के अतिरिक्त कुछ मिलता भी नहीं।

बुद्धिशब्दान्तरादिभिर्वस्त्वंतरादीनां शुक्तिकारजतबुद्धिशब्दादिवत् भ्रांतिमूलत्वेन वस्त्वन्तरसद्भावस्यासाधकत्वात्, नापि रुचकादि स्वस्तिकादेरारम्भकम्, स्वस्तिके हिरुचकं पटइवतन्तवो भवतापि नोपलभ्यते। नापिरुचकाश्रयभूतं हेम रुचकाश्रयाकारेण हेम्नः स्वस्तिकेऽनुपलब्धेः, अतोमृदादिकारणातिरिक्तस्य कार्यस्यासत्यत्वदर्शनात् ब्रह्मव्यतिरिक्तं कृत्स्नं जगत् कार्यत्वेन मिथ्याभूतम्, तदिदं ब्रह्मव्यतिरिक्तमिथ्यात्वसुखप्रतिपत्तये काल्पनिकमृदादिसत्यत्वमाश्रित्य कार्यस्यासत्यत्वं प्रतिपादितम्। परमार्थतस्तु मृत्सुवर्णादिकारणमपि घटरुचकादिकार्यवन्मिथ्याभूतम्, ब्रह्मकार्यत्वाविशेषात्।

यदि कहो कि–बुद्धि और शब्द से ही, कार्य कारण का भेद स्पष्ट परिलक्षित होता है (अर्थात् सुवर्ण को देखकर सुवर्ण निमित्तक धारणा

होती है तथा अलंकार को देखकर अलंकार निमित्त क धारणा होती है। इसी प्रकार सुवर्ण को सुवर्ण तथा अलंकार को अलंकार कहा जाता है) सो ऐसा नहीं है क्यों कि-जैसे शुक्ति में रजत की भ्रांति होने पर "रजत" शब्द और तद् विषयक ज्ञान द्वारा, रजत का अस्तित्व, जैसे प्रमाणित नहीं हो पाता, वैसे ही अन्यत्र भी ठोस प्रमाण के बिना, एकमात्र शब्द भेद और ज्ञान भेद से वस्तु की कल्पना करना कठिन होता है। वस्तुतः स्वर्ण विकार हार आदि, अन्य अलंकारो के उपादान कारण नहीं हो सकते सुवर्ण ही उनका यथार्थ उपादान है। जैसे वस्त्र में सूत्र दीखते हैं, वैसे अलंकारों में हार तो आपको भी न दीखता होगा। और न हार के आश्रयभूत सुवर्ण में, अलंकारों के आश्रयभूत सुवर्ण की ही प्रतीति होती होगी (अर्थात् हार रूप में परिणत सुवर्ण में, पूर्व निर्मित स्वस्तिकादि परिणत सुवर्ण की प्रतीति तो होती नहीं) इसलिए जैसे कि-मिट्टी आदि कारण के अतिरिक्त, उनके कार्यो की सत्यता नहीं देखी जाती, वैसे ही ब्रह्म के अतिरिक्त संपूर्ण जगत कार्यरूप होने से मिथ्या है। मिट्टी आदि के दृष्टान्तों से, ब्रह्म से भिन्न जगत की मिथ्यता, सहजरूप से ही ज्ञात हो जाती है। मिट्टी आदि में वास्तविक सत्यता न होते हुए भी काल्पनिक (व्यावहारिक) सत्यता मानकर, समस्त ब्रह्मकार्यो की असत्यता का प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः मिट्टी, सुवर्ण इत्यादि कारण भी मिथ्या हैं, क्यों कि वे भी, ब्रह्म के ही कार्य हैं।

"ऐतदात्म्यमिदं सर्वंतत्सत्यम्—"नेहनानास्ति किंचन् मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेवपश्यति"—यत्रहि द्वैतामिव भवति तदितरइतरं पश्यति यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केनकं पश्येत्"—इंद्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्येवमादिभिः श्रुतिभिश्च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वमवगम्यते न चागमावगतार्थस्य प्रत्यक्ष विरोधः शंकनोयः, यथोक्तप्राकरेण कार्यस्यसर्वस्य मिथ्यात्वावगमात्, प्रत्यक्षस्य सन्मात्रविषयत्वाच्च विरोधे सत्यप्यसंभावितदोषस्य चरमभाविनः स्वरूपसद्भावादौ प्रत्यक्षादि अपेक्षत्वेऽपि प्रमितौ निराकांक्षस्य निरवकाशस्य शास्त्रस्य बलीयस्त्वात्। अतः कारणभूतात्ब्रह्मणोऽन्यत् सर्वं मिथ्या।

"यह सारा जगत् ब्रह्मात्मक है, वह ब्रह्म ही सत्य है-"इस ब्रह्म और जगत में कोई भेद नहीं है, जो लोग इसमें भेद देखते हैं, वे बार बार मृत्यु को प्राप्त होते हैं-"जिस समय लोगों की द्वैत बुद्धि हो जाती है, तभी वे दूसरा देखते हैं जब वह इस जगत को आत्मा ही देखते हैं तो किसके द्वारा किसको देखेंगे?" "ईश्वर अपनी माया से अनेक रूपों में प्रकाशित होते हैं "इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त का मिथ्यात्व ज्ञात होता है। शास्त्र द्वारा निर्धारित विषय में, कभी भी, प्रत्यक्ष से विरुद्धता नहीं पाई जाती, शास्त्र से सभी पदार्थों की मिथ्यता निर्धारित होती है तथा प्रत्यक्ष से, वस्तु की सत्तामात्र सिद्ध होती है। वस्तुतः निर्दोष शास्त्र, प्रत्यक्ष से, अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्यों कि-प्रत्यक्ष के बाद लिपिबद्ध हुए हैं। शास्त्र के अर्थ जानने में चाहे, प्रत्यक्ष की थोड़ी बहुत अपेक्षा हो भी जाय, पर शास्त्रलभ्य ज्ञान में प्रत्यक्ष की, रंचमात्र की अपेक्षा नहीं होती। इसलिए शास्त्र सम्मत कारण ब्रह्म से भिन्न, सब कुछ मिथ्या है।

न च प्रपंचमिथ्यात्वेन जीवमिथ्यात्वमाशंकनीयम्, ब्रह्मण एव जीव भावात्। ब्रह्मैवहि सर्वशरीरेषुजीवभावमनुभवति"- अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य"-एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ः"-एको देवो बहुधा निविष्टः" एष सर्वेषुभूतेषु गुढात्मा न प्रकाशते"-नान्योतोऽस्तिद्रष्टा" इत्येवमादिभ्यः।

सारा प्रपंचमय जगत मिथ्या है, इसलिए जीव भी मिथ्या होगा ऐसी शंका नहीं की जा सकती, क्यों कि-स्वयं ब्रह्म ही जीव भाव से समस्त शरीरों में जीवत्व की अनुभुति करते हैं, इसलिए वह तो मिथ्या हो ही नहीं सकता। "मैं इस जीवात्मा के रूप से अनुप्रविष्ट होकर"–एक ही देव समस्त भूतों में छिपे हैं –"एक ही देव अनेक रूपों में प्रविष्ट हैं– "यही परमात्मा सभी भूतों में गुप्त होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होते"– इनके अतिरिक्त कोई दूसरा दृष्टा नहीं है "इत्यादि वाक्य आलोच्य विषय के प्रमाण हैं।

नन्वेकमेव ब्रह्म सर्वशरीरेषु जीवभावमनुभवति चेत्-"पादे मे वेदना" शिरसि मे सुखम्" इतिवत् सर्वशरीरेषु सुखदुःख प्रतिसंधानं

स्यात्, जीवेश्वरबद्धमुक्तशिष्याचार्यज्ञत्वादि व्यवस्था च न स्यात्। अत्र केचिद् द्वितीयत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपयंत एवैनं समादधते, एकस्यैव ब्रह्मणः प्रतिबिंबभूतानां जीवानां सुखित्वदुःखित्वादय एकस्यैव मुखस्य प्रतिबिंबानां मणिकृपाणदर्पणादिषूपलभ्यमानामल्पत्वमहत्व-मलिनत्व-विमलत्वादिवसतदुपाधिवाशात् व्यवस्थाप्यंते।

प्रश्न होता है कि–जब एक ही ब्रह्म, समस्त शरीरों में जीवभाव अनुभूति करते हैं तो, "मेरे पैर में दर्द है ' शिर में आनंद है "इत्यादि जो शरीर संबंधी अनुभूति होती है, उस सुख दुःखात्मक अनुभूति का ब्रह्म से भी संबंध होगा तथा, जीव-ईश्वर-बद्ध-मुक्त-शिष्य-गुरु-ज्ञानी अज्ञानी आदि का भेद भी न हो सकेगा। क्योंकि, ब्रह्म, नित्यमुक्त और निर्विशेष है तो बद्ध और मुक्त होगा कौन? इसके समाधान में कोई ब्रह्म के अद्वैत-रूप को मानते हुए कहते हैं कि–मणि–कृपाण–दर्पण में पड़ती हुई एक ही मुख की छायाओं में जैसे–छोटी–बड़ी–धुंधली,–स्वच्छ आदि दीखती हैं, उसी प्रकार विभिन्न उपधियों से, एक ही ब्रह्म के प्रतिबिंबस्वरूप जीवों में, तारतयानुसार सुख दुःख आदि की व्यवस्था होती है।

ननु "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" इत्यादि श्रुतेर्न जीवा ब्रह्मणोभिद्यंत इत्युक्तम्, सत्यम्, परमार्थतः, काल्पनिकं तुभेदमाश्रित्येयं व्यवस्थोच्यते। कस्य पुनः कल्पना? नतावद् ब्रह्मणः, तस्य परिद्ध ज्ञानात्मनः कल्पनाशून्यत्वात्। नापिजीवानाम्, इतरेराश्रयत्व प्रसंगात्– कल्पनाधीनो हि जीवभावः, जीवाश्रया च कल्पना-इति। नैतदेवम्-अविद्या जीवभावयोर्बीजांकुरन्यायेनानादित्वात्।

"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" इत्यादि श्रुतियों के आधार पर जो ब्रह्म जीव की एकता बतलाई वह ठीक ही है क्यों कि-भेद तो काल्पनिक है वास्तविक नहीं। पर वह कल्पना है किसमें? ब्रह्म में तो हो नहीं सकती, क्यों कि-वह तो विशुद्ध ज्ञानमय है इसलिए कल्पनानीत अनिर्वचनीय है। कल्पना जीव में भी नहीं हो सकती, ऐसा करने से अन्योन्याश्रय संबंध होगा, अर्थात् कल्पनाधीन जीवभाव होगा तथा जीवाश्रित कल्पना होगी।

सो ऐसा न होगा बीजांकुर न्याय से अविद्या एवं जीवभाव अनादि हैं [प्रश्न होता है कि-वृक्ष पहिले हुए या बीज, इस संशय की निवृत्ति के लिए, बीज और वृक्ष का कारण कार्य भाव अनादिमान लिया गया है। ऐसा ही नियम अविद्या और जीव के संबंध में भी है। अविद्या अनादि काल से जीवाश्रिता है तथा अविद्या सापेक्ष जीवभाव भी अनादि है, यह तर्कातीत विषय है]

किं च, प्रासाद निगरणादिवदनुपपन्नतैकवेषायामवस्तुभूतायामविद्यायां नेतरेतराश्रयत्वादयो वस्तुदोषा अनवक्लृप्तिभावहंति। वस्तुतो ब्रह्मव्यतिरिक्तानां जीवानां स्वतो विशुद्धत्वेऽपि कृपाणादिवातमुखप्रतिबिंबश्यामतादिवदौपाधिकाशुद्धि संभवादविद्याश्रयत्वोपपत्तेः काल्पनिकस्वोपपत्तिः। प्रतिबिंबगतश्यामतादिवज्जीवगता शुद्धिरपि भ्रांतिरेव अन्यथाऽनिर्मोक्षप्रसंगात्। जीवानां भ्रमस्य प्रवाहानादित्वान्नतद् हेतुरन्वेषणीयः, इति।

प्रासाद निगरण (महल का निगलना) आदि नितांत असंभव बातें हैं, किन्तु योगमाया का तो यह स्वरूप ही है, वह तो अघटन घटना परीयसी है, इसीलिये वह अवास्तविक है, ऐसी अवास्तविक अविद्या में, अन्योन्याश्रय आदि वस्तु दोष न होते हों, ऐसी बात नहीं है वस्तुतः जीव, ब्रह्म से भिन्न तो है नही इसलिए वह स्वभाव से विशुद्ध है, फिर भी कृपाणादि में प्रतिबिंबित मुख में जैसे, मलिनता आदि दोष दीखते हैं, वैसे ही विशुद्ध जीव में, दोष आरोपित होते हैं, इसलिए उसकी काल्पनिक अविद्याश्रयता भी होती है। प्रतिबिंबगत मलिनता आदि की तरह, जीवगत दोष भी भ्रांति मात्र ही हैं यदि ऐसा न हो तो, जीव की कभी मुक्ति हो ही नहीं सकती [यद्यात्मा मलिनो अस्वच्छो विकारी स्यात् स्वभावतः, न हि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि "कूर्म पुराण]

तदेतदविदिताद्वैतयाथात्म्यानां भेदवादश्रद्धालुजनसबहुमानावलोकनलिप्साविजृम्भितम्। तथाहि-जीवस्याकल्पितस्वाभविकरूपेणाविद्याश्रयत्वे ब्रह्मण एवाविद्याश्रयत्वमुक्तं स्यात्, तदतिरिक्ते नतस्मिन्

कल्पितेनाकारेणाविद्याश्रयत्वेजस्ऽयविद्याश्रयत्वमुक्तं स्यात् न खलु अद्वैतवादिनः तदुभयव्यति-रिक्तमाकारमभ्युपगच्छंति। कल्पिताकार-विशिष्टेन स्वरूपेणैवाविद्याश्रयत्वमितिचेत्त्-तत्र-स्वरूपस्याखंडैकर-सस्याविद्यामंतरेण विशिष्ट रूपत्वासिद्धेः अविद्याश्रयकर एवहि निरूप्यते।

जीवों का भ्रमप्रवाह अनादि है, इसलिए उसके कारण का अन्वेषण नहीं करना चाहिए—ऐसा, अद्वैत तत्त्व को न जानने वाले, भेदवाद में श्रद्धा रखने वाले, अद्वैत तत्त्व को जानने की इच्छावाले, लोगों को उपदेश दिया गया है। काल्पनिक न मानकर, यदि जीव को वास्तविक अविद्या-श्रित माना जावेगा तो, ब्रह्म को भी अविद्याश्रित कहना पड़ेगा। जीव को यदि काल्पनिक अविद्याश्रित मानते हैं तो, कोई जड़ भी अविद्याश्रित हो सकता है, यह भी मानना होगा। अद्वैतवादी दोनों प्रकारों को नहीं मानते। —जीव कल्पित अविद्याश्रित होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्यों कि जो वस्तु स्वभाव से ही अखंड एक रूप होती है, अविद्या संबंध से उसका कोई, विशिष्ट रूप नहीं हो सकता। अविद्याश्रय का तो एक रूप मानलिया गया है, वास्तव में अविद्या का आश्रय होता नहीं।

किं च बंधमोक्षादि व्यवस्थासिद्धयर्थं हि जीवाज्ञानवादाश्र-यणम्, सातुव्यवस्था जीवाज्ञान पक्षेऽपि न सिध्यति।

तथा—बद्ध मोक्ष आदि व्यवस्था की सिद्धि के लिए जो जीव का, अज्ञा नाश्रय बतलाया गया है [अर्थात् एक के बंधन से दूसरा बद्ध नहीं हो सकता और न एक की मुक्ति से दूसरे का मोक्ष ही संभव है, इसलिए जीव को अज्ञानाश्रित बतलाकर बद्ध स्वरूप का निरूपण किया गया है] जीव को अज्ञानाश्रित मानने पर भी, वह व्यवस्था सिद्ध नहीं हो सकती।

अविद्या विनाश एव हि मोक्षः, तत्रैकस्मिन्मुक्ते अविद्याविना-शादितरेऽपि विमुच्येरन्। अन्यस्यामुक्तत्वादविद्या तिष्ठतीति चेत्तर्हि एकस्याप्यमुक्तिः स्यात्। अविद्याया अविनष्टत्वात्। प्रतिजीवम-विद्या भेदः कल्प्यते, तत्र यस्याविद्या विनष्टा, स मोक्ष्यते, यस्यत्व-

विनष्टा, स भन्त्स्य इति चेत्–तन्न, प्रतिजीवमिति जीवभेदमाश्रित्य ब्रूषे । स जोवभेदः किं स्वाभाविकः उताविद्याकल्पितः ? न तावत् स्वाभाविकः, अनभ्युपगमात्, भेदसिद्धयर्थस्य चाविद्याकल्पनस्य व्यर्थत्वात् । अथ अविद्याकल्पितः तत्रेयं जीवभेदकल्पिकाऽविद्या किं ब्रह्मणः, उतजीवानाम् ? ब्रह्मणः इति चेत्–आगतोऽसि भदीयं भार्गम् । अद्यजोवानां, किमस्या जोवभेद क्लृप्तिसिद्धयर्थतां विस्मरसि अथप्रतिजीवं बद्धमुक्तव्यवस्था सिद्धयर्थं या अविद्याः कल्प्यन्ते, ताभिरेवजीवभेदोऽपीति मनुषे, जोवभेदसिद्धताः सिद्धयंति. तासु सिद्धासु जीवभेदसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वम् । न चात्र बोजांकुर न्यायःसिध्यति, वीजांकुरेषु हि अन्यदन्यद् वीजमन्यस्यान्यस्यांकुर–स्योत्पादकम्, इह तु याभिरविद्याभिर्ये जीवाः कल्प्यंते, तानेवाश्रित्य तासां सिद्धिरित्यशंकनोयता । अथ वीजांकुरन्यापेन पूर्वंपूर्वंजीवाश्र-याभिरविद्यारुत्तरोत्तर जीवकल्पनां मन्यसे, तथासति जीवानां भंगु-रत्वमकृताभ्यागमकृत विप्रणाशादि प्रसंगश्च । अतएव ब्रह्मणः पूर्वं-पूर्वं जीवाश्राभिरविद्याभिरुत्तरोत्तर जीवभावकल्पनमित्यपि निर-स्तम् । अविद्याप्रवाहेऽभ्युपगम्यमाने तत्कल्पित जीवभावस्यापि तद्-वत् प्रवाहानादिता स्यात् । न ध्रुव रूपता, आमोक्ष च्चजीवस्य ध्रुवत्वमिष्टं न सिध्येत् ।

जब अविद्या का विनाश ही मोक्ष है, तब एक के मुक्त हो जाने पर सभी जीवों को मुक्त हो जाना चाहिए, यदि कहें कि-अन्य अविद्या ग्रस्तहैं इसलिए मुक्त नहीं हो सकते, यदि अविद्या से ग्रस्त हैं तब तो किसी का भी मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि अविद्या तो नष्ट हुई ही नहीं । यदि कहें कि प्रत्येक जीव की भिन्न-भिन्न अविद्या है, अतः जिसकी अविद्या विनष्ट हो गई वह मुक्त है और जिसकी नष्ट न हुई वह बद्ध है । ऐसा तो कहना ठीक नहीं, इस कथन से तो यह ज्ञात होता है कि–प्रति जीव से जीवों का भेद है । अब प्रश्न होता है कि–यह जीव भेद स्वाभाविक है या अविद्या

कल्पित ? जब तक जीव को अविद्याश्रय, स्वाभाविक नहीं मानते, तबतक स्वाभाविक नहीं मानते, तब तक स्वाभाविक भेद तो माना नहीं जा सकता। यदि जीव का भेद अविद्या कल्पित मानते हैं तो प्रश्न होता है कि–वह भेद कल्पिका अविद्या, जीवाश्रित है या ब्रह्माश्रिता ? यदि ब्रह्माश्रिता मानते हैं तो वह हमारे मार्ग का ही अनुसरण है। यदि कहें कि–जीवाश्रिता है, तो जीव भेद की सिद्धि के लिये ही तो अविद्या की कल्पना की गई थी, इसे भूल गए क्या ? यदि कहें कि– प्रत्येक जीव का बद्ध मुक्त व्यवस्था की रक्षा के लिए जो अविद्या की कल्पना की गई, उसी से जीव का भेद भी संपादित हो जावेगा। ऐसा होने से तो, जीव भेद की सिद्धि से अविद्या की सिद्धि और अविद्या की सिद्धि से जीव भेद की सिद्धि होगी फिर वही अन्योंन्याश्रय दोष उपस्थित होगा यहाँ वीजांकुर न्याय से भी कार्य नहीं बनेगा, क्योंकि– भिन्न २ बीज से भिन्न २ अंकुरोत्पत्ति होती है, यहाँ तो अविद्या जिस जीव से कल्पित होती है, उसी के आश्रित भी रहती है। यदि वीजांकुर न्याय से, पूर्व पूर्वजीवों की आश्रिता अविद्याओं से उत्तरोत्तर जीवों की कल्पना मानते हैं तो जीवों में अनित्यता, कृतनाश अकृताभ्यागम आदि दोष उपस्थित होते हैं। तथा पूर्व पूर्व जीवाश्रित अविद्या द्वारा, ब्रह्म की जो उत्तरोत्तर जीवभाव की कल्पना है, वह भी समाप्त हो जावेगी। यदि अविद्या का अनादि प्रवाह मानते हैं तो, उससे उसकी ध्रुव रूपता सिद्ध नहीं होती, तथा मुक्ति न होने तक, जीव की ध्रुव रूपता को स्वीकारते हो वह भी समाप्त हो जाती है।

यच्चोक्तमविद्याया अवस्तुरूपत्वेनानुपपन्नतैकवेषाया नतेरेतराश्रयत्वाद्या वस्तुदोषा, अनवक्लृप्तिमावहन्ति इति, तथा सति मुक्तान् परं च ब्रह्मांश्रयेदविद्याः, शुद्ध विद्यास्वरूपत्वादशुद्धरूपा न तत्र प्रसजतीति चेत्—किमुपपत्त्यनुवर्त्तिन्यविद्या। एवं तर्हि उक्ताभिरूपपत्तिभिर्जीवानामपि नाश्रयेत्।

यदि कहें कि–अविद्या कोई वास्तविक वस्तु नहीं है, अनुपपत्ति ही उसका वास्तविक रूप है, इसलिए अन्योन्याश्रय आदि वास्तविक दोष, अविद्या की कल्पना में बाधक नहीं होगे। यदि ऐसा है तब तो वह बद्ध जीवों की तरह, मुक्त जीवों और परब्रह्म को भी आश्रित कर लेगी। यदि

कहें कि–मुक्त पुरुष और परब्रह्म तो विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं, इसलिए अशुद्धिरूपा (मलिना) अविद्या, उनके पास तक नहीं जा सकती। तो क्या अविद्या उपपत्त्यानुवर्त्तिनी (संगत असंगत का विचार कर कार्य करने वाली है)? यदि ऐसा है तो, वह कभी जीवों का तो आश्रय ले नहीं सकती।

किंच जीवाश्रया अविद्यायास्तत्वज्ञानोदयान्नाशे सति जीवो वा, न वा, ? यदि नश्येत्, स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षः स्यात् नो चेदविद्यानाशेऽप्यनिर्मोक्षः, ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्त जीवत्वावस्थानात्।

और यदि, तत्त्वज्ञान के होने पर, जीवाश्रित अविद्या का विनाश होता है तो उस अविद्या के नष्ट हो जाने से, जीवत्व का विनाश होता है या नहीं ? यदि जीवत्व का भी विनाश हो जाता है तो कहना होगा कि-जीव का स्वरूपोच्छेद ही मोक्ष है। यदि विनाश नहीं होता तो, अविद्या के विनष्ट होने पर भी, मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि उस स्थिति में भी ब्रह्मस्वरूप से भिन्न, जीवत्व की स्थिति रहेगी।

यच्चोक्तं–मणिकृपाणदर्पणादिषूपलभ्यमानमुखमलिनत्वविमलत्वादिवच्छुद्ध्यशुद्धया व्यवस्थोपपत्तिः, इति। तत्रेदं विमर्शनीयम्–अल्पत्वमलिनत्वादय उपाधिका दोषाः कदा नश्येयुरिति, कृपाणाद्युपाध्यपगम इति चेत्, किं तदाऽल्पत्वाद्याश्रयः प्रतिविंबं तिष्ठति वा न वा ? तिष्ठति चेत्–तत्स्थानीयस्य जीवस्यापि स्थितत्वादनिर्मोक्ष प्रसंगः, नश्यति चेत्–तद्वदेव जीवनाशात् स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षः स्यात्।

जो यह कहा कि–मणिकृपाण और दर्पण आदि में, उनकी चमक के अनुसार, प्रतिविंवित मुख भी मलिन और विमल दीखता है, वैसे ही उपाधि के उत्कर्ष और अपकर्ष के अनुसार जीव में भी शुद्धि–अशुद्धि आदि भेद होते हैं। इसमें विचारणीय बात यह है कि–उपाधिगत मलिनता अल्पता आदि दोष, नष्ट कब होते हैं ? कहें कि–वे तो कृपाण

आदि उपाधि भेदों के साथ ही नष्ट हो जाते हैं, तो फिर अल्पता आदि का आश्रय, प्रतिविंब रहता है या नहीं ? यदि रहता है तो, उसका स्थानीय जीव भी रहता है, अर्थात् उसका मोक्ष नहीं होता । यदि वह प्रतिविंब नष्ट हो जाता है, तो उसी प्रकार जीव भी विनष्ट हो जायेगा; जिसे कि स्वरुपोच्छेद मोक्ष कहते हैं, वही हो गया ।

किं च यस्य हि अपुरूषार्थरूपदोष प्रतिभासः, तस्य तदुच्छेदः पुरुषार्थः, तत्र किमौपाधिकदोष प्रतिमासो विंबस्थानीयस्य ब्रह्मणः उत प्रतिबिंबस्थानीयस्य जोवस्य, उतान्यस्यकस्यचित् आद्ययोः कल्पयोः दृष्टान्तोऽयं न संगच्छते, मुखस्यमुख प्रतिबिंवस्य चाल्पत्वादिदोष प्रतिमास शून्यत्वात्, न हि मुखं तत् प्रतिबिंब वा चेतयते, ब्रह्मणो दोष प्रतिमासे ब्रह्माविद्याप्रसंगश्चे । तृतीयाऽपि कल्पो न कल्पयते जोवब्रह्मव्यतिरिक्तस्य द्रष्टुरभावात् ।

यदि, उपाधि संयोग से जो अनर्थमय (दुःखादि रूप) दोष प्रतीत होते हैं, उनका उच्छेद होने से ही, पुरूषार्थ सिद्धि हो जाती है, तो प्रश्न होता है कि-वह औपाधिक दोष प्रतीति, विंवस्थानीय ब्रह्म की है अथवा प्रतिविंवस्थानीय जीव की ? या किसी अन्य की ? यदि ब्रह्म जीव की है, तो यह दृष्टांत ही असंगत है, क्योंकि—मुख और उसका प्रतिविंव दोनों ही अचेतन हैं, इसलिए इन दोनों में अल्पता आदि दोष की प्रतीति असं-भव है । ब्रह्मस्थानीय ब्रह्म में दोष प्रतीति स्वीकारने से, ब्रह्म का अविद्या आश्रय भी स्वीकारना होगा जीव और ब्रह्म के अतिरिक्त जब तीसरा कोई द्रष्टा ही नहीं है, तो किसी और में दोष प्रतीति का प्रश्न ही नहीं उठता ।

किं च अविद्याकल्पस्य जीवस्य, कल्पकः कः ? इति निरूपणीयम् , न तावदबिद्या, अचेतनत्वात् । नापि जीवः, आत्माश्रयदोष प्रसंगात् शुक्तिकारजतादिवदेबिद्याकल्पत्वाच्चजीवभावस्य, ब्रह्मैव कल्पकामिति चेत्—ब्रह्माज्ञानमेवायातम् ।

अविद्या कल्पित जीव के, जीव भाव की कल्पना कौन करता है ? इसका निरूपण करना भी आवश्यक है, अविद्या ही कल्पना करती है, ऐसा तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वह अचेतन है। जीव भी कल्पना नहीं कर सकता, ऐसा होने से तो आत्माश्रय दोष होगा (अर्थात् स्वयं अपने लिए ही कल्पना करना एक दोष है) यदि कहें कि—अविद्या कल्पित, शुक्ति रजत की तरह, जीव भाव भी, ब्रह्म कल्पित ही है, तब तो ब्रह्म में अज्ञान का अस्तित्व मानना पड़ेगा।

किं च ब्रह्माज्ञानामभ्युपगमे, किं ब्रह्म जीवान् पश्यति वा न वा ? न पश्यतिचेत्—ईक्षापूर्विका विचित्र सृष्टिर्नामरूप व्याकरण-मित्यादि ब्रह्मणो न स्यात्। अथ पश्यति, अखंडैकरसं ब्रह्म ना विद्यामंत-रेण, जीवान्पश्यतीति ब्रह्माज्ञान प्रसंगः। अतएव मायाविद्या विभागवादोऽपि निरस्तः। अज्ञानमंतरेणहि मायिनोऽपि ब्रह्मणो जीव दर्शित्वं न स्यात्। न च मायावी पलानदृष्ट्वा मोहयितुमरम्। नापि मायामायाविनो दर्शनसाधनम्, दृष्टेषु परेषु, तन्मोहनसाधनमात्रत्वात् तस्याः। अथ ब्रह्मणो माया तस्य जीव दर्शित्वं कुर्वंती जीवमोहन-स्य हेतुरिति मन्यसे, तर्हि परिशुद्धस्याखंडैकरसस्वप्रकाशस्य ब्रह्मणः परदर्शनं कुर्वंती माया, मायापरपर्याया अविद्यैवस्यात्। अथमतम् विपरीतदर्शनहेतुरविद्या। माया तु मिथ्याभूतं ब्रह्मव्यतिरिक्तं मिथ्या-त्वेन न दर्शयंती न ब्रह्मणो विपरीतदर्शनहेतुः। अतस्तस्यानाविद्या-त्वमिति।

और यदि ब्रह्म में अज्ञान की स्थिति नहीं मानते तो ब्रह्म जीवों को देखता है या नहीं ? यदि नहीं देखता, तो मानना होगा कि—इच्छापूर्विका विस्तृतनामरूपवाली, विचित्र सृष्टि, ब्रह्म की नहीं है। यदि देखता है तो, अखंड एक रस ब्रह्म द्वारा, अविद्या रहित मुक्त जीव, का दर्शन संभव नहीं है, उसको देखने के लिए, ब्रह्म में अज्ञान की स्थिति आवश्यक होगी। इस प्रकार माया, अविद्या का अभेदवाद भी असिद्ध हो जावेगा। ब्रह्म को

मायी (मायायुक्त) मानने से, अविद्या रहित जीव का दर्शन उसके द्वारा संभव नहीं है। मायावी जिसे देख न पावेगा उसे कभी, विमोहित नहीं कर सकता। माया ही जो कि मायावी की दृष्टि साधन है, वह भी नहीं हो पावेगी। क्योंकि—देखे गए पदार्थ को ही, विमोहित करने की माया में सामर्थ्य है। यदि यह माने कि–ब्रह्म की माया, ब्रह्म में जीव दर्शन की क्षमता समुत्पादनपूर्वक, जीव का सम्मोहन करती है, तब तो कहना होगा कि–जो अखंड एक रस विशुद्ध स्वप्रकाश ब्रह्म को भी अपर दर्शन की क्षमता प्रदान करती है, तो वह अविद्या ही है। यदि कहें कि–अविद्या, विपरीत ज्ञानोत्पादिका है माया, ब्रह्म में वैसा विपरीत ज्ञानोत्पन नहीं करती, केवल ब्रह्म से अतिरिक्त, मिथ्यावस्तु, के मिथ्यात्व का प्रकाशन मात्र करती है। इसलिए माया और अविद्या एक नहीं है।

नैवम्—चंद्रैकत्वेज्ञायमाने द्विचन्द्रदर्शनहेतोरप्यविद्यात्वात्। यदि च ब्रह्म मिथ्यात्वेनैव स्वव्यतिरिक्तं जानाति, न तर्हि तन्मोहयति, नहि अनुन्मत्तो मिथ्यात्वेन ज्ञातान् मोहयितुमीहते। अथापुरूषार्थपरमार्थदर्शनहेतुरविद्या, माया तु ब्रह्मणो ना पुरूषार्थदर्शनहेतुअतोऽस्या नाविद्यात्वमितिमतम् तन्न, द्विचंद्रज्ञानस्य दुःखहेतुत्वाभाःवेनापुरूषार्थत्वाभावेऽपि तद्हेतुविद्यैव तन्निरसने च प्रयस्यंति, यदि च नापुरूषार्थं दर्शनकरी माया, तर्हि अनुच्छेद्यतया नित्या ब्रह्मस्वरुपानुवन्धिनीस्यात्।

उक्तमान्यता उपयुक्त नहीं है, क्यों कि–एक चंद्र है ऐसा ज्ञान होते हुए भी, जो दो चंद्रों की प्रतीति होती है, उसमें अविद्या ही कारण है। यदि ब्रह्म, अपने से अतिरिक्त सभी को मिथ्या ही समझें तो कभी किसी को मोहित नहीं कर सकते। जो पागल नहीं है, वह कभी जानबूझ कर, झूठी वस्तु को मोहित करने की चेष्टा नहीं करेगा। यदि कहें कि–जो अपुरुषार्थ और अपरमार्थ (असत्य) हैं, –अविद्या उन्ही की प्रतीति कराती है। माया, ब्रह्म को वैसी प्रतीति नहीं कराती, इसलिए वह कभी अविद्या नहीं हो सकती। नहीं यह बात भी असंगत है; देखो, दो चन्द्रों के दर्शन

में किसी प्रकार का दुःख तो होता नहीं, इसलिए अपुरुषार्थ साधक नहीं कहा जा सकता, फिर भी उस प्रतीति में अविद्या को ही, कारण माना जाता है। उस अविद्या के निवारण में लगी हुई माया, यदि अपुरुषार्थ साधिका नहीं है तो, वह अनुच्छेद्य अतएव नित्य होने से, ब्रह्म स्वरूप की अनुबंधनी हो जावेगी।

अस्तु को दोष इति चेत्—द्वैत दर्शनमेव दोषः। "यत्रहि द्वैतामिव भवति—यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् "इत्यादि अद्वैत श्रुतयः प्रकुप्येयुः। परमार्थविषया अद्वैत श्रुतयः, मायायास्त्वपरमार्थत्वादविरोध इति चेत् अपरिच्छिन्नानन्दैकस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽपरमार्थभूतमायादर्शनं तद्वत्ता चाविद्यामन्तरेण नोपपद्यते।

यदि कहो कि—इसमें क्या दोष है? द्वैत प्रतीति होने लगेगी,, तथा—"जो द्वैत की तरह होती है—जब सब कुछ आत्मा है, तो कौन किसको देखेगा इत्यादि अद्वैत बोधकश्रुति प्रकुपित हो जावेगी। यदि कहो कि-अद्वैत श्रुतियाँ तो परमार्थ बोधक हैं और माया अपरमार्थ तत्त्व है, इसलिए उसमें कोई विरोध नही होगा। यह कथन भी असंगत है, क्यों कि-ब्रह्म अपरिच्छिन्न एकमात्र आनंदस्वरूप हैं, उनमें, अपरमार्थ रूप मायादर्शन, या उसी की सी अविद्या का संबंध कदापि संभव नहीं है।

किं च अपरमार्थभूतया नित्ययामायया किं प्रयोजनं ब्रह्मणः? जीव मोहनमिति चेत्-अपुमुषार्थेन मोहनेन किं प्रयोजनम्? क्रीडेति चेत्-अपरिच्छिन्ननंदस्य किं क्रीडया? परिपूर्णं भोगानामेव क्रीडा पुरुषार्थत्वेन लोके दृष्टेति चेत्-नैवमिहोपपंद्यते, नाहि अपरमार्थभूतैः क्रीडोपकरणैः अपरमथंतया प्रतिभासमानैर्निष्पन्नयाऽपरमार्थभूतया क्रीडयापरमार्थभूतेकन च तत्प्रतिभासेनानुन्मत्तनां क्रीडारसो निष्पद्यते। मायाऽश्रयतया अभिमतब्रह्म व्यतिरेकेणाविद्याश्रयस्य जीवस्य कल्पना संभवश्चपूर्ववदेव दृष्टव्यः। अतो ब्रह्मैवानाद्यविद्या स्वगतनानात्वं पश्यतीत्यद्वितीयत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपयद् भिरभ्युपेत्यम्।

. . . .

और फिर अपरमार्थभूत नित्य माया से, ब्रह्म को प्रयोजन ही क्या है? यदि जीव को मोहित करना ही प्रयोजन है तो, अपुरुषार्थ और अनुपयोगी मोहन से ही उसे क्या मिल जाता है? यदि कहो कि- यह तो उसकी क्रीडा है; भाई! अपरिच्छिन्न आनंदैकरसं को क्रीडा की क्या आवश्यकता है? यदि (अर्थात् ऐश्वर्यवान् की क्रीडा ही पुरुषार्थ होता है) ठीक है, परंतु यह वैसी क्रीडा नहीं है, क्योकि-क्रीडा, क्रीडा के उपकरण जब असत्य हैं यथा उसकी प्रतीति एक भ्रांति है तो, एक स्वस्थ बुद्धि को तो उसमें कोई आनंद आ नहीं सकता, उन्मत्त, भले ही उसमें आनंद अनुभूति करे। ब्रह्म को माया के आश्रित तथा जीव को अविद्या के आश्रित मानकर भी, ऐसा नहीं हो सकता। इस स्थिति में भी, क्रीडा में रसानुभूति नहीं हो सकती इसलिए ब्रह्म की अद्वैतता मानते हुए "अनादि अविद्या संवलित ब्रह्म स्वतः ही विभिन्नता देखता है "यही मानना पड़ेगा।

यत्तुबंधमोक्षव्यवस्थानोपपद्यतइति, न तद् ब्रह्माज्ञानवादिनश्चोद्यम्, एकस्यैव ब्रह्मणोऽज्ञस्य स्वाज्ञाननिवृत्यामोक्ष्यमाणत्वाद्बद्धमुक्तादि व्यवस्थायाः एवाभावात, व्यवह्रियमाणायाश्च बद्धमुक्तशिष्याचार्यादिव्यवस्थायाः काल्पनिकत्वात्, स्वप्न दर्शिन इव चैकस्यैवाविद्यया सर्वकल्पनोपपत्तेः, स्वप्नदृशा हि एकेन दृष्टाः शिष्याचार्यादयः तदविद्या कल्पिता एव। अतएव बहु अविद्याकल्पनमपि न युक्तिमत्।

जो यह कहा कि–बंध मोक्ष व्यवस्था नहीं बन पाती । सो जो लोग, ब्रह्म में अज्ञान का अस्तित्व मानते हैं, उनके लिए तो इसका कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि-अज्ञानाश्रित ब्रह्म स्वरूपतः है तो, एक ही यदि वह अपने अज्ञानाश्रय की निवृत्ति करता है तो, उसका तात्पर्य हुआ कि वह मुक्त हो जाता है। इसलिए बंध मोक्ष की व्यवस्था ब्रह्म के लिए तो है नहीं। फिर भी जो, बद्ध मोक्ष आदि व्यवहार दीखता है वह काल्पनिक है, जैसे कि–स्वप्नद्रष्टा, एक होते हुए भी, अविद्यावश बहुरूप की कल्पना कर लेता है, वैसे ही, मोक्ष की व्यवस्था भी है। अर्थात् स्वप्न द्रष्टा की तरह, एक ही तत्त्व में शिष्य आचार्य आदि अनेक रूपों की कल्पना की जाती है। जो कि—अविद्या कल्पित ही है। अविद्या अनेक हैं, ऐसी कल्पना करना भी, युक्तिसंगत न होगा।

पारमार्थिकी वंधमोक्षव्यवस्था स्वपरव्यवस्था च जीवाज्ञान-वादिनापि नाभ्युपेयते । अपारमार्थिकी त्वेकस्यैवाविद्योपपद्यते । प्रयोगश्च वंधमोक्षव्यवस्थाः स्वपर व्यवस्थायाश्च, स्वाविद्याकल्पिताः, अपारमार्थिकत्वात् स्वप्नदृष्टव्यवस्थावदिति । शरीरान्तराष्यपि, मयै-वात्मवंति, शरींरत्वात्, एतच्छरीरवत् । शरीरान्तराण्यपि मदवि-द्याकल्पितानि शरीरत्वात्, कार्यत्वात्, जड़त्वात्, कल्पितत्वाद् वा एतच्छरीवत् । विवादाध्यासितं चेतनजातमहमेव, चेतनत्वात्, मद-नहम्, तदचेतनं दृष्टम् यथा घटः । अतः स्वपरविभागो बद्धमुक्त शिष्याचार्यादिव्यवस्थाश्चैकस्याविद्याकल्पिताः । द्वैतवादिनामपि, बद्धमुक्तव्यवस्था दुरुपपादा, अतीतानां कल्पानां आनंत्यात् एकैक-स्मिन् कल्पे एकैकमुक्तावपि सर्वेषां मोक्षसंभवादमुक्तानुपपत्तेः ।

जो लोग, जीवगत अज्ञानाश्रय मानते हैं, वे भी, बंधन और मोक्ष, तथा स्व-पर भेद की, व्यावहारिक सत्यता नहीं स्वीकारते । उनकी दृष्टि में, यह सारा व्यवहार अपारमार्थिक (असत्य) है इसलिए वे एक-मात्र अज्ञानाश्रय मानकर बंधनमोक्ष की व्यवस्था का समाधान कर लेते हैं । उक्त मत से यह निश्चित होता है कि-बंधमोक्ष और स्वपर व्यवस्था, अविद्या कल्पित है, क्योंकि वह अपारमार्थिक है, यह भी, स्वप्नद्रष्टा की सी व्यवस्था है । स्वप्न में जो अन्य शरीर दीखते हैं, वे मेरे ही तरह सप्राण जीव हैं, ऐसी जो प्रतीति होती है, वह सब हमारी अविद्या की ही कल्पना है ये सारे शरीर, अन्य पदार्थ, जड़ पदार्थ, एवं कल्पित पदार्थ सभी, उस (अविद्या) के आधार हैं । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारा शरीर ही है [अर्थात् जैसा हम देखते है, उसी का कल्पना करते हैं] विवा-दास्पद, चेतन तत्त्व "अहं' ही है, क्योंकि-इसी से चेतनता की प्रतीति होती है । जो "अहं" पदवाच्य नहीं है, वह जड़ है, जैसे कि-घट । इससे निश्चित होता है कि-बद्धमोक्ष का भेद, स्व-पर का भेद तथा शिष्य आचार्य की कल्पना, सब कुछ अविद्या कल्पित ही हैं । द्वैतवादियों के मत से भी, बंधमोक्ष की व्यवस्था का समाधान करना, सहज नहीं है, क्योंकि-

अनंत कल्प बीत चुके हैं, यदि एक एक कल्प में एक एक व्यक्ति भी मुक्त होते रहते तो अब तक किसी को बद्ध नहीं रहना चाहिए था।

अनंतत्वादात्मनाममुक्ताश्च संतीति चेत्—किमिदमनंतत्त्वम्? असंख्येयत्त्वमिति चेत्—न भूयस्त्वादल्पज्ञैरसंख्येयत्वेऽपीश्वरस्य सर्वज्ञस्य संख्येया एव। तस्याप्यशक्यत्वे सर्वज्ञत्वं न स्यात्। आत्मनां निःसंख्यत्वादीश्वरस्याविद्यमानसंख्यावेदनाभावो नासर्वज्ञतावहतीति चेत्—भिन्नत्वे संख्यविधुरत्वं नोपपद्यते। आत्मानः संख्यावंतः, भिन्नत्वात् भाषसर्षपघटपटादिवत्। भिन्नत्वे चात्मनां घटादिवज्जड़त्वमनात्मत्वं क्षयित्वं च प्रसज्यते।

यदि कहें कि—जीवात्मा अनंत हैं, उनमें अनेक मुक्त भी हैं। भाई! इस अनंतता का क्या स्वरूप है? असंख्यतावाची अनंतता तो हो नहीं सकती, अल्पज्ञों के लिए वह भले ही असंख्य हो, पर सर्वज्ञ ईश्वर के लिए तो, वे गण्य हैं ही, यदि वह ईश्वर भी इनकी गणना करने में असमर्थ है तो, वह सर्वज्ञ नहीं है। यदि कहें कि आत्मा? निःसंख्य अर्थात् उनके लिए संख्या शब्द का प्रयोग ही नहीं हो सकता, इसलिए ईश्वर की सर्वज्ञता निर्बाध है। सो यह कथन भी असंगत है, क्योंकि जब प्रत्येक जीव भिन्न है तो वह निःसंख्य नहीं हो सकते। आत्मायें संख्य ही हैं, क्योंकि—उर्द, सरसों, घट-पट आदि की तरह उनकी भिन्नता है, जब ऐसी भिन्नता स्वीकार्य है तो घट-पट आदि की तरह उनमें भी जड़ता, अनात्मता और विनाशशीलता स्वीकारनी होगी [इसलिए जीवों के भेद की कल्पना असंगत है]

ब्रह्मणश्चानन्तवं न स्यात्। अनंतत्वंनाम् परिच्छेदरहितत्त्वम्। भेदवादे च वस्त्वंतराद् विलक्षणत्वेन ब्रह्मणो वस्तुतः, परिच्छेद रहितत्वं न शक्यते वक्तुम्। वस्त्वंतरभाव एव हि वस्तुतः परिच्छेदः वस्तुतः परिच्छिन्नस्य, देशतः कालतश्चापरिच्छिन्नत्वं च न युज्यते। वस्त्वंतराद्विलक्षणत्वेन वस्तुतः परिच्छिन्ना एव घटादयो देशतः कालतश्च परिच्छिन्ना हि दृष्टाः, तथा सर्वे चेतनाः ब्रह्म च वस्तुतः

परिच्छिन्नाः देशकालाभ्यामपि परिच्छिद्यते । एवं च "सत्यंज्ञानमनंतम्" इत्यादिभिः सर्वप्रकारपरिच्छेदरहितत्वं वदद्भिर्विरोधः । उत्पत्ति विनाशादयश्च जीवानां ब्रह्मणश्च प्रसज्येरन्, कालपरिच्छेद एव उत्पत्तिविनाशभागित्वं अत एकस्यैवापरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणोऽविद्याविजृंमितम् ब्रह्मादिस्तंबपर्यन्तं कृत्स्नं जगत् सुख दुःखप्रतिसंधानव्यवस्थादयोऽपि स्वाप्नव्यवस्थावदविद्यास्वभाव्यादुपपद्यंते । तस्मादेकमेव नित्यमुक्तस्वप्रकाश स्वभावमनाद्यविद्यावशाज्जगदाकारेण विवर्त्तत इति परमार्थतो ब्रह्मव्यतिरिक्ताभावात्तदनन्यत्वं जगतः, इति ।

अनंतता ब्रह्म की भी नहीं हो सकती, परिच्छेद रहितत्व ही तो अनंतत्व है। भेदवाद में, ब्रह्म को, अन्य सभी वस्तुओं से विलक्षण कहा गया है, यदि अनंतता का अर्थ अपरिछिन्नता मानते हैं तो, भेदभाव के ब्रह्म का अपरिच्छिन्न भाव समाप्त हो जावेगा। उसे वे फिर अपरिच्छिन्न नहीं कह सकते। अन्यान्य वस्तुओं का सद्भाव ही तो परिच्छेद है वास्तविक परिच्छेद का देश और काल से अपरिच्छेद नहीं हो सकता। एक दूसरे से विलक्षण होने के कारण, वास्तविक परिच्छन्न घट आदि देश और काल से भी परिच्छन्न ही देखे जाते हैं। वैसे ही सभी चेतनजीव और ब्रह्म, वस्तुतः परिच्छिन्न हैं और देश काल से भी परिच्छेद्य हैं। ऐसा मानना पड़ेगा; ऐसा मानने से फिर "सत्यज्ञानमनंत ब्रह्म" इत्यादि वाक्य से जिस ब्रह्म को निर्विशेष (सभी प्रकार के परिच्छेदों से रहित) कहा गया है उससे विरोध उपस्थित होगा। साथ ही जीवों और ब्रह्म की उत्पत्ति और विनाश का प्रसंग भी उपस्थित होगा, क्यों काल द्वारा किया गया परिच्छेद ही तो विनाश कहलाता है। इसलिए यही मानना समीचीन है कि-एक ही अपरिच्छिन्न ब्रह्म का, अविद्या विलासात्मक यह संपूर्ण जगत, सुख दुःखानुभूतिजन्यव्यवस्थाभेद, आदि सभी कुछ स्वप्नकालीन व्यवहार की तरह, अविद्यात्मक होने से स्वतः घटित होता है। तथा नित्यमुक्त और प्रकाश स्वभाव अद्वैत ब्रह्म ही अविद्यावश जगदाकार रूप से विवर्त्त होता है; परमार्थतः ब्रह्म से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है, यह जगत उससे अभिन्न है।

अत्रोच्यते:—निर्विशेष स्वप्रकाशमात्रं ब्रह्मनाद्यविद्या तिरोहित स्वरूपं स्वगतनानात्वं पश्यतीत्येतत् प्रकाशस्वरूपस्य निरंशस्य प्रकाशानिवृत्तिरूप तिरोधाने स्वरूपनाश प्रसंगेन तिरोधान संभवादिभ्यः सकल प्रमाणविरुद्धं स्ववचन विरुद्धंचेति पूर्वमेवोक्तम्। यत्पुनरुक्तं—कारणव्यतिरिक्तं कार्यं युक्तिबाधितत्वेन शुक्तिका रजतादिवद्भ्रमः, इति, तदयुक्तम्, युक्तेरभावात् । यत्त्वनुवर्त्तमानस्य कारणमात्रस्यत्सत्वम, व्यावर्त्तमानानां घटशरावादिकार्याणा—मसत्यत्वमिति, तदप्यन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र व्यावर्त्तमानता न बाधिकेत्यादिभिः पूर्वमेव परिहृतम् । यच्चोपलभ्यमानत्वविनाशित्वाभ्यां सदसदनिर्वचनीयत्वेन कार्यस्य मृषात्वमिति, तदसत्, उपलब्धि विनाशयोगो हि, न मिथ्यात्वं साधयति, किन्त्वनित्यत्वम्। यद् देश काल संबंधितया यदुपलब्धं, तद्देशकालसंबंधितया बाधितत्वमेव हि तस्य मिथ्यात्वे हेतुः। देशांतरकालान्तर संबंधितयोपलब्धस्यान्य देशकालसंबंधित्वेन बाधितत्वं देशांतराकालांतराव्याप्तिमात्रं साधयति, न तु मिथ्यात्वम्। प्रतियोगश्च घटादि कार्यं सत्यम्, देशकालादि प्रतिपन्नोपाधावबाधित्वात्, आत्मवत्।

(शाँकरमत निरसन) उक्त कथन पर कहते हैं कि—एकमात्र प्रकाश स्वरूप निर्विशेष, ब्रह्मअनादि अविद्या द्वारा अपने स्वरूप के तिरोहित हो जानेसे ही विभिन्नता देखता है। अखंड प्रकाश स्वरूप उसके प्रकाश निवृत्ति रूप, स्वरूपावरण से ही, स्वरूप का विनाश हो सकता है, परंतु उसके स्वरूप का आवृत होना ही असंभव है, यदि ऐसा संभव हुआ तो, वह शास्त्र प्रमाणों अपने वचनों के ही विरूद्ध होगा। ऐसा हम कह भी चुके हैं। जो यह कहा कि—कारण से भिन्न कार्य की सत्ता, युक्ति बाधित होने, शुक्ति रजत की तरह भ्रम मात्र है; यह भी असंगत बात है, क्योंकि—तदनुरूप कोई युक्ति नहीं है। तथा यह कहना कि—कार्यरूप में अनुवर्त्तमान कारण ही एकमात्र सत्य है तथा व्यावर्त्तमान (कारण से अनुगत) घट प्याला आदि कार्य सब असत्य हैं। असंगत बात है, इसको भी हम—

"एक स्थल में दृष्टव्यावर्त्तमानता, अन्यत्र देखे गए विषय की बाधक नहीं होती" इत्यादि में पहिले ही निराकरण कर चुके हैं। प्रत्यक्ष, विनाशशील सदसदनिर्वचनीय, मानकर कार्य को मिथ्या मानना भी असंगत है, प्रत्यक्षोपलब्धि और विनाश के आधार पर कोई भी वस्तु मिथ्या नहीं होसकती अनित्य तो हो सकतीं है। जो वस्तु जिस देश और जिस काल में उपलब्ध होती है, वह वस्तु उसी देश और उसी काल में यदि बाधित हो जाय (गलत सिद्ध होजाय) तब तो मिथ्या है। अन्यथा देशांतर या कालांतर देखी गई वस्तु अव्याप्ति की ही द्योतिका हो सकती है, मिथ्या नहीं। उक्तप्रकार के मिथ्यावादी सिद्धांत से तो विपरीत धारणा भी बन सकती है कि-"घटआदि कार्य सत्य हैं, क्योंकि—अनुभूत देश काल आदि उपाधियों से वे अबाधित हैं जैसे कि—आत्मा अबाधित होता है"। इत्यादि।

यच्चोक्तं कारणस्वरूपादविकृताद्विकृताच्च कार्योत्पत्तिर्न संभवति—इति, तदसत्—देशकालादिसहकारिसमवहितात् कारणात् कार्योत्पत्ति संभवात्। तत्समवधानं च विकृतस्याविकृतस्य च न संभवति इति यदुक्तम्, तदयुक्तम्—पूर्वमविकृतस्यैव कालादिसमवधान संभवात्। अविकृतत्वाविशेषात् पूर्वमपिदेशकालादिसमवधानं प्रसज्यत इति चेन्न, देशकालादि समवधानस्य कारणान्तरा यत्तस्यैतदायत्तत्वाभावात्। अतो देशकालादि समवधानरूपविशेषमापन्नं कारणं कार्यमुत्पादयतीति न किंचिदवहीनम्। कारणस्य च कार्यं प्रत्यारम्भकत्वमबाधितं दृष्यमानं न केनापि प्रकारेणापह्नोतुं शक्यते।

जो यह कहा कि-अविकृत या विकृत कारण स्वरूप से कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती, यह भी असंगत बात है, क्योंकि—देश काल आदि सहकारी कारणों से संयुक्त कारण द्वारा ही कार्योत्पत्ति हो सकती है केवल एक कारण से नहीं) यदि कहो कि—अविकृत या विकृत किसी प्रकार के कारण से, सहकारी संयोग नहीं हो सकता, तो तुम्हारा यह कथन भी असंगत है, क्योंकि— कार्योत्पत्ति के पूर्व अविकृत कारण के साथ, देशकाल का संबंध हो सकता है। यदि कहो कि अविकृत भाव में किसी प्रकार की

विलक्षणता नहीं होती, इसलिए कार्योत्पत्ति के पूर्व भी देशकाल आदि का समवधान हो सकता है। सो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि देशकाल आदि के साथ जो समवधान (संयोग) होता है, वह किसी अन्य कारण के अधीन होता है। यह उपादान कारण किसी से अधीन तो है नहीं; इसलिए इसे अधीनता की अपेक्षा होती है। इस प्रकार विशिष्ट देश काल आदि के संयोग से अवस्थाविशेष को प्राप्त वही कारण, यदि कार्योत्पादन करता है, तो उससे कोई क्षति नहीं होती। कार्य में कारण की उपादानता जब अवाध्यहोती है तो उसे किसी भी प्रकार से छिपाना कठिन है [अर्थात् उपादान कारण जब प्रत्यक्ष और निर्बाध रूप से कार्योत्पादक हो तो उसे अमान्य नहीं कह सकते]

यत्तु हेमादिमात्रस्य रुचकादिकार्यस्यैतदाश्रयस्य वा हेमादेरारम्भकत्वंन संभवति-इति,तदयुक्तम्, हेमादिमात्रस्यैव तथोक्तपरिकरयुक्तस्यारंभकत्व संभवात्। न चारम्भक हेम व्यतिरिक्तं कार्यं न दृश्यत इति वक्तुं न शक्यम् हेमातिरिक्तस्य स्वस्तिकस्य दर्शनात् बुद्धिशब्दान्तरादिभिर्वस्त्वंतरस्य साधितत्वाच्च। न चायं शुक्तिकारजतादिवद् भ्रमः, उत्पत्तिविनाशयोरन्तराल उपलभ्यमानस्य तद्देशकाल संबंधितया बाधादर्शनात् न। चास्या उपलब्धेर्बाधिका काचिदपि युक्तिदृश्यते। प्रागनुपलब्धेस्वस्तिकोपलब्धि वेलायामपि हेम प्रत्यभिज्ञा स्वस्तिकाश्रयतया हेम्नोऽप्यनुवृत्तो रविरुद्धा। श्रुतिभिस्तु प्रपंचमिथ्यात्वसाधनं पूर्वमेव निरस्तम्। यच्चान्यदत्र प्रत्यक्ष विरोधादि प्रतिवक्तव्यम्, तदपि सर्वं पूर्वमेव सुष्ठूक्तम्।

जो यह कहा कि-एकमात्र सुवर्णादि ही, हार आदि कार्य और आश्रयभूत सुवर्णता आदि के आरंभक (उपादान कारण) नहीं हो सकते। यह कथन भी युक्ति शून्य है; देश काल आदि सहकारी कारणों से युक्त एकमात्र सुवर्ण आदि ही, हार आदि के उपादान कारण हो सकते हैं। यह एक भी नहीं कह सकते कि-आरंभक सुवर्ण से भिन्न, कोई कार्य नहीं देखा जाता, सो बात भी नहीं है हेम से भिन्न स्वस्तिक (आभूषण विषेश

जिसमें सुवर्ण की मात्रा कम तांवा अधिक होता है) आदि कार्य देखे जाते हैं। प्रतीति भेद और शब्द भेद से, वस्तु में भिन्नता मानी जाती है। यह, शुक्तिका रजत का सा भ्रम नहीं है, क्यों कि-इसमें उत्पत्ति और विनाश की मध्यवर्त्ती देश और काल संबंधी कोई बाधा नहीं है और न इसमें कोई दूसरी उपलब्धि (प्रतीति) की बाधिका युक्ति ही दीखती है। पूर्व अननुभूत स्वस्तिक की उपलब्धि के समय जो सुवर्ण संबंधी प्रत्यभिज्ञा (यह वही सुवर्ण है, ऐसी प्रतीति) होती है, वह भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि स्वस्तिक के आश्रयभूत, सुवर्ण की झलक रहती है। वेदवाक्यों से जगत को मिथ्या सिद्ध करने वाली बात का तो हम, पहिले ही निराकरण कर चुके हैं, तथा जो प्रत्यक्षविरोधी आदि तर्कों का निराकरण करना था, उन उन सबका भी पहिले बहुत अच्छे ढंग से कर चुके हैं।

यच्चोक्तम्—एकेनात्मना सर्वाणि शरीराण्यात्मवंति, इति, तदसत्, एकस्यैव सर्वशरीरप्रयुक्तसुखदुःख प्रतिसंधान प्रसंगात् सौभरि प्रभृतिषु हि आत्मनएकत्वेनानेकशरीरप्रयुक्त सुखादिप्रतिसंधानमेकस्य दृश्यते न चाहमर्थस्य ज्ञातृत्वात्तद् भेदात् प्रतिसंधानाभावो नात्मभेदादितिवक्तुं शक्यम्, आत्माज्ञातैव, स चाहमर्थ एव, अंतःकरणभूतस्त्वहंकारो जडत्वात्करणत्वाच्च शरीरेन्द्रियादिवन्न ज्ञातेऽत्युपपादित्वात्। अथशरीरत्वजडत्कार्यत्वकल्पितत्वैः सर्वशरीराणां एकस्याविद्याकल्पितत्वमुक्तम्, तदपि सर्वशरीराणामविद्याकल्पितत्वस्यैवाभावादयुक्तम्। तदभावश्चाबाधितस्य सत्यत्वोपपादनात्। यच्च चेदनादन्यस्य जडत्वदर्शनात् सर्वचेतनानामनन्यत्वमुक्तम् तदपि सुखदुःख व्यवस्थया भेदोपपादनादेव निरस्तम्।

जो यह कहा कि—एक ही आत्मा से सारे शरीर आत्मवान कहलाते हैं, यह भी असंगत बात है, ऐसा होने से तो, एक ही आत्मा, सभी शरीरों के सुख दुःख आदि को भोगने वाला सिद्ध होता है। सौभरि आदि ऋषियों के जो एक आत्मा के अनेक शरीर थे उनमें भोग भिन्न भी एक ही प्रकार का था, भिन्न नहीं था। अहं पदार्थ ही वास्तविक ज्ञाता है, प्रतिदेह में वह

भिन्न है, इसलिए प्रतिदेह की अनुभूति भिन्न भिन्न होती है। वह आत्मा के भेद से तो होती नहीं; इत्यादि भी नहीं कह सकते क्योंकि आत्मा ही ज्ञाता है, ज्ञातृत्व स्वरूप वह आत्मा ही "अहं" है, दोनों भिन्न नहीं हैं, पर अंतःकारण रूप अहंकार जड़ एवं ज्ञान का साधन होने से, शरीर और इन्द्रियों की तरह ज्ञाता नहीं हो सकता, ऐसा प्रथम ही कह चुके हैं। शरीरत्व, जडत्व, कार्यत्व कल्पितत्व होने से सारे शरीर अविद्या कल्पित हैं; यह कथन भी असंगत है, सारे शरीर अविद्या कल्पित हैं, इसको प्रमाणित नहीं किया जा सकता, अबाधित पदार्थ की सत्यता सिद्ध हो जाने से ही यह बात अप्रामाणिक हो जाती है। तथा–चेतन से जड भिन्न है, इसलिए सब चेतन एक है, "यह बात भी-सुख दुःख भोग की भेद व्यवस्था से जो भेदवाद सिद्ध किया गया, उसी से निराकृत हो चुकी।

यत्तु-मयैवात्मवंति मदविद्याकल्पितान्यहमेव सर्वंचेतन जातमित्यमहमर्थस्यैक्यमुपपादितम्, तदज्ञातस्वसिद्धान्तस्य भ्रांति-जल्पितम्, अहं त्वमाद्यर्थविलक्षणं चिन्मात्रं हि आत्मात्वन्मते। किं च निर्विशेष चिन्मात्रातिरेकि सर्वं मिथ्येति वदतो मोक्षार्थं श्रवणादि प्रयत्नो निष्फलः, अविद्याकार्यत्वात्, शुक्तिकारजतादिषु रजताद्युपा-नादि प्रयत्नवत्। मोक्षार्थं प्रयत्नोव्यर्थः कल्पिताचार्यायत्तज्ञानकार्य-त्वात् शुकप्रह्लादवामदेवादि प्रयत्नवत्। तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्य-ज्ञानम् नं बन्धनिवर्तकम्, अविद्याकल्पितवाक्यजन्यत्वात्, स्वयं-अविद्यात्मकत्वात्, अविद्याकल्पितज्ञात्राश्रयत्वात् कल्पिताचार्यायत्त-श्रवणजन्यत्वाद्वा स्वाप्नबंधनिवर्त्तनवाक्यजन्यज्ञानवत्। किं च निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्म मिथ्या, अविद्याकार्यज्ञानगम्यत्वात् अविद्या-कल्पितज्ञात्राश्रयज्ञानगम्यत्वात्, अविद्यात्मकज्ञानगम्यत्वाद् वा, यदेवंतत्तथा यथा स्वाप्नगंधर्वनगरादिः। न च निर्विशेष चिन्मात्रं ब्रह्म स्वयं प्रकाशते, येन न प्रमाणान्तरमपेक्षते। यत्त्वात्मसाक्षिकं स्वयं प्रकाशज्ञानं दृश्यते, तत्तु ज्ञेयविशेषसिद्धिरूपं ज्ञातृगतमेव दृश्यत इति पूर्वमेवोक्तम्। यानि च तस्य निर्विशेषत्व साधकानि यौक्तिकानि

ज्ञानान्युपन्यस्तानि, तानि चानन्तरोक्तै रविद्याकार्यत्वादिभिरनुमानैर्निरस्तानि। न च निर्विशेषस्य चिन्मात्रस्याज्ञानसाक्षित्वमहंकारादि जगद् भ्रमश्चोपपद्यते, .साक्षित्वभ्रमादयोऽपि हि ज्ञातृविशेषगतादृष्टाः न ज्ञप्तिमात्रगताः, न च तस्य प्रकाशत्वं स्वायत्त प्रकाशता वा सिध्यति, प्रकाशो हि कस्यचित्पुरुषस्य कंचनार्थविशेषं प्रति सिद्धरूपो-दृश्यते तत एव हि तस्य स्वयम्प्रकाशतोपाद्यते भवद्भिरपि। न चातादृशस्य निर्विशेषस्यप्रकाशता संभवति यः पुनः स्वगोष्ठीष्वपरमार्थादपि परमार्थकार्यं दृश्यत इत्युद्घोषः,सोऽपितानि कार्याणि सर्वाण्यबाधितकल्पानिव्यावहारिकसत्यानि, वस्तुतस्त्वविद्यात्मकान्येवेति स्वाभ्युपगमादेव निरस्तः। अस्माभिरपि सर्वत्र परमार्थादेव कारणात्सर्वकार्योत्पत्तिमुपपादयद्भिः पूर्वमेव निरस्तः।

ये सारे शरीर मेरे से ही आत्मवान हैं, मेरी ही अविद्या से कल्पित हैं, मैं ही समस्त चेतन हूँ, इत्यादि जो, अहंभाव के अद्वैत भाव का प्रतिपादन किया गया है, वह, अपने सिद्धान्त को न जानते से,भ्रांतिमूलक है तुम्हारे मत में तो, आत्मा, मैं और तू इत्यादि से विलक्षण, केवल चैतन्य स्वरूप है। जो यह कहते हो कि-निर्विशेष चैतन्य के अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है, तब तो मोक्ष के लिए किए जाने वाले, श्रवण-मनन आदि सारे प्रयास व्यर्थ हैं, क्योंकि-ये भी तो अविद्या कल्पित ही हैं। शुक्ति का रजत में जैसे रजत आदि मिथ्या को जानने का प्रयास विफल है, वैसे ही उक्त प्रयास भी विफल ही होगा। इससे तो यह भी धारणा बनती है कि-मोक्ष के लिए किया जाने वाला प्रयत्न भी व्यर्थ है, क्योंकि-वह अविद्या कल्पित आचार्य के अधीन ज्ञान से साध्य होता है। जैसे कि-शुक प्रह्लाद वामदेव आदि के प्रयास [परंतु बात सर्वथा भिन्न है, इन तीनों का मोक्ष शास्त्र प्रसिद्ध है] इस प्रकार तो "तत्वमसि" आदि वाक्यजन्य ज्ञान भी बंधनों को काटने वाला नहीं हो सकता, क्योंकि-अविद्या कल्पित वाक्यजन्य है, तथा स्वयं अविद्यात्मक, अविद्या कल्पित ज्ञाता के आश्रित, कल्पित आचार्य से आयत्त होने से कल्पित श्रवण जन्य है, जैसे कि-स्वप्न

में सुना गया ज्ञानात्मक वाक्य। और फिर इस मत से तो निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म भी मिथ्या हो जायेगा, क्योंकि वह भी तो स्वयं, अविद्या जन्य ज्ञान का विषय ही तो है। जो कि अविद्या कल्पित ज्ञाता के आश्रित ज्ञान से जाना जाता है, तथा वह ज्ञान भी तो अविद्या कल्पित ही है। यह सब तो वैसा ही है जैसा कि-स्वप्न में दृष्ट गन्धर्व नगर आदि। यह नहीं कह सकते कि-निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म स्वयं प्रकाशवान है, इस लिए उसे प्रमाणान्तरों की अपेक्षा नहीं होती स्वयं प्रकाश ज्ञान आत्मसाक्षिक होता है, वह तो ज्ञेय विशेष (ब्रह्म) सिद्धिरूप ज्ञाता के अधीन देखा जाता हैं, यह हम पहिले ही बतला चुके हैं तथा उस ब्रह्म की निर्विशेषता की साधिका ज्ञानमूलक जिन युक्तियों को प्रस्तुत किया था, उन सबका, अविद्या कार्यत्व आदि घटित अनुमानों से निराकरण भी कर चुके हैं। निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म के संवंध में, अज्ञान साक्षित्व और अहंकार आदि जगद्भ्रम का अरोप भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि-साक्षित्व भ्रमादि तो किसी किसी ज्ञाता विशेष में ही होते हैं। वह ज्ञानगत नहीं होते, और न उस ज्ञान का प्रकाश ही होता हैं, न उसमें स्वतः प्रकाश की क्षमता ही हो सकती है। प्रकाश का अर्थ होता है, किसी व्यक्ति विशेष में, किसी वस्तु की अभिव्यक्ति होना। ऐसा स्वयं प्रकाश का भाव, आपके द्वारा ही बतलाया गया है। जो ऐसे लक्षण से घटित न हो सके उस निर्विशेष की ज्ञान प्रकाशता संभव नहीं है। असत् पदार्थ से ही सत् पदार्थ उत्पन्न होते हैं,ऐसा जो आपका अपनी गोष्ठी में उद्घोष है वह,आप ही के "सारे उत्पन्न होने वाले पदार्थ, एक रूप से अबाध व्यावहारिक सत्य हैं, वस्तुतः तो वे सब अविद्यात्मक ही हैं" इत्यादि मत से, समाप्त हो जाता है। परमार्थ कारण से ही, सर्वत्र सब कार्यों की उत्पत्ति होती है, ऐसा हमारा घोष भी, पहिले ही कट चुका है।

न च त्वयैषामनुमानानां श्रुतिविरोधो वक्तुं शक्यते, श्रुतेरपि अविद्याकार्यत्वेन अविद्यात्मकत्वेन चोक्त दृष्टान्तेभ्यो विशेषाभावात्। यन्तु ब्रह्मणोऽपारमार्थिकज्ञानगम्यत्वेऽपि पश्चात्तनबाधः दर्शनाद् ब्रह्म सत्यमेव इति, तदसत्, दुष्टकारणजन्य ज्ञानगम्यत्वे निश्चिते सति पश्चात्तनबाधा दर्शनस्याकिंचित्करत्वात्, यथा शून्यमेवतत्त्वमिति

वाक्यजन्यज्ञानस्य पश्चात्तनबाधादर्शनेऽपि दोषमूलत्वनिश्चयादेव तदर्थस्यासत्यत्वम्।

तुम हमारे किये गए उक्त अनुमानों को श्रुतिविरुद्ध नहीं कह सकते-क्यों कि- तुम्हारे ही प्रतिपादन से यह लक्षित हो चुका है कि- श्रुति भी अविद्या का कार्य है अतएव अविद्यात्मक है, इसलिए गत दृष्टान्तों से कोई विशेष बात श्रुतियों में कही गई हो ऐसा समझ में नहीं आता [अर्थात् मिथ्या दृष्टान्तों की तरह, श्रुति भी मिथ्या दृष्टान्त रूपही हैं] ब्रह्म अपारमार्थिक ज्ञान से गम्य होते हुए भी, ज्ञानोत्तर काल में उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं देखी जाती, इसलिए ब्रह्म तो सत्य ही है, यह कहना भी बेकार ही होगा क्योंकि-ब्रह्म ज्ञान गम्य है तथा वह ज्ञान दोषावह कारणों से जन्य है ऐसा जब तर्क से निश्चित हो चुका तब उसमें,बाद में बाधा भले ही न पड़े उससे-कुछ होता नहीं [अर्थात् अविद्या-जन्य ज्ञान से ही जब ब्रह्म की प्रतीति होती है तो यही कौन कम बाधा है ?] जैसे कि-"शून्य ही एकमात्र तत्त्व है" इत्यादि से जो प्रतीति होती है भले ही उसमें बाधा न पड़े, पर है तो दोषमूलक हो, वैसे ही उक्त मत की असत्यता भी निश्चित होती है।

किं च "नेह नानाऽस्तिकिंचन" विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति विज्ञा-मात्रातिरिक्तस्य कृत्स्नस्य वस्तुजातस्य निषेधकत्वेन सर्वस्मात् परत्वात् पश्चात्तन बाधादर्शनमुच्यते,शून्यमेव तत्त्वमिति तस्याप्यभावं वदतः तस्मात्परत्वेन पश्चात्तनबाधो दृश्यते। सर्वशून्यत्वातिरेकि-निषेधासंभवात्तस्यैव पश्चात्तनबाधादर्शनम्, दोषमूलत्वं तु प्रत्यक्षादीनां वेदांत जन्मनः सर्वशून्यज्ञानस्याप्यविशिष्टम्। अतः सर्वं विज्ञानजातं पारमार्थिकज्ञातृगतं, स्वयं च परमार्थभूतमर्थविशेषसिद्धिरूपम्, तत्र किंचनज्ञानं दोषमूलम्, दोषश्च परमार्थः, किंचिच्च निर्दोषं पारमार्थिक सामग्रीजन्यमिति यावन्नाभ्युपेयते, न तावत्सत्यमिथ्यार्थव्यवस्था लोकव्यवहारश्चसेत्स्यति। लोकव्यवहारोऽपि पारमार्थिको भ्रांतिरूपश्च, पारमार्थिकज्ञातृगतार्थ विशेष सिद्धिरूपप्रकाशपूर्वकः, निर्विशेष

सन्मात्रस्य तु पारमार्थिकस्यापारमार्थिकस्य च प्रतिभासादेर्हेतुत्वा-संभवात् लोकव्यवहारो न संभवति। यच्च-तैर्निरधिष्ठानभ्रमा-संभवात् सर्वाध्यासाधिष्ठानस्य सन्मात्रस्य पारमार्थिकत्वमुक्तम्, तदपि दोष दोषाश्रयत्वज्ञातृत्वज्ञानानामपारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तिवद-धिष्ठानापारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तेर्निरस्तम्। अथ अधिष्ठानापारमा-र्थ्येऽपि न क्वचिद् भ्रमोदृष्ट इति सन्मात्रस्य पारमार्थिकत्वमवश्या-श्रयणीयमिति मन्यसे। हन्त तर्हि दोष दोषाश्रयत्वज्ञातृत्व ज्ञानानामपारमार्थ्येऽपि न क्वचिद् भ्रमोदृष्ट इति, दर्शनानानुगुण्येन तेषामपि पारमार्थ्यमवश्याश्रयणीयमिति न कंचिद् विशेषोऽन्यत्र तत्संरंभात्।

"इस जगत और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है "ब्रह्म विज्ञान और आनंद स्वरूप है "इत्यादि में विज्ञान से अतिरिक्त समस्त पदार्थों के निषेध तथा इन वाक्यों के परवर्त्ती होने से; ब्रह्म संबंधी बाधा की संभावना नहीं रह जाती परंतु "शून्य ही तत्त्व है "इस, उक्त वाक्य के भी परवर्त्ती वाक्य से, जो कि उसके भी प्रभाव को द्योतन कर रहा है, बाधा उपस्थित ही रहती है। सर्व शून्य से और अधिक निषेध की बात तो हो नहीं सकती, इसलिए इस परवर्त्ती शून्यवाद बोधक वाक्य का बोध तो हो नहीं सकता। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की तरह, वेदांत का यह सर्व शून्यवाद भी दोषमूलक है। इसलिए जब तक, समस्त विज्ञान की सत्योपलब्धि, एवं वस्तु विशेष अभिव्यंजक विज्ञान की सत्यता, तथा किसी किसी ज्ञान की निर्दोषता, सत्य सृष्टिकरणता, आदि नहीं स्वीकारी जावेगी तब तक सत्य मिथ्या विभाग और लोकव्यवहार भी सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि-पारमार्थिक और भ्रमात्मक दोंनो प्रकार के लोकव्यवहार,- परमार्थ के ज्ञाता के लिए तो पहिले से ही,, वस्तुविशेष के प्रकाशक प्रकाश सहित अपेक्षित रहते हैं केवल निर्विशेष सत् स्वरूप कभी पारमार्थिक या अपारमार्थिक भाव में, प्रतीति का हेतु नहीं हो सकता। इसलिए उससे लोकव्यवहार भी संपन्न नहीं हो सकता। तथा-किसी एक आश्रय के विना भ्रम होता ही नहीं, ऐसा मानकर जो समस्त अध्यासों के अधिष्ठान शुद्ध सत् पदार्थ

ब्रह्म की पारमार्थिकता बतलाई, वह भी-दोष, दोष के आश्रय, ज्ञान और ज्ञातृत्व आदि के अपारमार्थिक होते हुए जैसे भ्रमोत्पादन हो जाता है, वैसे ही अधिष्ठान की अपारमार्थिकता होते हुए भी भ्रम उत्पन्न हो सकता हैं, इस संभावित बात से कट जाती है। यदि कहो कि जब अधिष्ठान की अपारमार्थिकता में भ्रम नहीं दीखता, तब तो शुद्ध सत्पदार्थ की पारमार्थिकता अवश्य ही माननी पड़ेगी। ठीक है, तब तो, दोष दोषाश्रया ज्ञातत्व और ज्ञान आदि की अपारमार्थिकता में भी जब कहीं भ्रम नहीं दीखता, तब लोकव्यवहार का अनुसरण करते हुए, इन सब की पारमार्थिकता भी अवश्य स्वीकारनी पड़ेगी। इस विषय में केवल वाक्याडम्बर के अतिरिक्त कोई विशेष बात नहीं है।

यत्तु भेदपक्षेऽव्यतीतकल्पानामानन्त्यात् सर्वेषामात्मनां मुक्तत्वेन बद्धासंभवात् बद्धमुक्त व्यवस्था न संभवति, तदात्मानंत्येन परिहृतम्। यत्त्वात्मनां भिन्नत्वे माषसर्षपघटपटादिवत्संख्यावत्त्वमवर्जनीयम् इति, तत्र घटादीनामप्यनंतत्वात्दृष्टांतः साध्यविकलः स्यात्। दशघटाः सहस्रभाषाः, इति संख्यावत्त्व दृश्यत इतिचेत्—सत्यम्, तत्तु न घटादिस्वरूपगतम्, अपितु देशकालाद्युपाधिमद् घटादिगतम्, तादृशं तु संख्यावत्वमात्मनामभ्युपगच्छामः। न च तावता सर्वमुक्ति प्रसंगः आत्मस्वरूपानन्त्यात्। यत्तु आत्मनां भिन्नत्वे घटादिवज्जडत्वानात्मत्वक्षयित्व प्रसंगः, इति तदयुक्तम्, एकजातीयानां भेदस्य तज्जातीयानांजात्यन्तरत्वानापादकत्वात्। न हि घटानांभेदः, तेषां पटत्वमापादयति। यत्तु भिन्नत्वे वस्तुतः परिच्छेदाद्देशकालाभ्यामपि परिच्छेदोब्रह्मणः प्रसज्यत इत्यनंतत्वब्रह्मणो न सिध्यतीति, तदयुक्तम्, वस्तुतः परिच्छिन्ना नामपिदेश कालपच्छिेदस्य न्यूनाधिकभावेनानियमदर्शनात्। देशकालसंबंधेयत्तायाः प्रमाणांतराप्तनिर्णयत्वेन ब्रह्मणः सर्वदेशकालसंबंधस्यापि प्रमाणान्तरादापतप्ये विरोधाभावात्। वस्तुतः परिच्छेदमात्रादपि सर्वप्रकारपरिच्छेदरहितत्वाभावादानंत्यासिद्धिरिति चेत्, तदभवतोऽप्यविद्याविलक्षणत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपयतः

समानम् । अतः सतोऽविद्याविलक्षणत्वाभ्युपगमाद् ब्रह्मणोऽपि भिन्नत्वेन भेदप्रयुक्ता दोषाः सर्वे तवापि प्रसज्येरन् । यद्यविद्याविलक्षणत्वं नाभ्युपेयते, तर्ह्यविद्यात्मकमेव ब्रह्मस्यात् । "सत्यंज्ञानमनंतंब्रह्म" इति लक्षणवाक्यमपि तत एवापार्थकं स्यात् । भेदतत्त्वानभ्युपगमे हि स्वपक्ष परपक्ष साधनदूषणादिविवेकाभावाद सर्वंमसमंजसं स्यात् आनंत्यप्रसिद्धिश्च देशकालपरिच्छेदरहितत्व मात्रेण, ने वस्तुतोऽपि परिच्छेद रहितत्त्वेम, तथा विधस्य शशविषाणायमानस्यानुपलब्धेः । भेदवादिनस्तु सर्वंचिदचिद् वस्तुशरीरत्वेन ब्रह्मणः सर्वंप्रकारत्वात् स्वतः परतोऽपि परिच्छेदो न विद्यते । तदेवोपादयद्भ्योऽवगम्यते । आरम्भणशब्दआदिर्येषां वाक्यानाम्, तान्याकारणाद्भिन्नस्य कार्यस्य सत्यत्वाद् ब्रह्मकार्यं कृत्स्नं जगद् ब्रह्मणोऽन्यदेव ।

जो यह कहा कि—अतीत कल्पों की अनन्तता होने से सभी आत्माओं के मुक्त हो जाने से, भेदवाद में भी बद्ध मुक्त व्यवस्था नहीं बनती, इस कथन का निराकरण जीवों की अनन्तता के आधार पर किया जा चुका है। जो यह कहो कि—आत्माओं की भिन्नता मानने से, उर्द, सरसों, घट पट आदि की तरह, संख्यावत्त्व अर्थात् सान्तत्त्व होगा, सो यह दृष्टांत ही गलत है, घट आदि तो स्वतः ही अनंत हैं। यदि कहो कि—दस घट, हजार भाव आदि गणना तो की जाती है, ठीक है की जाती है, पर यह गणना, घट आदि के रूप की नहीं है, यह तो देशकाल आदि से विशिष्ट घट की है। ऐसी ही संख्या आत्मा की भी है [अर्थात् किसी स्थान किसी समय कुछ आत्मायें विभिन्न आकारों में उपस्थित हो तो हम उनकी गणना भले ही कर लें, पर हैं तो वह अनंत ही] इसलिए एक साथ सबकी मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि आत्मायें अनंत हैं।

जो यह कहा कि—आत्माओं को भिन्न-भिन्न मानने से उनमें जडता, अनात्मता, विनाश आदि दोष हो सकते हैं, यह बात भी युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि—एक जातीय पदार्थ का भेद, कभी उस जातीय पदार्थ से

भिन्न जातीयता नहीं बतला सकता, जैसे कि--घटों के पारस्परिक भेद में, पटत्व का भान नहीं होता। यह कहना कि-भेद मानने से आत्माओं का वस्तुगत परिच्छेद हो जायगा, जिसके फलस्वरूप, ब्रह्म का देश काल परिच्छेद (ससीमभाव) संभावित होगा, जिससे ब्रह्म की अनंतता सिद्ध न होगी। यह भी असंगत बात है, परिच्छिन्न पदार्थों का भी, देशकालात्मक परिच्छेद का न्यूनाधिक भाव देखा जाता है। देशकाल संबंधी जो परिच्छेद होता है, उसे प्रमान्तरों के सहारे ही, निरूपण किया जा सकता है, इसलिए ब्रह्म का, देशकाल आदि का जो संबंध है, वह भी प्रमाणान्तरों से ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए इसमें कोई विरूद्ध भाव नहीं है। यदि कहें कि-आत्मा का रूप, वस्तु से परिच्छिन्न होते हुए भी, तथा उससे भिन्न सभी प्रकार के परिच्छेद का अभाव होते हुए भी, ब्रह्म की अनंतता सिद्ध नहीं होती। ठीक है, ब्रह्म को जब तुम, अविद्या से पृथक् तत्त्व मानते हो, तब भी तो यही दोष उपस्थित होता है। सत् स्वरूप ब्रह्म को, अविद्या से विलक्षण मानने पर ब्रह्म जब अविद्या से पृथक् हो जाता है तब भेद संबंधी जितने भी दोष तुम प्रस्तुत करते हो वे सभी, संभावित हो सकते हैं। यदि अविद्यात्मक भिन्नता नहीं मानते, तो भी ब्रह्म तो अविद्यात्मक ही रहता है, जिससे "ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंतस्वरूप है" यह वाक्य घटित नही होता। यदि तात्त्विक भेद ही मानते हो तो तुम्हारे पास अपने पक्ष के पुष्टि और दूसरे के पक्ष के दूषणों को विश्लेषण करने का कोई उपाय ही नहीं रह जायेगा। अतः सब कुछ असामंजस्य पूर्ण हो जायेगा। देशकाल परिच्छेद के न होने मात्र से ही "अनंतता" सिद्ध हो जायेगी तथा वस्तुगत परिच्छेद की अपेक्षा न होगी, ऐसा खरगोश की सींग का सा अनहोना, परिच्छेद तो कहीं भी दृटिगत नहीं होता। भेदवादियों के मत से जब, सभी जड़चेतन ब्रह्म का शरीर है, तब सारे पदार्थ, विशेषित ब्रह्म से, स्वतः या परतः किसी भी रुप में परिच्छिन्न होकर नहीं रह सकते। इससे ज्ञात होता है कि—कारण से भिन्न, कार्य के सत्य होने से, ब्रह्म का कार्य, सारा जगत निश्चित ही पृथक् है।

सिद्धांतः—इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे-तदन्यत्वभारम्भणशब्दादिभ्यः तस्माद् परम् कारणाद ब्रह्मणः, अनन्यत्वं जगतः, आरम्भणशब्दादिभ्यः तदुपरम्भणशब्दादीनि। आरम्भण शब्द आदिर्येषां वाक्यानां

तान्यारम्भण शब्दादीनि "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।" "सदेव साम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्" अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य" सन्मूलाः सोम्येमाःसर्वाः प्रजाःसदायतनाः सद्प्रतिष्ठाः "ऐतदात्म्यमिदं सर्वंतत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतोः" इत्येतानि प्रकरणा-न्तरस्थानि अप्येवंजातीयकानि अत्राभि प्रेतानि । एतानि हि वाक्यानि चिदचिदात्मकस्य जगतः परस्माद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वमुत्पादयंति ।

उक्त संशय पर सूत्रकार "तदन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः" सूत्र प्रस्तुत करते हैं । अर्थात्–ब्रह्म के साथ जगत के अभेद के प्रतिपादक "आरम्भण' आदि शब्दों के प्रयोग से ज्ञात होता है कि––परमकारण ब्रह्म से, यह जगत अभिन्न है । जिन वाक्यों में उक्त शब्दों का प्रयोग है वे इस प्रकार है–"विकारमात्र, वाक्यारब्ध नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य पदार्थ है–"सृष्ठि के पूर्व यह सारा जगत् सत्स्वरूप था, तब परमात्मा ने एक से अनेक होने की कामना करके तेज की सृष्टि की—"उसने इस जीवात्मा के अन्तःकरण में प्रवेश करके"–हे सौम्य ! ये सारे पदार्थ मूल से ही सत्, सत् में ही स्थित तथा सत् में ही विलीन हैं–"यह सब आत्मस्वरूप हैं, वही एकमात्र सत्य आत्मा है, श्वेतकेतु ! तुम वही हो" इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकरणस्थ वाक्यों की एकता बतलाने के लिए ही सूत्र में आदि शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् ये सारे वाक्य एक ही तत्त्व के बोधक हैं । ये सारे ही वाक्य चिदचिदात्मक जगत की, परब्रह्म से अनन्यता बतलाते हैं ।

तथा हि–"स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतंश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातंविज्ञातम् ।" इति कृत्नस्यजगतो ब्रह्मैककारणत्वं, कारणकार्यस्यानन्यत्वं च हृदि निधाय कारणभूत ब्रह्म विज्ञानेन कार्यभूतस्य सर्वस्य विज्ञाने प्रतिज्ञाते सति कृत्स्नस्य ब्रह्मैककारणानजानता शिष्येण "कथं न्य भगवः स आदेशः" इत्यनुज्ञानेन अन्यज्ञातता संभवं चोदितो जगतो ब्रह्मैककारणतामुपदेक्ष्यन् लौकिक प्रती-

तिसिद्धं कारणात् कार्यस्यानन्यत्वं तावत् "यथा सौम्येकेन मृतपिंडेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्" इति दर्शयति । यथैकमृत्पिंडारब्धानां घटशरावादीनां तस्मादनतिरिक्तं द्रव्यतया तज्ज्ञानेन ज्ञाततेत्यर्थः ।

इसी प्रकार "वत्स ! तुम गर्व करते हो, तुमने इस विषय की कभी गुरु से जिज्ञासा की है ? जिसे जानकर, अश्रुत विषय श्रुत, अचिन्त्य विषय चिन्त्य एवं अविज्ञात विषय भी ज्ञात हो जाता है "इत्यादि श्रुत से, संपूर्ण जगत की ब्रह्मैक कारणता, कारण से कार्य की अभिन्नता समझाते हुए, गुरू ने, कारणस्वरुप ब्रह्म के ज्ञान से कार्य भूत जगत का ज्ञान होता है, इस तथ्य को वतलाया । एकमात्र ब्रह्म ही जगत का कारण है इस तथ्य को न जानने वाले शिष्य द्वारा पुनः "उस रूप का उपदेश भगवन् ! किस प्रकार का होगा ?" जिज्ञासा करने पर "हे सौम्य ! एक मिट्टी के ढेले से जैसे मिट्टी की निर्मित सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार" इत्यादि उत्तरसे गुरु ने एक विषय के ज्ञान के बिना अन्य विषयों का ज्ञान होना असंभव है, ऐसी लोक व्यवहारानुगत प्रतीति सिद्ध कारण कार्य की अभिन्नता बतलाई । इसका तात्पर्य है कि—एक मिट्टी के पिण्ड से समुत्पन्न घट प्याले आदि उस मृत पिण्ड से अभिन्न माने जाते हैं । उस मिट्टी के ढेले की जानकारी से ही उक्त धारणा बनती है ।

अत्र काणाद वादेन कारणात् कार्यस्य द्रव्यान्तरत्वमाशंक्य लोक प्रतीत्यैव कारणात् कार्यस्यानन्यतामुपपादयति "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येवसत्यम्" इति । आरभ्यते आलभ्यते स्पृश्यते इत्यारम्भणं "कृत्यल्युटोबहुलम्" इति कर्मणिल्युट् । वाचा-वाक्पूर्वकेण व्यवहारेण हेतुनेत्यर्थः । "घटेनोदकमाहर" इत्यादि वाक्यपूर्वको हि उदकाहरणादिव्यवहारः तस्य व्यवहारस्य सिद्धये तेनैव मृद्द्रव्येण पृथुबुध्नोदरत्वादिलक्षणोविकारः संस्थानविशेषः, तत्प्रयुक्तं च घटइत्यादिनामधेयम्, स्पृश्यते-उदकाहरणादिव्यवहारविशेषसिद्धयर्थं मृद्द्रव्यमेव संस्थानांतरनामधेयांतरभागवति । अतोघटाद्यपि मृत्तिके-

त्येव सत्यम् मृत्तिकाद्रव्यमित्येव सत्यम् प्रमाणेनोपलभ्यत इत्यर्थः न तु द्रव्यान्तरत्वेन । अतस्तस्यैवमृद्हिरण्यादे द्रव्यस्य संस्थानांतरभाक्त्व मात्रेण बुद्धिशब्दान्तरादय उपपद्यन्ते, यथैकस्यैव देवदत्तस्यावस्था भेदैः "बालोयुवास्थविरः" इति बुद्धिशब्दान्तरादयः कार्यविशेषाश्च दृश्यंते ।

इस विषय में कणाद मत में, कारण से कार्य भिन्न द्रव्य है ऐसी आशंका पूर्वक लोक प्रतीति के अनुसार ही कारण कार्य की अद्वैत प्रतीति होती है, इत्यादि प्रतिपादन किया गया है । "घट आदि विकार—कहने मात्र को भिन्न हैं, मिट्टी ही सत्य है" इत्यादि वाक्य में आरंभण शब्द का अर्थ है, आरंभ करने योग्य, आलंबन करने योग्य । "कृत्यल्युटो बहुलम्" इस पाणिनीय सूत्र से यहाँ कर्म में ल्युट प्रत्यय हुआ है "वाचा" का अर्थ है, वाक्यपूर्वक व्यवहार के अनुसार "घट से जल लाओ" इत्यादि शब्दोच्चारण द्वारा ही, जल लाना आदि व्यवहार पूरा होता है उस ब्यव-हार के संपादन के लिए, मिट्टी के स्थूल गोलाकार, मिट्टी के विशिष्ट आकृति वाले "घट" नाम का स्पर्श करता है, अर्थात् जल आहरण रूप विशेष व्यवहार संपादन के उद्देश्य से, मिट्टी की अन्य प्रकार की आकृति का "घट" नाम पड़ा । वस्तुतः घट और मिट्टी एक ही हैं, मिट्टी ही उसका सत्य रूप है, अर्थात् घट आदि पात्र मिट्टी होने से सत्य हैं । जैसे कि—देव-दत्त नामक व्यक्ति अवस्था विशेष के अनुसार "बालक-युवा-वृद्ध" कह-लानाहै, ये भेद बुद्धि और शब्द व्यवहार के ही हैं, वास्तविक नहीं हैं वैसे ही एक ही मिट्टी के बनी विभिन्न आँकृतियाँ घट प्याला आदि नामों से समझी और पुकारी जाती हैं ।

यदुक्तं सत्यामेव मृदि "घटो नष्टः" इति व्यवहारात् कारणाद् अन्यत्कार्यमिति, तदुत्पत्ति विनाशादीनां कारणभूतस्यैव द्रव्यस्यावस्-थाविशेषत्वाभ्युपगमादेव परिहृतम् । तत्तदवस्थस्यैकस्यैव द्रव्यस्य ते ते शब्दास्तानि तानि च कार्याणीति युक्तम् । द्रव्यस्य तत्तदवस्थत्वं कारकव्यापारायत्तमिति तस्यार्थवत्त्वम् अभिव्यक्त्यनुबंधीनि चोद्यानि-

तस्या अनभ्युपगमादेव परिहृतानि। उत्पत्त्यभ्युपगमेऽपि सत्कार्यं-वादो न विरूध्यते, सत एवोत्पत्तेः। विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते पूर्वमे-वसत्, तदुत्पद्यते च इति। अज्ञातोत्पत्ति विनाश याथात्म्यस्येदंचो-द्यम्, द्रव्यस्योत्तरोत्तर संस्थान योगः पूर्वं पूर्वं संस्थान संस्थितस्य विनाशः स्वावस्थस्यतूत्पत्तिः। अतः सर्वावस्थस्य द्रव्यस्य सत्वात्स-त्कार्यंवादो न विरूध्यते।

जो यह कहा कि—मिट्टी के सत्य होते हुए भी "घट फूट गया" ऐसा व्यवहार होता है, इसलिए कारण से कार्य भिन्न है। तुम्हारा यह कथन भी असंगत है, वह शब्द व्यवहार मात्र ही है, उत्पत्ति विनाश आदि, कारण भूत द्रव्य की अवस्था के ही होते हैं। विशेष विशेष अवस्था को प्राप्त, एक ही द्रव्य, विशेष विशेष शब्द और कार्य भेद के रूप में प्रयुक्त होता है, द्रव्य की वे सारी विशेष अवस्थायें, कारक व्यापार के अधीन होती हैं। इसी से कर्त्ता के प्रयास की सार्थकता भी होती है। अभिव्यक्ति संबंधी प्रस्तुत दोषों का निराकरण अभिव्यक्ति को अस्वीकार करने से ही हो जाता है। अभिव्यक्ति को स्वींकारने पर भी सत्कार्यवाद (कार्य कारण अनंतरत्ववाद) विरुद्ध नहीं होता। क्योंकि-इस मत में सत् से ही उत्पत्ति मानते हैं। उत्पत्ति के पूर्व ही जब सत् था तब "वह उत्पन्न हुआ' ऐसा प्रयोग तो अपनी ही बात को काटने वाला है? जो लोग उत्पत्ति विनाश के रहस्य को नहीं जानते वे ही ऐसा दोषारोपण करते हैं। द्रव्य का जो उत्तरोत्तर नूतन आकृतियों के साथ संभव है, वही पूर्वतन आकृति संपन्न द्रव्य का विनाश है। अपनी स्वाभाविक वर्तमान स्थिति का नाम ही उत्पत्ति है, सभी अवस्थाओं में द्रव्य की सत्ता अव्याहत रहती है, इसलिए उक्त बात सत्कार्यवाद से विरूद्ध नहीं है।

संस्थानस्यासत उत्पत्तावसत्कार्यंवाद प्रसंग इति चेत्-असत्कार्यंवादिनोऽप्युत्पत्तेरनुत्पत्तिमत्त्वे सत्कार्यंवाद प्रसंगः। उत्पत्ति-मत्त्वे च अनवस्था। अस्माकंत्ववस्थानां पृथक् प्रतिपत्तिकार्यंयोगान् अनर्हत्वादवस्थावत एवोत्पत्यादिकं सर्वमितिनिरवद्यम्।

यदि कहो कि-अविद्यमान आकृति विशेष की उत्पत्ति स्वीकारने से तो असत् कार्यवाद संभव होगा। नहीं, असत् कार्यवादी कभी भी उत्पत्ति

से उत्पत्ति नहीं मानते, यह सत्कार्यवाद का ही प्रसंग है, उत्पत्ति की उत्पत्ति मानने से तो अनवस्था हो जायेगी [अर्थात्-अद्वैतवादी कहते हैं कि-जो असत् है वह आकाश पुष्प की तरह सर्वथा मिथ्या है. उसकी कभी उत्पत्ति हुई है न हो सकती है, इसलिए उत्पत्ति के पूर्व ही कारण वस्तु में कार्य की बीज रूप स्थिति माननी चाहिए। जो सूक्ष्मरूप से अनाभिव्यक्त था वही कर्त्ता-करण आदि की उपयुक्त चेष्टा से अभिव्यक्त होकर कार्य के आकार में प्रकाशित होता है, उसे ही उत्पत्ति कहते हैं, ऐसी उत्पत्ति से पुनः उत्पत्ति हो नहीं सकती इस अभिव्यक्ति का साधन ही, कर्त्ता के व्यापार की सार्थकता है। असत्कार्यवादी (द्वैतवादी) कहते हैं कि-उत्पत्ति के पूर्व किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं कर्ताओं की चेष्टासे अभिनव कार्योत्पत्ति होती है। प्रत्येक वस्तु में विशेष विशेष कार्योत्पादन की शक्ति निहित है, इसलिए हर कारण से हर कार्य की उत्पत्ति हो नहीं सकती। इसपर आपत्ति की जाती है कि-कार्य की तरह उत्पत्ति की भी उत्पत्ति हो सकती है या नहीं ? स्वीकार करने पर उस उत्पत्ति का क्रम प्रवाह सदा चलता रहेगा तो सृष्टि क्रम में अनवस्था होगी। इसलिए उत्पत्ति से उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, परंतु अभिव्यक्ति के पूर्व उसका अस्तित्व स्वीकारना होगा। सत् से उत्पत्ति की अभिव्यक्ति मात्र मानकर प्रकारांतर से द्वैतवादी भी सत्कार्यवाद को स्वीकारते है] हम लोग (सत्कार्यवादी) तो अवस्थाओंकी पृथक्रूप से प्रतीति और कार्यव्यवहार की योग्यता स्वीकारते नहीं, इसलिए अवस्थित वस्तु की ही उत्पत्ति आदि स्वीकारते हैं, हमारा मत ही निर्दोष है।

कपालत्वचूर्णत्वपिंडत्वावस्था प्रहाणेन घटत्वावस्थादेकत्ववस्था प्रहाणेन बहुत्वावस्था तत्प्रहाणेनैकत्वावस्थाचेति न कश्चिद् विरोधः।

घटोत्पत्ति की पूर्ववर्त्ती, कपालचूर्ण और पिंडरूप तीन अवस्थाओं के समाप्त हो जाने पर ही जैसे घटाकार अवस्था विशेष होती है वैसे ही उस घटाकार अवस्था को बिगाड़ कर उसे अनेक आकृत्तियों में परिवर्त्तित कर सकते हैं, और पुनः एकाकार अवस्था में किया जा सकता है। इसलिए हमारे मत में कोई विरुद्धता नहीं है।

तथा—"सदेवसोम्येदमग्रआसीत् एकमेवाद्वितीयम् "इति सदेवेदम् इदानीं विभक्तनामरूपत्वेन नानारूपं जगत्,अग्रेनामरूपविभागा-

भावेन एकमेवासीत्, सर्वशक्तित्वेन अधिष्ठात्रन्तरासहतया अद्वितीयं चेत्यनन्यत्वमेवौपपादितम्। तथा—"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय "इति स्रक्ष्यमाणतेजःप्रभृति विविध विचित्रस्थिरत्रसरूप जगत्वेनात्मनो बहुभवनं संकल्प्य जगत् सर्गाभिधानात् कार्यभूतस्यजगतः परमकारणात् परस्माद् ब्रह्मणोऽनन्यत्वमवसीयते।

जैसे कि– "हे सौम्य! यह सब सृष्टि के पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था "इत्यादि श्रुति में, सत्स्वरूप होते भी, वत्तमान काल में नामरूप में विभक्त, अनेक आकारों वाला यह जगत्, सृष्टि के पूर्व नामरुप के भेदों से रहित एक ही सर्वशक्ति संपन्न था, इसलिए इसके परिचालन के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं थी, वही एक अद्वितीय था, ऐसा अनन्यता का प्रतिपादन किया गया। तथा–"उसने संकल्प किया कि-अनेक होकर जन्म लूं "इत्यादि सृष्टव्य तेज आदि विविध स्थावर जंगमाकार में, स्वयं को अनेक रूपों की अभिव्यक्ति के संकल्प और उसके अनुसार सृष्टि कार्य के, उपदेश से ज्ञात होता है कि-कार्य स्वरूप यह जगत्, परमात्मा से अभिन्न है।

सच्छब्दवांच्यस्य परस्य ब्रह्मणः सर्वज्ञस्यसत्यसंकल्पस्य निखद्य स्यैव सदेवेदमिति निर्देशहिजगत्वम्,सच्छब्दवाच्यस्यैव जगतो नामरूप विभागाभावेनैकत्वमधिष्ठात्रन्तरनिरपेक्षत्वम्, पुनरपि तस्यैव बिचत्रस्थिर त्रसरूपजगत्वेन वहुभवन संकल्परूपेक्षणम्, यथा संकल्पं सर्गंश्चकथमुपपद्यत इत्याशंक्याह—"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो- देवताः अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणीतितासां त्रिवृतं त्रिवृतम् "इत्यादि "तिस्रो देवताः "इति कृत्स्नमचिद्वस्तु निर्दिश्य स्वात्मक जीवानुप्रवेशेनैतद्विचित्रनामरूपभाक्करवाणीत्युक्तम्। अनेन जीवेनात्मना—मदात्मकजीवेन आत्मतयाऽनुप्रविश्यैतद्- विचित्रनामरूपभाक्करवाणीत्यर्थः। स्वात्मनो जीवस्य चात्मतयाऽनुप्रवेशकृतं नामरूपभाक्त्वमित्युक्तं भवति। "यत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्या सच्चत्यच्चाभवत्' इति श्रुत्यन्तरेण स्पष्टं सजीवं

जगत्परेण ब्रह्मणा आत्मतयाऽनुप्रविष्टम् इति तदेतत्कार्यावस्थस्य च कारणावस्थस्य च चिदचिद् वस्तुनः स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च परब्रह्म शरीरत्वम्, परस्य च ब्रह्मण आत्मत्वम्, अन्तर्यामिब्राह्मणादिषु सिद्धं स्मारितम्। अनेन पूर्वोक्ताशंका निरस्ता।

सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, सर्वदोष रहित, सत्पदार्थ परब्रह्म की ही "यह सत् स्वरूप ही था "इत्यादि निर्दिष्ट जगद् रूपता तथा सत् पदवाच्य उस जगत् की नामरूप विभाग रहित एकता, अन्यपरिचालक निरपेक्षता. पुनः उसी का विचित्र स्थावरजंगमात्मक जगदाकार रूप में बहुत होने का संकल्प तथा संकल्पानुसार सृष्टि इत्यादि कैसे संभव हैं? इत्यादि शंका पर ही कहा गया कि-"उस देवता ने विचार किया कि-मैं इस जीवात्मा में प्रवेश करके इन तीनों देवताओं को नामरूप से प्रकट करूँगा और उनको भी तीन तीन अर्थात् भूतयात्मक करूंगा "इसमें "तीनों देवों" इस पद से समस्त चिद्अचिद् वस्तु का निर्देश करके, स्वात्मक जीवानु प्रवेश से इसे विचित्रनाम रूपवाला करूँगा, तथा "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" से, सत्स्वरूप जीवरूप आत्मा के अभ्यंतर में प्रवेश पूर्वक इस जगत को विचित्र नाम रूपवाला करूंगा; ऐसा बतलाया गया है। ऐसी ही दूसरी श्रुति "उसकी सृष्टि करके, उसी में प्रविष्ट हो गए, और प्रविष्ट होकर प्रत्यक्ष और परोक्ष हुए "इत्यादि में, स्पष्ट रूप से शरीर रूपी जगत में परब्रह्म का आत्मरूप से प्रवेश बतलाया गया है। इससे ज्ञात होता है कि-कार्यावस्थ और कारणावस्थ, जड़ और चेतन, स्थूल और सूक्ष्म, सब कुछ परमात्मा का ही शरीर है, परब्रह्म की और इस जगत की ऐसी आत्मीयता, अंतर्यामी ब्राह्मण में प्रसिद्ध है। इत्यादि से उक्त शंका निवृत्त हो गई।

अचिद्वस्तुनि सजीवे ब्रह्मण्यात्मतयाऽवास्थिते नामरूपव्याकरण वचनात् चिदचिद् वस्तुशरीरकं ब्रह्मैव जगच्छब्दवाच्यमिति "सदेवेद-मग्रएकमेवासीत् "इत्यादि सर्वमुपन्नतरम् शरीभूतचिदचिद्वस्तुगताः सर्वे विकाराश्चापुरुषार्थाऽचेति ब्रह्मणो निरवद्यत्वं कल्याणगुणाकरत्वं च सुस्थितम्। तस्मादेतत्–"अधिकं तु भेदनिर्देशात् "इत्यनन्तरमेव वक्ष्यति।

परमात्मा ने आत्मा रूप से स्थित होकर, जडचेतन वस्तुमय जगत को नाम रूप में अभिव्यक्त किया,इसका वास्तविक अर्थ तो यह हुआ कि-जडचेतनवस्तुमय शरीर वाले ब्रह्म ही जगत् पदवाच्य हैं। "सृष्टि से पूर्व जगत् एक सत् स्वरूप ही था "ईत्यादि से यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है। शरीर रूप जडचेतन वस्तुगत सारे विकाश और अपुरुषार्थ, परब्रह्म की निर्दोषता और कल्याणगुणाकरता को अव्यवस्थित नहीं कर पाते, इसी बात को-"अधिकं तु भेद निर्देदशात् "सूत्र में कहेंगे।

तथा—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् "इति कृत्स्नस्य चेतनाचेतनस्य ब्रह्मतादात्म्यमुपदिशति। तदेव च "तत्त्वमसि" इति निगमयति तथा प्रकणान्तरेषु अपि वाक्येषु—"सर्वं खल्विदंब्रह्म"—"आत्मनि -खल्वरे दृष्टे श्रुतेमते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्"—"इदंसर्वं यदयमात्मा"-ब्रह्मैवेदं सर्वम्"—"आत्मैवेदं सर्वम्"इत्यनन्यत्वं प्रतीयते, तथाऽन्यत्वं च निषिध्यते।"सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" "नेहनानास्ति-किंचन अमृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इहनानेव पश्यति"इति तथा-"यत्रहि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्? 'इत्यविदिषो द्वैतदर्शनं विदुषश्चाद्वैतदर्शनं प्रतिपादयन् अनन्यत्वमेव तत्त्वमिति प्रतिपादयति। तदेवमारंभणशब्दादिभ्यो जगतः परमकारणाद् परस्माद् ब्रह्मणोऽनन्यत्वमुपपाद्यते।

तथा-"यह सारा जगत् इस ब्रह्म का आत्मीय है" इस श्रुति में समस्त चिदअचिद् की ब्रह्मात्मकता का उपदेश दिया गया है "तुम वही हो"इस वाक्य में भी उसी को प्रकारान्तर से बतलाया गया है। इसी प्रकार अन्य प्रकरणों में भी-'यह सब कुछ ब्रह्म है-आत्मा के दृष्ट, श्रुत चिंतित हो जाने से ही सारे जगत का ज्ञान हो जाता है-यह जो कुछ है वह आत्मा ही है-यह सब कुछ ब्रह्म ही है-यह सब आत्मा ही है"इत्यादि वाक्यों से, ब्रह्म और जगत की अनन्यता और द्वैतका निषेध किया गया है। "जो लोग सब पदार्थों को आत्मा से भिन्न मानते है' 'सारे पदार्थों से वे वंचित रह जाते हैं"-इस जगत में कुछ भी भिन्न नहीं है,जो इसमें भिन्नता देखते हैं वे बार बार मरते रहते हैं"—जब तक द्वैतभाव रहता है तभी तक दूसरा

दीखता है, जब सब कुछ आत्मरूप हो जाता है, तब किससे किसको देखा जा सकता है? "इत्यादि वाक्यों में अज्ञानियों के द्वैतभाव और ज्ञानियों के अद्वैतभाव का प्रतिपादन किया गया है। यथा अद्वैत को ही तत्त्व बतलाया गया है इसी प्रकार आरंभण शब्द आदि से—परमकारण पर ब्रह्म और जगत् का उपपादान किया गया है।

अत्रेदं तत्त्वं—चिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकार ब्रह्मैवसर्वदा सर्वशब्दाभिधेयं, तत्कदाचित् स्वस्मात् शरीरतयाऽपि पृथग्व्यपदेशा-नर्हसूक्ष्मदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरम्। तत्करणावस्थं ब्रह्म, कदाचि-च्च विभक्तनामरूपव्यवहारार्हस्थूलदशापन्नचिदचिद् वस्तुशरीरम् तच्च कार्यावस्थमिति कारणात् परस्माद् ब्रह्मणः कार्यरूपं जगदन्यत् शरीरभूतचिदचिद्वस्तुनः शरीरिणो ब्रह्मणश्चकारणावस्थायां-कार्यावस्थायांश्च श्रुतिशतसिद्धया स्वभावव्यवस्थया गुणदोषव्यव-स्थया च "न तु दृष्टान्तभावात् "इत्यत्रोक्त।

उक्त कथन का तत्त्व यह है कि—जड़चेतन सभी वस्तु ब्रह्म का शरीर है, इसलिए तद्विशिष्ट ब्रह्म हो हर जगह "सर्व"शब्द से प्रतिपाद्य हैं। सर्व शब्दवाच्य वह ब्रह्म ही, कभी अपने ही' शरीर रूप, पृथक् न कहने योग्य, सूक्ष्मदशा को प्राप्त जड़चेतन शरीर वाला होकर कारणा-वस्थ ब्रह्म कहलाता है,और कभी विभक्त नामरूपो में व्यवहार्य,स्थूल दशा के प्राप्त जड़चेतन वस्तु शरीर का होकर कार्यावस्थ ब्रह्म कहलाता है। इसलिए कारणभूत परब्रह्म से उसी का कार्यभूत यह जगत भिन्न नहीं है। जड़चेतन वस्तुमय शरीर के शरीरी ब्रह्म के, कारण कार्यरूप और अवस्थागत स्वभावभेद तथा गुण दोष विभाग व्यवस्था आदि, जो कि सैकड़ों श्रुतियों से सम्मत है, उन सबका विवेचन "न तु दृष्टान्ततभावात्" सूत्र में किया गया है।

ये तु कार्यकारणयोरनन्यत्वं कार्यस्य मिथ्यात्वाश्रयेण वर्णयंति, न तेषां कार्यकारणयोरनन्यत्वं सिध्यति, सत्यमिथ्यार्थयोरैक्यानुपपत्तेः, तथासति ब्रह्मणो मिथ्यात्वं जगतः सत्यत्वंवास्यात्।

जो लोग (शांकर) कार्यरूप जगत को मिथ्या मानकर कार्यकारण की अनन्यता बतलाते हैं, वस्तुतः उसके अनुसार तो कार्य कारण अनन्यता सिद्ध ही नहीं हो सकती, सत्य और मिथ्या की एकता संभव ही कैसे है? यदि उनकी एकता मानने का प्रयास करेंगे तो ब्रह्म में मिथ्यात्व तथा जगत् में सत्यता हो जावेगी।

ये च कार्यमपि पारमार्थिकमभ्युपयंतएव जीवब्रह्मणोरौपाधिकमनन्यत्वम्, स्वाभाविकंचानन्यत्वम्, अचिद् ब्रह्मणोऽस्तु द्वयमपि स्वाभाविकामिति वदंति, तेषामुपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वंतराभावान्निरवयवस्याखंडितस्य ब्रह्मण एवोपाधिसंबंधातब्रह्मस्वरूपस्यैव हेयाकारपरिणामात् शक्तिपरिणामाभ्युपगमे शक्तिब्रह्मणोरनन्यत्वाच्च जीवब्रह्मणोः कर्मवश्यत्वापहतपाप्मत्वादिव्यवस्थावादिन्योऽचिद्ब्रह्मणोश्च परिणामवदिन्यः श्रुतयो व्याकुलीभवेयुः

और जो लोग (भास्कराचार्य आदि) कार्य की पारमार्थिकता स्वीकारते हुए भी,जीव ब्रह्म के भेद को औपाधिक तथा अभेद को स्वाभाविक कहते हैं, उनके मतानुसार, उपाधि और ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य के न होने से,अखंड निरवयव ब्रह्म के साथ, उपाधि संबंध कल्पित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप, ब्रह्म की ही हेय जगत के रूप में परिणिति होती है। ब्रह्म और शक्ति का परिणाम स्वीकारने पर भी, शक्ति और शक्तिमान ब्रह्म जब अनन्य हैं; तब जीव की कर्माधीनता, ब्रह्म की निष्पाप स्वभावता आदि व्यवस्था तथा अचेतन का परिणाम और चेतन का अपरिणाम बतलाने वाली श्रुतियाँ व्याकुल हो जावेंगी।

ये पुनः निरस्तनिखिल भोक्तृत्वादिविकल्पविप्लवं सर्वशक्तियुक्तं सन्मात्रद्रव्यमेव कारणं ब्रह्म, तच्च प्रलयवेलायां शांताशेष सुख दुःखानुभवविशेषं स्वप्रकाशमपि सुप्तात्मवदचिद्वविलक्षणमवस्थितम्, सृष्टिवेलायां मृत्तिका द्रव्यमिव घटशरावादिरूपं, समुद्र इव च फेनतरंग बुद्बुदादिरूपो भोक्तृभोग्यनियंतृरूपेणांशत्रयावस्थमवतिष्ठते, अतो भोक्तृभोग्यनियंतृत्वानि तत्प्रयुक्ताश्चगुणदोषाः शरावत्वघटत्व-

मणिकत्ववत्तदमतकार्यभेदवच्चव्यवतिष्ठंते। भोक्तृभोग्यनियंतृणां सदात्मनैकत्वं च घटशरावमणिकादीनां मृदात्मनैकत्ववदुपपद्यते, अतः सन्मात्रद्रव्यमेव सर्वावस्थावस्थितमिति ब्रह्मणोऽनन्यज्जगदातिष्ठंते, तेषां सकलश्रुतिस्मृति इतिहासपुराणन्याय विरोधः, सर्वाहि-श्रुतयः सस्मृतीतिहासपुराणाः सर्वेश्वरं सदैव सर्वज्ञं सर्वशक्ति सत्यसंकल्पं निरवद्यं देशकालानवच्छिन्नानवधिकातिशयानन्दं परम-कारणं ब्रह्म प्रतिादयंति, न पुनरीश्वरादपि परमीश्वरांशिसन्मात्रम्।

और जो लोग (श्री निवासादि) भोक्तृत्व आदि समस्त विकल्प बाधाओं से रहित, सर्वशक्तिसंपन्न, कारणीभत शुद्ध सत् स्वभाव ब्रह्म को प्रलयकाल में सव प्रकार की सुखदुःखानुभूतियों से शून्य स्वप्रकाश बत-लाकर सुप्त आत्मा की तरह स्थित और अचेतन से पृथक बतलाते हैं तथा सृष्टि के समय मिट्टी जैसे घट प्याला आदि रूपों में तथा समुद्र जैसे फेन तरंग आदि रूपों में रहता है वैसे ही वह ब्रह्म, भोक्तृ भोग्य और नियंता रूप तीन अंशावस्थाओं में रहते हैं घट प्याला आदि विकृत पदार्थों की बिकृति की तरह, भोक्तता, भोग्यता और नियंतृता भी अपने गुणदोषों सहित कार्यभेद भी उनमें स्थित रहते हैं। घट प्याला आदि विकृत पदार्थ जैसे मृदात्मक हैं,वैसे ही भोक्ता,भोग्य और नियंता आदि भी सदात्मक होने से एक हैं, इस प्रकार एकमात्र द्रव्यरूपी सत् पदार्थ ही अनेक अवस्थाओं में अवस्थान करता है यही ब्रह्म और जगत की अनन्यता का रूप है, ऐसा बतलाते हैं। उनका यह मत संपूर्ण श्रुति स्मृति इतिहास पुराण आदि से विरुद्धमत है सारी श्रुतियाँ स्मृति इतिहास पुराणादि, सर्वेश्वर, सत् स्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसंपन्न सत्यसंकल्प, निरवद्य, देश काल आदि से अनवच्छिन्न, अतिशय आनंदमय परमकारण ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते है,परमेश्वर के भिन्न अंश ईश्वर आदि का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता।

तथाहि— सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्"—तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति"—ब्रह्म वा इदमग्रआसीत् एकमेव तदेकं सन्नव्य भवततच्छ्रेयो रूपमत्यसृजतक्षत्रं यान्येतानि देवक्षत्राणींद्रो वरुणः सोमोरुद्रः पर्जन्योयमो मृत्युरीशान् इति"—आत्मा वा इदमेक

एकाग्रआसीत् नान्यत् किंचनमिषत् स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति"—एको ह वै नारायण आसीत् न ब्रह्मा नेशानोनेमे द्यावापृथ्वी न नक्षत्राणिनापोनाग्निर्नसोमो न सूर्यः, सएकाकी न रमेत तस्य ध्यानान्तस्थस्य" इत्यादिभिः परमकारणं सर्वेश्वरेश्वरो नारायण एवेत्यवगम्यते।

तथा—"हे सौम्य! सृष्टि से पूर्व यह जगत एक अद्वितीय सत् था" "उन्होने विचारा कि अनेक होकर प्रकटूं"—यह जगत पहिले एक ब्रह्म स्वरूप ही था"—कार्य साधन में अपने को अकेला समझकर उन्होने श्रेय के साधन क्षत्रिय की रचना की, ये सारे देवता क्षत्रिय हैं जो कि—इन्द्र—वरुण—यम—रुद्र पर्जन्य—सोम और ईशान नाम से प्रसिद्ध हैं"—सृष्टि पूर्व जगत एक आत्म स्वरूप ही था, स्पन्दमान कुछ भी नहीं था, उन्होंने संकल्प किया कि लोक समूह की सृष्टि करूँगा"—एक नारायण ही थे, ब्रह्म, ईशान, द्यु पृथ्वी, नक्षत्र—जल-अग्नि-सोम सूर्य आदि कुछ न थे, वे एकाकी होने का अनुभव ही नहीं करते थे, वह उस समय समाधिस्थ थे "इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है कि एकमात्र सर्वेश्वरेश्वर परम कारण नारायण हैं।

सद् ब्रह्मात्मशब्दा हि तुल्यप्रकरणस्थाः तत्तुल्यप्रकरणस्थेन नारायणशब्देन विशेषिताः तमेवावगमयंति। "तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" सकारणं कारणाधिपाधियो न चास्यकश्चिद् जनिता न चाधिपः" इतोश्वरस्यैव कारणत्वं श्रूयते। स्मृतिरपिमानवी" ततः स्वयंभूर्भगवान्" इति प्रकृत्य-"सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः अह एव ससर्जादौ तासुवीर्यमपासृजत् "इति। इतिहासपुराणान्यपि पुरुषोत्तमं एव परमकारणमभिदधति —"नारायणोजगन्मूर्त्तिरनन्तात्मा सनातनः, स सिसृक्षुः सहस्रांशाद् असृजत् पुरुषान् द्विधा, विष्णोः सकाशादुद्‌भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् "इत्यादिषु।

सत् ब्रह्म और आत्मा शब्द, एक से ही प्रकरणों में, नारायण शब्द के ही विशेषण के रूप में प्रयोग किये गए हैं। "वह ईश्वरों के भी परम

महान ईश्वर तथा देवताओं के परमदेव हैं" वही परम कारण इंद्रियों के स्वामी, जीवों के भी स्वामी हैं, उनका कोई जनक नहीं है स्वामी ,,इत्यादि में भी ईश्वर की परमकारणता बतलाई गई है। तथा मनुस्मृति में भी-"वह स्वयंभूभगवान ''इत्यादि उपक्रम करते हुए "उन स्वयंभू ने प्रजासृष्टि की इच्छा से, सर्वप्रथम जल की सृष्टि की, उसमें अपने वीर्य का निक्षेप किया" इसी प्रकार इतिहासपुराणों में भी पुरुषोत्तम को ही परमकारण बतलाया गया है—"अनन्तआत्मा, सनातन जगत मूर्त्ति नारायण ने जगतसृष्टि की इच्छा से अपने हजारवें हिस्से के एक हिस्से से द्विविध (स्थावरजंगम) जीवों की सृष्टि की "विष्णु से ही उत्पन्न यह जगत उन्ही में स्थिर है। "इत्यादि,

न चेश्वर सन्मात्रमेवेति वक्तुं शक्यम्, तस्य तदंशत्वाभ्युपगमात् सविशेषत्वाच्च। न च तस्य ज्ञानानंदाद्यनंतकल्याणगुणयोगः कादाचित्क इति वक्तुंशक्यते, तेषां स्वाभाविकत्वेन सदातनत्वात् "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" यः सर्वज्ञः सर्ववित् इत्यादिभ्यः। ज्ञानानंदादिशक्तियोग एवास्य स्वाभाविक इतिमावोचः। "शक्तिः स्वाभाविकी, ज्ञानबलक्रिया च स्वाभाविकी, इति पृथङ् निर्देशात् लक्षणाप्रसंगाच्च।

वह ईस्वर एक मात्र सत्स्वरूप ही है, ऐसा भी नहीं कह सकते उसकी अंशविभूतियाँ भी हैं और वह सगुण भी हैं। उनका जो ज्ञान आनंद आदि कल्याणमय गुणों से संबंध है वह भी कादाचित्क (कभी रहता है कभी नहीं रहता) है, ऐसा भी नहीं कह सकते, वे आनंद आदि तो उनके स्वाभाविक होने से सनातन गुण हैं। जैसा कि—"उसकी स्वभाविकी पराशक्ति ज्ञान बल क्रिया आदि विविध रूपों की सुनी जाती है "वह सर्वज्ञसर्वविद है "इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है। केवल ज्ञान और आनंद आदि शक्ति योग से ही उसमें स्वाभाविकी शक्ति हो सो बात नहीं है अपितु ज्ञान बल क्रिया आदि की पृथक रूप से स्वाभाविकता बतलाई गई है। यदि इससे भिन्न कुछ अर्थ करेंगे तो वह लक्षणा से ही कर सकेंगे।

न च पाचकादिवत् "सर्वज्ञः" इत्यादिषु शक्तिमात्रे कृत् प्रत्ययइतिवक्तुं शक्यम्, कृत् प्रत्ययमात्रस्यशक्तावस्मरणात्-

"शक्तौ हस्तिकवाटयोः इत्यादिषु केषांचिदेवकृत्प्रत्ययानां शक्ति विषयत्वस्मरणात् । पाचकादिषुत्वगत्यालक्षणासभाश्रीयते ।

यहाँ "पाचक" आदि शब्दों की तरह "सर्वज्ञ" इत्यादि शब्दों में केवल शक्तिमान अर्थ के द्योतन के लिए ही कृत् प्रत्यय किया गया हो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि–समस्त कृत् प्रत्यय शक्ति अर्थ में ही नहीं होता है । "हस्ति और कवाट शब्द के पूर्ववर्त्ती होने पर ही शक्ति अर्थ में हन् धातु के बाद ढक् प्रत्यय होता है" इस व्याकरणीय नियम के अनुसार प्रयोग विशेष में ही, कृत् प्रत्यय का, शक्ति विषयक प्रयोग बतलाया गया है । पाचक आदि शब्दों में तो कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है इसलिए लक्षणा का आश्रय लेकर अर्थ किया जाता है [पाचक का लक्षणा द्वारा "पाकानुकूल शक्ति संपन्न" अर्थ किया जाता है]

किं च ईश्वरस्य तदंशविशेषत्वात्तस्य चांशित्वे तंरगात्समुद्रस्येवांशादंशिनोऽधिकत्वात् "तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते "इत्यादीनीश्वरविषयाणि परः शतानि वचांसि बाध्येरन् ।"

यदि ईश्वर उस सत्त् का अंश विशेष है और वह उसके अंशी हैं तो अंश रूप तरंग से अंशीरूप समुद्र की तरह मानने पर "वह ईश्वरों के भी परमईश्वर हैं, उनके समान या उनसे अधिक कोई नहीं है" इत्यादि सैकड़ों ईश्वरविषयक वाक्यों में बाधा उपस्थित होगी (अर्थात् ईश्वर को तो श्रेष्ठ कहा गया है, तुम उसे अंश बतलाकर सामान्य सिद्ध करते हो, श्री कृष्ण को ब्रह्म बतलाकर, नारायण ईश्वर को अंश बतलाते हो, यही श्रुति वाक्यों में बाधा है)

किं च सन्मात्रस्य सर्वात्मकत्वे, अंशित्वे च ईश्वरस्य तदंशविशेषत्वात्तस्य सर्वात्मकत्वांशित्वोपदेशाव्याहन्येरन्। नहिमणिकात्मकत्वं तदंशत्वं वा घटशरावादेः । स्वांशेषु सर्वेषु सन्मात्रस्य पूर्णत्वेनेश्वरांशेऽपि त पूर्णत्वात् तदात्मकानि तदंशाश्चेतराणि वस्तूनीतिचेन्न,

घटेऽपि सन्मात्रस्य पूर्णत्वादीश्वरस्यापि घटात्मकत्व तदंशत्व प्रसंगात् ।

यह कहते हो कि—एक मात्र सत्पदार्थ ही अपने समस्त अंशों में परिपूर्ण रहते हैं, उसके अंश ईश्वर में भी उसकी पूर्णता विद्यमान है इसलिए सारी वस्तुएं तदात्मक और तदंशभूत (ईश्वरात्मक और ईश्वरांश) कही गई हैं। ऐसा नहीं कह सकते, ऐसा कहने से तो यह सिद्ध होता है कि—घट भी सत का अंश और ईश्वर भी सत का अंश दोनों एक से ही हैं; घट भी सदात्मक होने से परिपूर्ण है तथा ईश्वर भी सदात्मक है इसलिए दोनों अभिन्न हैं, तो यह समझना चाहिए कि ईश्वर घटात्मक भी है और घट का अंश भी है।

न च सन्मात्रस्य "घटोऽस्ति "पटोऽस्ति" इति वस्तुगततयाऽवगतस्यद्रव्यत्वंकारणत्वंवोपपद्यते। व्यवहारयोग्यता हिसत्वम्। विरोधि व्यवहार योग्यता तद् व्यवहार योग्यस्यासत्वम्। द्रव्यमेवसदित्यभ्युपगमे क्रियादीनामसत्व प्रसंगः। क्रियादिषु काशकुशावलंबनेऽपि सर्वत्रैकरूपा सत्ता दुरूपपादा। सदात्मना च सर्वस्याभिन्नत्वे सर्वज्ञत्वेन सर्वस्वभावप्रतिसंधानात् सर्वगुणदोषसंकर प्रसंगश्च पूर्वमेवोक्तः अतो-यथोक्त प्रकारमेवानन्यत्वम्।

सद् वस्तु की "घट है" पट है "ऐसी वस्तु धर्म संबंधी द्रव्यता और कारणता भी साध्य नहीं है। सत् का अर्थ होता है, जो वस्तु व्यवहार योग्य हो, जिसमें व्यवहार योग्यता का अभाव हो वही असत् है केवल द्रव्य को ही सत् मानने से उसके सारे कार्य असत् हो जावेंगे [अर्थात् बिना व्यवहार योग्य सद् वस्तु से उत्पन्न सारी वस्तुएं व्यवहार योग्यता के बिना असत् ही हैं] क्रिया आदि में यदि थोड़ा बहुत सत् का आश्रय स्वीकारें तो भी, सर्वत्र अद्वैत का प्रतिपादन करना संभव नहीं हो सकता सब पदार्थों को सत् स्वरूप से यदि अभिन्न मानेंगे तो, सर्वज्ञ संबंधी जो गुण दोष आदि स्वभावों की पर्यालोचना की जाती है, वह नहीं कर पावेंगे। जैसा हम पहिले अनन्यता का प्रतिपादन कर चुके हैं वही समीचीन है।

अथोच्येत्–एकस्यैवावस्थान्तरयोगेऽपि बुद्धिशब्दान्तरादयो बाल-त्व युवत्वादिषु दृश्यंते, मृद्दारुहिरण्यादिषु द्रव्यान्तरत्वेऽपिदृश्यंते, तत्र मृद् घटादिषु कार्यकारणेषु बुद्धिशब्दान्तरादयोऽवस्थानिवंधना एवेति कुतो निर्णीयते ? इति । तत्रोत्तरम्––

प्रश्न होता है कि–एक ही पदार्थ की विभिन्न अवस्थाओं के स्वीकारने पर जैसे बालत्व युवत्व आदि की प्रतीति और तद् बोधक शब्दों का प्रभेद देखा जाता है , वैसे ही मिट्टी लकड़ी सोना आदि द्रव्यों की पृथक् सत्ता भी देखी जाती है । पर मिट्टी, घट आदि कारण कार्यों में, शब्द और प्रतीति के अनुसार, किस प्रकार का अवस्था भेद माना जावेगा ? इसी का उत्तर देते हैं –

भावे चोपलब्धेः ।२।१।१६॥

कुण्डलादि कार्यं सद्भावे च कारणभूतहिरण्यस्योपलब्धेः "इदं कुन्डलं हिरण्यम्" इति हिरण्यत्वेन प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः । न चैवं हिरण्यादिषु द्रव्यान्तरेषु मृदादय उपलभ्यंते । अतोबालयुवादिवत् कारणभूतमेव द्रव्यमवस्थान्तरापन्नं कार्यमिति गीयते, द्रव्यान्तरवा-दिनऽप्यभुपेतेनावस्थान्तरयोगेन बुद्धिशब्दान्तरादिषूपपन्नेष्वनुपलब्ध-द्रव्यान्तर कल्पनाऽनुपपत्तेश्च ।

कुन्डल आदि कार्यों में, कारणभूत स्वर्ण की सत्ता रहती है, तभी "यह कुन्डल स्वर्ण का है" ऐसी प्रतीति होती है, ऐसी उपलब्धि में स्वर्ण को मिट्टीतो कहा नहीं जा सकता, अर्थात् एक द्रव्य में अन्य की उपलब्धि तो होती नहीं । इसी प्रकार, कारणभूत वस्तु बाल युवा आदि अवस्थांतरों को प्राप्त होकर भी, उनमें निहित रहता है । जो लोग, द्रव्यान्तरवाद मानते हैं उनके मत से शब्द और प्रतीति के प्रभेद मानने पर भी, अनुप-लब्ध अन्य द्रव्य की कल्पना तो की नहीं जा सकती (अर्थात् एक ही द्रव्य के अवस्थांतर रूप में दूसरे किसी द्रव्य की प्रतीति तो हो नहीं सकती)

न च जाति निवंधनेयं प्रत्यभिज्ञा, जात्याश्रयभूतद्रव्यांतरानुप-लब्धेः । एकमेव हेमजातीयं द्रव्यं कार्यकारणोभयावस्थं दृश्यते । न

च द्रव्यभेदे समवायिकारणानुवृत्या कार्ये प्रतिसंधानमिति वक्तुं शक्यम्, द्रव्यान्तरत्वे सत्याश्रयानुवृत्तिमात्रेण तदाश्रित द्रव्यांतरे प्रतिसंधानानुपपत्तेः। गोमयादिकार्ये वृश्चिकादौ गोमयादि प्रतिसंधा-नं न दृश्यत इतिचेन्न, तत्राप्याद्यकारणभूतपृथ्वीद्रव्यप्रत्यभिज्ञानात्। अग्निकार्येधूमे अग्निप्रत्यभिज्ञानं दृश्यत इति चेत्, भवतु न तत्र प्रत्यभिज्ञानं, तथापि न दोषः अग्नेर्निमित्तकारणमात्रत्वात्। अग्नि-संयुक्तार्देन्धनकार्यमेव धूमः। अतः कार्यभावे च तदेवेदमित्युपलब्धे-बु द्धिशब्दान्तरादयोऽवस्थाभेदमात्र निबंधनाः, इत्यवगम्यते। तस्माद् कारणादन्यत्कार्यम्।

द्रव्य की जाति संबंधी प्रतीति से, उस जाति से आश्रित किसी अन्य द्रव्य की उपलब्धि भी नहीं हो सकती (अर्थात् सुवर्ण में सुवर्ण की ही प्रतीति हो सकती है मिट्टी की नहीं) एक ही सुवर्ण जातीय द्रव्य में कार्य-कारण रूप दो अवस्थायें देखी जाती हैं, एक जाति कारण हो, दूसरी जाति कार्य हो, ऐसा तो देखने में आता नहीं। भिन्न द्रव्यों का समवायि कारण एक है इसलिए कार्य का संधान एक सा ही हो, ऐसा कोई निश्चित नहीं है। यदि वस्तुतः ही द्रव्यभेद हो तो, आश्रयभूत समवायि कारण की प्रवृत्ति से पृथक् तदाश्रित द्रव्य में अभेद प्रतीति हो नही सकती यदि कहें कि-गोबर से होने वाले कीड़ों में, गोबर के रूप की प्रतीति नहीं होती तो भाई! गोबर की भी कारण पृथ्वी के रूप की प्रतीति तो होती है [हैं तो वे पार्थिव ही] यदि कहें कि—अग्नि के कार्य धुएं में तो अग्नि की प्रतीति होती नहीं? ठीक है न हो उसमें दोष ही क्या है, अग्नि तो निमित्त कारण मात्र ही है, धुआं तो गीली लकड़ी की अग्नि से होता है, उसमें उसीकी गंध भी आती है। इससे निश्चित होता है कि-कार्यरूप में "उसी उपादान का यह कार्य है" ऐसी निश्चित प्रतीति, बुद्धि और शब्द भेद से अवस्थांतर में ही होती है, द्रव्यांतर में नहीं। इससे सिद्ध होता है कि—कारण से कार्य अभिन्न है।

इतश्च—इसलिए भी कारण से कार्य अभिन्न है कि—

सत्वाच्चापरस्य ।२।१।१७॥

अपरस्य कार्यस्य सत्वाच्च कारणात् कार्यस्यानन्यत्वम् । लोकवेदयोर्हि कार्यमेव कारणतया व्यपदिश्यते, यथालोके "सर्वमिदं-घटशरावादिकं पूर्वाह्णे मृत्तिकैवासीत्" इति । वेदे च—"सदेव सोम्येदमग्रआसीत् ।"

कार्य में कारण की सत्ता रहती है, इसलिए कारण और कार्य की अनन्यता निश्चित है, लोक और वेद में कार्य को ही कारण रूप से निर्देश किया गया है—जैसे कि लोक में कहा जाता है कि—"ये घड़े प्याले आदि सब सबेरे मिट्टी ही तो थे" तथा वेद में जैसे—"सृष्टि के पूर्व ये सारे पदार्थ सत् ही तो थे ।" इत्यादि ।

असद्व्यपदेशान्नेतिचेन्नधर्मान्तिरेण वाक्याशेषाद्युक्तेः शब्दांतराच्च । ।२।१।१८

यदुक्तं कारणे कार्यस्य सत्त्वं लोकवेदाभ्यामवगम्यत, इति, तदयुक्तम्, असद् व्यपदेशात् "असदेवेदमग्रआसीत्" "असद् वा इद-मग्र आसीत्""इदं वा अग्रेनैवंकिंचनासीत्" इति—लोके च "सर्वमिदं घटशरावादिकं पूर्वाह्णेनासीत्"इति। अतो यथोक्तंनोपपद्यत इति चेत् तन्न, धर्मान्तरेण तथा व्यपदेशात् । स खल्वसद्व्यपदेशस्तस्यैव कार्य-द्रव्यस्य पूर्वकालेनधर्मान्तरेण—संस्थानांतरेण, न भवदभिप्रेतेनतुच्छ त्वेन । सत्त्वासत्त्वेहि द्रव्यधर्मावित्युक्तम् । तत्रसत्त्वधर्माद्धर्मान्तरमस त्त्वम् । इदं शब्दनिर्दिष्टस्य जगतः सत्त्वधर्मो नामरूपे, असत्त्वधर्मस्तु तद्विरोधिनी सूक्ष्मावस्था । अतो जगतो नामरूपयुक्तस्य तद्विरोधि सूक्ष्मदशापत्तिरसत्त्वम् ।

जो यह कहा कि—कारण में कार्य की स्थिति लोक और वेद से ज्ञात होती है, यह बात असंगत है, आपके कथन के विपरीत असत् का ही उल्लेख मिलता है-जैसे कि-"यह सब कुछ सृष्टि के पूर्व नहीं था" यह सब पहिले असत् ही था "सृष्टि के पूर्व यह जगत कुछ नहीं था" इत्यादि वेद

में तथा लोक में जैसे—"ये सब घड़े प्याले आदि सवेरे कुछ नहीं थे" इत्यादि। इसलिए उक्त कारण में कार्यस्थिति की बात असंगत है यह कहना उपयुक्त नहीं है, असद् का जो उल्लेख किया गया है वह वस्तु के धर्मान्तरीय रूप का ही द्योतक है, वास्तविकता का नहीं। अर्थात् जिसका असत् रूप से उल्लेख है वह उसी कार्य द्रव्य की पूर्वकालीन स्वरूपांतर अवस्था का उल्लेख है, आपकी अभिप्रेत उच्छिन्न (अस्तित्वहीन) अवस्था का नहीं। सत्व और असत्व ये दो द्रव्य के धर्म हैं। सत्व धर्म से विपरीत दूसरा धर्म असत्व है। "इदं शब्द से निर्दिष्ट जगत का, सत्व धर्म, नाम और रूप में है तथा असत्त्व धर्म उन दोनों की ही विपरीत सूक्ष्म अवस्था में है। इससे स्पष्ट है कि—जगत की नाम रूप युक्त स्थिति से विपरीत सूक्ष्म दशा ही असत्त्व है।

कथमिदमवगम्यते ? वाक्यशेषाद् युक्तेः शब्दान्तराच्च। वाक्य-शेषस्तावत्—"इदं वा अग्रेनैव किंचनासीत्" इत्यत्र "तदसदेव सन्म-नोऽकुरुत स्यामिति" इति अनेन वाक्यशेषगतेन मनस्कारलिंगेन असच्छब्दार्थे तुच्छातिरिक्ते निश्चिते तदैकार्थ्यात् "असदेवेदम्" इत्यादिष्वपि असच्छब्दस्यायमेवार्थं इति निश्चीयते। युक्तेश्चासत्त्व-स्य धर्मान्तरत्वमवगम्यते, युक्तिर्हि सत्त्वासत्त्वे पदार्थधर्मावगमयति। मृद्द्रव्यस्य पृथुबुध्नोदराकारयोगो घटोऽस्तीति व्यवहार हेतुः, तस्यै-वतद्विरोध्यवस्थान्तरयोगो घटो नास्तीति व्यवहार हेतुः, तत्रकपा-लाद्यवस्थास्तद्विरोधित्वेन सैव घटावस्थस्य नास्तीति व्यवहारहेतुः। न च तद्व्यतिरिक्तो घटाभावो नाम कश्चिदुपलभ्यते, न च कल्प्यते तावतैवाभावव्यवहारोपपत्तेः। तथा शब्दान्तराच्च पूर्वकाले धर्मान्त-रयोग एवावगम्यते। शब्दान्तरंच पूर्वोदाहृतम "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादिकम्। तत्र हि "कुतस्तु खलुसोम्यैवंस्यात् "इति तुच्छत्वमाक्षिप्य "सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्" इति स्थापितम "तद्धेदं तर्हि अव्याकृतं आसीत्तन्नामरूपाभ्यांव्याक्रियत" इति सुस्पष्टमुक्तम्।

यदि कहें कि—उक्त निष्कर्ष किस आधार पर निकाला? तो सुनिये—युक्ति और शब्दांतर प्रयोग तथा वाक्य के अंतिम वर्णन से। अंतिमवर्णन जैसे—"सृष्टि के पूर्व यह सब कुछ नहीं था" कहने के बाद ही "आत्मसर्जन की इच्छा से उस असत् ने मन की सृष्टि की" इत्यादि में मन की सृष्टि का वर्णन किया गया है, जिससे निश्चित होता है कि—असत्-शब्द तुच्छ के अतिरिक्त, कुछ विशेष अर्थ का बाधक है नाम रूपात्मक जगत् और उसकी सूक्ष्मावस्था की एकार्थता को बतलाने के लिए ही "यह सब असत् ही था" ऐसा कहा गया। इस वाक्य में प्रयुक्त "असत्" शब्द का, उक्त विशेष अर्थ ही, निश्चित होता है। युक्ति जैसे—"असत्" शब्द धर्मान्तरत्व का द्योतक है, युक्ति से ही, सत्त्व और असत्व इन दो धर्मों का ज्ञान हो सकता है, जैसे कि—मिट्टी रूपी द्रव्य की स्थूल गोलाकार आकृति ही घट कहलाती है, उस आकृति के नष्ट हो जाने पर "घट नहीं है" ऐसा प्रयोग किया जाता है, या घट निर्माण के पूर्व की जो, दो कपालों के रूप में आकृति होती है वह "घट नहीं है" इस विपरीत अवस्था की परिचायक होती है। इस प्रकार की विपरीत अवस्था को घटाभाव नहीं कहा जाता और न उसका नाम घटाभाव ही पड़ जाता है; उसकी स्थिति ही उसके अभाव का द्योतन करती है। शब्दांतर प्रयोग जैसे—"हे सौम्य! यह सब सृष्टि के पूर्व सत् ही था", इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण में धर्मान्तर के द्योतक—असत् के स्थान पर सत् शब्द का प्रयोग किया गया है। उस प्रसंग में—"हे सौम्य! ऐसा कैसे संभव?" ऐसी शंका करते हुए—"हे सौम्य! यह प्रपंचमय जगत पहिले सत् ही था" ऐसा सिद्धान्त स्थापित किया गया है। "सृष्टि के पूर्व यह जगत अव्याकृत था, वही नाम रूप में अभिव्यक्त हुआ" ऐसा सुस्पष्ट उल्लेख है।

इदानीं कार्यस्य कारणादनन्यत्वे निदर्शनद्वयं द्वाभ्यां सूत्राभ्यांदर्शयति।
अब आगे के दो सूत्रों से कार्यकरण की अनन्यता के दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं

पटवच्च ।२।१।१९॥

यथा तन्तव एव व्यक्तिषंगविशेष भाजः पट इति नाम रूप कार्यान्तरादिकं भजन्ते, तद्वद् ब्रह्मापि।

जैसे कि—सूतों की विशेष बुनावट को वस्त्र कहा और माना जाता है वैसे ही ब्रह्म भी, विशिष्ट नामरूप वाले होकर जगत् कहलाते हैं।

यथा च प्राणादिः ।२।१।२०॥—

यथा च वायुरेक एव शरीरे वृत्ति विशेषं भजमानः प्राणापानादिनाम् रूपकार्यान्तराणिभजते, तद् वद् ब्रह्मैकमेव विचित्र-स्थिरत्रस्वरूपं जगद् भवतीति परम कारणात्परस्माद् ब्रह्मणोऽनन्य-त्वं जगतः सिद्धम् ।

जैसे कि–एक ही वायु, शरीर में विशेष वृत्ति का आश्रय लेकर प्राण अपान, उदान, व्यान, समान आदि नाम और रूपवाला होकर कई प्रकार से व्यवहृत होता है, वैसे ही, एक ही ब्रह्म, स्थावर और जंगमात्मक विचित्र जगदाकार को प्राप्त होता है। इससे परमकारण परब्रह्म से, जगत की अभिन्नता सिद्ध होती है।

७ इतरव्यपदेशाधिकरणः—

इतरव्यपदेशाद्व हिताकारणादिदोष प्रसक्तिः ।२।१।२१॥—

जगतो ब्रह्मान्यत्वं प्रतिपादयद्भिः "तत्त्वमसि "अयमात्माब्रह्म" इत्यादिभिर्जीवस्यापि ब्रह्मानन्यत्वंव्यपदिश्यत इत्युक्तम्, तन्नेदंचोद्यते, यदीतरस्य जीवस्य ब्रह्मभावोऽमीभिर्वाक्यैर्व्यपदिश्यते, तदा ब्रह्मणः सार्वज्ञ सत्यसंकल्पत्वादियुक्तस्यात्मनो हितरूपजगदकरणमहितरूप-जगत्करणमित्यादयो दोषाः प्रसज्येरन्। आध्यात्मिकाधिदैविकाधि-भौतिकानंतदुःखाकरं चेदं जगत्, न चेदृशेस्वानर्थे स्वाधीनोबुद्धिमान् प्रवर्त्तते। जीवाद् ब्रह्मणो भेदवादिन्यःश्रुतयोः जगद्ब्रह्मणोरनन्यत्वं वदतात्वमैवपरित्यक्ताः, भेदे सत्यनन्यत्वासिद्धेः।

जगत और ब्रह्म की अनन्यता के प्रतिपादक" तत्त्वमसि" "अय–मात्मा ब्रह्म "इत्यादि वाक्यों से जीव की ब्रह्म से अनन्यता बतलाई गई है। इस कथन पर आपत्ति करते हैं कि–उक्त श्रुति में यदि जीव से भिन्न ब्रह्म, की अनन्यता अभिहित है तो, सत्य संकलपता सर्वज्ञता आदि गुणों से युक्त परब्रह्म में, अपने हित के लिए, जगत की रचना करना तथा अहित होने पर न करना इत्यादि दोष लागू हो जावेंगे। यह जगत् आध्या-

त्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक दुःखों का आकर है, ऐसे दुःखपूर्ण जगत को कोई भी बुद्धिमान स्वतंत्र अपने लिये नहीं रचेगा। जीव और ब्रह्म की अनन्यता बतलाने के लिए, जीव ब्रह्म के भेद की प्रतिपादिका श्रुतियों को तुम छोड़ देते हो तभी तुम अनन्यता की सिद्धि कर पाते हो अन्यथा, भेद के रहते अभेद की सिद्धि हो नहीं सकती।

औपाधिक भेदविषया भेदश्रुतयः स्वाभाविकाभेदविषयाश्च अभेद श्रुतयइतिचेत्–तत्रेदंवक्तव्यम्–स्वभावतः स्वस्माद्भिन्नं जीवं किमनुपहितम् जगत्कारणं ब्रह्मजानाति वा, न वा? न जानातिचेत्–सर्वज्ञत्व हानिः। जानाति चेत्– स्वस्मादभिन्नस्य जीवस्य दुःखंस्वदुःखमिति जानतो ब्रह्मणो हिताकरणाहितकरणादिदोष-प्रसक्तिरनिवार्या।

यदि कहो कि—श्रुतियाँ, जीव और ब्रह्म के, औपाधिक भेद तथा स्वाभाविक अभेद, का प्रतिपादन करती हैं। इस पर कथन यह है कि–जगत का कारण, अनुपहित (उपाधिसंबंध रहित निर्विशेष) ब्रह्म, स्वभाव से अभिन्न जीव को जानता है या नहीं? यदि नहीं जानता तो उसकी सर्वज्ञता समाप्त होती है। यदि जानता है, तो वह अपने से अभिन्न जीव के दुःखों को अपना ही दुःख मानता है, तब तो, ब्रह्म की, हित करण और अहित प्रकरण आदि दोषों से, मुक्ति कदापि संभव नहीं है (अर्थात् वह सुख की ही सृष्टि करेगा दुःख की नहीं)

जीवब्रह्मणोरज्ञानकृतोभेदः, तद्विषया भेदश्रुतिरितिचेत् तत्रापि जीवाज्ञानपक्षे पुर्वोक्तोविकल्पः तत्फलं च तदवस्थम्। ब्रह्माज्ञानपक्षे स्वप्रकाशस्वरूपस्यब्रह्मणोऽज्ञानसाक्षित्वं तत्कृतजगत्सृष्टिश्च न संभवति। अज्ञानेन प्रकाशः तिरोहितश्चेत्–तिरोधानस्य प्रकाश निवृत्तिकरत्वेन प्रकाशस्यैव स्वरूपत्वात् स्वरूपनिवृत्तिरेवेति स्वरूपनाशादिदोष सहस्रं प्रागेवोदीरितम। अतइदमसंगतम् ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम्।

यदि कहो कि-भेद समर्थिका श्रुतियाँ, जीव और ब्रह्म के अज्ञानकृत भेद का प्रतिपादन करती हैं। तब, जीव के अज्ञानपक्ष में, पूर्वोक्त दोषा-नुसंगादि विकल्प के फलस्वरूप होने वाली अनवस्था होती है तथा ब्रह्म के अज्ञान पक्ष में-स्वप्रकाश स्वरूप ब्रह्म का, अज्ञान का साक्षी होना और उससे संवद्ध जगत् की रचना करना असंभव है। यदि कहें कि-अज्ञान से (ब्रह्म का) प्रकाश तिरोहित हो जाता है; प्रकाश निवृत्ति करना ही तो, तिरोधान का कार्य है, प्रकाश ही परब्रह्म का स्वरूप है, प्रकाश का तिरोधान मानने का अर्थ होता है, ब्रह्म का स्वरूपनाश; ऐसे ही हजारों दोष उपस्थित होंगे, ऐसा पहिले भी कह चुके हैं। इसलिए ब्रह्म की जगत् कारणता असंगत है।

इति प्राप्तेऽभिधीयते-सिद्धान्तः

उक्त संशय पर—सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

अधिकन्तु भेद निर्देशात् ।२।१।२२।।—

तु शब्दः पक्षंव्यावर्त्तयति, आध्यात्मिकादिदुःखयोगार्हात्प्रत्यगात्मनः अधिकं अर्थान्तरभूतं ब्रह्म। कुतः भेदनिर्देशात्—प्रत्यगात्मनो हि भेदेन निर्दिश्यते परं ब्रह्म "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्व-मेति। "स कारणं करणाधिपाधिपः "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ "प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः "प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ़ः "अस्मान्मायीसृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्योमाययासन्निरुद्धः "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिगुणेशः "नित्यो नित्यानांचेतनश्चेतनानामेकोबहूनां यो विदधाति कामान्" "योऽव्य-क्तमंतरे संचरन् यस्याव्यक्तं शरीरं यमव्यक्तं न वेद योऽक्षरमंतरे संचरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद एषसर्वभूतांतरात्माऽप-हृतपाप्मादिव्योदेवएकोनारयणः "इत्यादिभिः।

सूत्रस्थ तु शब्द उपर्युक्त पक्ष का निराकरण करता है, आध्यात्मिक आदि दुःखों के योग्य जीव की अपेक्षा, ब्रह्म श्रेष्ठ होने से, भिन्न है, ऐसा श्रुतियों से ज्ञात होता है। ब्रह्म और जीव की भिन्नता, निम्नांकित श्रुतियों से स्पष्ट होती है "जो आत्मा में स्थित होकर भी उससे भिन्न हैं, आत्मा जिन्हें नहीं जानता, जो आत्मा के शरीरी हैं और अन्तर्यामी होकर आत्मा का संयमन करते हैं, वे आत्मान्तर्यामी अमृत स्वरूप हैं।" जीव अपने से पृथक् परमात्मा का चिंतन, प्रेरक रूप से करके उनकी प्रीति प्राप्त करके अमृतत्व प्राप्त करता है।" वह इन्द्रियों के कारण जीव के भी, स्वामी हैं" उन दोनों में एक फल का आस्वाद करता है, दूसरा केवल देखता मात्र है "वे दोनों अज, अज्ञ—प्राज्ञ, ईश्वर—अनीश्वर हैं" प्राज्ञ परमात्मा से मिलकर "प्राज्ञ परमात्मा से अधिष्ठित होकर" मायी ब्रह्म, माया के सहयोग से इस जगत की सृष्टि करते हैं, दूसरा जीव, इस जगत में माया से बंधा रहता है "वे परमात्मा, प्रधान प्रकृति और क्षेत्रज्ञ जीवों के, स्वामी और गुणेश हैं" "जो नित्यों के नित्य, चेतनों के चेतन, एक होकर अनेक कार्यों का संचालन करते हैं" जो अव्यक्त अक्षर में संचरित हैं, अक्षर जिनका शरीर है, वह उन्हें नहीं जानता। जो मृत्यु में संचरित है, मृत्यु जिनका शरीर है, मृत्यु उन्हें नहीं जानता, ऐसे सर्वान्तर्यामी, निष्पाप, दिव्य देव, एक नारायण ही हैं" इत्यादि।

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः।२।१।२३॥

अश्मकाष्ठलोष्ठतृणादीनामत्यंतहेयानां सततविकारास्पदानामचिदविशेषाणां निरवद्यनिर्विकारनिखिलहेय प्रत्यनीककल्याणैकतानस्वेतर समस्त वस्तुविलक्षणानन्त ज्ञानानंदैक स्वरुपनानाविधानन्तमहाविभूति ब्रह्म स्वरूपैक्यं यथा नोपपद्यते, तथा चेतनस्याप्यनन्तदुःखयोगार्हस्य द्यतोतकल्पस्य अपहतपाप्मा "इत्यादि वाक्यावगत सकलहेय प्रत्यनीक अनवधिकातिशयासंख्येय कल्याण गुणाकर ब्रह्म भावानुपपत्तिः।

जैसे कि—पत्थर, लकड़ी, मिट्टी और तृण आदि अत्यंत तुच्छ; सदा विकारशील अचेतन पदार्थों से, विशिष्ट, निर्दोष, निर्विकार समस्त वस्तुओं

से विलक्षण, कल्यान तत्पर, अनंतज्ञानानंदमय अनंत महाविभूतियों से परिपूर्ण, पर ब्रह्म का ऐक्य कभी संभव नहीं है; वैसे ही—अनंत दुःख भोगने वाले, जुगनू से टिमटिमाते चेतन (जीव) से—"अपहतपाप्मा" इत्यादि विशेषताओं वाले, तुच्छ पदार्थों से विपरीत, निरवधि असंख्य कल्याणमय गुणों के आकर परब्रह्म परमात्मा की, कभी एकता संभव नहीं है।

सामानाधिकरण्यनिर्देश: "यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादिश्रुतेर्जीवस्य ब्रह्मशरीरत्वाद् ब्रह्मणो जीव शरीरतया तदात्मत्वेनावस्थितेर्जीवप्रकार ब्रह्म प्रतिपादन परश्चैतदविरोधी, प्रत्युतैतस्यार्थस्योपपादकश्चेति "अवस्थितेरिति काशकृत्स्न:" इत्यादिभिरसकृदुपपादितम्।

"आत्मा जिनका शरीर है" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है कि—जीव ब्रह्म का शरीर है, शरीरी होने के कारण ब्रह्म जीव में निवास करते हैं। इस सामान्य वर्णन से जीव ब्रह्म की अभिन्नता निश्चित होती है। इससे किसी भी प्रकार की शंका का स्थान नहीं रह जाता, अपितु वक्तव्य की पुष्टि होती है। "अवस्थितेरिति काशकृत्स्न:" इत्यादि सूत्रों में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।

अत: सर्वावस्थं ब्रह्म चिदचिद् वस्तु शरीरमिति सूक्ष्म चिदचिद् वस्तु शरीरं ब्रह्मकारणं, तदेव ब्रह्म स्थूल चिदचिद् वस्तुशरीरम् जगदाख्यं कार्यमिति जगद्ब्रह्मणो: सामानाधिकरण्योपपत्ति:, जगतो ब्रह्मकार्यत्वम्, ब्रह्मणोऽनन्यत्वम्, अचिद्वस्तुनो जीवस्य च ब्रह्मणश्च परिणामित्व दु:खित्वकल्याणगुणाकरत्व स्वभावासंकर: सर्वश्रुत्यविरोधश्च भवति।

इससे ज्ञात होता है कि—जड़चेतन वस्तु शरीरी ब्रह्म ही विविध अवस्थाओं में स्थित हैं। सूक्ष्म जड़चेतन शरीरी ब्रह्म कारण स्वरूप हैं तथा वे ही स्थूलजड़चेतन शरीरी होकर जगत नाम से, कार्य रुप होते हैं. इस प्रकार जगत और ब्रह्म की परिणामता, दु:खपूर्णता, कल्याण गुणाकरता आदि परस्पर विरोधी गुण दोषों का, जो कि शास्त्रों में वर्णित है, सामंजस्य हो जाता है।

"सदेव सोम्येदमेकमेवासोत्" इत्यविभागावस्थायां अपि अचिद् युक्त जीवस्य ब्रह्मशरीरतया सूक्ष्मरूपेणावस्थानं अवश्याभ्युपगंतव्यम् 'वैषम्यनैधृंण्ये न सापेक्षत्वात्" न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च "इति सूत्र द्वयोदितत्वात्तदानीमपि सूक्ष्मरूपेणावस्थानस्य अविभागस्तु नामरुपविभागाभावादुपपद्यते। अतो ब्रह्मकारणत्वं संभवत्येव।

"हे सौम्य! सृष्टि से पूर्व यह जगत एकमात्र सत् ही था" इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि—अव्यक्त प्रलयावस्था में भी ब्रह्म का शरीर स्थानीय अचित युक्त जीव, सूक्ष्म रुप से उसमें स्थित रहता है "वैषम्यनैधृंण्ये" न कर्माविभागादिति" इत्यादि दो सूत्रों में, अव्यक्त अवस्था में, जीव की सूक्ष्मरुप से स्थिति बतलाई गई है। इस प्रकार के नामरुप के अभाव से, जीवात्मा परमात्मा की अभिन्नता सिद्ध हो जाती है, और ब्रह्म की कारणता भी निश्चित हो जाती है।

ये पुनरस्यैव जीवस्याविद्यावियुक्तावस्थामभिप्रेत्येमं भेदंवर्णयन्ति तेषामिदं सर्वमसंगत स्यात्। न हि तदवस्थस्य सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं समस्तकारणत्वं, सर्वात्मत्वं, सर्वनियंतृत्वमित्यादीनिसंति। अनेनैवरूपेण हि आभिः श्रुतिभिः प्रत्यगात्मनो भेदः प्रतिपाद्यते। तस्य सर्वस्याविद्यापरिकल्पितत्वात्। न चाविद्या परिकल्पितस्याविद्यावस्थायां शुक्तिका रजतादिभेदवत् परस्परभेदोऽत्र सूत्रकारेण "अधिकन्तु भेद निर्देशात्" इत्यादिषु प्रतिपाद्यते ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्येति जिज्ञास्यतया प्रकान्तस्य ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणस्य वेदांत वेद्यत्वं, तस्य च स्मृतिन्यायविरोध परिहारश्च क्रियते। "अपीतौ तद्वत प्रसंगादसमंजसम" न तु दृष्टांत भावात्" इति सूत्रद्वयमेवदधिकरणसिद्धमनुवदति, तत्र हि विलक्षणयोः कार्यकारणभाव संभव एवाधिकरणार्थः। "असदिति चेन्न प्रतिषेध मात्रत्वात्" इति च पूर्वाधिकरणस्य मनुवदति।

जो लोग जीव की अविद्यारहित अवस्था को लक्ष्य करके, जीव ब्रह्म का भेद बतलाते हैं, उनके अनुसार उक्त सारी व्यवस्था असंगत हो जाती है। जीव की उस अविद्या रहित अवस्था में, कभी सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता, समस्त कारणता, सर्वात्मकता, सर्वनियामकता आदि विशेषतायें नहीं हो सकतीं। जिस प्रकार का भेद ऊपर बतला चुके हैं, वही शास्त्रो का प्रतिपाद्य है। यह जगत मिथ्या है, यह परिकल्पना अविद्या जन्य है। अविद्या परिकल्पित शुक्ति रजत के भेद की तरह, जीव जगत और ब्रह्म का भेद "अधिकस्तु भेद निर्देशात्" सूत्र में स्वीकार्य हो, सो बात नहीं है, अपितु ब्रह्म की जिज्ञासा को कर्त्तव्य मानते हुए, जिज्ञास्य रुप से उपक्रांत जगत के कारण ब्रह्म को ही वेदांत वेद्य बतलाकर सूत्रकार उनसे संवद्ध स्मृति शास्त्रीय और युक्ति पूर्ण विरोधों का परिहार मात्र करते हैं। "अपीतौ तद्वत" एवं "न तु दृष्टांतभावात्" इन दो सूत्रों में इस अधिकरण का अनुवाद मात्र करते हैं। वहाँ पर भी दोनों विलक्षण वस्तुओं का कार्यकारणभाव से प्रतिपादन करना ही अधिकरण का उद्देश्य है। "असदिति चेत्" इायदि सूत्र भी, पूर्व अधिकरण के प्रतिपाद्य विषय का अनुवादक मात्र है।

८ उपसंहारदर्शनाधिकरण:—

उपसंहारदर्शनान्नेतिचेन्न क्षीरवद्ध हि।२।१।२४॥

परस्य ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य सत्यसंकल्पस्य स्थूलसूक्ष्मावस्थ सर्वचेतनाचेतनवस्तु शरीरतया सर्वप्रकारत्वेन सर्वात्मत्वं सकलेतर बिलक्षणत्वं चाविरूद्धमिति स्थापितम्। इदानीं सत्यसंकल्पस्य परस्य ब्रह्मणः संकल्पमात्रेणविचित्र जगत् सृष्टि योगो न विरूद्ध इति स्थाप्यते।

अब तक सर्वज्ञ सत्य संकल्प, स्थूल सूक्ष्म अवस्था वाले, समस्त जड़ चेतन शरीर वाले, समस्त पदार्थो से विशिष्ट सर्वात्मा, अन्य सभी से विलक्षण, अविरूद्ध परब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया। अब सर्वज्ञ, सत्य–संकल्प परब्रह्म की, संकल्पमात्र से विचित्र जगत की सृष्टि कार्यता भी बिरुद्ध नहीं है, इस मत की स्थापना करते हैं।

ननु च परिमित शक्तीनां कारककलापोपसंहार सापेक्षत्वदर्शनेन सर्वशक्तेर्ब्रह्मणः कारककलापानुपसंहारेण जगद्कारणत्व विरोधः कथमाशंक्यते ?

प्रश्न होता है कि-परिमित शक्ति वाले लोगों का कार्य, अनेकों कारकों से अपेक्षित होता है, उसी प्रकार परब्रह्म को भी, कार्य में अनेक कारकों का साहाय्य अपेक्षित होगा, उनके बिना उस सर्वशक्तिमान के लिए, जगत का कार्य करना असंभव है, ऐसी आशंका क्यों की जाती है?

उच्यते—लोके तत्कार्य जननशक्तियुक्तस्यापि तत्तदुपकरणापेक्षत्व दर्शनात्— सर्वशक्ति युक्तस्य परस्य ब्रह्मणोऽपि तत्तदुपकरणविरहिणः स्रष्ट्रत्वंनोपपद्यत इति कस्यचिन्मदधियः शंका जायत इति सा निराक्रियते घटपटादिकारणभूतानां कुलालकुविन्दादीनां तज्जननसामर्थ्ये सत्यपि कानिचिदुपकरणान्युपसंहृत्यैव जनयितृत्वं दृश्यते। तज्जननाशक्ताः कारककलापोपसंहारेऽपि जनयितुं न शक्नुवन्ति, शक्ताः पुनः कारक कलापोषसंहारे जनयंतीत्येतावानेव विशेषः। ब्रह्मणोऽपि सर्वशक्तेः सर्वस्य जनयितृत्वं तदुपकरणानामुपसंहारे नोपपद्यते। प्राक्सृष्टेश्च असहायत्वं "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" एको ह्वैनारायण आसीत्" इत्यादिषु प्रतीयते। अतः स्रष्ट्रत्वं नोपपद्यत इत्येवंप्राप्तं, तदिदमाशंकते उपसंहार दर्शनान्नेति चेत् इति।

उक्त शंका पर कहते हैं कि-लोक में विशेष विशेष कार्य शक्ति होते हुए भी, उन उन कार्यो से संबद्ध उपकरणों की अपेक्षा देखी जाती है, वैसे ही सर्वशक्तिमान परब्रह्म, सृष्टि संबंधी उपकरणों के बिना सृष्टि करने में असमर्थ हैं, ऐसी किसी मंदबुद्धि को ही आशंका होती है। उनका कथन है कि-घट पट आदि कार्यों के कर्त्ता कुम्हार और जुलाहा आदि में उनके बनाने की सामर्थ्य के होते हुए भी, कार्य की पूर्ति के लिये कुछ उपकरणों की आवश्यकता होती है जो इन कार्यों को नहीं जानते, उनके

समक्ष यदि सारे साधन एकत्र भी हो तो भी उनमें इन कार्यों को करने की सामर्थ्य नहीं हैं' वे नहीं कर सकते। जो कर सकते हैं वे साधनों के एकत्र होने मात्र से कार्य करते हैं, यही उनकी विशेषता है। ब्रह्म सर्वशक्ति और सर्वकार्य कुशल होते हुए भी साधनों के अभाव में सृष्टि नहीं कर सकते। सृष्टि के पूर्व उनकी असमर्थता—"हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व यह सारा जगत सत् ही था" एकमात्र नारायण ही थे "इत्यादि वाक्यों से प्रतीत होती है। इसलिए उनसे सृष्टि होना असंभव है, यही बात "उपसंहार दर्शनान्नेति चेत्" में कही गई है।

सिद्धान्तः—परिहरति—न क्षीरवद् हि इति। न सर्वेषां कार्यंजननशक्तानामुपसंहारसापेक्षत्वमस्ति, यथाक्षीरजलादेर्दीधहिमजननशक्तस्य तज्जनने, एवं ब्रह्मणोऽपि स्वयमेव सर्वजननशक्तेः सर्वस्य जनयितृत्वमुपपद्यते। होति प्रसिद्धवन्निर्देशश्चोद्यस्य मंदताख्यापनाय। क्षीरादिष्वातंचनाद्यपेक्षा न दध्यादिभावाय, अपिशैघ्रयार्थं रस विशेषार्थं वा।

उक्त शंका के परिहार में सूत्रकार सिद्धांत रूप से "क्षीरवद् हि" कहते हैं—वे कहते हैं कि—सर्व कार्य समर्थ परमात्मा को साधन संग्रहों की अपेक्षा नहीं होती। जैसे कि—दही और बर्फ आदि के कारण दूध और जल को, उक्त कार्यों के रुप में परिणत होने में, किन्हीं साधनों की अपेक्षा नहीं होती वैसे ही—परमात्मा में, जगत रुप से परिणत होने की पूर्ण सामर्थ्य है, उनसे सृष्टि संभव है। उक्त सिद्धांत की प्रसिद्धि और आशंका की हीनता का द्योतक सूत्रस्थ "हि शब्द है। दूध को जमाने के लिए जो आतंचन (फिटकरी आदि दामन) का प्रयोग किया जाता है वह, शीघ्रता या स्वाद विशेष के लिए होता है, जमाने के लिए नहीं होता।

देवादिवदपि लोके ।२।१।२५॥

यथा देवादयः स्वे स्वे लोके संकल्प मात्रेण स्वापेक्षितानि सृजंति, तथाऽसौ पुरुषोत्तमः कृत्स्नं जगत् संकल्प मात्रेण सृजति। देवादीनां वेदावगतशक्तीनां दृष्टांततयोपादानम्, ब्रह्मणो वेदावगतशक्तेः सुखग्रहणायेति प्रतिपत्तव्यम्।

जैसे कि–देवगण, अपने अपने लोकों में अपनी अपेक्षित वस्तुओं की संकल्पमात्र से सृष्टि कर लेते हैं वैसे ही यह पुरुषोत्तम भी संपूर्ण जगत की सृष्टि संकल्पमात्र से करते हैं देवों की ऐसी शक्ति महिमा वेदों में प्रख्यात है, इसका दृष्टान्त इसलिए प्रस्तुत किया गया कि–परब्रह्म की वेदोक्त महिमा को सुखपूर्वक जाना जा सके।

९ कृत्स्न प्रसक्त्याधिकरणः—

कृत्स्न प्रसक्तिर्निरवयवत्व शब्द कोपो वा २।१।२६॥

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इदं वा अग्रेनैव किंचनासीत्" "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादिषु कारणावस्थायां निरस्त्र चिदचिद् विभागतया निरवयवं ब्रह्मैवासीदित्युक्तम्, तदविभागमेकं निरवयवमेव ब्रह्म "वहुस्याम् "इति संकल्प्य आकाशवाय्वादिविभागं ब्रह्मादिस्तम्वपर्यन्त क्षेत्रज्ञ'विभागं चाभवदिति चोक्तम्, एवं सति तदेव परं ब्रह्म कृत्स्नं कार्यत्वेनोपयुक्तमित्यभ्युपगंतव्यम्। अथ चिदंशः क्षेत्रज्ञविभागविभक्तः, अचिदंशश्चाकाशादि विभाग विभक्तः, इत्युच्यते, तदा "सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् "ब्रह्मैकमेव–आत्मैक एव" इत्येवमादयः कारणभूतस्य ब्रह्मणो निरवयवत्ववादिनः शब्दाः कुप्येयुः बाधिता भवेयुः।

"हे सोम्य! सृष्टि के प्रथम, यह जगत् सत् स्वरूप ही था" "उस समय यह सब कुछ नहीं था'' यह सब सृष्टि के पूर्व आत्मस्वरूप ही था "इत्यादि वाक्यों में, बतलाया गया है कि–सृष्टि से पूर्व जडचेतन का विभाग न होने से एकमात्र, निराकार कारणावस्थ ब्रह्म ही था। अविभक्त निराकार एक ब्रह्म ने "बहुत हो जाऊँ "ऐसा संकल्प करके, आकाश पृथ्वी आदि विभाग तथा ब्रह्मा से स्तम्वपर्यन्त जीवों में अपने को व्यक्त किया वही पर ब्रह्म, संपूर्ण कार्यरूपों में परिणत हुए, यही मानना चाहिए। यदि यह मानें कि–ब्रह्म का चेतनांश जीवों के रूप में तथा अचेतानांश पृथ्वी आकाशादिरूपों में विभक्त हुआ, तब, कारण ब्रह्म की निराकारता के

प्रतिपादक "हे सौम्य! यह जगत सृष्टि से पूर्व एक अद्वितीय सत् था" "ब्रह्म निश्चित ही एक है "आत्मा निश्चित ही एक है "इत्यादि वाक्य, विरुद्ध समझे जावेंगे।

यद्यपि सूक्ष्मचिदचिद् वस्तुशरीरं ब्रह्मकारणम्, स्थूलचिदचिद् वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यमित्यभ्युपगम्यते, तथापि शरीरि अंशस्यापि कार्यत्वाभ्युपगमादुक्त दोषो दुर्वारः। तस्य निरवयवस्य बहुभवनं च नोपपद्यते। कार्यत्वानुपयुक्तांशास्थितिश्च नोपपद्यते। तस्माद समंजसमिवाभाति। अतो ब्रह्म कारणत्वं नोपपद्यते।

यद्यपि सूक्ष्म चिदचिद् वस्तु शरीर ब्रह्म कारण तथा स्थूल चिद-चिद् वस्तु शरीर ब्रह्म कार्य है, ऐसा मानते हैं, फिर भी शरीरी के अंश की कार्यता स्वीकारने में उक्त दोष उपस्थित हो ही जाता है। इससे स्पष्ट है कि-निराकार का अनेक होना संभव नहीं है अंश की कार्यरूप में कोई उपयोगिता नहीं है, ऐसे एक अंश की अवस्थिति भी युक्ति संगत प्रतीत नहीं होती। इसलिए ब्रह्म कारणवाद सिद्ध नहीं होता।
इत्याक्षिप्ते समाधत्ते—उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ।२।१।२७॥

तु शब्द उक्त दोषं व्यावर्तयति नैवमसामंजस्यम्, कुतः? श्रुतेः श्रुतिस्तावन्निरवयवत्वं ब्रह्मणस्ततो विचित्र सर्गं चाह। श्रौतेऽर्थे यथा श्रुति प्रतिपत्तव्यमित्यर्थः। ननु च श्रुतिरपि अग्निना सींचेदिति-वत् परस्परान्वयायोग्यमर्थं प्रतिपादयितुं न समर्थाः, अतआह शब्दमूलत्वादिति शब्दैक प्रमाणकत्वेन सकलेतरवस्तुविसजातीयत्वाद-स्यार्थस्य विचित्रशक्ति योगो न विरुध्द्यत इति न सामान्यतो दृष्टं साधनं दूषणं वा अर्हति ब्रह्म।

सूत्रस्थ "तु" शब्द उक्तदोष के परिहार का बोधक है, आप जिस असमंजसता की शंका कर रहे हैं वह नहीं होगी, क्योंकि श्रुति, ब्रह्म की निराकारता, और विचित्र जगत् सृष्टि, दोनों का ही वर्णन करती हैं, श्रुति प्रतिपाद्य विषय को श्रुति द्वारा ही जाना जा सकता है। यदि कहें

कि-श्रुति "अग्नि से सेचन करो "इत्यादि की तरह अनहोनी बात का प्रतिपादन नहीं कर सकती; तो श्रुतियाँ—शब्द मूलक हैं, अर्थमूलक नहीं इसलिए ऐसा होना संभव है। ब्रह्म समस्त पदार्थों से, विजातीय है, यह बात एकमात्र, शब्द प्रमाणगम्य है, इसलिए श्रुतिकथित ब्रह्म का विचित्र शक्ति संबंध होना, कोई विरुद्ध नहीं है। ब्रह्म कभी, सामान्यतोदृष्ट साधनं या दोषाक्षेप का विषय नहीं हो सकता (अर्थात् ब्रह्म को लौकिकदृष्टांन्तों के आधार पर आक्षिप्त नहीं किया जा सकता)

आत्मनि चैवं विचित्राश्चहि।२।१।२७॥

किं च—एवं वस्त्वंतर संबंधिनो धर्मस्य वस्त्वंतरे चारोपणे सति, अचेतने घटादौ दृष्टा धर्मास्तद्विसजातीये चेतने नित्ये आत्मन्यपि प्रसज्यन्ते। तदप्रसक्तिश्च भावस्वभाववैचित्र्यादित्याह-विचित्राश्चहि इति-यथा-"अग्निजलादीनामन्योन्यविसजातीयाना मौष्ण्यादि शक्तयश्च विसजातीया दृश्यन्ते, तद्वल्लोकदृष्ट विसजातीये परे ब्रह्मणि तत्रतत्रादृष्टाः सहस्रशः शक्तयः सन्तीति न किंचिदनुपपन्नम्। यथोक्तं भगवता पराशरेण-"निर्गुणस्या प्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः, कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते" इति सामान्यदृष्टया परिचोद्य, "शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचरा, यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः, भवंतितपतां श्रेष्ठ पावकस्ययथोष्णता" इति। श्रुतिश्च—"किं स्विद्वनं क उस वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथ्वी निष्ठतक्षुः, मनीषिणो मनसा पृच्छतेदुतद्यद-ध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्, ब्रह्मवनं ब्रह्मस वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथ्वी निष्ठतक्षुः, मनीषिणो मनसा प्रब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्"इति। सामान्यतो दृष्टं चोद्यं सर्ववस्तुविलक्षणे परे ब्रह्मणि नावतरतीत्यर्थः।

संशय होता है कि—इस प्रकार तो, अन्य वस्तु संबंधी गुण का अन्य में अरोपण करने से, अचेतन घट आदि में, दृष्ट गुण, विसजातीय नित्य

चेतनआत्मा में भी आरोपित हो जावेंगे?, वस्तु में स्वभावगत वैलक्षण्य मानने से ऐसा नहीं होगा। परस्पर विसजातीय अग्नि जल आदि पदर्थों में, उष्णता शीतलता आदि विचित्र शक्तियाँ देखी जाती हैं, ऐसी जगत में दृश्यमान समस्त विचित्रतायें, परब्रह्म में एक साथ अविरुद्ध रूप से स्थित रहती है, जंसा कि–भगवान पराशर ने कहा भी है–"निर्गुण अपरिच्छिन्न, शुद्ध विमल स्वभाव परब्रह्म से सृष्टि कैसे संभव है? ' ऐसी, सामान्यतः शंका करके –"अग्नि में जैसे उष्णता है, वैसे ही वस्तु निष्ठ सृष्टि आदि शक्तियाँ परब्रह्म में स्वभावतः स्थित हैं। "ऐसी ही श्रुति भी है–"मैं जिज्ञासा करता हूँ कि–जिससे घुलोक और पृथ्वी निसृत हुए, वह बन है अथवा कुछ और? वह वृक्ष है अथवा कुछ और? परमेश्वर जिसमें अधिष्ठान करके जगत का परिचालन करते हैं, वेवन और वृक्ष सभी ब्रह्म हैं, द्युलोक और पृथ्वी उन्ही से प्रादुर्भूत हुए। "इनका तात्पर्य यह है–कि–जागतिक सारे पदार्थ विलक्षण हैं, इसलिए उन विलक्षण परब्रह्म में, उनकी स्वाभाविक स्थिति है।

स्वपक्ष दोषाच्च ।२।१।२९॥

स्वपक्षे, प्रधानादिकारणवादे, लौकिकवस्तु विसजातीयत्वाभावेन प्रधानादेः लोकदृष्टा दोषास्तत्र भवेयुरिति सकलेतर विलक्षणं ब्रह्मैव कारणमभ्युपगन्तव्यम्। प्रधानं च निरवयवयम्, तस्य निरवयवस्य कथमिव महदादिविचित्र जगदारम्भ उपपद्यते।

जो लोग प्रधान आदि को जगत का कारण बतलाते हैं, उनके स्वयं अपने मत में भी, लौकिक पदार्थ विसजातीय न होने के कारण, लोक दृष्ट दोष, प्रधान आदि में लागू होते हैं। वे लोग प्रधान को निराकार मानते हैं; निराकार प्रधान से, महत आदि विचित्र जगत की सृष्टि कैसे संभव है?

सत्त्वंरजस्तम इति तस्यावयवा विद्यन्त इति चेत्, तत्रेदं विवेचनीयम्, किं सत्त्वरजस्तमसां समूहः प्रधानं, उत सत्त्वरजस्तमोभिरारब्धं प्रधानम्? अनन्तरे कल्पे, प्रधानं कारणमिति स्वाभ्युपगम– विरोधः, स्वाभ्युपेतसंख्याविरोधश्च, तेषामपि निरवयवानां

कार्यारम्भ विरोधश्च। समूहपक्षे च तेषां निरवयवत्वेन प्रदेशभेदमनपेक्ष्य संयुज्यमानानां न स्थूल द्रव्यारम्भकत्व सिद्धिः। परमाणुकारणवादेऽपि तथैव अणवो निरंशाः निष्प्रदेशाः, प्रदेशभेदमनपेक्ष्य परस्परं संयुज्यमाना अपि न स्थूलकार्यारम्भाय प्रभवेयुः।

यदि कहें कि—सत्त्व रज और तम, ये तीनों गुण ही उसके अवयव हैं, तो विचार करना होगा कि--सत्त्व रज तम का समूह, प्रधान है अथवा सत्त्व रज तम से आरब्ध वस्तु विशेष, प्रधान है? यदि इन तीनों गुणों का कार्य प्रधान को मानें तो "प्रधान ही एक मात्र कारण है "ऐसा तुम्हारा कथन कट जावेगा और तुम्हारी अभिमत संख्या में भी विरोध होगा तथा निरवयव उन गुणों से, कार्य वस्तु का संभव भी, विरुद्ध बात होगी। यदि तीनों गुणों के समूह को प्रधान मानें तो, निरवयव उनके कारण, किसी अंश का परस्पर संयुक्त होना संभव न होगा। इस कारण, स्थूल द्रव्यों का उत्पादन भी असिद्ध हो जावेगा।

परमाणुवाद में भी, वही बातें हैं, क्यों कि अणु, चिदंश और निष्प्रदेश (भाग रहित) हैं, इसलिए उनके परस्पर मिल जाने पर भी स्थूल रूप में, उनका कार्यान्वित होना असंभव है।

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ।२।१।३०

सकलेतरवस्तु विसजातीया परा देवता सर्वशक्त्युपेता च। तथैव परां देवतां दर्शयंति हि श्रुतयः" पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च" तथा— "अपहतपाप्मा विजरो-विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः "इति सकलेतर विसजातीयतां परस्या देवता याः प्रतिपाद्य "सत्यकामः सत्यसंकल्पः "इति सर्वशक्तियोगं प्रतिपादयंति। तथा—"मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्व कर्मा सर्वकामः सर्वगंधः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्त्योऽवाक्य नारदः "इति च।

अन्यान्य समस्त पदार्थों से विलक्षण परा देवता सर्वशक्ति सम्पन्ना है, ऐसा ही उस परा के संबंध में श्रुत्रियों का कथन है–"इसकी परा शक्ति स्वाभाविकी-ज्ञान-बल-क्रिया आदि अनेक नामों की है"तथा"वह निष्पाप, अजर-अमर-विशोक-भूख प्यास रहित है "परा देवता की ऐसी विलक्षणता बतलाकर "सत्यकाम सत्यसंकल्प "इत्यादि सर्वशक्तियोग का प्रतिपादन किया गया है। तथा–"वह मनोमय अर्थात् मानस संकल्पवाला है, प्राण उसका शरीर तथा दीप्ति उसका स्वरूप है, वह सत्यकाम, सत्यसंकल्प, आकाश सदृश, सर्वकाम, सर्वगंध, सर्वरस वाक्य और आदर रहित, समस्त जगत में परिव्याप्त है। "इत्यादि।

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ।२।१।३१॥

यद्यप्येकमेव ब्रह्म सकलेतर विलक्षणं सर्वशक्तिः, तथापि "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते "इति करणविरहिणस्तस्य न कार्यारम्भः संभवतीति चेत्–तत्रोत्तरं–"शब्दमूलत्वात्" । "विचित्राश्चहि "इत्युक्तं शब्दैक प्रमाण सकलेतरविलक्षणं तत्तत्करण विरहेणापि तत्तत्कार्यंसमर्थमित्यर्थः । तथा च श्रुतिः "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः अपाणिपादो जवनो ग्रहीताः "इत्येवमाद्या ।

यद्यपि ब्रह्म, एक अद्वितीय, अन्य पदार्थों से बिलक्षण सर्वशक्तिमान हैं, फिर भी "उनके देह इन्द्रियाँ नहीं हैं" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है कि–वह करण रहित हैं, इसलिए उनसे कार्यों का होना संभव नहीं है। इस कथन का उत्तर "शब्दमूलत्वात् विचित्राश्च हि "इत्यादि के प्रसंग में दे चुके हैं। शब्दैक प्रमाणगम्य, सबसे विलक्षण, करणों से रहित भी वह, सब कार्यों को करने में समर्थ हैं। ऐसी श्रुति भी है–"नेत्ररहित देखते हैं, कानरहित सुनते हैं, बिना हाथ पैर के दौड़कर पकड़ते हैं "इत्यादि।

१० प्रयोजनवत्त्वाधिकरणः—

न प्रयोजवत्त्वात् ।२।१।३२॥

यद्यपीश्वरः प्राक्सृष्टेरेक एव सन् सकलेतर विलक्षणत्वेन सर्वार्थशक्तियुक्तः स्वयमेवविचित्रं जगत् स्रष्टुं शक्नोति, तथापीश्वर

कारणत्वं न संभवति। प्रयोजनवत्त्वाद् विचित्रसृष्टेः, ईश्वरस्य च प्रयोजनाभावात्। बुद्धि पूर्वकारिणामारम्भे द्विविधं हि प्रयोजनं स्वार्थः परार्थो वा। न हि परस्य ब्रह्मणः स्वभावत एवावाप्तसमस्तकामस्य जगत् सर्गेण किंचन प्रयोजनमनवाप्तमवाप्यते। नापि परार्थः, अवाप्तकामस्य परार्थता हि परानुग्रहेण भवति, न चेदृशगर्भजन्मजरामरण नरकादि नानाविधानंतदुःख बहुलं जगत् करुणया सृजति, प्रत्युत सुखैकतानमेव जनयेज्जगत् करुणया सृजन्। अतः प्रयोजनाभावात् ब्रह्मणः कारणत्वं नोपपद्यत इति।

यद्यपि सृष्टि के पूर्व एकमात्र ईश्वर ही थे, सबसे विलक्षण होने से, सर्वशक्तियुक्त, वह स्वयम् ही जगत की सृष्टि करने में समर्थ भी हैं, फिर भी—उनकी कारणता संभव नहीं है, क्यों कि—विशिष्ट सृष्टि, प्रयो—जनाधीन होती है, ईश्वर में उस प्रयोजन का अभाव है। जो विवेचना-पूर्वक कार्य करता है, कार्यारम्भ में उसके दो प्रकार के प्रयोजन होते हैं एक स्वार्थ, दूसरा परार्थ। परब्रह्म जब स्वभाव से ही अभीष्ट विषयों से तृप्त अर्थात् आप्त काम हैं, तब जगत् सृष्टि से उन्हे किस अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति का प्रयोजन हो सकता है। उनका प्रयोजन परार्थ भी नहीं हो सकता, क्यों कि वे आप्त काम हैं, उनके अनुग्रह मात्र से दूसरे की कार्य सिद्धि हो सकती है। वे करुणावान, गर्भ-जन्म-जरा-मरण-नरकादि युक्त अनेक प्रकार के दुखों से पूर्ण, जगत की सृष्टि नहीं कर सकते। यदि वे जगत को रचते भी तो अपनी करुणा से एकमात्र सुख पूर्ण रचना करते। इसलिए प्रयोजन के अभाव से ब्रह्म की कारणता सिद्ध नहीं होती।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—इस पर उत्तर देते हैं—

लोकवत्तु लीला कैवल्यम्।२।१।३३॥

अवाप्तसमस्तकामस्य परिपूर्णस्य स्वसंकल्प विकार्यविविध-विचित्र चिदचिन्मिश्र जगत् सर्गे लीलैव केवला प्रयोजनम्, लोकवत्-यथा लोके सप्तद्वीपां मेदिनीमधितिष्ठतः संपूर्णशौर्यवीर्यपराक्रमस्यापि महाराजस्य केवल लीलैक प्रयोजनाः कंदुकाद्यारम्भादृश्यंते, तथैव

परस्यापि ब्रह्मणः स्वसंकल्पमात्रावक्लृप्तजगज्जन्मस्थितिध्वंसादेर्लीलैकव प्रयोजनमिति निरवद्यम्।

जो समस्त काम्य वस्तुओं से तृप्त और परिपूर्ण हैं, उनके लिए जडचेतन युक्त विविध विचित्र जगत् सृष्टि, केवल लीलामात्र है। जैसे कि—लोक में, सप्तद्वीपों वाली पृथ्वी के अधिष्ठाता महाराज, संपूर्ण शौर्य वीर्य पराक्रमवाले होकर भी, केवल मनोविनोद के प्रयोजन से, कंदुक क्रीडा इत्यादि करते हैं, वैसे ही परब्रह्म भी, अपने संकल्प मात्र से जगत की सृष्टि-स्थिति-संहार आदि कार्य, लीला के प्रयोजन से ही करते हैं, जो कि निर्दोष है।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति २।१।३४॥

यद्यपि परम पुरुषस्य सकलेतरचिदचिद् वस्तु विलक्षणस्याचिन्त्यशक्तियोगात् प्राक्सृष्टेरेकस्य निरवयवस्यापि विचित्रचिदचिन्मिश्र जगत् सृष्टि संभाव्येत, तथापि देवतिर्यङ् मनुष्यस्थावरात्मनोत्कृष्ट-मध्यमापकृष्ट सृष्ट्या पक्षपातः प्रसज्येत्। अतिघोर दुःख योगकरणान्नैर्घृण्यं चावर्जनीयमिति।

यद्यपि सृष्टि के पूर्व, अद्वितीय निरवयव जडचेतन आदि समस्त पदार्थों से विलक्षण परमपुरुष परमेश्वर से, अपनी अव्यक्त शक्ति द्वारा जडचेतन युक्त विचित्र जगत की सृष्टि संभव हो सकती है, तथापि, उत्तम, मध्यम और अधम रूप देव, मनुष्य और पशु आदि की सृष्टि करना उनके लिए दोषावह है तथा घोर दुःख संयोगमयी सृष्टि से उनकी निर्दयता निश्चित होती है।

तत्रोत्तरं-न सापेक्षत्वादिति, न प्रसज्येयातां वैषम्यनैर्घृण्ये, कुतः? सापेक्षत्वात्—सृज्यमानदेवादिक्षेत्रज्ञ कर्मसापेक्षत्वाद् विषमसृष्टेः देवादीनां क्षेत्रज्ञानां देवादिशरीरयोगं तत्तत्कर्म सापेक्षं दर्शयन्ति हि श्रुतिस्मृतयः "साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापोभवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन कर्मणा "तथा भगवता

पराशरेणापि देवादिवैचित्र्यहेतुः, सृज्यमानानां क्षेत्रज्ञानां प्राचीनकर्मशक्तिरेवेत्युक्तं "निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि, प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः। निमित्त मात्रं मुक्त्वैवनान्यद् किंचिदपेक्षते, नीयते तपतां श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम्।" इति, स्वशक्त्या स्वकर्मणैव देवादि वस्तुताप्राप्तिरिति।

उक्त संशय का उत्तर देते हैं कि-वैषम्य और नैर्घृण्य दोषों की संभावना नहीं होगी, क्योंकि—सृज्यमान देवता आदि जीवों के कर्मों के तारतम्यानुसार ही सृष्टिगत वैषम्य है, देव आदि जीवों का, देवादि शरीरों से जो संयोग होता है, वह अपने अपने कर्मों से सापेक्ष होता है ऐसा ही श्रुति स्मृतियों का मत है—"उत्तम कार्य करने वाला, उत्तम होता है, पाप कर्म करने वाला पापी होता है, पुण्य से पुण्य तथा पाप से पाप की प्राप्ति होती है।" सृज्मान जीवों के प्राक्तन कर्म ही देवादि विचित्र सृष्टि के कारण होते हैं, ऐसा भगवान पराशर भी कहते हैं-"उत्पाद्य जीवों की सृष्टि में, भगवान केवल निमित्त मात्र है, सृष्ट्य जीवों की कर्मशक्ति ही प्रधान कारण है, जीवों को निमित्त की अपेक्षा होती है, पर स्वकीय शक्तिबल से वे वस्तुत्व प्राप्त करते हैं, अर्थात् वस्तु रूप में प्रकाशित होते हैं।" अपनी शक्ति अर्थात् अपने कर्म से ही, देव आदि योनियाँ होती हैं, इसलिए परमात्मा दोषी नहीं हैं।

न कर्माविभागादितिचेन्नादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ।२।१।३५॥

प्राक्सृष्टेः क्षेत्रज्ञाः न सन्ति, कुतः, ? अविभाग श्रवणात् "सदेव सोम्येदमग्रआसीत्" इति, अतस्तदनीं तदंभावात्तत्कर्मं न विद्यते, कथं तदपेक्षं सृष्टिवैषम्यमित्युच्यत इति चेत्—न अनादित्वात् क्षेत्रज्ञानां तत्कर्म प्रवाहाणां च। तदनादित्वेऽप्यविभाग उपपद्यते च, यतः तत् क्षेत्रज्ञवस्तु परित्यक्तनारूपं ब्रह्मशरीरतयाऽपि पृथग्व्यपदेशानर्हम् अति सूक्ष्मम्। तथाऽनभ्युपगमे अकृताभ्यागमकृत विप्रणाश प्रसंगश्च।

सृष्टि से पूर्व जीव नहीं थे, ऐसा अविभाग बोधक "हे सौम्य! सृष्टि से पूर्व सन् ही था" इस वाक्य से ज्ञात होता है। उस समय उनके न रहने से, उनके कर्म भी नहीं थे, तब यह कैसे कह सकते हैं—कि सृष्टि-विषमता जीवकर्म सापेक्ष है? ऐसा कथन असंगत है, जीव और जीवों के कर्म का प्रवाह अनंत है, उनके अनादि होने हुये भी, उनका अविभाग संभव है। वे क्षेत्रज्ञ, ब्रह्म के शरीर में नाम रूप विहीन होकर, ब्रह्म से अलग न रह सकने योग्य, अति सूक्ष्म रूप से स्थित रहते हैं। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो अकृताभ्यागम और कृतविनाश दोष उपस्थित होंगे (अर्थात् प्रकृति का प्रवाह यदि अनादि नहीं है तो, जीवों का फलभोग आकस्मिक होने से अकृताभ्यागम दोष होगा। तथा पूर्व कल्प में किये हुये कर्मों का फल यदि बिना भोगे ही नाश होगा तो कृतनाश दोष होगा। सृष्टि प्रवाह को अनादि मानना ही उपयुक्त है।

उपलभ्यते च तेषामनादित्वं "न जायते म्रियते वा विपश्चित" इति, सृष्टिप्रवाहानादित्वं च "सूर्याचन्द्रमसौधाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्यादौ "तद्धेदं तर्हि अव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति नाम रूप व्याकरणमात्र श्रवणात् क्षेत्रज्ञानां स्वरूपानादित्वं सिद्धम्। स्मृतावपि "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादीउभावपि" इति। अतः सर्व विलक्षणत्वात् सर्वशक्तित्वात् लीलैकप्रयोजनत्वात्, क्षेत्रज्ञकर्मानुगुण्येन विचित्र सृष्टियोगात् ब्रह्मैव जगत् कारणम्।

उनकी अनादिता का वर्णन मिलता भी है—जीव का जन्म और मृत्यु नहीं होती" सृष्टि प्रवाह की अनादिता भी जैसे—"विधाता ने पूर्व कल्प के अनुसार सूर्य और चंद्र की सृष्टि की।" सृष्टि के पूर्व यह जगत अव्याकृत था, उसे ही नाम रूप से व्यक्त किया" इस वाक्य में केवल नाम रूप का वर्णन होने से, जीवों की स्वरूपतः अनादिता सिद्ध होती है। "प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि जानो इस स्मृति वाक्य से भी अनादिता सिद्ध होती है। सब से विलक्षण और सर्व शक्ति संपन्न ब्रह्म एक मात्र लीला के प्रयोजन से, जीवों के कर्मानुसार विचित्र सृष्टि करते हैं, वे ही जगत के कारण हैं, यही मानना चाहिए।

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ।२।१।३६॥

प्रधान परमाण्वादीनां कारणत्वे यद् धर्मवैकल्यमुक्तं, वक्ष्यमाणं च तस्य सर्वस्य धर्मजातस्य कारणत्वोपपादिनो ब्रह्मण्युपपत्तेश्च ब्रह्मैव जगत् कारणमिति स्थितम् ।

प्रधान और परमाणु को कारण बनाने में जो कारण धर्मों में असंगति होती है, उसे आगे बतलाया गया है। कारणता के उपपादक समस्त धर्म, ब्रह्म में ही उपपन्न होते हैं, इसलिए ब्रह्म ही जगत के कारण है यही निश्चित मत है।

॥ द्वितीय अध्याय प्रथम पाद समाप्त ॥

[द्वितीय अध्याय]

[द्वितीय पाद]

१ रचनानुपपत्त्याधिकरण ।

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च ।२।२।१॥

उक्तं जगज्जन्मादिकारणं परं ब्रह्मेति, तत्र परैरुद्भाविताश्च दोषाः परिहृताः । इदानीं स्वपक्ष रक्षणाय पर पक्षाः प्रतिक्षिप्यंते, इतरथा कस्यचिन्मंदधिय स्तेषां पक्षाणां युक्त्याभासमूलतामजानतः प्रामाणिकत्व शंकया वैदिक पक्षे किंचिद् श्रद्धा वैकल्यं जायेतापि, अतः परपक्ष प्रतिक्षेपायानन्तरः पादः प्रवर्त्तते । तत्र प्रथमं तावत् कापिलमतं निरस्यते । वैदिकानुमतसत्कार्यंवादाद्यर्थं संग्रहेणैतस्य सत्यक्षनिक्षेप संभावनाभ्रम हेतुत्वातिरेकात् ।

अब तक जगत के जन्म आदि के कारण ब्रह्म का समर्थन किया गया तथा दूसरों द्वारा किए गये दोषों का परिहार किया गया । अपने अपने मत की रक्षा के लिये, दूसरों के दूषण बतलावेंग, यदि परमत दोषों का उद्‌घाटन नहीं करेंगे तो मंद बुद्धिवाले, उनके तर्क पूर्ण कथनों के चक्र में पड़कर, वैदिक मत के प्रति अश्रद्धालु हो जावेंगे । इसलिये विरुद्ध मतों के खंडन से इस पाद को प्रारम्भ करते है । सर्व प्रथम कापिल मत का ही खंडन करेगे, क्योंकि–ये लोग वैदिक समस्त सत्कार्यवाद को मानते हैं, जिससे वैदिक से प्रतीत होते हैं, इसलिये सर्वाधिक भ्रमोत्पादक हैं ।

"ईक्षतेनशिब्दम्" इत्यादिभिर्वैदिकवाक्यानामतत्परत्वमात्रमुक्तम्, अत्रैव तत्पक्ष स्वरूप प्रतिक्षेपः क्रियत इति न पौनरुक्त्याशंका । एषा सांख्यानां दर्शनस्थितिः, "मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त, षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः" इति

तत्त्वसंग्रहः। मूलप्रकृतिर्नाम सुखदुःखमोहात्मकानि लाघव प्रकाश चलनोपष्टंभनगौरवावरणकार्याण्यत्यन्तातीन्द्रियाणी कार्यैकनिरूपण विवेकान्यन्यूनातिरेकाणि समतामुपेतानि सत्त्वरजस्तमांसिद्रव्याणि। सा च सत्त्वरजस्तमसां साम्यरूपा प्रकृतिरेका स्वयमचेतनाऽनेक चेतन भोगापवर्गार्थी नित्या सर्वगता सततविक्रिया न कस्यचिद् विकृतिः, अपितु परमकारणमेव, महदाद्यास्तद् विकृतयो अन्येषां च प्रकृतयः सप्त, महानहंकारः शब्दतन्मात्रम्, स्पर्शतन्मात्रम्, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रम्, गंधतन्मात्रम् इति। तत्राहंकारस्त्रिधा—वैकारिकस्तैजसोभूतादिश्च क्रमात् सात्विकोराजसस्तामसश्च, तत्र वैकारिकः सात्त्विकः, इन्द्रियादि, भूतादिस्तामसो महाभूतहेतुभूततन्मात्र हेतुः, तैजसो राजसस्तूभयोऽनुग्राहकः, आकाशादीनि पंचमहाभूतानि, श्रोत्रादीनि पंचज्ञानेंद्रियाणि, वागादीनि पंच कर्मेन्द्रियाणि, मन इति केवल विकाराः षोडश, पुरुषस्तु निष्परिणामत्वेन न कस्यचित् प्रकृतिः, न कस्यचिद् विकृतिः, तत एव निर्धर्मकश्चैतन्यमात्रवपुर्नित्यो निष्क्रियः सर्गगतः प्रतिशरीरं भिन्नश्च, निर्विकारत्वान्निष्क्रियत्वाच्चतस्य कर्त्तृत्वं भोक्तृत्वं चन संभवति एवंभूतेऽपि तत्त्वे मूढाः प्रकृतिपुरुष सन्निधि मात्रेण पुरुषस्य चैतन्यं प्रकृतावध्यस्य प्रकृतेश्च कर्तृत्वं स्फटिकमणाविव जवाकुसुमस्यारूणिमानं पुरूषेऽध्यस्य "अहंकर्त्ता भोक्ता" इति मन्यन्ते। एवमज्ञानाद्भोगः तत्त्वज्ञानच्चापवर्गः। तदेतत्प्रत्यक्षानुमानागमैः साधयंति। तत्र प्रत्यक्ष सिद्धेषु पदार्थेषु नातीव विवादपदमस्ति। आगमोऽपि कपिलादि सर्वज्ञज्ञानमूल इति सोऽपि प्रथमे कांडे प्रमाणलक्षणे निरस्त प्रायः। यदिदं प्रधानमेव जगत्कारण। मित्यनुमानं, तन्निरसनेन तन्मतं सर्वं निरस्तं भवतीति तदेव निरस्यते।

वैदिक वाक्यों का तात्पर्य, प्रकृति कारणवाद का सम्मोदन करना नहीं है, यह बात "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यादि में बतला चुके हैं। सही रूप से कापिलमत का खंडन अब करते हैं, इसलिए पुनरूक्ति दोष की शंका नहीं करनी चाहिये ! सांख्य दर्शन का मत हैं कि—"मूल प्रकृति अविकृत है, महत् आदि सात पदार्थ प्रकृति और विकृत दोनों हैं, किन्तु पुरुष न प्रकृत है न विकृत, वह तो एकमात्र अनुभव स्वरूप है।" सुख—दुःख-मोहात्मक—लघुता—प्रकाश—स्पन्दन—धारण—गुरूता और आवरण इत्यादि धर्म युक्त अतिशय अतीन्द्रिय तत्त्व विशेष ही, मूल प्रकृति है। इसका पार्थक्य एकमात्र कार्यगम्य है। न्यूनाधिक भाव शून्य, साम्य अवस्था को प्राप्त सत्त्वरज और तम द्रव्य ही प्रकृति है, जो कि नित्य सर्वव्यापी, निरन्तर विकारशील स्वतः अचेतन होते हुये भी, अनेक चेतनो (जीवों) के भोग और अपवर्ग का साधन करती है, यही उसका मुख्य प्रयोजन है। वह किसी का कार्य नहीं है, अपितु चरम कारण स्वरूप है। महत्—अहंकार—शब्दतन्मात्रा स्पर्शतन्मात्रा—रूप तन्मात्रा—रसतन्मात्रा—गन्धतन्मात्रा इत्यादि सात, मूल प्रकृति के कार्य हैं, तथा अधस्तन तत्त्व समूहों के कारण भी हैं। अहंकार तीन प्रकार का है, वैकारिक, तैजस और भूतादि, ये क्रमशः सात्त्विक राजसिक और तामसिक है। वैकारिक सात्त्विक अहंकार इन्द्रियों का कारण है। भूतादि तामस अहंकार, पृथ्वी आदि महाभूत और पंच तन्मात्राओं का कारण हैं। तैजसराजस अहंकार, दोनों (सात्विक तामस) संस्कारों का अनुग्राहक (उपकारक) है। आकाश आदि पंचमहाभूत, श्रोत्र आदि पंच ज्ञानेन्द्रिय, वाक् आदि पंच कर्मेन्द्रिय और ये सोलह केवल विकारमात्र है। पुरूष परिणाम हीन है, अतः न किसी की विकृति है न प्रकृति। इसी से पुरूष निर्गुण, एकमात्र चैतन्यस्वरूप नित्य, निष्क्रिय, सर्वव्यापक, प्रति शरीर में भिन्न भिन्न है। निर्विकार और निष्क्रिय होने से, उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व संभव नहीं है। इस प्रकार के तत्त्व को जानते हुये भी, मूढ लोग, प्रकृति और पुरूष के सानिध्य होने से, पुरूष के चैतन्य को, प्रकृति से आरोपित करके स्फटिक मणि में प्रतिबींबित जवाकुसुम की लालिमा की भांति प्रकृति के कर्तृत्व को पुरूष में आरोपित करके "मैं कर्त्ता हूं, मैं भोक्ता हूं" ऐसा मानते हैं। इस प्रकार के अज्ञान से भोग तथा तत्त्वज्ञान से अपवर्ग होता है। प्रत्यक्ष- अनुमान और आगम प्रमाणों से, उक्त सिद्धांत स्थिर करते हैं। प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थों में कोई

विवाद नहीं है आगम प्रमाण, कपिल ऐसे सर्वज्ञ पुरूषों के ज्ञान से उद्-बुद्ध है प्रथम अध्याय में उनके आगम प्रमाण को प्रायः खंडित किया जा चुका है। प्रधान की, जगत कारणता के विषय में जो अनुमान करते हैं, उसका निराकरण करने से उनका सारा मत ही निराकृत हो जायगा, इसलिये अब उसी का निराकरण करते हैं।

ते चैवं वर्णयन्ति—कृत्स्नस्य जगत् एकमूलत्वमवश्याभ्युपगमनीयम्, अनेकेभ्यः कार्योत्पत्यभ्युपगमे कारणानवस्थानात्। तंतुप्रभृतयो हि अवयवाः स्वांशभूतैः षड्भिः पार्श्वैः परस्परं संयुज्यमाना अवयविनमुत्पादयंति, ते च तंत्वादयः स्वावयवैस्तथाभूतैरूत्पाद्यंते, ते च तथाभूतैः स्वावयवैरिति परमाणुभिरपिस्वकीयैः षड्भिः पार्श्वैः संयुज्यमानैरेव स्वाकार्योत्पादनमभ्युपेतव्यम्। अन्यथा प्रथिमानुपपत्तेः। परमाणवो अप्यंशित्वेन स्वांशैस्तथैवोत्पाद्यंते, ते च स्वांशैरिति न क्वचिद् कारणव्यवस्थितिः अतः कारणव्यवस्था सिध्यर्थमेकद्रव्यं विविधविचित्रपरिणामशक्तियुक्तं स्वयमप्रच्युत स्वरूपमेव महदाद्यनंता-वस्थाश्रयः कारणमाश्रयणीयम्। तच्चैकं कारणं गुणत्रयसाम्यरूपं प्रधानमिति तत्कल्पने हेतूनुपन्यस्यंति—'भेदानां परिणामात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च। कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूपस्य कारणमस्त्यव्यक्तम्" इति।

वे लोग वर्णन करते हैं कि—किसी एक पदार्थ को जगत का मूल कारण अवश्य मानना पड़ेगा, अनेक कारणों को मानने से, कारणगत अनवस्था होगी। देखा जाता है कि—तंतु आदि अवयव, अपने अंशभूत छः पार्श्वों से संयुक्त होकर अवयवी (वस्त्र) का उत्पादन करते हैं, वे तंतु आदि अवयव, पूर्वानुरूप स्वीय अवयवों से समुत्पादित होते हैं, वैसे ही वे अवयव अपने अवयवों से समुत्पादित होते हैं। ऐसी ही परमाणु समूह भी अपने छः पार्श्वों से संयुक्त होकर, अपने कार्य पदार्थ का समुत्पादन करते हैं, इसे स्वीकारना होगा। अन्यथा पदार्थ की स्थूलता, हो नहीं सकती। अंशी सावयव परमाणु भी, स्वकीय अंशो से उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार कारण

कल्पना की कभी समाप्ति नहीं हो सकती। इसलिए कारण व्यवस्था की सिद्धि के लिए, अनेक विचित्रताओं वाले, परिणाम शक्ति संपन्न, स्वतः अच्युतस्वभाव, महत्तत्व आदि अनंत अवस्थाओं के आश्रयीभूत किसी एक कारण को स्वीकारना चाहिए। सत्वादि तीनों गुणों की साम्यावस्था ही उक्त प्रकार का कारण है जो कि प्रधान है। ऐसे काल्पनिक प्रधान की व्याख्या इस प्रकार करते हैं–"भेदों के परिणाम से, कार्य और कारण के समन्वय से, शक्त्यानुसार प्रवृत्ति से, कार्य और कारण के विभाग से, कारण कार्य के तादात्म्य संबंध से, जिसकी विशेषता ज्ञात होती है, ऐसा अव्यक्त ही कारण है।

अयमर्थः विश्वरूपमेव वैश्वरूप्यम् विचित्रसन्निवेश तनुभुवनादि कृत्स्नजगत्, तच्च जगद् विचित्र सन्निवेशत्वेन कार्यभूतं तत्सरूपाव्यक्त कारणम्, कुतः? कार्यत्वात्; कार्यस्य हि सर्वस्य तत्सरूपात् कारणविशेषात् विभागस्तस्मिन्नेवाविभागश्च दृश्यते। यथा घट मकुटादेः कार्यस्य तत् सरूपान्मृत्सुवर्णादेः कारणाद् विभागस्तस्मिन्नेव चा विभागः अतो विश्वरूपस्य जगतः तत्सरूपात प्रधानादुत्पत्तिस्तास्मिन्नेवलयश्चेति प्रधानकारणकमेव जगत्। गुणत्रय साम्यरूपं प्रधानमेव जगत्सरूपं कारणं सत्त्वरजस्तमोमयसुखदुःखमोहात्मकत्वाज्जगतः। यथा मृदात्मनाघटस्य मृद् द्रव्यमेव कारणम् तदेव हि तदुत्पत्याख्यप्रवृत्तिशक्तिमत्, तथा दर्शनात्। अव्यक्तस्य गुणसाम्य रूपस्य देशतः कालतश्चापरिमितस्यैव कारणत्वं भेदानां महदहंकारतन्मात्रादीनां परिमितत्वादवगम्यते। महदादीनि च घटादिवत्परिमितानि कृत्स्न जगदुत्पत्तौ न प्रभवन्ति, अतस्त्रिगुणं जगद् गुणत्रयसाम्यरूपप्रधानैककारणमिति निश्चीयते।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि–विश्वरूप ही वैश्वरूप्य (अर्थात्–देह भुवन आदि संपूर्ण जगत्) है। विचित्र सन्निवेश समन्वित कार्यरूप यह जगत, तदनुरूप अव्यक्त कारण से उद्भूत है। सारे होने वाले पदार्थ,

अपने ही समान स्वभाव वाले विशिष्ट कारण से विभक्त और तिरोभूत होते देखे जाते हैं। जैसे कि-घट मुकुट आदि, अपने समान रूप वाले मिट्टी और सुवर्ण आदि से विभक्त और लीन होते हैं। वैसे ही विचित्र सन्निवेश विशिष्ट जगत, प्रधान से ही, उत्पन्न और लीन होता है। इसलिए प्रधान को ही, जगत का उपादान कारण स्वीकारना चाहिए। यह जगत सत्व-रजतमोगुणमयसुखदुःखमोहात्मक है, इसलिए तीनों गुणों की साम्या-वस्था रूप प्रधान ही, जगत् के स्वभावानुरुप कारण है। जैसे कि-मृत्तिका-त्मक घट की कारण मृत्तिका ही हो सकती है, मृत्तिका में उस घट के उपादान पाये जाते हैं। भेद समूह (महत्-अहंकार और पंचतन्मात्र) पदार्थ, परिमित (परिच्छिन्न) हैं, इससे ज्ञात होता है कि–देशकाल आदि से अपरिच्छिन्न गुणसाम्यरुप अव्यक्त ही, इन सब का कारण है। महत् आदि तत्व समूह, घट आदि पदार्थों की तरह, परिच्छिन्न हैं, इसलिए वे सब तो, जगत के उत्पादन में समर्थ हो नहीं सकते। तीनों गुणों की साम्यावस्थारूप, प्रधान ही, त्रिगुणात्मक जगत् की एकमात्र कारण निश्चित होती है।

अत्रोच्यते–रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च अनुमीयत इत्यनुमात्रं, न भवदुक्तं प्रधानं विचित्रजगत् रचना समर्थं, अचेतनत्वे सति तत्स्वभाबाविज्ञानधिष्ठितत्वात्, यदेवं तत्तथा, यथा रथप्रा-सादादिनिर्माणे केवल दार्वादिकम्। दार्वादेरचेतनस्य तज्ज्ञानधिष्ठि-तस्य कार्यारम्भानुपपत्तेः दर्शनात्, तज्ज्ञानाधिष्ठितस्य कार्यारम्भ-प्रवृत्तेर्दर्शनाच्च न प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणमित्युक्तं भवति।

उक्त मत पर कथन यह है कि-रचना और तद् विषयक प्रवृत्ति की अनुपपत्ति और अनुमान से ऐसा निश्चित होता है कि–प्रधान कारण नहीं हो सकती। जिसकी अनुभूति की जाय वही अनुमान है, अनुमित प्रधान तत्व विचित्र जगत् की रचना करने में समर्थ नहीं है क्योंकि–वह स्वयं अचेतन है,उसके स्वभाव से भिन्न कोई दूसरा चेतन यदि उसका परिचालन नहीं करता तो, जैसी है वैसी ही सदा रहेगी जैसे कि-रथ प्रासाद आदि के निर्माण में केवल लकड़ी आदि ही समर्थ नहीं है, चेतन शिल्पी से अपरि-

चालित लकड़ी से कोई कार्य होता देखा नहीं जाता, अपितु उसके अधिष्ठान में ही कार्यारम्भ होता है। वैसे ही किसी एक प्राज्ञ से अधिष्ठित हुए बिना प्रधान भी जगत का कारण नहीं हो सकती।

चकारादन्वयस्यानैकान्त्यं समुच्चिनोति, नहि अन्वितं शौक्ल्यगोत्वादि कारणत्व व्याप्तं। न च वाच्यं माभूदन्वितानामपि शौक्ल्यादिधर्माणां कारणत्वं, द्रव्यस्य तु हेमादेः कार्येऽन्वितस्य कारणत्वव्याप्तिरस्त्येव सत्वादोन्यपि द्रव्याणि कार्येऽन्वितानि कारणत्व व्याप्तानि इति। यतः सत्वादयो द्रव्य धर्माः न तु द्रव्यस्वरूपम्, सत्त्वादयो हि पृथिव्यादिद्रव्यगतलघुत्व प्रकाशादि हेतुभूताः तत्स्वभाव विशेषा एव, न तु मृद्हिरण्यादिवत् द्रव्यतया कार्यान्विता उपलभ्यंते, गुणा इत्येव च सत्वादीनां प्रसिद्धिः।

सूत्रस्थ "च" के प्रयोग से, कार्यकारणानुवृत्ति की अनैकान्तिकता ज्ञात होती है। शुक्लता और गोत्व आदि धर्मों के अन्वित अर्थात् कार्य में अनुवृत्त होते हुये भी, कारणता धर्म से वह व्याप्त नहीं होता [अर्थात् यही कार्य का कारण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता] शुक्लता आदि से अन्वित होते हुये, कारण धर्म व्याप्त नहीं होता तो न सही, मुकुट आदि कार्यों से अन्वित सुवर्ण आदि में तो कारणता है, अतएव सत्व आदि गुण द्रव्य पदार्थ, जब कारण से अनुवृत्त हैं, तो उनमें कारणता व्याप्ति क्यों न होगी ? ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि—सत्त्व आदि गुण धर्म ही है। स्वयं द्रव्य स्वरूप नहीं हैं। पृथिवी आदि पदार्थ गत लघुता और प्रकाश आदि के प्रवर्त्तक, सत्व आदि गुण, पृथ्वी आदि के, एक प्रकार से स्वभाव ही हैं, वह कभी मिट्टी और सुवर्ण की तरह द्रव्य रूप से किसी कार्य में अन्वित नहीं हो सकते। सत्त्व आदि तो गुण नाम से ही प्रसिद्ध हैं।

यच्च कारणव्यवस्था सिद्धये जगतः एकमूलत्वमुक्तम्, तदपि सत्वादीनामनेकत्वान्नोपपद्यते। अत एव कारणव्यवस्था च न सिध्यति। साम्यावस्थाः सत्वादय एवहि प्रधानमिति त्वन्मतम्। अतः कारणबहुत्व। दनवस्थातदवस्थैव। न च तेषाम परिमितत्वेन

व्यवस्थासिद्धिः। अपरिमितत्वे हि त्रयाणामपि सर्वगतत्वेन न्यूनाधिकभावाभावाद वैषम्यासिद्धेः कार्यारम्भा संभवात्। कार्यारम्भायैव परिमितत्वमवश्याश्रयणीयम्।

जो यह कहा कि—अनेक कारण मानने से अव्यवस्था होगी वह भी सत्त्व आदि गुणों के अनेक होने से असंगत बात है। इससे भी कारणव्यवस्था नहीं बनती। तुम्हारे मत से, साम्यावस्थापन्न सत्त्वादि ही "प्रधान" है तो गुणों की अनेकता होने से, कारण बाहुल्य सिद्ध होता है इस प्रकार अनवस्था दोष तुम्हारे ही गले पड़ता है। तुम जो गुणों को अपरिमित मानते हुए, व्यवस्था की रक्षा करने की चेष्टा करते हो, वह भी नहीं हो पाती, क्योंकि—उनमें न्यून अधिक भाव तो हो नहीं सकता और वैषम्यावस्था सिद्ध नहीं होती, विना वैषम्यावस्था के कार्यारम्भ नहीं हो सकता, इसलिए कार्यारम्भ के लिए तुम्हें उनकी परिमितता अवश्य स्वीकारनी होगी।

यत्र रथादिषु स्पष्टं चेतनाधिष्ठित्वं दृष्टम्, तद्व्यरिक्तं सर्वं पक्षीकृतमित्याह—

रथ आदि के निर्माण में चेतनाधिष्ठान स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, उससे भिन्न और सब पदार्थ पक्षीकृत हैं, इस संशय पर कहते हैं—

पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि।२।२।२॥

यदुक्तं प्रधानस्य प्राज्ञानधिष्ठितस्य विचित्रजगद्रचनानुपत्तिरिति, तन्न, यतः पयोऽम्बुवत्प्रवृत्तिरुपपद्यते। पयसस्तावद्दधिभावेन परिणममानस्यानन्यापेक्षस्याऽद्यपरिस्पन्द प्रभृति परिणाम परंपरा स्वत एवोपपद्यते, यथा च वारिदविमुक्तस्याम्बुन एकरसस्य नारिवेलतालचूतकपित्थ निम्बतित्रिण्यादित्ररसरूपेण परिणाम प्रवृत्तिःस्वत एव दृश्यते तथा प्रधानस्यापि परिणामस्वभावस्यान्यानधिष्ठितस्यैव प्रतिसर्गावस्थायां सदृश परिणामेनावस्थितस्य सर्गावस्थायां गुण वैषम्यनिमित्ति विचित्र परिणाम उपपद्यते। यथोक्तं-"परिणा-

मतः सलिलवत् प्रतिगुणाश्रयविशेषात्" तदेवमव्यक्तमनन्यापेक्षं-प्रवर्त्तत इति चेत्-अत उत्तरं तत्रापि इति। यत् क्षीरजलादिदृष्टान्ततया निर्दशितं तत्रापि प्राज्ञानधिष्ठाने प्रवृत्तिर्नोपपद्यते तदपि पूर्वत्र पक्षीकृतमित्यभिप्रायः। "उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद हि" इत्यत्र दृष्टपरिकरान्तर रहितस्यापि स्वासाधारण परिणाम उपपद्यत, इत्येतावदुक्तम्, न प्राज्ञाधिष्टितत्वं पराकृतम् "योऽप्सुतिष्ठन्" इत्यादिश्रुतेः।

जो यह कहा कि-अभिज्ञ चेतन से अभिष्टित न होने से, प्रधान जगत की रचना करते में समर्थ नहीं है, यह असंगत बात है, दुग्ध और जल की तरह उसकी भी प्रवृत्ति हो सकती है। कारणान्तर निरपेक्ष, दधिरूप में परिणत, दुग्ध में जो, परिस्पन्दन आदि परिणाम परम्परा होती है वह स्वतः ही होती है। तथा मेघ से पतित जल जैसे एकरस होते हुए भी—नारियल, ताल, आम, कैथा, नीम, आदि विचित्र स्वादु रसों में स्वतः ही परिणत होता है, वैसे ही, परिणाम शील प्रधान, प्रलयावस्था में किसी अन्य से परिचालित न होकर, सदृश परिणाम विशिष्ट के रूप में स्थित रहकर, सृष्टिकाल में, सत्व आदि गुणों की विषमता से विचित्र आकारों में परिणत होती है। जैसा कि कहा भी गया है-"जल की तरह, गुणों में भी, निश्चित आश्रयों में, परिणाम भेद होता है, और उसी से कार्य वैचित्र्य होता है। "इससे निश्चित होता है कि-अव्यक्त अनन्यापेक्ष होकर, सृष्टि रूप में परिणत होती है। इस कथन का उत्तर-सूत्र में तत्रापि पद से दिया गया है अर्थात् दृष्टान्त रूप से जिन दुग्ध आदि का उदाहरण दिया गया है, उनमें भी प्राज्ञ के अधिष्ठान (चेतन के परिचालन) के बिना प्रवृत्ति संभव नहीं है। इस बात को, पूर्व सूत्रोक्त आपत्ति की पक्ष श्रेणी (विवादास्पद स्थल) में रक्खा गया है। पूर्वोक्त"उपसंहार दर्शनात्"इत्यादि सूत्र में, केवल यही कहा गया है कि—लौकिक सहायता शून्य पदार्थ भी, स्वकीय असाधारण शक्ति के आधार पर, विशेष विशेष कार्यों के आकार में परिणत होते हैं, प्राज्ञ अधिष्ठाता की वहाँ पर अपेक्षा नहीं होती, ऐसा नहीं कहा जा सकता; "जो जल में अधिष्ठान करते हैं "इत्यादि श्रुति प्राज्ञ अधिष्ठान का समर्थन करती है।

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् २।२।३॥

इतश्च सत्यसंकल्पेश्वराधिष्ठानापेक्षपरिणामित्वे सर्गव्यतिरेकेण प्रतिसर्गावस्थयाऽनवस्थित प्रसंगाच्च नप्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणम्, प्राज्ञाधिष्ठितत्वे तस्य सत्यसंकल्पत्वेन सर्गप्रतिसर्गविचित्र सृष्टिव्यवस्था सिद्धिः। न च वाच्यं प्राज्ञाधिष्ठितत्वेऽपि तस्यावाप्तसमस्तकामस्य परिपूर्णस्यानवधिकाधिकातिशयानंदस्य निरवद्यस्य निरंजनस्य सर्गप्रतिसर्गव्यवस्था हेत्वभावात् विषम सृष्टौ निर्दयत्व प्रसंगाच्च समानोऽयं दोष इति। परिपूर्णस्यापि लीलार्थं प्रवृत्ति संभवात्, सर्वज्ञस्य तस्य परिणामविशेषापन्न प्रकृति दर्शनरूप सर्गं प्रतिसर्गं विशेष हेतोः संभवात्, क्षेत्रज्ञ कर्मणामेव विषम सृष्टिव्यवस्थापकत्वाच्च।

सत्य संकल्प परमेश्वर की अधिष्ठातृता से रहित, प्रधान की परिणति स्वीकारने से, प्रलयावस्था में प्रधान में, सारे जगत की स्थिति कदापि संभव नहीं है। प्राज्ञ परमेश्वर से अनधिष्ठित, प्रधान, जगत की कारण नहीं हो सकती। प्राज्ञ द्वारा परिचालित मानने से ही, उसकी सत्य संकल्प जन्य सृष्टि,प्रलय और सृष्टिगत विचित्रता की व्यवस्था हो सकती है। यदि कहो कि-प्रधान को प्राज्ञ से अधिष्ठित मान लेने पर भी, प्राप्त काम परिपूर्ण निरवधि, अतिशय आनंदमय, निर्दोष, निरंजन परमेश्र के लिए सृष्टि और प्रलय के किसी उपयोगी कारण के न होने से, वैषम्य पूर्ण सृष्टि परक निर्दयता की बात उठ सकती है, इस प्रकार दोनों ही पक्षों में दोष तो समान ही है। तुम्हारा यह कथन भी असंगत है; परिपूर्ण, केवल लीला के लिए ही सृष्टि में प्रवृत्त होते हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर के पक्ष में, विशेष परिणामापन्न प्रकृति का दर्शन ही सृष्टि और प्रलय का हेतु हो सकता है। विशेषतः, जीवों के प्राक्तन कार्य ही, सृष्टिगत विषमता के कारण हैं।

नन्वेवं क्षेत्रज्ञपुण्यापुण्यरूपकर्मभिरेव सर्वावस्थाः सिध्यन्तीति कृतमीश्वरेणाधिष्ठात्रा, पुण्यापुण्यरूपानुष्ठितकर्म संस्कृता प्रकृतिरेव

पुरुषार्थानुरूपं तथा तथा व्यवस्थया परिणंस्यते, यथा विषादि दूषितानां अन्नपानादीनामौषधविशेषाप्यायितानां च सुख दुःख हेतु भूतः परिणामविशेषो देशकालव्यवस्थया दृश्यते, अतः सर्ग प्रतिसर्ग व्यवस्था देवादिविषमसृष्टिः कैवल्यव्यवस्था च सर्वप्रकार परिणाम-शक्तियुक्तस्य प्रधानस्यैवोपपद्यत इति।

यदि ऐसा ही है कि-जीवों के प्राक्तन शुभाशुभ कर्मो से ही सारी वैषम्यव्यवस्था होती है तो-प्रधान के अधिष्ठाता परमेश्वर की क्या आवश्यकता है? जैसे कि—विष आदि के संसर्ग से दूषित, औषधविशेष के संयोग से परिशोषित्, अन्न जल आदि का, देशकाल के अनुसार, सुखदुःख-कर विचित्र परिणाम देखा जाता है, वैसे ही, प्रकृति भी, पुरुषानुष्ठित पुण्यापुण्य कर्म संस्कार के सहयोग से, तदनुरूप, पुरुषभोग संपादन के लिए, विशेष वैचित्र्यमय कार्य के आकार में परिणत हो जाती है। इस प्रकार—हर प्रकार के परिणाम वाली प्रधान से सम्बधित होकर-सृष्टि प्रलय की व्यवस्था, देवादि सृष्टिगत वैषम्य, और मोक्ष की व्यवस्था आदि सब, संपन्न हो जाती है।

अनभिज्ञो भवान् पुण्यापुण्यकर्मस्वरूपयोः, पुण्यापुण्यस्वरूपेहि शास्त्रैक समधिगम्ये, शास्त्रं चानदिनिधनाविच्छिन्नपाठसम्प्रदाया-नाघ्रातप्रमादादिदोषगंधवेदाख्याक्षरराशिः तच्च परमपुरुषाराधनतद्-विपर्ययरूपे कर्मणी पुण्यापुण्ये, तदनुग्रह निग्रहायत्ते च तत्फले सुखदुःखे इति वदति। तथाह द्रमिडाचार्यः "फलसंविभत्सया हि कर्मभिरात्मानं पिप्रीषंति स प्रीतोऽलं फलायेति शास्त्रमर्यादा "इति। तथा च श्रुतिः "इष्टापूर्त्तं बहुधाजातं जायमानं विश्वं विभर्तिभुवन-स्य नाभिः "इति। तथा च भगवता स्वयमेवोक्तं-"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततं, स्व कर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदन्ति मानवः "इति। "तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्क्षिपाम्यजस्रम-शुभानासुरीष्वेवयोनिषु" इति च।

(उतर) आप पुण्यापुण्य कर्म के स्वरूप विभाग के विषय से अनभिज्ञ हैं। पुण्यापुण्य का स्वरूप एकमात्र शास्त्र गम्य है। उत्पत्ति विनाश रहित अविच्छिन्न पाठ संप्रदाय, प्रमाद आदि दोषों से असंस्पृष्ट, वेदनामक अक्षर राशि ही शास्त्र है। वह शास्त्र ही परमपुरुष परमेश्वर के आराधात्मक कर्म को पुण्य तथा उससे विपरीत कर्म को अपुण्य तथा परमेश्वर के निग्रह और अनुग्रह के अधीन सुख दुःख को, पुण्य अपुण्य का फल बतलाता है। द्रमिडाचार्य भी ऐसा ही कहते हैं–"फल प्राप्ति की इच्छा से कर्मों द्वारा जो आत्मा को प्यार करते हैं, वह प्रीत हो जाने पर फल प्राप्त कर लेते हैं, यही शास्त्र मर्यादा है" (अर्थात् फलरूपा पराभक्ति से जो परमात्मा से प्रीत करते हैं, उन्हे फलस्वरूप प्रीति की प्राप्ति हो जाती है) ऐसा ही श्रुति का भी मत है-"जगत का नाभिस्वरूप अनेक प्रकार के इष्टापूर्त्त कर्म ही, जात और जायमान जगत को धारण करते हैं"। स्वयं भगवान भी ऐसा ही कहते हैं—" जिससे प्रणिमात्र की एवं जिसके द्वारा यह सारा जगत परिव्याप्त है, मानव स्वकीय वर्णाश्रमोचित कर्म द्वारा, उसकी अर्चना करके सिद्धिलाभ करते हैं "संसार में ईश्वर द्वेषी क्रूर प्रकृति वाले पापिष्ठ अधमनरों को मैं, निरन्तर आसुरी योनियों में डालता रहता हूँ"।

स भगवान् पुरुषोत्तमोऽवाप्तसमस्तकामः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सत्यसंकल्पः स्वमाहात्म्यानुगुणलीला प्रवृत्तः एतानि कर्माणि समीचीनान्येतान्यसमीचीनानीति कर्म द्वैविध्यं संविधाय तदुपादानोचितदेहेन्द्रियादिकं तन्नियमनशक्ति च सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां सामान्येन प्रदिश्य स्वशासनावबोधि शास्त्रं च प्रदर्श्य तदुपसंहारार्थं चान्तरात्मतयाऽनुप्रविश्यानुमंतृतया च नियच्छंस्तिष्ठति। क्षेत्रज्ञास्तु तदाहितशक्तयः तत्प्रदिष्टकरण कलेवरादिकास्तदाधाराश्च स्वयमेव स्वेच्छानुगुण्येन पुण्यापुण्यरूपे कर्मणी उपाददते। ततश्चपुण्यापुण्य रूपकर्मकारिणं स्वशासनानुवर्त्तिनं ज्ञात्वा धर्मार्थकाममोक्षै र्वर्धयते शासनातिवर्त्तिनं च तद् विपर्ययैर्योजयति, अतः स्वातंत्र्यादिवैकल्य चोद्यानि नावकाशं लभन्ते।

वही आप्तकाम, सर्वज्ञ, सत्यसंल्कप, सर्वेश्वर भगवान पुरुषोत्तम अपनी महिमायुक्त लीला में प्रवृत्त होकर, उत्तम और अधम कर्मों का निर्धारण करके, समस्त जीवों को, कर्मग्रहणोपयुक्त देहेन्द्रिय और उसकी संयमन शक्ति प्रदान कर, लोग उनका शासन स्वीकारें, ऐसा शास्त्रो-पदेश देकर-स्वयं सर्वान्तिर्यामीरूप से प्रविष्ट होकर, संयमन करते हुए स्थित रहते हैं। जीव उन परमात्मा से शक्ति प्राप्त कर, उनके प्रदत इन्द्रिय और शरीर धारण करके, स्वेच्छानुसार पाप और पुण्य कर्मों का उपपादन करते हैं। वह परमात्मा पुण्य कर्म करने वालों को, अपने शासन के अनुगत मानकर, धर्मं अर्थं काम मोक्ष द्वारा बढ़ाते हैं, तथा शासन के उल्लंधन करने वालों को उससे विपरीत गति प्रदान करते हैं। इस प्रकार, ईश्वर संबंधी स्वातंत्र्य हानि आदि दोषों का कोई स्थान ही नहीं रहता।

दयाहि नाम स्वार्थं नरपेक्षा परदुःखासहिष्णुता, सा च स्वशासनातिवृत्तिव्यबसायिन्यपि वर्त्तमाना न गुणायावकल्पते, प्रत्युतापुंस्त्वमेवावहति, तन्निग्रह एव तत्र गुणः, अन्यथा शत्रु निग्रहा-दीनामगुणत्वप्रसंगात्। स्वशासनातिवृत्तिव्यवसाय निवृत्तिमात्रेणानाद्यनंतकल्पोपचितदुर्विषहानंतापराधानंगीकारेण निरतिशय सुख-संवृद्धये स्वयमेव प्रयतते। यथोक्तं–"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्, ददामिबुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते। तेषामेवानुकंपार्थं अहमज्ञानजंतमः, नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता। "इति, अतः प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं न कारणम्।

स्वार्थ संबंध रहित, परदुःख को न सह सकना ही दया है जो जीव ईश्वर के शासन का उल्लंघन करते हैं, उन पर भी प्रभुकी वैसी दया है, परंतु, वह उपकार न करके अपुरुषार्थं (दुःख) का उत्पादन करती है भगवान की ऐसी दयामय अकृपा भी, उनका एक गुण है, यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो, शत्रु निग्रह आदि कार्य दोषावह मानें जावेंगें। शासनातिक्रमण विषयक अध्यवसाय से निवृत्त हो जाने पर, भगवान स्वयं ही, जीवों के अनादिकाल संचित अपराधों की उपेक्षा करके, अत्यानंद सुख समृद्धि प्रदानकरने की चेष्टा करते हैं। जैसा कि वे स्वयं कहते भी हैं–"निरन्तर

एकाग्रचित्त से प्रीति पूर्वक भजन करने वाले को मैं ऐसी बुद्धि प्रदान करता हूँ, जिससे वह मुझे प्राप्त कर सके। उनके ऊपर अनुकम्पा करने के लिए ही मैं, आत्मा में स्थित होकर, उज्वल ज्ञान दीप द्वारा, उनके आंतरिक अज्ञानांधकार को दूर करता हूँ। "इत्यादि से निश्चित होता है कि-प्राज्ञ से अशासित, प्रधान जगत का कारण नहीं है।

अथस्यात्—यद्यपि प्राज्ञानधिष्ठितायाः प्रकृतेः परिस्पंद प्रवृत्तिरपि न संभवतीत्युक्तम्, तथाऽप्यनपेक्षाया एव परिणामप्रवृत्तिः संभवति तथादर्शनात्, धेन्वादिनोपयुक्तं हि तृणोदकादि स्वयमेव क्षीराद्याकारेण परिणममानं दृश्यते। अतः प्रकृतिरपि स्वयमेव जगदाकारेण परिणंस्यते। इति तत्राह—

उक्त कथन पर आपत्ति करते हैं कि-परमेश्वर की प्रेरणा के बिना अचेतन प्रधान में क्रिया की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, यह तो ठीक है परंतु अनपेक्षित भाव से प्रधान में, परिणाम प्रवृत्ति तो हो सकती है, वैसा देखा भी जाता है, कि-गौद्वारा उपभुक्त तृण जल आदि स्वतः ही दुग्ध के रूप में परिणत हो जाते हैं, वैसे ही प्रकृति भी स्वतः जगत के आकार में परिणत हो जाती है। इसका उत्तर देते हैं--

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ।२।२।४॥

नैतदुपपद्यते, तृणादेः प्राज्ञानधिष्ठितस्य परिणामाभावाद् दृष्टांतासिद्धेः, कथमसिद्धिः? अन्यत्राभावात्—यदि हि तृणोदकादिक मनुड्हाद्युपयुक्तं प्रहीणं वा क्षीराकारेण पर्यणंस्यत, ततः प्राज्ञानधिष्ठितमेव परिणमत इति वक्तुमशक्यत, न चैतदस्ति, अतो धेन्वाद्युपयुक्तं प्राज्ञ एव क्षीरी करोति। "पयोम्बुवच्चेति तत्रापि" इत्युक्तमेवात्र प्रपंचितम् तत्रैव व्यभिचार प्रदर्शनाय।

उक्त तर्क असंगत है, तृण आदि, परमेश्वर की प्रेरणा बिना स्वतः ही दुग्ध हो जाये, ऐसा दृष्टांत नितांत असिद्ध है, गौ आदि के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र ऐसा क्यों नहीं हो जाता? तृण खाने वाले बैल आदि में यदि दुग्ध परिणति हो जाती तो, परमेश्वर के प्रेरणा बिना,

प्रधान की जगदाकार परिणति मान ली जाती, किन्तु ऐसा तो संभव है नहीं। वस्तुतः गाय आदि से उपभुक्त तृण आदि की दुग्ध रूप में जो परिणति होती है, वह परमेश्वर की प्रेरणा से ही होती है। "पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि" सूत्र में कहे गए नियम के व्यभिचार को प्रदर्शित करने के लिए ही, इस सूत्र में विवेचन किया गया है।

पुरुषाश्मवदितिचेत्तथापि ।२।२।५॥

अथोच्येत—यद्यपि चैतन्यमात्रवपुः पुरुषो निष्क्रियः, प्रधानमपि दृक्छक्तिविकलम् तथापि-पुरुषसन्निधानादचेतनं प्रधानप्रवर्त्तते तथा दर्शनात्, गमनशक्तिविकलदृक्छक्ति युक्त पंगुसंनिधानात्तच्चैतन्योपकृतो दृक्छक्तिविकलः प्रवृत्तिशक्तोऽन्धः प्रवर्त्तते, अयस्कांताश्मसन्निधानाच्चायः प्रवर्त्तते। एवं प्रकृतिपुरुषसंयोगकृतो जगत् सर्गः प्रवर्त्तते। यथोक्तं—"पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य, पंग्वंधवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः। "इति पुरुषस्य प्रधानोपभोगार्थं कैवेल्यार्थं च पुरुष सन्निधानात् प्रधानं सर्गादौ प्रवर्त्तत इत्यर्थः।

कहते हैं कि—यद्यपि चैतन्यमात्र शरीर पुरुष निष्क्रिय है और प्रधान भी दर्शनशक्ति हीन है, फिर भी, पुरुष के सानिध्य में रहने वाली अचेतन प्रधान अपने कार्य में प्रवृत्त हो सकती है, जैसे कि दर्शनशक्ति विहीन क्रियाक्षमअंधा व्यक्ति, गमनशक्ति रहित, देखने में समर्थ पंगुव्यक्ति के सानिध्य से कार्य करता है तथा चुम्बक के सानिध्य से लोहा स्पंदित होता है। उसी प्रकार प्रकृति भी चैतन्य के संयोग से जगत की सृष्टि करती है। जैसा कि कहा भी है—"पुरुष, प्रधान का भोग करके, स्वयं भी मुक्तिरूप कैवल्य की प्राप्ति करे, इसलिए पंगु और अंध की तरह, पुरुष और प्रकृति संयोग करते हैं, जिसके फलस्वरूप जगत की सृष्टि होती है"अर्थात् पुरुष के प्रकृति संबंधी भोग और मोक्ष के लिए, पुरुष के सहारे प्रकृति, सृष्टि का विस्तार करती है।

अत्रोत्तरं–तथापीति, एकमपि प्रधानस्य प्रवृत्त्यसंभवस्तदवस्थं एव, पंगोर्गमनशक्तिविकलस्यापि मार्गदर्शनतदुपदेशादयः कादाचित्का विशेषः सहस्रशः सन्ति, अंधोऽपि चेतनः सन् तदुपदेशाद्यवगनेन प्रस्तंते, तथा अमस्कांतमणेरप्ययः समीपागमनादयःसंति। पुरुषस्यतु निष्क्रिमस्य न तादृशा विकाराः संभवंति। सन्निधानमात्रस्य निकत्वेन नित्य सर्गप्रसंगो नित्यमुक्तत्वेन, बंधाभावोऽपवर्गाभावश्च।

"तथापि" कहकर उक्त तर्क का निराकरण करते हैं। अर्थात् इस स्थिति में भी, प्रकृति का अभाव पूर्ववत् ही है। पंगु में गमन शक्ति न होते हुए भी, मार्ग दर्शन के सूचक उपदेश आदि हजारों साधन उसे मिल सकते हैं, अन्धा भी सचेष्ट होकर पंगु के उपदेश से जानकारी प्राप्त कर अपने कार्य में प्रवृत्त हो सकता है, चुम्बक की ओर लोहा भी खिच सकता है; पर निष्क्रिय पुरूष में ऐसा विकार संभव नही है। यदि प्रधान और पुरूष का साहचर्य सदा मानते हो तो, सृष्टि भी सदा रहेगी, प्रलय कभी होगा ही नहीं, साथ ही जब पुरूष नित्यमुक्त है, तो बंधन और मुक्ति इन दोनों का ही अभाव रहेगा? [जो कि–तुम्हारे मत से विपरीत बात है]

अंगित्वानुपपत्तेश्च।२।२।६॥

गुणानामुत्कर्षनिकर्षनिबंधनांगांगिभावाद् हि जगत् प्रवृत्तिः "प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेपात्" इति वदद्भिः भवद्भिरभ्युपगम्यते। प्रतिसर्गायस्थायां तु साम्यावस्थानां सत्त्वरजस्तम सामन्योन्याधिक-न्यूनत्वाभावादंगांगिभावानुपपतेर्न जगत् सर्ग उपपद्यते। तदापि वैषम्याभ्युपगमे नित्यसर्ग प्रसंगः। अतश्च न प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणम्।

सत्त्व आदि गुणों की जो आश्रयगत विशेषता है, उसी से विचित्र परिणाम होता है, तुम्हारे इस कथन के अनुसार गुणों के उत्कर्ष और अपकर्ष एवं तारतम्य के अनुसार अंग अंगी भाव से जगत की प्रवृत्ति होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक सृष्टि की स्थिति में, साम्यअवस्था को प्राप्त सत्त्व

रजतम में न्यूनाधिकता का अभाव होने से, अंग अंगी भाव तो हो नहीं सकता इसलिए जगत की सृष्टि भी नहीं हो सकती। यदि गुण वैषम्य स्वीकारते हो तो सृष्टि सदा बनी रहेगी। इससे निश्चित होता है कि प्राज्ञ से अनधिष्ठित प्रधान, जगत का कारण नहीं हो सकती।

अन्यथानुमितौ चज्ञशतिवियोगात् ।२।२।७॥

दूषित प्रकारातिरिक्त प्रकारान्तरेण प्रधानानुमितो च प्रधानस्य ज्ञानतृत्वशक्तिवियोगात् ते एव दोषः प्रादुःष्युः। अतो न कथं-चिदप्यनुमानेन प्रधान सिद्धिः।

तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत, प्रधान कारण संबंधी सभी युक्तिया दूषित हो गई, इनके अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से, प्रधान के संबंध में अनुमान करो भी तो, जब प्रधान में ज्ञानशक्ति का ही अभात्र है, तब तुम्हारे अनुमान भी दूषित हो जावेगे। किसी भी प्रकार, प्रधान की कारणता, प्रमाणित नहीं होती।

अभ्युपगमेऽप्यर्काभावात् ।२।२।८॥

अनुमानैन प्रधान सिद्धि अभ्युपगमेऽपि प्रधानेन प्रयोजनाभावान्त तदनुमातव्यम्। "पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य" इति प्रधानस्य प्रयोजनं पुरुषभोगापवर्गाबभिमतौ तौ च न संभवतः। पुरुषस्य चैतन्यमानवपुषो निष्क्रियस्य निर्विकारस्य निर्मलस्य तत एव नित्य मुक्त स्वरूपस्य प्रकृतिदर्शनरूपो भोगस्तद् वियोगरूपोऽपवर्गश्च न संभवति एवं रूपस्यैव प्रकृतिसंन्निधानात्तत् परिणामविशेपसुखदुःख दर्शन रूपभोग संभावनायां प्रकृति सन्निधानस्य नित्यत्वेन कदाचिदप्यपवर्गौ न सेतस्यति।

अनुमान से किसी प्रकार प्रधान का अस्तित्व स्वीकार भी ले, पर सृष्टि कार्य में प्रधान का कोई प्रयोजन नहीं समझ में आता इसलिए उसके लिए अनुमान करना ही व्यर्थ है। "पुरुष के कैवल्य तथा प्रधान के दर्शन के लिए ही" अर्थात् पुरुष, प्रकृति का दर्शन का मोक्ष लाभ करे यही एक-

मात्र प्रयोजन है इस सांख्योक्ति से ज्ञात होता है कि–पुरूष का सुख दु:ख भोग और मुक्ति लाभ ये दो ही सांख्य सम्मत प्रयोजन पुरूष के लिए संभव भी तो नहीं है क्योंकि–पुरूष स्वभाव से ही चेतन्य स्वरुप निष्क्रिय, निर्विकार और निर्मल होने से नित्यमुक्त स्वरूप है इसलिए उसमें प्रकृति दर्शन रूप भोग और प्रकृति से संबंध विच्छेद रूप मुक्ति की संभावना ही कहाँ है ? यदि किसी प्रकार, प्रकृति के सानिध्य से, प्रकृति के परिणाम विशेष सुख दु:ख अनुभवात्मक भोग को पुरूष में मान भी ले तो, जब प्रकृति पुरूष के नित्य सानिध्य में रहती है, तब पुरुष की मुक्ति तो कभी हो नहीं सकती।

विप्रतिषेधाच्चासमंजसम् ।२।२।६।।

विप्रतिषिद्धं चेदं सांख्यानां दर्शनम्। तथाहि-प्रकृतेः परार्थत्वेन दृश्यत्वेन भोग्यत्वेन च प्रकृतेर्भोक्तारं अधिष्ठातारं च द्रष्टारं साक्षिणं च पुरुषमभ्युपगम्य प्रकृत्यैव साधनभूतया तस्य कैवल्यमपि प्राप्यं वदंत एव तस्य नित्यनिर्विकारचैतन्यमात्रस्वरूपतया अकर्त्तृत्वं कैवल्यं च स्वरूपमेवाहुः, तत एव बंधमोक्षसाधनानुष्ठानं मोक्षश्च प्रकृतेरेवेत्याहुः एवंभूतनिर्विकारोदासीनपुरुषसंन्निधानात् प्रकृतेरितरेतराध्यासेन सर्गादि प्रवृत्ति पुरुषभोगापवर्गार्थत्वंचाहुः "संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्। पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य, कैवल्यं माध्यस्थ्यं दृष्टृत्वं कर्तृभावश्च "इति। "पुरुष विमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य"इत्युक्त्वैवमाहुः "तस्मान्नवध्यते नापि मुच्येत नापि संसरति कश्चित्, संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः इति," तथा–"तस्मावृत् संयोगात् अचेतनं चेतनावदिवलिंगम्, गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः पुरुषस्यदर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य पंग्वंध वदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः इति"।

साख्यों का यह दर्शन परस्पर विरूद्ध तथ्यों को भी उपस्थित करता है, जैसे कि-प्रकृति स्वयं पुरुषार्थ, जड और पुरुष भोग्या है, इसलिए पुरुष को उसका भोक्ता, द्रष्टा और अधिष्ठाता, साक्षी कहा गया है। प्रकृतिरूपी साधन से पुरुष की कैवल्य प्राप्ति बतलाई गई है साथ ही पुरुष को नित्य, निर्विकार चैतन्यस्वरूप, निष्क्रिय और कैवल्य कहा गया है। इसीलिए बंधन से मुक्त होने के लिए साधनानुष्ठान और मोक्ष प्रकृति सापेक्ष कहा गया है। निर्विकार उदासीन पुरुष की नित्य सन्निधि होने से, प्रकृति पुरुष में इतरेतर अध्यास (अर्थात् प्रकृति में पुरुष के और पुरुष में प्रकृति के गुण मिल जाने से) होने से सृष्टि आदि कार्य और पुरुषीय भोगापवर्ग साधन में, प्रकृति की प्रवृत्ति बतलाई गई है जैसे कि-"संघात परार्थता (समष्टिरूप सावयव पदार्थों की पर प्रयोजनीयता) त्रिगुणों की विपरीतता, अधिष्ठान पुरुष संबंधी भोक्तृभावना तथा कैवल्यार्थ प्रवृत्ति से, पुरुष नामक पदार्थ की स्थिति निश्चित होता है। पूर्वोक्त विपरीत के कारण ही पुरुष का साक्षित्व, विशुद्धता, औदास्य, द्रष्टत्व और अकर्त्तृत्व सिद्ध होता है। आत्मा की मुक्ति के अनुरूप ही प्रधान की चेष्टायें होती हैं। "इत्यादि कहने के बाद ही कहते हैं "इसलिए कोई आत्मा, बद्ध-मुक्त या संसारी नहीं होता, अपितु परिवर्त्तनशील प्रकृति ही, संसारी, बद्ध या मुक्त होती है। "इसलिए पुरुष के संयोग से अचेतन प्रकृति, चेतन की तरह होती है और पुरुष स्वभाव से निष्क्रय होते हुए भी कर्त्ता सा प्रतीत होता है। पुरुष की कैवल्य सिद्धि के लिए तथा पुरुष द्वारा प्रकृतिदर्शन के लिए, अंधे और लंगड़े के संयोग का सा, प्रकृति पुरुष का संयोग होता है जिसके फलस्वरूप सृष्टि होती है।

साक्षित्व द्रष्टृत्वभोक्तृत्वादयो नित्यनिर्विकारस्याकर्त्तुरुदासीनस्य कैवल्यैक स्वरूपस्य न संभवंति। एवं रूपस्य तस्याध्यासमूलभ्रमोऽपि न संभवति, अध्यासभ्रमयोरपि विकारत्वात्। प्रकृतेश्च तौ न संभवतः, तयोश्चेतन धर्मत्वात्। अध्यासोहिनाम चेतनस्यान्यस्मिन्नन्य धर्मानुसंधानं स च चेतन धर्मो विकारश्च। न च पुरुषस्य प्रकृतिसन्निधि मात्रेणाध्यासादयः संभवंति, निर्विकारत्वात्। संभवति चेत्, नित्यं प्रसज्येरन्, सन्निधेरकिंचित्करत्वं च" न

विलक्षणत्वात् "इत्यत्र प्रतिपादितम्।

साक्षित्व, द्रष्टत्व, भोक्तृत्व आदि, धर्म, नित्य, निर्विकार, उदासीन अकर्त्ता, कैवल्यैकस्वरूप पुरुष में नहीं हो सकते, तथा ऐसे स्वभाव वाले पुरुष में, अध्यासमूलक भ्रम भी नहीं हो सकता, क्योंकि अध्यास और भ्रम दोनों ही विकारात्मक हैं। प्रकृति में भी, अध्यास और भ्रम नहीं हो सकते, क्योंकि ये दोनों चेतन के धर्म हैं, प्रकृति अचेतन है। किसी चेतन को, किसी एक पदार्थ में किसी अन्य पदार्थ के धर्म या गुणों की प्रतीति हो, उसे अध्यास कहते हैं, यह अध्यास, चेतन का विकारात्मक धर्म है यदि कहो कि-प्रकृति के साहचर्य से चेतन में अध्यास आदि होते हैं, सो भी नहीं हो सकता, क्यों कि पुरुष स्वभाव से निर्विकार है। यदि कहो कि-प्रकृति के नित्य साहचर्य से, पुरुष में संभव हो सकते हैं; तब तो, इन्हें पुरुष में सदा ही आरोपित मानना पड़ेगा। प्रकृति पुरुष के सानिध्य की अकिंचित् कार्यता हम "न विलक्षणत्वात् "सूत्र में दिखला चुके हैं।

प्रकृतिरेव संसरति बध्यते मुच्यते चेत्-कथं नित्यमुक्तस्य पुरुषस्योपकारिणी सेत्युच्यते? वदंतिहि-"नानाविधैरुपायैरुपकारिण्य-नुपकारिणः पुंसः, गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति "इति तथा- प्रकृतिर्येन पुरुषेण यथास्वभावादृष्टा, तस्मात्पुरुषात्तदानीमेव निवर्तत इति चाहुः। "रंगस्यदर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा वृत्तात् पुरुषस्यतथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्त्तते प्रकृतिः प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मेमतिर्भवति। या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति-पुरुषस्य इति। तदप्यसंगतम्-पुरुषोहि नित्यमुक्तत्वान्निर्विकारत्वान्नतां कदाचिदपि पश्यति नाध्यस्यति च। स्वयं स्वात्मानं न पश्यति, अचेतनत्वात्। पुरुषस्य स्वात्मदर्शनं, स्वदर्शनमिति नाध्यवस्यति स्वयमचेतनत्वात् पुरुषस्य च दर्शनरूप विकारासंभवात्।

यदि कहो कि—प्रकृति ही संसरित, बद्ध और मुक्त होती है; तो उसे नित्यमुक्त पुरुष की उपकारिणी कैसे कह सकते हो? सांख्यों का कथन है कि-"गुणवती (सत्त्वरजतमोमयी अथवा सद्गुण संपन्ना स्त्री)

पुरुष (आत्मा या स्वामी) के अपकार करने पर भी, गुणहीन उस पुरुष का, उपकार ही करती है, अपना प्रयोजन होते हुए भी, उसी का प्रयोजन साधती है।"वे ये भी कहते हैं कि-प्रकृति, जिस पुरुष से, जैसे स्वभाव से देखी जाती है, उस पुरुष के निकट से वह वैसी ही, उस समय लौट आती है-जैसे कि-"नर्त्तकी, रंगशाला में स्थित पुरुषों को नृत्य दिखलाकर, लौट जाती है, वैसे ही प्रकृति, पुरुष को अपनी झलक दिखलाकर लौट आती है। प्रकृति से अधिक, कोई और सुकुमार नहीं हो सकता, ऐसी मेरी मति है, पुरुष ने मुझे पहिचान लिया, ऐसा सोचते ही वह लज्जित होकर पुनः उसके सामने नहीं जाती। "इत्यादि कथन भी असंगत है—पुरुष जब नित्य मुक्त और निर्विकार है तो वह, उस प्रकृति को न देख सकता है और न स्वतः अध्यस्त ही हो सकता है। वह प्रकृति स्वयं अपने को तो देख नहीं सकती, क्यों कि अचेतन है। वह जो, पुरुष को अपना दर्शन देती है, उसमें स्वयं तो अध्यस्त (लिप्त) हो नहीं सकती, क्योंकि—अचेतन है। पुरुष भी निर्विकार है, इसलिए दर्शन कर नहीं सकता।

अथ सन्निधिमात्रमेव दर्शनमित्युच्यते, सन्निधेर्नित्यत्वेन नित्य दर्शन प्रसंग इत्युक्तम्। स्वरूपातिरिक्तकादाचित्क सन्निधिरपि नित्यनिर्विकारस्य नोपपद्यते।

जो यह कहा कि—प्रकृति की सन्निधि होने मात्र से, दर्शन की प्रवृत्ति होती है, तो नित्य सन्निधि से, दर्शन की प्रवृत्ति भी नित्य होगी। यदि नित्य सन्निधि न मानकर कभी कभी की सन्निधि मानते हो तो भी, नित्यनिर्विकार पुरुष में दर्शन प्रवृत्ति की संभावना नहीं है।

किं च मोक्षहेतुस्तु स्वसन्निधानरूपमेव दर्शनं चेत्-बंधहेतुरपि तदेवेति नित्यवद् बंधो मोक्षश्चस्याताम्। अथवा दर्शनं बंधहेतुः यथावत् स्वरूपदर्शनं मोक्षहेतुरिति चेत्-उभयविधस्यापि दर्शनस्य सन्निधानरूपतानतिरेकात्सदोभय प्रसंग एव। सन्निधिरनित्यत्वे तस्यहेतुरन्वेषणीयः, तस्यापीत्यनवस्था। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया स्वरूपसद्भाव एव सन्निधिरिति तदा स्वरूपस्य नित्यत्वेन

नित्यवद्बंधमौक्षौ । अत एवमादेर्विप्रतिषेधात् सांख्यानांदर्शन-मसमंजसम् ।

यदि कहो कि–प्रकृतिसानिध्य दर्शन ही, पुरुष का मोक्ष है, तो वह प्रकृति बंधन का कारण भी तो है, इस प्रकार तो बंधन और मोक्ष दोनों साथ साथ रहेंगे । यदि कहो कि–भ्रांतिपूर्णज्ञान ही बंधन का कारण है तथा आत्मा का साक्षात्कार ही मोक्ष का कारण है; तो इन दोनों प्रतीतियों से उक्त सन्निधि से कोई भेद नहीं है, वही बंधन और मुक्ति की साथ साथ होने वाली बात, उठती है । यदि सन्निधि को अनित्य मानें तो उसकी अनित्यता का कारण खोजना होगा, उससे भी अनवस्था होगी । दोष परिहार के लिए यदि प्रकृति और पुरुष के स्वरूप सद्भाव को ही सन्निधि मानें, तो जब दोनों का ही स्वरूप नित्य माना है, बंधन और मोक्ष भी नित्य हो जावेंगे । इस प्रकार की अनेक अनर्गल बातों से सांख्यों का दर्शन असंगत सिद्ध होता है ।

येऽपिकूटस्थनित्यनिर्विशेषस्वप्रकाशच्चिन्मात्रं ब्रह्माविद्या–साक्षित्वेनापारमार्थिक बंधमोक्षभागिति वदंति तेषामप्युक्तनीत्याऽ-विद्यासाक्षित्वाघ्यासाद्यसंभवादसामंजस्यमेव, इयांस्तुविशेषः, सांख्याः जननमरण प्रतिनियमादिव्यवस्था सिध्यर्थं पुरुषबहुत्वमिच्छंति, तेतु तदपि नेच्छंतीति सुतरामसामंजस्यम् ।

और जो लोग (शांकरमतावलंबी) कूटस्थ, नित्य निर्विशेष, स्वप्रकाश, चैतन्यमात्र स्वरूप ब्रह्म को ही अविद्या का साक्षी और द्रष्टा बतलाकर बंधन और मोक्ष के मिथ्यात्व की बात कहते हैं, उनके मतानुसार भी, ब्रह्म के अविद्या साक्षित्व आदि धर्मो का अध्यास संभव नही हो सकता, असामंजस्य ही होता है. इनकी सांख्यों से इतनी ही विशेषता है कि-सांख्य लोग-जननमरणव्यवस्था की रक्षा के लिए अनेक पुरुषों की कल्पना करते हैं, जब कि शांकर वो भी नहीं करते अर्थात् अद्वैत स्वीकारते है, असामंज़स्य तो हर स्थिति में होता ही है ।

यत्तु प्रकृतेः पारमार्थ्या पारमार्थ्यंविभागेन वैषम्यमुक्तं, तदयुक्तम्, पारमार्थिकत्वेऽप्यपारमार्थिकत्वेऽपि नित्यनिर्विकार स्वप्रकाशैकरस चिन्मात्रस्य स्वव्यतिरिक्त साक्षित्वाद्यनुपपत्तेः। अपारमार्थिकत्वे तु तस्याः दृश्यत्वबाध्यत्वाभ्युपगमात् सुतरामसंगतम्। औपाधिक भेदवादेऽपि उपाधिसंबंधिनो ब्रह्मणोऽयमेवस्वभाव इत्युपाधिसंबंधा-द्यनुपपतेरसामंजस्यं पूर्वमेवोक्तम्।

और जो, प्रकृति की परमार्थता और अपरमार्थता के आधार पर वैषम्य का समर्थन किया वह भी असंगत है; प्रकृति परमार्थ हो या अपरमार्थ, नित्य–निर्विकार–स्वप्रकाश–एकमात्र चिन्मय वस्तु के लिए अपने से अतिरिक्त कोई और साक्षी, नहीं हो सकता। यदि प्रकृति को अपरमार्थ मानते हैं तो प्रकृति में दृश्यत्व और बाध्यत्व भी मानने ही पड़ेंगे, इस स्थिति में, पुरुष का साक्षित्व मानना असंगत होगा। प्रकृति के पारमार्थिक भेद मानने पर भी, उपाधिसंबंद्ध ब्रह्म का और उसका स्वभाव जब एक सा ही है, तब उपाधि संबंध आदि घट नहीं सकता, इन समस्त कारणों से जो असामंजस्य होता है, उसे तो पहिले ही बतला चुके हैं।

२ महद्दीर्घाधिकरणः—

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमंडलाभ्याम् ।२।२।१०॥

प्रधानकारणवादस्य युक्तयाभासमूलतय विप्रतिसिद्धत्वाच्चा-सामंजस्यमुक्तम्। संप्रति परमाणुकारणवादस्याप्यसामंजस्यम् प्रतिपाद्यते- "महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमंडलाभ्याम् "इति। असमंजसमिति वर्त्तते, वा शब्दश्चार्थे। ह्रस्वपरिमंडलाभ्याम्, द्वयणुकपरमाणुभ्यां, महद्दीर्घवत् त्र्यणुकोत्पत्तिवादवत्, अन्यच्च-तदभ्युपगतं सर्वमसमंजसम्, परमाणुभ्यो द्वयणुकादिक्रमेण

जगदुत्पत्तिवादवदन्यदप्यसमंजसमित्यर्थः। तथाहितंतु प्रभृतयो हि अवयवाः स्वांशैः षड्भिः पार्श्वैः संयुज्यमाना अवयविनमुत्पादयंति, परमाणवोऽपि स्वकीयैः षड्भिः पार्श्वैः संयुज्यमाना एव द्वयणुकादीनां उत्पादकाभवेयुः, अन्यथा परमाणुनां प्रदेशभेदभावे सति, सहस्रपरमाणुसंयोगेऽपि एकस्मात् परमाणोरनतिरिक्तपरिमाणतया-अणुत्व ह्रस्वत्वमहत्त्वदीर्घत्वाद्यसिद्धिः स्यात्। प्रदेशभेदाभ्युपगमे परमाणवोऽपि सांशाः स्वकीयैरंशै। ते च स्वकीयैरंशैरित्यनवस्था।

असद् युक्तिमूलक, परस्पर विरुद्ध मतवाले, प्रधान कारणावाद की असंगति बतला दी गई। अब "महद्दीर्घवद् "इत्यादि सूत्र से परमाणु कारणवाद की असंगति का प्रतिपादन करते हैं। सूत्र में वा शब्द च के अर्थ में प्रयुक्त है। इसका तात्पर्य है कि–यहाँ भी असामंजस्य है ह्रस्व और परिमंडल अर्थात् द्वयणुक और परमाणु से महद्दीर्घवत् अर्थात् त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है इत्यादि मत के साथ ही कणाद के अन्य मत भी असामंजस्यपूर्ण हैं। अर्थात् परमाणुओं से द्वयणुकादि क्रम से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन जैसे असंगत है, वैसे ही अन्य विषय भी असंगत हैं। जैसे कि वस्त्र के अवयव तंतु अपने छः पार्श्वों से परस्पर संयुक्त होकर, अवयवी (वस्त्र) का उत्पादन करते हैं, परमाणु भी अपने छः पार्श्वों से संयुक्त होकर ही द्वयणुक आदि के उत्पादक होंगे, अन्यथा अंशरहित परमाणु हजारों हजारों परमाणुओं से संयुक्त होने पर भी, बड़े परिमाण के हो ही नहीं सकते, इसके फलस्वरूप, अणुत्व, ह्रस्वत्व, दीर्घत्व, महत्त्व आदि की व्यवस्था भी नहीं बन सकती। परमाणुओं के अंशभेद स्वीकारने से, वे परमाणु अपने अपने अंशों से सावयव होंगे, इस प्रकार अनवस्था होगी।

न च वाच्यम्-अवयवाल्पत्वमहत्त्वाभ्यां हि सर्वपमहीधरयोः वैषम्यासिद्धेः। अवयवापकर्षकाष्टावश्याभ्युपगमनीया इति। परमाणुनां प्रदेश भेदाभावे सत्येकपरमाणुपरिमाणातिरेकी प्रथिमा न जायेतेति, सर्षपमहीधरयोरेवासिद्धेः। किं कुर्मः? इति चेत्, वैदिकः पक्षः परिगृह्यताम्।

यह नहीं कह सकते कि–अवयवों की अल्पता और दीर्घता द्वारा ही सरसों और पर्वत रूप विषमता होती है। परमाणुओं के अनंत अवयवों को मानने पर, अवयवों के अनंतत्व साम्य होने से सरसों और पर्वत के मध्य में, कभी विभिन्न परिमाण, प्रमाणसिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए अवयव की चरम सूक्ष्मता, अवश्य स्वीकारनी पड़ेगी। परमाणु के अवयव भेद को न स्वीकारने से, एक परमाणु का जो परिमाण है, उसके द्वारा, उससे अधिक परिमाण स्थूलता, कभी हो नहीं सकती, इसलिए सरसों और पर्वत का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कहो कि–फिर क्या करें? वैदिक पक्ष स्वीकारो।

यत्तु परैः ब्रह्मकारणवाददूषणपरिहारपरमिदं सूत्रंव्याख्यातम्, तदसंगतम्। पुनरुक्तं च, ब्रह्मकारणवादे परोक्तान्दोषान् पूर्वस्मिन पादे परिहृत्य परपक्षप्रतिक्षेपो हि अस्मिन् पादे क्रियते। चेतनाद् ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिसंभवश्च "न विलक्षणत्वात् "इत्यत्रैव प्रपंचितः। अतो ह्रस्वपरिमंडलाभ्यां महद् दीर्घाणु ह्रस्वोत्पत्तिवदन्यच् च तदभ्युपगतं सर्वमसमंजसम् इत्येव सूत्रार्थः।

जो लोग, ब्रह्म कारणवाद दूषण परिहार परक इस सूत्र की व्याख्या करते हैं, वह असंगत और पुनरूक्ति मात्र है। पूर्वपाद में ही, ब्रह्मकारणवाद पर किये गए, परपक्ष के प्रहारों का परिहार करके इस द्वितीयपाद में परपक्ष का प्रत्याख्यान करते हैं। चेतन ब्रह्म से ही, जगत् की उत्पत्ति संभव हो सकती है, ऐसा "न विलक्षणत्वात्" सूत्र में विस्तृत रूप से बतला दिया गया है। ह्रस्व और परिमंडल से जैसे-महत्-दीर्घ अणु और ह्रस्व परिमाण युक्त पदार्थों की उत्पत्ति जैसे असंगत है, वैसे ही कणाद के अन्य मत भी असंगत हैं, यही सूत्र का तात्पर्य है।

किमन्यदसमंजसमित्याह–और असंगति क्या हैं? इसका उत्तर देते हैं।

उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभावः।२।२।११॥

परमाणुकारणवादे हि परमाणुगतकर्मजनित तत्संयोगपूर्वक-द्वयणुकादिक्रमेण जगदुत्पत्तिरिष्यते, तत्रनिखिलजगदुत्पत्तिकारणभूत

परमाणुगतमाद्यं कर्मादृष्टकारितमित्यभ्युपगम्यते "अग्नेरूर्ध्वंज्वलनं वायोस्तिर्यंग्गमनं अण्मनसोश्चाद्यं कर्मेत्यदृष्टकारितानि "इति ।

जो परमाणु को जगत का उपादान मानते हैं, उनका अभिप्राय यह है कि–परमाणु से सर्वप्रथम क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रिया से परमाणुओं का परस्पर संयोग होता है, जिससे द्वयणुक आदि क्रम से जगत् की उत्पत्ति होती है। उसमें विशेषता यह है कि– समस्त जगत् की उत्पत्ति की कारणभूत जो परमाणुओं की आदिम क्रिया है, वह अदृष्ट परिचालित है। "अग्नि की ऊपर उठती हुई ज्वाला, वायु की तिरछी चाल, परमाणु और मन की आदिम क्रिया आदि, अदृष्ट परिचालित हैं, "इत्यादि।

तदिदं परमाणुगतंकर्म स्वगतादृष्टकारितम्, आत्मगतादृष्ट कारितं वा? उभयथाऽपि न संभवति, क्षेत्रज्ञपुण्यपापानुष्ठानजनित- स्यादृष्टस्य परमाणुगतत्वासंभवात्, संभवे च सदोत्पादकत्व प्रसंगः। आत्मगतस्य चादृष्टस्य परमाणुगतकर्मोत्पत्तिहेतुत्वंन संभवति।

प्रश्न यह है कि–परमाणु की जो आद्यक्रिया है, वह परमाणुगत अदृष्ट द्वारा संपादित है अथवा,-आत्मगत अदृष्ट द्वारा संपादित है? दोनों प्रकार से नहीं हो सकती, क्योंकि–जीवकृतशुभ अशुभ कर्म जनित अदृष्ट की कभी परमाणु में अवस्थिति नहीं हो सकती यदि संभव भी हो तो सदा क्रियोत्पत्ति होती रहेंगी, कभी विराम न होगा। आत्मगत अदृष्ट, कभी परमाणुओं में, कर्मोत्पादन कर नहीं सकता।

अथादृष्टवदात्मसंयोगादणुषु कर्मोत्पत्तिः। तदातस्य अदृष्टप्रवाहस्य नित्यत्वेन नित्यसर्गं प्रसंगः। नन्वदृष्टं विपाकापेक्षं फलायालम्। कानिचिददृष्टानि तदानीमेव विपच्यन्ते, कानिचि- ज्जन्मान्तरे कानिचित्कल्पान्तरे। अतो विपाकापेक्षत्वान्न सर्वदो- त्पादकत्वप्रसंगः इति, नैतत्, अनंतरैरात्मभिः संकेतपूर्वकमयुगपद- नुष्ठतानेकविधकर्मजनितानामदृष्टानामेकस्मिन् काले एकरूप- विपाकस्याप्रामाणिकत्वात्। अतएव युगपत् सर्वसंहारो द्विपरार्धं

कालं अविपाकेनावस्थानं च न संगच्छते । न चेश्वरेच्छाहितविशेषा-दृष्टसंयोगादणुकर्म; आनुमानिकेश्वरासिद्धेः "शास्त्रयोनित्वात्" इत्यत्रोपपादित्वात् । अतो जगदुत्पत्तेरणुगतकर्मपूर्वकत्वाभावः ।

यदि कहो कि–अदृष्ट विशिष्ट आत्मा के साथ संयोग होने से परमाणुगत क्रिया उत्पन्न होती है, ऐसा होने से तो, जीव के अदृष्ट प्रवाह (पापपुण्य धारा) की नित्यता सिद्ध होती है साथ ही सृष्टि की नित्यता भी। परिपक्वावस्था को प्राप्त अदृष्ट ही, फल प्रदान करता है। कोई कोई अदृष्ट (जिनका फल भोग इसी जन्म में संभव है) तत्क्षण ही परिपक्व हो जाते हैं, कोई अदृष्ट जन्मान्तर में और कोई कल्पान्तर में परिपक्व होते हैं। इसलिए अदृष्ट जीव ही जब, विपाक सापेक्ष है तब उससे, सदा उत्पादन की ही आशा रखना व्यर्थ है। नहीं आत्मायें अनन्त हैं, उनके द्वारा विभिन्न काल में अनुष्ठित क्रियायें, उन सबका कर्मजन्य अदृष्ट, एक ही समय, एकसा परिपक्व होगा, इसका तो कोई ठिकाना हैं नहीं। इसलिए एक साथ सब वस्तुओं का संहार, द्विपरार्धकाल, और विपाक रहित अदृष्ट की स्थिति संभव नहीं है। ईश्वर की इच्छानुरूप, अदृष्ट में कोई विशेष गुण हो जावे या उस अदृष्ट के संयोग से परमाणु में प्रथम स्पंदन हो जावे। ऐसा भी नहीं कह सकते, "शास्त्रयोनित्वात्" सूत्र में आनुमानिक ईश्वर को असिद्ध कर चुके हैं। इसलिए जगत की उत्पत्ति में अणुगत कर्म पूर्वकता नहीं हो सकती।

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः २।२।१२॥

समवायाभ्युपगमाच्चासमंजसम्, कुतः? साम्यादनवस्थितेः समवायस्याप्यवयविजातिगुणवदुपपादकान्तरस्यापि तथेत्यनवस्थितेरसमंजसमेव। एतदुक्तं भवति-अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानामिह प्रत्ययहेतुर्यः संबंधः, स समवाय इति समवायोऽभ्युपगम्यते। अपृथक्स्थित्युपलब्धीनां जात्यादीनां तथा भावस्य निर्वाहकत्वेन चेत्समवायोऽभ्युपगम्यते, समवायस्यापि तत्साम्यात्तथाभाव-

हेतुरन्वेषणीयः तस्याऽपितथेत्यनवस्थितिः । समवायस्य तदप्रथक्-सिद्धत्वं स्वभाव इति परिकल्प्यते चेत्--जातिगुणनामे वैष स्वभावः परिकल्प्यनीयः, न पुनरदृष्टचरं समवायमभ्युपगम्य तस्यैव स्वभाव इति कल्पयितुं युक्तम् इति ।

समवाय संबंध मानने से भी, यह मत असंगत है । ऐसा मानने से साम्य होता है, जिससे कि अव्यवस्था हो सकती है । अवयवी की जाति और गुण के उपपादन के लिए, जैसे समवाय संबंध मानते हो, वैसे ही समवाय की सिद्धि के लिए भी किसी अन्य हेतु का अन्वेषण करना पड़ेगा, फिर उस कल्पित हेतु के हेतु की कल्पना करनी पड़ेगी, इस प्रकार कल्पना की समाप्ति न होने से असामंजस्य होगा । कथन यह है कि--जिसकी कोई पृथक् स्थिति नहीं आधार आधेयभाव से ही जिसकी स्थिति होती है, उसकी आश्रयता बतलाने वाला संबंध ही समवाय है, ऐसी एक समवाय संबंध की कल्पना की गई । जिनकी पृथक् रूप से स्थिति और उपलब्धि नहीं होती, जाति गुण आदि की जिनसे अपृथक् स्थिति और उपलब्धि है, केवल इतना बतलाने के लिए ही यदि समवाय संबंध की कल्पना करते हैं तो, समवाय भी तो उसी प्रकार का एक द्रव्य होगा, जिसकी पृथक् स्थिति और उपलब्धि नहीं हो सकती, उसकी अपृथकुता के लिए एक कारण की कल्पना करनी आवश्यक हो जायगी, उस कल्पित हेतु के हेतु की भी कल्पना करनी होगी, इस प्रकार अनवस्था होगी । यदि कहें कि--उससे अपृक् सिद्धता ही समवाय का स्वभाव है तो, जाति गुण आदि का भी ऐसे ही स्वभाव मानने में क्या हानि है । परंतु कल्पनातीति, समवाय की कल्पना करके, उसके ऐसे स्वभाव की कल्पना करना युक्तियुक्त नहीं है ।

समवायस्यनित्यत्वे अनित्यत्वे चायं दोषः समानः नित्यत्वेदोषान्तरं चाह—समवाय की नित्यता अनित्यता दोनों ही स्थिति में उक्त दोष समान रूप से होगा । नित्यता की स्थिति के दोषों को बतलाते हैं ।

नित्यमेव च भावात् ।२।२।१३॥

समवायस्य संबंधत्वात् संबंधस्य नित्यत्वे संबंधिनोजगतश्च नित्यमेव भावादसमंजसम् ।

समवाय एक संबंध विशेष है, उस संबंध की नित्यता स्वीकारने से, उससे संबंधी जगत की भी नित्यता हो जावेगी, जो कि असंगत बात है।

रूपत्वादिमत्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ।२।२।१४॥

परमाणुनां पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानां चतुर्विधानां रूपरस गंधस्पर्शवत्त्वाभ्युपगमादभिमतनित्यत्वसूक्ष्मत्वनिरवयवत्वादिविपर्ययेण अनित्यत्वस्थूलत्व सावयवत्वादि प्रसज्यते, रूपादिमतां घटादीनां अनित्यत्व तथाविधकारणान्तरारब्धत्वादिदर्शनात् । नहि दर्शनाऽनुगुण्येनादृष्टोऽर्थः कल्प्यमानः स्वाभिमतविशेषेव्यवस्थापयितुं शक्यः। दर्शनानुगुण्येन हि परमाणुनां रूपत्वादिमत्त्वं त्वया कल्प्यते। अतोप्यसमंजसम् ।

पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय इन चार प्रकार के परमाणुओं को रूप-रस-गंध और स्पर्श विशिष्ट स्वीकारने पर भी तुम्हारी अभिमत नित्यता और निराकारता के विपरीत, अनित्यता स्थूलता और साकारता संभावित हो जाती है। रूपादि विशिष्ट घट आदि को अनित्य और स्वानुरूप कारणों से उत्पन्न होते देखा जाता है। लोक प्रतीति के अनुसार प्रत्यक्ष पदार्थ की कल्पना करते हुए, अपने अभिप्रेत विशेषार्थ का प्रति-पादन नहीं कर सकते। इसलिए तुम्हारा मत असंगत है।

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया परमाणुनां रूपादिमत्त्वंनाभ्युपगभ्यते तत्राह–

यदि उक्त दोष के परिहार के लिए परमाणुओं के रूपादि को नहीं स्वीकारते तो उस पर कथन है।

उभयधा च दोषात् २।२।१५॥

न केवलं परमाणुनां रूपादिमत्वाभ्युपगम एव दोषः, रूपादि विरहेऽपि कारणगुणपूर्वकत्वात् कार्यगुणानां पृथिव्यादयो रूपादिशून्याः

स्युः तत्परिजिहीर्षया रूपादिमत्वाभ्युपगमे पूर्वोक्त दोष इत्युभयथा च दोषात् असमंजसम् ।

केवल परमाणुओं को रूपादिमान मानने से ही दोष उपस्थित होता हो, सो बात नहीं है, अपितु रूपादि के बिना भी, कारण का गुण कार्य में आ जाता है, इस नियम के अनुसार, परमाणुजन्य पृथ्वी आदि कार्य रूप आदि से शून्य हो जावेंगे। इस दोष के परिहार के लिए यदि, परमाणुओं का रूपादि संबंध स्वीकारते हो तो वही अनित्यता आदि दोष उपस्थित होते हैं। इस प्रकार दोनों ही स्थितियों में दोष होने से, असामंजस्य निश्चित है।

अपरिग्रहाच्चात्यंतमनपेक्षा ।२।२।१६॥

कापिल पक्षस्य श्रुतिन्यायविरोध परित्यक्तस्यापि सत्यकार्यवादादिना क्वचिदंशे वैदिकैः परिग्रहोऽस्ति, अस्यतु काणादपक्षस्य केनाप्यंशेनापरिग्रहात् अनुपपन्नत्वाच्चात्यन्तमनपेक्षैव निःश्रेयसार्थिभिः कार्या ।

श्रुति और युक्ति विरुद्ध होने से कपिल का मत परित्यक्त है पर उनके सत्कार्यवाद आदि किन्ही अंशो को वैदिकों ने स्वीकारा है। इस कणादमत का कोई भी अंश, वैदिकों द्वारा नहीं स्वीकारा गया, तथा यह युक्ति विरुद्ध भी है। इसलिए मुमुक्षुओं को इसकी एकदम उपेक्षा करनी चाहिए।

३ समुदायाधिकरणः—

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ।२।२।१७॥

परमाणुकारणवादिनो बैशेषिका निरस्ताः। सौगताश्च जगतः परमाणुकारणत्वमभ्युपगच्छनीत्यनंतरं तन्मतेऽपि जगदुत्पत्तितद् व्यवहारादिकं नोपपद्यत इत्युच्यते ते चतुर्विधा; केचित्पार्थिवाप्यतैजसवायवीय परमाणुसंघातरूपान् भूत भौतिकान् वाह्यांश्चित्त चैत्तरूपांश्चाभ्यंतरानर्थान् प्रत्यक्षानुमानसिद्धानभ्युपयंति। अन्ये तु

वाह्यार्थान् सर्वान् पृथिव्यादीन् विज्ञानानुमेयान् वदंति । अपरे त्वर्थशून्यं विज्ञानमेव परमार्थसत् वाह्यार्थास्तु स्वाप्नार्थकल्पा इत्याहुः त्रयोऽप्येते स्वाभ्युपगतं वस्तु क्षणिकमाचक्षते, उक्तभूतभौतिकचित्त-चैतव्यतिरिक्तमाकाशादिकं स्वरूपेणैवनानुमन्वते अन्ये तु सर्वं-शून्यत्वमेव संगिरते । तत्र ये वाह्यार्थास्तित्ववादिनः, ते तावन्निरस्यंते, ते चैवं मन्यन्ते रूपरसस्पर्शगंधस्वभावाः पार्थिवाः परमाणवः, रूपरस स्पर्शस्वभावाश्चाप्याः, रूपस्पर्शस्वभावाश्चतैजसाः, स्पर्शस्वभावाश्च वायवीयाः, पृथिव्यपतेजोवायुरूपेण संहन्यन्ते, तेभ्यश्च पृथिव्यादिभ्य शरीरेन्द्रियविषयरूपसंघाता भवंति, तत्र च शरीरान्तर्वर्त्ती ग्राहकाभिमानारूठो विज्ञानसंतान एवात्मत्वे-नावतिष्ठन्ते, तत एव सर्वो लौकिकोव्यवहारः प्रवर्त्तते इति ।

परमाणु कारणवादियों का वैशेषिक मत निरस्त हो चुका। अब, सौगत (बौद्ध) भी परमाणुकारणवाद को जगत् की सृष्टि के लिए स्वीकारते हैं, उनके मतानुसार भी, जगत की उत्पत्ति आदि का व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता, इत्यादि का प्रतिपादन करते हैं। वे बौद्ध चार संप्रदायों में विभक्त हैं, उनमें से एक-पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय परमाणुओं की समष्टि को भूत (पृथ्वी आदि) और भौतिक (घट-पट-आदि) तथा चित्त और चैतसिक (चित्तगतसुखदुःखादि) रूप से वाह्य और आभ्यंतर पदार्थ मानते हैं, ये लोग प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर ऐसा मानते हैं। दूसरे-पृथ्वी आदि समस्त वाह्य पदार्थों को बुद्धि अनुमेय बतलाते हैं, प्रत्यक्षसिद्ध नहीं मानते। तीसरे-विज्ञान (बुद्धि वृत्ति) को ही एकमात्र सत्य मानते हैं, वाह्य पदार्थों को स्वप्न की तरह काल्पनिक मानते हैं। ये तीनों ही अपने स्वीकृत पदार्थों को क्षणिक मानते हैं। इन भूत भौतिक-चित्त चैतसिक पदार्थों के अतिरिक्त, आत्मा और आकाश आदि का स्वरूपतः अस्तित्व नहीं मानते। चौथे-सब कुछ शून्य ही बतलाते हैं [अर्थात् शून्य ही एकमात्र सत्य, और सब कुछ मिथ्या है] इनमें वाह्यार्था-स्तित्ववादी कहते हैं कि—रूप-रस-स्पर्श और गंध, ये चार गुण, पार्थिव परमाणुओं के; रूप-रस और स्पर्श ये तीन गुण, जलीय परमाणुओं के;

रूप और स्पर्श ये दो गुण, तैजस परमाणुओं के; स्पर्शमात्र वायवीय परमाणुओं के; स्वाभाविक गुण हैं। ये चारों पृथ्वी आदि चार स्थूल आकारों में एकत्र होते हैं तब इनके सम्मिलन से, शरीर, इन्द्रिय, और इन्द्रियों के विषय रूप संघात होते हैं। शरीर का अन्तर्वर्त्ती जो, ज्ञातृत्वाभिमानी, विज्ञान संतान (बुद्धि का वृत्ति प्रवाह) है, वही आत्मा है उसी से सारे लौकिक व्यवहार संपादित होते हैं।

तत्राभिधीयते-समुदाय उभयहेतुकेऽपि, तदप्राप्तिः, योऽयं अणुहेतु पृथिव्यादिभूतात्मकः समुदायः, यश्च पृथिव्यादि हेतुकः शरीरेन्द्रिय विषयरूपः समुदायः, तस्मिन् उभय हेतुकेऽपि समुदाये, तत्प्राप्तिर्नोप -पद्यते-जगदात्मकसमुदोयात्पत्तिर्नोपपद्यत इत्यर्थः। परमाणूनां पृथिव्यादि भूतानां च क्षणिकत्वाभ्युपगमात्, क्षणध्वंसिनः परमाणवो भूतानि च कदा संहतौ व्याप्रियन्ते, कदावा संहन्यंते, कदा विज्ञान विषयभूताः, कदा च हानोपादानादिव्यवहारास्पदतां भजंते, को वा विज्ञानात्मा, कं च विषयं स्पृशति, कश्चविज्ञानात्मा, कमर्थं कदा वेदयते, कं वा विदितमर्थं, कश्च कदोपादत्ते, स्प्रष्टा हिनष्टः, स्पृष्टश्चनष्टः, तथा वेदिता विदितश्चनष्टः, कथं चान्येन स्पृष्टमन्यो वेदयते, कथंचान्येन विदितमर्थमन्य उपादत्ते? संतानानामेकत्वेऽपि, संतानिभ्यस्तेषां वस्तुतो वस्त्वन्तरत्वानभ्युपगमान्नतन्निबंधनं व्यवहारादिकमुपपद्यते, अहमर्थ एवात्मा, स च ज्ञातैवेति, चोपपादितं पुरस्तात्।

इस पर कथन यह है कि—दोनों प्रकार के कारणों के मानने पर भी, संघात संभव नहीं है। अर्थात् परमाणुओं से उत्पन्न पृथ्वी आदि का भूतात्मक समुदाय, तथा पृथ्वी आदि भूतों से उत्पन्न, भौतिक शरीर-इंद्रिय और विषयों का समुदाय, इन दोनों को मानने पर भी, जगदाकार समुदायोत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि—परमाणु और पृथ्वी आदि भूतों को जब क्षणिक मानते हो तो उन क्षणिक विनाशशील परमाणुओं और भूतों का संगठन कब होगा? और वे बुद्धिगम्य किस क्षण में होंगे? उनका

हेय और उपादेय रूप से व्यवहार कब होगा? विज्ञानात्मा किसे कहोगे और विषय को ग्रहण करने वाला किसे कहोगे? विज्ञानात्मा किस विषय को कब ग्रहण करेगा? उस ज्ञात विषय का कौन, कब अनुभव करेगा? जब स्पर्श करने वाला, स्पर्श होने वाला, तथा ज्ञाता और ज्ञेय आदि सभी क्षणभंगुर नष्ट हैं, तब कब, कौन, किस वस्तु का, स्पर्शजन्य अनुभव कर सकेगा? तथा ज्ञात विषय का, किसी दूसरे से कैसे उल्लेख कर सकेगा? परंपरित संघात को जब पृथक् वस्तु नहीं मानते अपितु एक मानते हो तो, लोकव्यवहार सध नहीं सकता, क्योंकि-"अहं" पदार्थ ही तो आत्मा है, उसे ही पहिले ज्ञाता रूप में बतला चुके हो।

इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न संघातभावानिमित्तत्वात्

।२।२।१८।।

अविद्यादीनामितरेतरहेतुत्वेनोपपन्नं संघातभावादिकमिति चेत्, एतदुक्तं भवति-यद्यपिक्षणिकाः सर्वे भावाः, तथाऽप्यविद्ययैतत्सर्वमुपपद्यते, अविद्या हि नाम विपरीत बुद्धिः क्षणिकादिषु स्थिरत्वादिगोचराः तया संस्काराख्याः रागद्वेषादयोजायंते, ततश्चित्ताभिज्वलनरूपं विज्ञानं ततश्च नामाख्याश्चित्तचैताः पृथिव्यादिकं च रूपिद्रव्यम् ततः षडायतनाख्यमिन्द्रियषट्कम् ततः स्पर्शाख्यः कायः, ततोवेदनादयः, ततश्चपुनरप्यविद्यादयो यथोक्ता, इत्यनादिरियमविद्यादिकाऽन्योन्यमूला चक्र परिवृत्तिः, एतच्च सर्वं पृथिव्यादिभूतभौतिकसंघातमंतरेण नोपपद्यते। अतः संघातभावादिकमुपपन्नम् इति।

यदि कहो कि-अविद्या आदि पदार्थों में, परस्पर हेतुता है, जिससे कि-संघात सद्भावादि उपपन्न हो जाते हैं। यद्यपि सारे भावक्षणिक हैं, तथापि अविद्या द्वारा ये सब उपपन्न होते हैं। क्षणिकता आदि में स्थिरता आदि विपरीत बुद्धि का होना ही अविद्या है, उस अविद्या से ही राग द्वेष आदि संस्कार उत्पन्न होते हैं, उससे चित्त का स्फुरण रूप विज्ञान पैदा होता है, उस विज्ञान से, संज्ञात्मक चित्त और चैत्तधर्मसमुदाय तथा रूप युक्त पृथिवी आदि समुदाय होते हैं, उससे छः इन्द्रियाँ, स्पर्शनामक देह, उससे वेदना या अनुभूति का जन्म होता है, फिर उसी प्रकार अविद्या

आदि का क्रम चलता है। इस प्रकार अनादिकाल से परस्परमूलक अविद्यादि चक्र घूम रहा है। पृथ्वी आदि भूत भौतिकमय संघात के प्रभाव में यह चक्र बंद हो जाता है। इसलिए संघात सद्भाव ठीक है।

तत्रोत्तरं–न संघातभावानिमित्तत्वात्–इति। नैतदुपपद्यते एषामविद्यादीनां पृथिव्यादिभूतभौतिक संघातभावं प्रत्यनिमित्तत्वात् न खल्वस्थिरादिषु, स्थिरत्वादिवुद्धयात्मिकाऽविद्या तन्निमित्तारागद्वेषादयो वाऽर्थान्तरस्य क्षणिकस्य संहति हेतुतां प्रतिपद्यंते, शुक्तिकारजतादिवुद्धिर्हि न शुक्त्याद्यर्थं संहतिहुतुर्भवति। किं च यस्य क्षणिके स्थिरत्ववुद्धिः सतदैव नष्ट इति कस्य रागादयः उत्पद्यंन्ते। संस्काराश्रयं स्थिरमेकं द्रव्यमनभ्युपगच्छतां संस्कारानुवृत्तिरपि न शक्या कल्पयितुम्।

उसका उत्तर देते हैं–संघात सद्भाव आदि उपपन्न नहीं हो सकते, क्योंकि संघात भाव की निमित्त, अविद्या नहीं है। जैसे कि–पृथ्वी आदि भूत भौतिक समुदाय में, अविद्या, निमित्त नहीं है, वैसे ही चक्र भ्रम का सिद्धान्त भी असंगत है। स्थिरता रहित पदार्थों में, स्थिरता बुद्धिवाली अविद्या और उससे उत्पन्न होने वाले रागद्वेष, कभी अन्य क्षणिक पदार्थों के साथ, संघात भाव से समुत्पादन के कारण नहीं हो सकते। सीप में जो चाँदी की प्रतीति होती है, वह कभी सींप आदि पदार्थों के संघात की हेतु नहीं हो सकती। एक बात और भी है कि—क्षणिक पदार्थों में, जिसकी स्थिरत्व बुद्धि होती है वह क्षणिक होने से उसी समय नष्ट हो जाती है, फिर राग आदि होंगे किस आधार पर? जो स्थिरतर किसी एक द्रव्य को, ज्ञान संस्कार का आश्रय नहीं मानते, उनके मतानुसार, ज्ञान संस्कार की जो उत्तरोत्तर अनुवृत्ति है, उसकी कल्पना होगी कैसे?

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्। २।२।१६॥

इतश्च क्षणिकत्वपक्षे जगदुत्पत्तिर्नोपपद्यते, उत्तरक्षणोत्पत्ति वेलायां, पूर्वक्षणस्य विनष्टत्वात्, तस्योत्तरक्षणं प्रति हेतुत्वानुपपत्तेः, अभावस्य हेतुत्वे सर्वं सर्वत्र सर्वदोत्पद्येत् अथ पूर्वक्षणवर्त्तित्वमेव

हेतुत्वमित्युच्यते, एवं तर्हि कंचिदेव घटक्षणः तदुत्तरकालभाविनां सर्वेषामेव गोमहिषाश्वकुड्यपाषाणादीनां त्रैलोक्यवर्त्तिनां हेतुः स्यात्। अथैक जातीयस्यैव पूर्वक्षणवर्त्तिनो हेतुत्वमिष्यते, तथापि सर्वदेशवर्त्तिनामुत्तरक्षणभाविनां घटानामेक एव पूर्वक्षणवर्त्तिघटो हेतुः स्यात्, अथैकस्यैव हेतुरेक इति मनुषे, तथापि, कस्यैकस्य को हेतुः ? इति न ज्ञायते। अथ यस्मिन् देशे यो घटक्षणः स्थितः, तद्देशसंबंधिन एवोत्तरक्षणस्य स हेतुरिति; किं देशस्य स्थिरत्वं मनुषे ? किंच चक्षुरादिसंप्रयुक्तस्यार्थस्य ज्ञानोत्पत्तिकालेऽनवस्थितत्वान्न कस्यचिदर्थस्य ज्ञानवियत्वं संभवति।

इस लिए भी क्षणिक वादियों के मत से जगदुत्पत्ति संभव नहीं है- कि—कार्य क्षण की उत्पत्ति के समय ही, कारण क्षण तत्काल नष्ट हो जाता है, इसलिए वह, परवर्त्ती कार्यक्षण का, कारण तो कहलायेगा नहीं। यदि पूर्वक्षण के ध्वंस को ही कारण मानें तो, सभी स्थानों में, सभी क्षणों में, सभी कार्यों की उत्पत्ति होती रहेगी। यदि कहो कि— पूर्वक्षण की जब स्थिति रहती है, उसे ही हेतु मानते हैं, तो उत्तर काल में होने वाले गाय, भैंस, घोड़ा, भींत-पत्थर आदि सभी जागतिक पदार्थों का वह हेतु होगा (किसी विशेष का कारण कैसे स्थिर करोगे ?) यदि कहो कि हम एक जातीय पूर्वक्षण को ही कारण मानते हैं, तो पूर्वक्षण-वर्त्ती एक ही घट, उत्तर क्षणवर्त्ती, सर्व देशीय सभी घटों का कारण माना जावेगा। यदि एक क्षण को, एक कार्य का ही, कारण मानो, तो कौन सा क्षण किस कार्य का कारण है ? इसका निर्णय कैसे करोगे ? यदि कहो कि—जिस स्थान में जो घटक्षण है, वह उसी स्थान में स्थित उत्तर घटक्षणों का कारण होगा। तो क्या आप उस स्थान को स्थिरतर मानते हैं। और भी एक बात है नेत्र के साथ जो पदार्थ का संबंध होता है, ज्ञानोत्पत्ति काल में यदि वह पदार्थ विद्यमान न रहेगा, तो कोई भी पदार्थ, ज्ञान का विषय होगा कैसे ?

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा। २।२।२०॥

असत्यपिहेतौ कार्यमुत्पद्यते चेत्, सर्वं सर्वत्रसर्वदोत्पद्येतेत्युक्तम्,

न केवलमुत्पत्ति विरोध एव, प्रतिज्ञा च भवतामुपरुध्येत, अधिपति-सहकार्यालम्बनसमनन्तर प्रत्ययाश्चत्वारो विज्ञानोत्पत्तौ हे तवः इति वः प्रतिज्ञाः, अधिपतिः इन्द्रियम्। अथ प्रतिज्ञानुपरोधाय घट क्षणे स्थित एव घटक्षणान्तरोत्पत्तिरिष्यते तथा च सति द्वयोः कार्यकारणयोर्यौगपद्ये नोपलब्धिः प्रसज्येत, न च तथोपलभ्यते, क्षणिकत्व प्रतिज्ञा चैवं हीयेत। क्षणिकत्वं स्थितमेवेति चेत्—इंद्रियसंप्रयोगज्ञानयोर्यौगिपद्यं प्रसज्येत्।

हेतु के अभाव में भी यदि कार्य की उत्पत्ति मानो तो, हर समय, हर स्थान में, हर कार्य की उत्पित्त होती रहेगी। इतना ही नहीं, तुम्हारी प्रतिज्ञा में भी व्याघात होगा, तुम्हारी प्रतिज्ञा है कि—अधिपति, सहकारी अवलंबन और समनंतर प्रत्यय, इन चार कारणों से विज्ञान की उत्पत्ति होती है। अधिपति का अर्थ इन्द्रिय है। उक्त दोष के परिहार के लिए, यदि एक ही घटक्षण के समकाल में, अपर घट की उत्पत्ति मानों तो, कार्य और कारण दोनों घटक्षणों की, एक साथ उपलब्धि होती, दो क्षणों की, एक साथ स्थिति कहीं भी देखी नहीं जाती, इसलिए तुम्हारा क्षणिकवाद हीन सिद्ध होता है। यदि कहो कि क्षणिकत्व का सिद्धान्त ही स्थिर है, तब तो विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग और तद्विषक ज्ञान, एक साथ होंगे [जो कि तुम्हें स्वीकार नहीं है]

प्रतिसंख्या प्रतिसंख्या निरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ।२।२।२१॥

एवं तावदसत् उत्पत्ति निरस्ताः, सतो निरन्वयविनाशोऽपि नोपपद्यत इत्युच्यते, क्षणिकत्ववादिभिर्मुद्गराभिघाताद्यनंतरभावित-योपलब्धियोग्यः सदृशसंतानावसानरूपः स्थूलो यः, सदृशसंताने प्रतिक्षणभावी चोपलब्ध्यनर्हः सूक्ष्मश्च यो निरन्वयो विनाशः प्रति-संख्यानिरोधाप्रतिसंख्यानिरोधशब्दाभ्यामभिधीमते, तौन संभवत इत्यर्थः। कुतः ? अविच्छेदात्—सतो निरन्वयविच्छेदासंभवात्। असंभवश्चसत् उत्पत्तिविनाशौ नामावस्थान्तरापत्तिरेव, अवस्था योगि

तु द्रव्यमेकमेव स्थिरमिति कारणादन्यत्वं कार्यस्योपपादयद्भिरस्माभिः 'तदनन्यत्वम्' इत्यत्र प्रतिपादितम्। निर्वाणस्य दीपस्य निरन्वयविनाश-दर्शनादन्यत्रापि विनाशो निरन्वयोऽनुमीयत इति चेन्न, घटशरावादौ मृदादिद्रव्यानुवृत्त्युपलब्ध्या सतो द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिरेव विनाश इति निश्चिते सति, प्रदीपादौ सूक्ष्मदशापत्त्याऽप्यनुपलब्धोपपत्तेः। तत्राप्यवस्थान्तरापत्ति कल्पनस्यैव युक्तत्वात्।

असद् उत्पत्ति का निराकरण कर चुके अब सत् के निरन्वय और विनाश की अनुपपत्ति बतलावेंगे। क्षणिकतावादी मुद्गर प्रवाह के बाद के क्षण में उपलब्धि के योग्य समान प्रवाहों की स्थूल परम्परा के विनाश को प्रति संख्या निरोध, तथा उन प्रवाहों के मध्यवर्त्ती अतिसूक्ष्म उपलब्धि के अयोग्य प्रवाहों के विनाश को अप्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं। अर्थात् स्थूल विनाश का नाम प्रतिसंख्यानिरोध और सूक्ष्म विनाश का नाम अप्रति संख्या निरोध है। ये दोनों नहीं हो सकते क्योंकि--जिसका कारण के साथ किसी प्रकार का संयोग ही न होगा, उसके विनाश का प्रश्न ही नहीं उठता। सत्पदार्थ की उत्पत्ति और विनाश तो, अवस्थान्तर प्राप्ति मात्र है। "तदन्यत्वम्" इत्यादि सूत्र के प्रसंग इसका प्रतिपादन कर चुके हैं, अवस्थावान् द्रव्य स्थिरतर एक ही है, इसलिए कारण से कार्य, भिन्न वस्तु है। यदि कहें कि—दीप निर्वाण के बाद, दीप का निरन्वय (स्थूल) विनाश देखा जाता है, उसी के अनुसार अन्यत्र भी, निरन्वय विनाश का अनुमान किया जा सकता है। नहीं ऐसा नहीं कर सकते। घट प्याला-आदि सत्तावान पदार्थों में, उनकी कारण मिट्टी की अनुवृत्ति दिखलाई पड़ती है, जिससे निश्चित होता है कि—सत्पदार्थ की अवस्थान्तर प्राप्ति का नाम ही विनाश है। विनाश के बाद, प्रदीप आदि के रहते हुए भी, दीप ज्वाल का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसका एकमात्र कारण है कि—वह सूक्ष्म है। स्थूल तत्त्व की ही अवस्थांतर विनाश कल्पना की जा सकती है।

उभयथा च दोषात् ।२।२।२२॥

क्षणिकत्ववादिभिरभ्युपेता तुच्छादुत्पत्तिः उत्पन्नस्य तुच्छता-

पत्तिश्च न संभवतीत्युक्तम्, तदुभयप्रकाराभ्युपगतौ दोषश्च भवति। तुच्छादुत्पत्तौ तुच्छात्मकमेव कार्यं स्यात्, यद्धि यस्मादुत्पद्यते, तत्तदात्मकंदृष्टम्–यथा मृत्सुवर्णादेरुत्पन्नं मणिमकुटादि मृत्सुवर्णाद्यात्मकं दृष्टम्, न च जगत्तुच्छात्मकं भवद्भिरभ्युपगम्यते, न च प्रतीयते। सतो निरन्वयविनाशे सत्येकक्षणादूर्ध्वं कृत्स्नस्य जगतः तुच्छतापत्तिरेव स्यात् पश्चात्तुच्छाज्जगदुत्पत्तौ अनंतरोक्तं तुच्छात्मकत्वमेवस्यात्। अत उभयथाऽपि दोषान्न भवदुक्तप्रकारावुत्पत्तिनिरोधौ।

क्षणिक वादी कहते हैं कि–कार्य वस्तु तुच्छ कारण से उत्पन्न होती है और उत्पत्ति के बाद भी तुच्छ रूपता को ही प्राप्त होती है, उनकी यह बात भी संभव नहीं है, दोनों बातें दोषपूर्ण हैं। तुच्छ से उत्पन्न होनेवाला कार्य भी तुच्छात्मक ही होगा, जो जिससे उत्पन्न होता है वह वैसा ही देखा जाता है जैसे कि मिट्टी सुवर्ण आदि से निर्मित घट-मुकुट आदि मिट्टी सुवर्णात्मक ही दीखते हैं। आप स्वयं भी जगत को तुच्छात्मक नहीं स्वीकारते, और न ऐसी प्रतीति ही होती है। सत्पदार्थ का यदि निरन्वय विनाश ही ठीक है तो अवस्थिति के तत्काल बाद ही सारे जगत की तुच्छता हो जायगी, तुच्छ कारण से यदि जगत की उत्पत्ति हो तो भी वही तुच्छता होगी, इस प्रकार दोनों ही प्रकारों से दोष की संभावना होने से तुम्हारा उत्पत्ति विनाश का सिद्धान्त, असंगत ठहरता है।

आकाशे चाविशेषात्।२।२।२३॥

वाह्याभ्यंतरवस्तुनः स्थिरत्वप्रतिपादनाय प्रतिसंख्याप्रतिसंख्या निरोधयोस्तुच्छरूपता निराकृता, तत्प्रसंगेन ताभ्यांसह तुच्छत्वेन सौगतैः परिगणितस्याकाशस्यापि तुच्छता प्रतिक्षिप्यते। आकाशे च निरुपाख्यता न युक्ता, भावरूपत्वेनाभ्युपगतपृथिव्यादिवदाकाशस्यापि अबाधितप्रतीति सिद्धत्वाविशेषात्। प्रतीयते हि आकाशः "अत्रश्येनः पतति, अत्रगृध्रः" इतिश्येनादिपतनदेशत्वेन।

वाह्य और आभ्यंतर पदार्थों की स्थिरता बतलाने के लिए प्रतिसंख्या और अप्रतिसंख्या निरोध की तुच्छरूपता का निराकरण किया गया, बौद्ध इन दोनों के साथ आकाश को भी तुच्छ वतलाते हैं, प्रसंगत उसका भी निराकरण करते हैं। आकाश की तुच्छता युक्ति संगत नहीं है, जब पृथ्वी आदि का अस्तित्व स्वीकारते हो, उसी प्रकार आकाश की भी तो प्रतीति होती है, उसका अस्तित्व क्यों नहीं मानोगे ? "आकाश में बाज उड़ता है, गिद्ध उड़ता है" ऐसे बाज आदि के उड़ने के स्थान रूप से, आकाश की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है।

न च पृथिव्याद्यभावमात्र प्रकाश इति वक्तुं शक्यम्, विकल्पासहत्वात्। पृथिव्यादेः प्रागभावः, ध्वंसाभावः, इतरेतराभावः अत्यन्ताभावोवा आकाशः, सर्वथाऽप्याकाश प्रतीत्यनुपपत्तिः स्यात्। प्रागभावप्रध्वंसाभावयोराकाशत्वे पृथिव्यादिषु वर्त्तमानेषु आकाश प्रतीत्ययोगात् निराकाशं जगत्स्यात्। इतरेतराभावस्याकाशत्वेऽपि इतरेतराभावस्य तत्तद्वस्तुगतत्वेन तेषामंतराले आकाश प्रतीतिर्नस्यात्। अत्यंताभवस्तु पृथिव्यादीनां न संभवति। अभावस्य विद्यमानपदार्थावस्था विशेषत्वोपपादनाच्चाकाशस्याभावरूपत्वेऽपि न निरुपाख्यत्वम्। अंडान्तर्वर्त्तिनश्चाकाशस्य त्रिवृत्करणोपदेश प्रदर्शित पंचीकरणेन रूपवत्वात् चाक्षुषत्वेऽप्यविरोधः।

यह नहीं कह सकते कि-पृथ्वी आदि सत्तावान पदार्थों का अभाव ही आकाश है, ऐसा कहना विचार पूर्ण नहीं होगा। पृथ्वी आदि के प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यंताभाव में से किस प्रकार का अभाव आकाश को मानोगे। इनमें से किसी भी प्रकार को मान लो, आकाश की प्रतीति में तो कोई बाधा आने से रही। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव मानते हो तो पृथिवी आदि के रहते हुए, आकाश की प्रतीति कभी हो नहीं सकती, जगत को आकाश शून्य होना चाहिए। यदि इतरेतराभाव मानते हो तो, यह अभाव जब वस्तुनिष्ठ है, तब आकाश की प्रतीति हो नहीं सकती। पृथिवी आदि का अत्यंताभाव तो हो नहीं सकता, इसलिए आकाश, अत्यंताभाव रूप नहीं है। विद्यमान भाव पदार्थ की, अवस्था

विशेष को ही अभाव माना जाय तब भी आकाश अभाव स्वरूप होते हुए भी तुच्छ नहीं हो सकता। त्रिवृतकरण श्रुति में प्रदर्शित पंचीकरण पद्धति के अनुसार, ब्रह्माण्डान्तर्गत आकाश में, नीलिमा रूप की स्थिति प्रमाणित होती है, आकाश चाक्षुष विषय है, इसलिए भी उसका अस्तित्व मान्य है।

अनुस्मृतेश्च ।२।२।२४॥

पूर्वंप्रस्तुतं वस्तुनः स्थिरत्वमेवोपपाद्यते—अनुस्मरणं—पूर्वानुभूत-वस्तु विषयं ज्ञानम्—प्रत्यभिज्ञानमित्यर्थः। तदेवेदमिति सर्ववस्तुजातं अतीतकालानुभूतं प्रत्यभिज्ञायते। न च भवद्भिर्ज्वालादिष्विव सादृश्यनिबंधनोऽयमेकत्वव्यामोह इति वक्तुं शक्यम्। व्यामुह्यतो ज्ञातु-रेकस्यानभ्युपगमात्। तर्हि अन्यानुभूतेनैकत्वं सादृश्यं वा स्वानुभूत-स्यान्योऽनुसंधत्ते। अतोभिन्नकालवस्त्वाश्रयसादृश्यानुभवनिबंधनमेक-त्वव्यामोहं वदद्भिः ज्ञातुरेकत्वमवश्याश्रयणीयम्।

पहिले जो वस्तु की स्थिरता प्रतिपादन की गई, यहाँ उसका ही उपपादन किया जायेगा। अनुस्मृति का अर्थ है, पूर्वानुभूत वस्तु विषयक ज्ञान, अर्थात् प्रत्यभिज्ञा। पूर्वानुभूत समस्त वस्तु "यह वही वस्तु है" ऐसी प्रत्यभिज्ञा, ज्ञान का विषय होती है। आप यह नहीं कह सकते कि—अग्नि की ज्वालाओं में जैसे सदृशता होने से, एक ज्वाला का सा भ्रम होता है, वैसे ही यह प्रत्यभिज्ञा भी, सादृश्य भ्रम मूलक है। क्योंकि—आप किसी मोह ग्रस्त एक ही ज्ञाता व्यक्ति का अस्तित्व तो मानेंगे ही नहीं। दूसरा कोई व्यक्ति किसी अन्य के अनुभूत विषय के साथ, अपनी स्वानुभूति की एकता तो मानता नहीं है। इसलिए—जिसने, विभिन्न कालवर्त्ती वस्तुनिष्ठ सादृश्यानुभव मूलक एकत्व भ्रम निर्देश किया, दोनों कालों में अनुभव करने वाला कोई एक ही व्यक्ति हो सकता है, ऐसा तो मानना ही पड़ेगा।

न च ज्ञेयेष्वपि घटादिषु ज्वालादिष्विव भेदसाधन प्रमाणमुप-लभामहे, येन सादृश्य निबंधनां प्रत्यभिज्ञां कल्पयेम्। यदपि चेदमु-च्यते प्रत्यक्षानुमानाभ्यां घटादेः क्षणिकत्वं सिध्यति, प्रत्यक्षं तावत् वर्त्तमानार्थंविषयमवर्त्तमानाद्वस्तुनो व्यावृत्तं स्वविषयमवगमयति,

नीलं इव पीतात् एवं च भूतभविष्यद्भ्यां वर्त्तमानस्य वस्त्वंतरत्व-मवगतं भवति। अनुमानमपि अर्थं क्रियाकारित्वात् सत्वाच्च घटादिः क्षणिकः यदक्षणिकं शशविषाणादि, तदनर्थंक्रियाकार्यंसच्च। तथा अन्त्य घटक्षणसत्वात् पूर्वघटक्षणसत्त्वानि विनाशीनि, घटक्षणसत्वात् अंत्यघटक्षणसत्ववत् इति। तच्चकार्यंकारणभावानुपपत्यादिभिः पूर्व-मेव निरस्तम्।

अग्निशिखा आदि में जैसा भेद साधक प्रमाण मिलता है, ज्ञातव्य घट आदि में वैसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे कि--प्रत्यभिज्ञा को सादृश्य-मूलक भ्रम कहा जा सके। जो यह कहा कि--प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से ही घटादि की क्षणिकता सिद्ध होती है, क्योंकि वर्त्तमान विषय का ही ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। जैसे कि पीतिमा से नीलिमा भिन्न दीखती है। वैसे ही--प्रत्यक्ष प्रमाण, अपने विषय की, भूत और भविष्य से पृथक् प्रतीति कराता है। तथा क्षणिकवाद की सिद्धि के लिए जो अनुमान किया जाता है कि--घट आदि पदार्थ में, अर्थ क्रियाकारिता तथा सद्रूपता के कारण क्षणिकता की प्रतीति होती है। जो अक्षणिक शशशृंग आदि हैं वे अनर्थ क्रियाकारी असत् हैं। परवर्त्ती घटक्षण की अपेक्षा, पूर्ववर्त्ती घटक्षण का अस्तित्व, विनाशशील होने से ही, घटक्षण का अस्तित्व सिद्ध होता है, जैसे कि--अंतिम घटक्षण का अस्तित्व। इत्यादि कार्यकारण भाव की अनुपपत्ति बतलाते हुये इस मत का पहिले ही निराकरण कर चुके हैं।

किं च प्रत्यक्षगम्या वर्त्तमानस्यावर्त्तमानाद्व्यावृत्तिर्नवर्त्तमा-नस्य वस्त्वंतरत्वमवगमयति, अपितु वर्त्तमान कालयोगिता मात्रम्। न च तावता वस्त्वंतरत्वं सिध्यति, तस्यैवकालान्तरयोग संभवात्। यत्तु सत्वादर्थं क्रियाकारित्वाच्चेति क्षणिकत्वे हेतुद्वयमुक्तम्, तदभि-मतविपरीत साधनत्वादविरूद्धम्। सत्वादर्थ क्रियाकारित्वाद् वा घटादि स्थास्नु, तदस्थास्नु, तदसदनर्थं क्रियाकारि च यथा शशविषा-णमित्यपि हि वक्तुं शक्यम्, किं च अर्थ क्रियाकरित्वमक्षणिकत्वमेव

साधयेत्। क्षणध्वंसिनो हि व्यापारासंभवादर्थक्रियाकारित्वं च संभवतीत्युक्तम्।

एक बात और भी है कि—वर्त्तमान की जो अवर्त्तमान वस्तु से व्यावृत्ति (भेद) है, वह प्रत्यक्ष होते हुए भी, वस्तुतः उस वस्तु से भिन्नता नहीं बतलाती अपितु उस वस्तु का वर्त्तमान में अस्तित्व ही ज्ञापन करती है, इसलिए उसकी पृथक् वस्तुता नहीं सिद्ध होती और उस वर्त्तमान वस्तु का अतीतकाल के साथ संबंध स्थापित होना सरल हो जाता है। क्षणिकत्व साधन के लिए जो सत्त्व और अर्थ क्रियाकारिता, इन दो कारणों का उल्लेख किया है, वह भी तुम्हारे अभिप्राय का प्रतिपादक न होकर विरूद्ध ही सिद्ध होता है। उससे क्षणिकता सिद्ध नहीं होतीं। ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है कि—घट आदि स्थास्नु (स्थिर) हैं, इस लिए सत् और अर्थ क्रियाकारी हैं, जो स्थिर नहीं है, वह असत् और अनर्थ क्रियाकारी हैं, शशविषाणादि उसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। तथा—अर्थ क्रियाकारिता वस्तु की अक्षणिकता का भी साधन करती है, क्षण-ध्वंसी पदार्थों में जब किसी प्रकार की कार्यक्षमता ही नहीं है, तब उसमें अर्थ क्रियाकारिता भी संभव नहीं है, ऐसा पहिले ही कह चुके हैं।

तथा अन्त्य घट क्षणस्य हेतुतो नाशदर्शनादितरेऽपि घटक्षणा हेत्वपेक्षविनाशाः स्युरित्यामुद्गरादिहेतु उपनिपातात् स्थास्नुत्वमेव। न च वाच्यं, न मुद्गरादयो विनाशहेतवः, अपितु कपालादि विसदृश संतानोत्पत्ति हेतव इति, कपाल स्वावस्थापत्तिरेव घटादीनां विनाश इत्युपपादित्वात्। कपालोत्पत्तिव्यतिरिक्तत्वाभ्युपगमेऽपि विनाशस्य विनाशहेतुत्वमेव मुद्गरादेरानन्तर्याद्युक्तम्। अतः प्रत्यभिज्ञाया स्थिरत्वमवगम्यमानं न केनापि प्रकारेणापह्नोतुं शक्यम्। पूर्वापरकाल संबंध्यर्थैक्य विषयायाः प्रत्यभिज्ञाया अन्यविषयत्वं ब्रुवन्नीलादिज्ञानानामपि नीलादेरर्थान्तर विषमत्वं ब्रूयात्।

तथा—अंतिम घट क्षण का जब कारणाधीन विनाश देखा जाता है, तब अन्यान्य घटक्षणों का कारणाधीन विनाश भी निश्चित है।

यह भी नहीं कह सकते कि–मुद्‌गर आदि विनाश के कारण नहीं हैं, केवल कपाल के रूप में परिवर्त्तित घटावयव ही विनाश के कारण हैं; कपाल के रूप में परिवर्त्तित हो जाना ही तो घट का विनाश है, ऐसा पहिले भी कह चुके हैं। विनाश को यदि, कपाल से भिन्न मानते हो तो, मुद्‌गर के प्रहार के बाद जो घट का विनाश दीखता है, उसे देखकर मुद्‌गर आदि ही विनाश के कारण सिद्ध होते हैं। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा से ज्ञात वस्तु की स्थिरता को, किन्हीं भी प्रमाणों से झुठलाया नहीं जा सकता। और यदि अतीत और वर्त्तमान कालवर्त्ती, एक वस्तु विषयक प्रत्यभिज्ञा के विषय भेद की कल्पना करते हो तो, नीलिमा विषयक ज्ञान को भी, नीलादि भिन्न पदार्थ विषयक मानना पड़ेगा।

किं च प्रमातृप्रमेययोः क्षणिकत्वं वदद्‌भिर्व्याप्त्यवधारणतत्स्मरणपूर्वकानुमानाभ्युपगमोऽपि दुः शकः। तथा इदं क्षणिकमित्यादि प्रतिज्ञापूर्वकहेतुपन्यासादिकमपि नोपपद्यते भवताम्। प्रतिज्ञोपक्रमक्षण एव वक्तुर्विनष्टत्वात् नहि अन्येनोपक्रान्तमजानद्‌भिरन्यैः समापयितुं शक्यम्।

तथा जो–प्रमाता (ज्ञाता) और प्रमेय (ज्ञेय) इन दोनों के अनुमानोपयोगी व्याप्ति के अवधारण और उसके स्मरण पूर्वी अनुमान की कल्पना को भी सहज नहीं माना जा सकता, ऐसा मानने से "यह क्षणिक है" इत्यादि प्रतिज्ञा का उल्लेख भी उत्पन्न नहीं हो सकेगा, क्योंकि–आप के मतानुसार तो साध्यनिर्देश के उपक्रम काल तक वक्ता को नष्ट हो जाना चाहिए, दूसरे को वह बता भी कैसे सकेगा तथा दूसरा बिना जाने उस कार्य को पूरा भी कैसे कर सकेगा।

नसतोऽदृष्टत्वात्।२।२।२५

एव तावद्वैभाषिक सौतांत्रिकयोर्वाह्यास्तित्ववादिनोः साधरणानि दूषणान्युक्तानि, तत्र यदुक्तं–संप्रयुक्तस्यार्थस्य ज्ञानोत्पत्तिकालेऽनवस्थितत्वान्न कस्यचिदर्थस्य ज्ञानविषयत्वं संभवतीति, तत्र सौतांत्रिक प्रत्यवतिष्ठते–न ज्ञानकालेऽनवस्थानमर्थस्य ज्ञानाविषयत्व

हेतुः ज्ञानोत्पत्ति हेतुत्वमेवहि ज्ञानविषयत्वम् । न चैतावता चक्षुरादेः ज्ञानविषयत्व प्रसंगः, स्वाकार समर्पणेन ज्ञानहेतोरेव ज्ञानविषयत्वा-भ्युपगमात्। ज्ञाने स्वाकारं समर्प्यं विनष्टोऽप्यर्थो ज्ञानगतेन नीलाद्या-कारेणानुमीयते । न च पूर्वं पूर्वं ज्ञानेनोत्तरोत्तरज्ञानाकारसिद्धिः, नीलज्ञान संततौ पीतज्ञानानुत्पत्ति प्रसंगात् । अतोऽर्थकृतमेव ज्ञानवै-चित्र्यम् ।

वाह्य पदार्थ के अस्तित्व मानने वाले, वैभाषिक और सौत्रांतिकों के मत के साधारण दोषों का दिग्दर्शन कराया गया । उनमें जो यह कहा कि–ज्ञानोत्पत्ति के समय इन्द्रिय संयुक्त विषय की स्थिति न होने से, कोई वस्तु ज्ञान का विषय नहीं हो सकती । इस पर सौत्रांतिक, प्रतिपक्षी के रूप में कहते हैं कि–ज्ञान के समय वस्तु की स्थिति नहीं रहती, इसलिए वस्तु का ज्ञान नही होता, यह कथन ठीक नहीं क्योंकि–ज्ञान का विषय ही ज्ञानोत्पत्ति का हेतु होता है, दृश्यवस्तु से जब प्रतिदिन ज्ञान होता है तब वह ज्ञान का विषय कैसे न होगा ? चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही ज्ञान का विषय हो जावेगी, ऐसा भी नहीं हैं, क्योंकि–जो अपने आकार सहित ज्ञानोत्पा-दन कराता है, वही ज्ञान का विषय कहा जा सकता है । नील आदि दृश्य पदार्थ अपने आकार से, नीलिमा विषयक ज्ञान कराकर यदि नष्ट भी हो जावें, तो भी नीले आकार को देखकर उनका अनुमान हो सकता है । यह नहीं कह सकते कि पूर्व पूर्व ज्ञान की सहायता से ही, उत्तरोत्तर ज्ञान के आकार की सिद्धि होती है, ऐसा मानने से नीलाकार में पीताकार की प्रतीति न हो सकेगी इसलिए मानना होगा कि- ज्ञेय विषय ही, ज्ञानगत वैचित्र्य (पार्थक्य का कारण होता है ।

अत्रोच्यते—"नासतोऽदृष्टत्वात्" इति, योऽयं ज्ञाने नीलादिरा-कार उपलभ्यते, स विनष्टस्यासतोऽर्थस्याकारो भवितुं नार्हति, कुतः ? अदृष्टत्वात्–न खलु धर्मिणि विनष्टे तद्धर्मस्यार्थान्तरे संक्रमणं दृष्टम् । प्रतिबिंबादिकमपि स्थिरस्यैव भवति । तत्रापि न धर्ममात्रस्य । अतोऽर्थवैचित्र्यकृतं ज्ञानवैचित्र्यमर्थस्य ज्ञानकालेऽवस्था-नादेव भवति ।

उक्त मत पर सूत्रकार–"नासतोऽदृष्टत्वात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, वे कहते हैं कि-असत् में कार्य जनन शक्ति कदापि संभव नहीं है, ज्ञान में जो, नीलादि विषयक आकार दीखता है, वह कभी विनष्ट अर्थात् असत् पदार्थ का आकार नहीं हो सकता, ऐसा कहीं भी देखा नहीं जाता धर्म या गुण जिसके आश्रय में रहता है, वह धर्मी यदि नष्ट हो जाय तो, उसका धर्म कहीं अन्यत्र संक्रामित हो जाता है, ऐसा दृष्टिगत नहीं होता। प्रतिबिंब भी, स्थिर वस्तु में ही संक्रमित होता है। प्रतिबिंब में केवल धर्म का संक्रमण नहीं होता। इसलिए दृश्य पदार्थ की विचित्रता से जन्य जो ज्ञान वैचित्र्य है, वह ज्ञान के समय, ज्ञेय पदार्थ की स्थिति में ही संभव हो सकता है।

पुनरपि साधारणं दूषणमाह—पुनः साधारण दुषण बतलाते है—

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः।२।२।२६॥

एवं क्षणिकत्वासदुत्पत्त्यहेतुक विनाशाद्यभ्युपगमे उदासीनानामनुद्युंजानानामपि सर्वार्थं सिद्धिः स्यात्, इष्ट प्राप्तिरनिष्टिर्निवृत्तिर्वा प्रयत्नादिभिः साध्यते, क्षणध्वंसे हि सर्वेषां भावानां पूर्वं पूर्वं वस्तु तद्गतो वा विशेषः संस्कारादिको विद्यादिर्वा उत्तरत्र न कश्चिदनुवर्तत इति प्रयत्नादिसाध्यं न किंचिदस्ति। एवं सत्यहेतुसाध्यत्वात् सर्वसिद्धीनामुदासीनानामप्यैहिकामुष्मिक फलं मोक्षश्च सिध्येत्।

क्षणिकता, असदुत्पत्ति और अहेतुक विनाश स्वीकारने से उदासीन निश्चेष्ट व्यक्तियों की अभिलाषा भी स्वतः सिद्ध हो जायेगी, तथा साधारण प्रयास से अभिष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति हो जायेगी सारे पदार्थ यदि क्षणिक होंगे तो समस्त भाव पदार्थों की, पूर्व पूर्व वस्तु और उनके संस्कार आदि या विद्या आदि विशेषतायें, परवर्त्ती पदार्थों में अनुवृत्त न हो पावेगी, जिसके फलस्वरूप प्रयास करने पर भी कोई कार्य न हो सकेगा। ऐसा मानने से, बिना कारण के फलावाप्ति होगी, जिससे निश्चेष्ट उसीसीन व्यक्ति भी, ऐहिक सुख और पारलौकिक मोक्ष आदि सब कुछ अनायास ही प्राप्त कर लेगे।

४ उपलब्ध्यधिकरणः—

नाभाव उपलब्धेः ।२।२।२७॥

विज्ञानमात्रास्तित्व वादिनो योगाचाराः प्रत्यवतिष्ठंते । यदुक्तमर्थवैचित्र्यकृतं, ज्ञानवैचित्र्यमिति, तन्नोपपद्यते, अर्थवत् ज्ञानानामेव साकाराणां स्वयमेव विचित्रत्वात् । तच्च स्वरूपवैचित्र्यं वासनावशादेवोपपद्यते । वासना च विलक्षण प्रत्यय प्रवाह एव । यद् घटाकारज्ञानं कपालाकार ज्ञानस्योत्पादकं, तस्यतथाविधस्योत्पादकं तत् पूर्वं घटज्ञानम् । तस्य च तथा विधस्योत्पादकं ततः पूर्वं घट ज्ञानं इत्येवं रूपः, प्रवाह एव वासनेत्युच्यते । कथंवहिष्ठ सर्षपमहीधराकार आन्तरस्य ज्ञानस्येत्युच्यते ? इत्थम् अर्थस्यापि व्यवहार योग्यत्वं ज्ञानप्रकाशायत्तं, अन्यथा स्वपरवेद्ययोरनतिशय प्रसंगात् । प्रकाशमानस्य च ज्ञानस्य साकारत्वमवश्याश्रयणीयम्, निराकारस्य प्रकाशायोगात् । एकश्चायमाकार उपलभ्यमानो ज्ञानस्यैव । तस्य च वहिर्वदवभासोऽपि भ्रमकृतः । ज्ञानार्थयोः सहोपलम्भ नियमाच्च ज्ञानादव्यतिरिक्तोऽर्थः ।

विज्ञान मात्र का अस्तित्व स्वीकारने वाले योगाचार बौद्ध, प्रतिपक्षी रूप में उपस्थित होते हैं, उनका कथन है कि तुम लोग जो वाह्य पदार्थों की विचित्रता से ज्ञान की विचित्रता मानते हो, वह असंगत है, क्योंकि वाह्य पदार्थों की तरह, ज्ञान और ज्ञानी का आकार स्वयं ही विचित्रता पूर्ण होता है। उस स्वाभाविक विचित्रता के वासनात्मक संस्कारवश ही, उस ज्ञाता में, वस्तु के प्रति विचित्रता की भावना होती है। विभिन्न प्रकार के ज्ञान प्रवाह का नाम ही तो वासना है। घटाकार संबंधी जो ज्ञान होता है, वही उस घट के पूर्वरूप, कपाल के आकार का ज्ञान भी, उत्पन्न कर देता है घट संबंधी ज्ञान भी उसी प्रकार होता है। इस प्रकार के ज्ञान प्रवाह का नाम ही वासना है। वाह्य स्थित सरसों पहाड़ आदि का आकार, आंतरिक ज्ञान का विषय है, यह कैसे कहते

हो ? वह इस प्रकार है—वाह्य पदार्थों की जो व्यवहार योग्यता होती है, वह ज्ञान प्रकाशक के अधीन होती है—(अर्थात् कोई ज्ञाता व्यक्ति अपनी स्वानुभूति के अनुसार किसी वस्तु के नाम गुण आदि का निर्देश करता है, तभी वह वस्तु उस नाम गुण आदि से व्यवहृत होती हैं) यदि ऐसा नहीं मानोगे तो, अपने और पराये व्यवहार्य पदार्थ में भेद करना कठिन होगा। प्रकाशमान ज्ञान की साकारता भी स्वीकारनी होगी, निराकार का तो प्रकाश हो नहीं सकता ज्ञेय और ज्ञान में जो समानाकार प्रतीत होती है, वस्तुतः वही ज्ञान का आकार है, उस आकार को वाह्य मानना नितांत भ्रम है। ज्ञान और ज्ञेय की जो एक साथ उपलब्धि होती है, उससे यह स्पष्ट है कि—ज्ञान से ज्ञेय अभिन्न है।

किं च वाह्यमर्थमभ्युपयद्भिरपि घटपटादिविज्ञानेषु ज्ञानस्य तत्तदर्थासाधारण्यं तत्तदर्थसारूप्यमंतरेण नोपपद्यत इत्यवश्यं ज्ञाने-ऽर्थस्वरूपं रूपमास्थेयम्। तावतैव सर्वव्यवहारोपपत्तेः तद्व्यतिरिक्तार्थ कल्पना निष्प्रामाणिका। अतोविज्ञान मात्रमेव तत्त्वम्, न वाह्या-र्थोऽस्ति इति।

जो लोग ज्ञान के अतिरिक्त वाह्य पदार्थों का अस्तित्व मानते हैं, उनके मत में भी, घट पट आदि के जो विशेष गुण रूप आदि हैं, वे ग्राह्य विषय की तरह, किन्ही अन्य में तो हो नहीं सकते। इसलिए ज्ञान विषय के अनुरूप, कोई एक रूप अवश्य स्वीकारना होगा। एक मात्र ज्ञानीय आकार को मान लेने से ही, जब सारे लौकिक व्यवहार संपन्न हो सकते हैं, तब उस ज्ञान से भिन्न विषय की कल्पना करना निष्प्रामाणिक है। एक मात्र विज्ञान ही सत्य पदार्थ है, उससे भिन्न वाह्य कोई वस्तु नहीं है।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे "नाभाव उपलब्धेः" इति। ज्ञानातिरिक्त-स्यार्थस्याभावो वक्तुं न शक्यते, कुतः? उपलब्धेः, ज्ञातुरात्मनोऽर्थ-विशेष व्यवहारयोग्यतापादन रूपेण ज्ञानस्योपलब्धेः। एवमेव हि सर्वे लौकिकाः प्रतियंति—"घटमहं जानामि" इति। एवं रूपेण संकर्मकेण संकर्तृकेन ज्ञाधात्वर्थेन सर्वलोकसाक्षिकमपरोक्षमवभाव-

मानेनैव ज्ञानमात्रमेव परमार्थं इति साधयन्तः सर्वलोकोपहासोपकरणं भवंतीत वेदवादच्छद्म प्रच्छन्न बौद्ध निराकरणे निपुणतरं प्रपंचितम् ।

उक्त मत पर सूत्रकार "नाभाव उपलब्धेः" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, उनका कथन है कि ज्ञान के अतिरिक्त वाह्य विषयों को अस्तित्व हीन नहीं कह सकते; क्यों कि—ज्ञाता को जो ज्ञान की उपलब्धि होती है वह अपने प्रयोजनानुरूप विशेष व्यवहार निष्पादन के रूप से होती है। सामान्यतः लोग "मैं घट जानता हूँ" ऐसा ही अनुभव करते हैं। सब के समक्ष प्रत्यक्ष रूप से प्रकाशमान, ऐसे सकर्मक, सकर्तृक, ज्ञा धातु का अर्थ यदि, केवल ज्ञान और पारमार्थिक ही मान लें तो उपाहास्पद होगा। यह बात हम, वेदवाद की आड़ में छिपकर बौद्धमत का प्रचार करने वालों (शंकर) के मत का निराकरण करते समय, विस्तृत रूप से कह चुके हैं।

यत्तु—"सहोपलम्भ नियमादभेदो नीलतद्धियोः" इति, तत्स्ववचन विरुद्धम्, साहित्यस्यार्थंभेदहेतुकत्वात् । तदर्थव्यवहार योग्यतैकस्वरूपस्य ज्ञानस्यतेन सहोपलम्भ नियमस्तस्मादवैलक्षण्यसाधनमिति च हास्यम् । निरन्वयविनाशिनां ज्ञानानामनुवर्त्तमानस्थिराकारविरहाद्वासना च दुरुपपादा । विनष्टेन पूर्वज्ञानेनानुत्पन्नमुत्तरज्ञानंकथं वास्यंते । अतोज्ञानवैचित्र्यमप्यर्थवैचित्र्यकृतमेव । तत्तदर्थं व्यवहारयोग्यतापादनरूपतया साक्षात्प्रतीयमानस्य ज्ञानस्य तत्तदर्थसंबंधायत्तं तत्तदसाधारण्यम् । संबंधश्च संयोगलक्षणः । ज्ञानमपि हिद्रव्यमेव । प्रभाद्रव्यस्यप्रदीपगुणभूतस्येव ज्ञानस्याध्यात्मगुणभूतस्य द्रव्यत्वमविरुद्धमित्युक्तं अतो न वाह्यार्थाभावः ।

"एक साथ उपलब्धि होने से नील और तद्विषयक ज्ञान का अभेद सिद्ध होता है" यह कथन तो, उनके स्वयं के ही विरुद्ध है, क्योंकि पदार्थगत भेद ही, उक्त प्रकार की प्रतीति कराता है, अर्थात्—यदि पदार्थ भिन्न न हो तो, एक साथ प्रतीति का प्रश्न ही नहीं उठता। एक साथ

के व्यवहार में जब, ज्ञान को ही एक मात्र स्वरूप योग्य मानते हो और उस पदार्थ के साथ, एकत्र उपलब्धि के नियम से सहोपलंभन को स्वीकारते हुए, उसके अर्थ के साथ अभेद व्यवस्था का कारण रूप से प्रतिपादन करते हो तब, उपाहास्पद सा प्रतीत होता है।

जिसमें कुछ भी अवशिष्ट न हो ऐसे निरन्वय विनाशशील, ज्ञान समूह के अनुगत स्थिरतर किसी आकार या स्वरूप विशेष के न रह जाने पर ज्ञानीय वासना का अस्तित्व स्थिर करना भी कठिन है। पूर्व ज्ञान के नष्ट हो जाने पर, पूर्व ज्ञान से अनुत्पन्न उत्तर ज्ञान, किस प्रकार वासना का उत्पादन कर सकता है? इत्यादि विचार से निश्चित होता है कि सांसरिक पदार्थों की विचित्रता से ही ज्ञान का भी वैचित्र्य होता है। जिसके फलस्वरूप विशेष विशेष पदार्थों के व्यवहार भेद से, ज्ञानगत वैलक्षण्य संपन्न होता है। वह संबंध, संयोग के अतिरिक्त, कुछ और नहीं है, एवं उक्त ज्ञान भी, निश्चित ही द्रव्य पदार्थगत है। प्रदीप की गुण रूप प्रभा जैसे द्रव्य है, वैसे ही, आत्मा के गुण स्वरूप ज्ञान की भी द्रव्यता है, है, इसमें कोई विरुद्धता नहीं है, ऐसा हम पहिले भी बतला चुके हैं। इसलिए वाह्य पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं होता।

यत्परैः स्वप्नज्ञानदृष्टांतेन, जागरित ज्ञानानमि निरालंबनत्व-मुक्तम् तत्राह,

जो स्वप्नगत ज्ञान के द्रष्टांत से, जागरित ज्ञान की निर्विषयता कही, उस पर कहते हैं—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ।२।२।२८॥

स्वप्न ज्ञानं वैधर्म्याज्जागरितज्ञानानामर्थशून्यत्वं न युज्यते वक्तुम्। स्वप्नज्ञानानिहिं निद्रादि दोषदुष्टकरण जन्यानि, बाधितानि च, जागरित ज्ञानानि तु तद्विपरीतानि तेषां न तत्साम्यम्। सर्वेषां च ज्ञानानां अर्थशून्यत्वे भवद्भिः साध्योऽप्यर्थो न सिध्यति। निरालंबनानुमानस्याप्यर्थ शून्यत्वात्। तस्यार्थवत्वे ज्ञानत्वस्यानैकान्त्यात्सुतरामर्थशून्यत्वासिद्धिः।

स्वप्नकालीन ज्ञान से विपरीत, जागरित ज्ञान की समता करते हुए अर्थ शून्यता बतलाना उपयुक्त नही है। स्वप्न ज्ञान, निद्राआदि दोषों से कलुषित इन्द्रियों से जन्य होता है, जो कि जगने पर मिथ्या सिद्ध होने पर बाधित हो जाता है। जागरित ज्ञान, इससे एकदम विपरीत होता है, इसलिए उसकी इससे कोई समता नहीं है। सभी ज्ञानों को यदि अर्थशून्य मान लें तो, तुम्हारे अभिप्रेत पदार्थ की भी सिद्धि न हो पावेगी। क्यों कि आधार रहित अनुमान अर्थ शून्य होता है। यदि अनुमान के विषयी भूत पदार्थ का अस्तित्व मानते हो तो, ज्ञान के अनेक हेतु हो जावेंगे, जिससे कि शून्यता की बात ही समाप्त हो जावेगी।

न भावोऽनुपलब्धेः २।२।२९।

न केवलस्यार्थशून्यस्यज्ञानस्य भावः संभवति, कुतः ? क्वाचिदप्यनुपलब्धेः, न हि अकर्तृकस्याकर्मकस्य वा ज्ञानस्य क्वचिदुपलब्धिः। स्वप्नज्ञानादिष्वपिनार्थशून्यत्वमिति ख्याति निरूपणे प्रतिपादितं।

वाह्य पदार्थों का अस्तित्व समाप्त हो जाने पर, केवल ज्ञान का ही अस्तित्व शेष रह जाय ऐसा कभी दृष्टिगोचर नहीं होता। कर्त्ता और कर्म शून्य ज्ञान कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। स्वप्न कालीन ज्ञान में भी अर्थशून्यता नहीं होती, ऐसा हम ख्यातिवाद निरूपण के प्रसंग में प्रतिपादन कर चुके हैं।

५. सर्वथानुपपत्त्यधिकरणः—

सर्वथानुपपत्तेश्च।२।२।३०

अक सर्वशून्यवादी माध्यमिकः प्रत्यवतिष्ठते। शून्यवाद एव हि सुगतमत काष्ठा। शिष्यबुद्धियोग्यतानुगुण्यनार्थाभ्युपगमादिना क्षणिकत्वादयः, उक्ताः। विज्ञानं वाह्यार्थाश्च सर्वे न संति, शून्यमेव तत्त्वम्, अभावापत्तिरेव च मोक्षः, इत्येवबुद्धस्याभिप्रायः। तदेव हि युक्तम् शून्यस्याहेतु साध्यतया स्वतः सिद्धेः, सत एव हि हेतु-

रन्वेषणीयः, तच्च सत् भावादभावाच्च नोत्पद्यते, भावात्तावन्न कस्यचिदुत्पत्तिर्दृष्टा, न हि घटादिरनुपमृदिते पिण्डादिके जायते। नभ्यभावादुत्पत्तिः संभवति, नष्टे पिंडादिके हि अभावाद्युत्पद्यमानं घटादिकमभावात्मकमेवस्यात्। तथा स्वतः परतश्चोत्पत्तिर्न संभवति, स्वतः स्वोत्पत्तावात्माश्रयदोष प्रसंगात् प्रयोजनाभावाच्च। परतः परोत्पत्तौ परत्वाविशेषात् सर्वेषां सर्वेभ्य उत्पत्तिप्रसंगः। जन्माभावादेव विनाशस्याप्यभावः। अतः शून्यमेवतत्त्वम्।

अब सर्व शून्यवादी माध्यमिक सामने आते हैं। शून्यवाद ही सुगत बौद्धमत की चरम सीमा है। केवल शिष्यों की बुद्धि की योग्यतानुसार वाह्य पदार्थ स्वीकारते हुए, क्षणिकवाद आदि का उपदेश दिया गया है। विज्ञान और वाह्य पदार्थ सभी अस्तित्व हीन हैं, शून्य ही एक मात्र वास्तविक तत्त्व है अभावापत्ति (शून्यता प्राप्ति)।ही मोक्ष है, यही बौद्ध का अंतिम अभिप्राय है। यही उनकी दृष्टि में उपयुक्त सिद्धान्त है, क्यों कि शून्य, किन्ही भी कारणों की अपेक्षा नहीं करता, अतएव स्वतः सिद्ध है। पदार्थ सत् है वह किस कारण से उत्पन्न होता है, इसका अनुसंधान करना आवश्यक है भाव या अभाव से तो उस सत् की उत्पत्ति हो नहीं सकती। अधिकृत भाव से किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति देखी नहीं जाती, मिट्टी को विना चूर्ण किये घट आदि कभी बनते नहीं। अभाव से भी सत् की उत्पत्ति संभव नहीं है, मिट्टी के ढेले के टूटने पर पदार्थ की अभाव स्थिति होती है, उससे घट आदि भी अभावात्मक हो जाते हैं। स्वतः या किसी अन्य से भी उत्पत्ति संभव नहीं है। अपने से अपनी उत्पत्ति होने से आत्माश्रय दोष और प्रयोजन हीनता सिद्ध होती है। अन्य पदार्थ से उत्पत्ति मानने से, हर पदार्थ से हर पदार्थ की उत्पत्ति संभव हो जावेगी। इस प्रकार जिसकी उत्पत्ति असंभव सिद्ध होती है उसका विनाश भी असंभव ही है। इसलिए शून्य ही तत्त्व है।

अतो जन्मविनाश सदसदादयो भ्रांतिमात्रम्। न च निरधिष्ठानभ्रमासंभवाद भ्रमाधिष्ठानं किंचित्पारमार्थिकं तत्त्व-

माश्रयितव्यं दोषदोषाश्रयत्वज्ञातृत्वाद्यपारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तिवद-धिष्ठानापारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तेः। अतः शून्यमेव तत्त्वम्।

जन्म विनाश सत्असत् आदि कार्य भ्रांतिमात्र हैं, वस्तु की सत्ता के ग्राहक नहीं है। किसी एक सत्य पदार्थ के आश्रय के बिना, आधार रहित भ्रम हो नहीं सकता, इसलिए भ्रम के आधार भूत किसी पारमार्थिक (सत्य) तत्त्व को अवश्य स्वीकारना पड़ेगा, ऐसा नहीं कह सकते, क्यों कि—दोष और दोषाश्रय तथा ज्ञाता की असत्यता जानते हुए भी जैसे, भ्रम हो जाता हैं, वैसे ही निराधार भ्रम भी हो सकता है इसलिए शून्य ही एक मात्र तत्त्व है।

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—सर्वथानुपपत्तेश्च—इति। सर्वथानुपपत्तेः सर्वशून्यत्वं च भवदभिप्रेतं न संभवति। किं भवान् सर्वं सदिति वा प्रतिजानीते, असदिति वा, अन्यथा वा, सर्वथातत्राभिप्रेतं तुच्छत्वं न संभवति। लोके भावाभावशब्दयोस्तत्प्रतीत्योश्च विद्यमानस्यैव वस्तुनोऽवस्थाविशेषगोचरत्वस्य प्रतिपादितत्वात्। अतः सर्वं शून्यमिति प्रतिजानता सर्वं सदिति प्रतिजानतेव सर्वस्य विद्यमान-स्यावस्थाविशेष योगितैव प्रतिज्ञाता भवतीति भवदभिमता तुच्छता न कुतश्चिदपि सिध्यति। किं च कुतश्चित्प्रमाणाच्छून्यत्वमुपलभ्य शून्यत्वं सिषाधयिषता तस्य प्रमाणस्य सत्यत्वमभ्युपेत्यम्, तस्यासत्यत्वे सर्वं सत्यं स्यादिति सर्वथा सर्वं शून्यत्वं चानुपपन्नम्।

इस उपस्थित मत पर सूत्रकार—"सर्वथानुपपत्तेश्च" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, जिसका तात्पर्य है कि हर प्रकार की अनुपपत्ति (असामंजस्य) से तुम्हारा अभिप्रेत शून्य तत्त्व संभव नहीं है। आप सब पदार्थों को सत्असत् अथवा किसी अन्य प्रकार का मानकर शून्य कहते हैं? इनमें से किसी प्रकार से शून्य तत्त्व हो नहीं सकता। जगत में भाव या अभाव शब्द से एवं तद्विषयक प्रतीति से, विद्यमान वस्तु की अवस्था विशेष की प्रतीति होती है। इसलिए तुम्हारा 'सब कुछ शून्य है" यह कथन "सब कुछ सत् है" ऐसी समस्त वस्तुओं की विद्यमान अवस्था विशेष

द्योतक प्रतीत होता है, इस प्रकार आपका अभिमत शून्यवाद किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। यदि किसी प्रमाण की सहायता से शून्यता की उपलब्धि को सिद्ध करने की चेष्टा भी करें नो उस प्रमाण का अस्तित्व स्वीकारना पड़ेगा, यदि प्रमाण को असत्य मानते हैं तो सारे पदार्थ स्वयं ही असत्य सिद्ध हो जायेंगे (अर्थात् शून्य प्रमाण रहित असत्य हो जायेगा इसलिए हर प्रकार से सर्वशून्यता का सिद्धान्त असिद्ध हो जाता है।

६. एकस्मिन्नसंभवाधिकरण:—

नैकस्मिन्नसंभवात् ।२।२।३१॥

निरस्ता: सौगता:। जैना अपि परमाणुकारणत्वादिकं जगतो वदंतीव्यनंतरं जैनपक्ष: प्रतिक्षिप्यते। ते किल मन्यते जोवाजीवात्मकं जमदेतन्निरीश्वरं, तच्चषड्द्रव्यात्मकं। तानि च द्रव्याणि जीवधर्मा-धर्म पुद्गलकालाकाशाख्यानि तत्र जोवा:, बद्धा: योगसिद्धा:, मुक्ताश्चेति त्रिविधा:। धर्मोनाम गतिमतां गतिहेतुभूतो द्रव्यविशेषो-जगद्व्यापी। अधर्मंश्च स्थितिहेतुभूतोव्यापी। पुद्गलो नाम वर्ण-गंधरसस्पर्शवद्द्रव्यम्। तच्चद्विविधं-परमाणुरूपं तत्संघातरूपं च पवनज्वलनसलिलधरणीतनुभुवनादिकम्। कालस्तु अभूदस्ति-भविष्यतीति व्यवहारहेतुरणुरूपो द्रव्य विशेष:। अकाशोऽप्येकोऽनंत-प्रदेशश्च। तेषुचाणुव्यतिरिक्त द्रव्याणि पंचास्तिकाया इति च संगृह्यंते—जीवास्तिकाय:, धर्म्मास्तिकाय: अधर्मास्तिकाय:, पुद्गला-स्तिकाय:, आकाशास्तिकाय:, इति। अनेकदेशवर्त्तिनि द्रव्येऽस्तिकाय-शब्द: प्रयुज्यते।

सौगत बौद्धों का निराकरण कर दिया गया। जैन भी परमाणुओं को जगत का कारण मानते हैं, इसलिए उनके मत का भी निराकरण करते हैं उन लोगों की मान्यता है कि—जीव और अजीवमय यह जगत अनीश्वर है, जो कि जीव, धर्म, अधर्म, युद्गल, आकाश, काल आदि छ: द्रव्यों वाला हैं। जीव बद्ध, योगसिद्ध और मुक्त तीन प्रकार के हैं।

स्वर्ग, नरक गामी प्राणियों में स्वर्ग के हेतुभूत जगद् व्यापी द्रव्य विशेष का नाम धर्म हैं तथा स्थिरता का हेतुभूत जगद् व्यापी द्रव्य विशेष का नाम अधर्म है। रूप-रस-गंध-स्पर्श विशिष्ट द्रव्य को पुद्गल कहते हैं, जो कि दो प्रकार के हैं, परमाणु और अपरमाणु पुंज। वायु-तेज-जल-पृथ्वी-शरीर-स्वर्ग आदि सभी पुद्गल हैं। भूत-भविष्य और वर्त्तमान व्यवहार का हेतुभूत द्रव्य विशेष ही काल है। आकाश एक और अनंत स्वरूप है। इन द्रव्यों से अणुरहित द्रव्य पांच अस्तिकाय कहलाते हैं जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और आकाशास्तिकाय। अनेक स्थानवर्त्ती द्रव्य को अस्तिकाय शब्द से प्रयोग करते हैं।

जीवानां मोक्षोपयोगिनमपरमपि संग्रहं कुर्वन्ति—जीवाजीवास्रववंधनिर्जरसंवरमोक्षाः, इति। मोक्षसंग्रहेण मोक्षोपायश्च ग्रहीतः। स च सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपः। तत्रजीवस्तु-ज्ञानदर्शनसुखवीर्यगुणः। अजीवश्च जीवभोग्यवस्तुजातम्। आस्रवः तदभोगोपकरणभूतमिन्द्रियादिकं वंधश्चाष्टविधः घातिकर्मचतुष्टयमघातिकर्मचतुष्टयंचेति। तत्राद्यंजीवगुणानांस्वाभाविकानां ज्ञानदर्शवीर्यसुखानां प्रतिघातकरम्। अपरंशरीरसंस्थानतदभिमानतत्स्थितित्प्रयुक्तसुख-दुःखोपेक्षा हेतुभूतम्। निर्जरम् मोक्षसाधन महंदुपदेशावगतंतपः। संबरोनामेन्द्रियनिरोधः समाधि रूपः। मोक्षस्तुनिर्वत्तरागादिक्लेशस्य स्वाभाविकात्मस्वरूपाविर्भावः।

वे लोग जीवों के मोक्षोपयोगी साधनों का भी संग्रह करते हैं, जो कि—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, निर्जर, संवर और मोक्ष नामक हैं। इन मोक्ष संग्रहों के साथ मोक्षोपायों को भी ग्रहण करते हैं जो कि—सम्यग्ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चरित्र आदि तीन प्रकार के हैं। ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य संपन्न को जीव कहते हैं। जीव भोग्य समस्त वस्तुओं को अजीव कहते हैं। जीव के योग्य उपकरण भूत इन्द्रियों का नाम आस्रव है। वंध आठ प्रकार का है—घातिकर्म चतुष्टय और अघातिकर्म चतुष्टय। जीव के स्वाभाविक, ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुखा-

त्मकगुण, जिनसे प्रतिहत हों उन्हे घातिकर्म कहते हैं। जिन कर्मों से शरीर, शरीराभिमान, शरीरस्थित और शरीर संबंधी सुख दुःख आदि में उपेक्षा बुद्धि को अथातिकर्म कहते हैं। मोक्ष के साधन रूप, अर्हत द्वारा उपदिष्ट तप को निर्जर कहते हैं। ज्ञानेन्द्रिय निरोधक समाधि को संवर कहते हैं राग आदि क्लेशों के निवृत्त हो जाने पर, स्वाभाविक आत्म स्वरूप के आविर्भाव को ही मोक्ष मानते हैं।

पृथिव्यादिहेतुभूताश्चाणवो वैशेषिकादीनामिव न चतुर्विधाः। अपित्वेकस्वभावाः। पृथिव्यादिभेदस्तु परिणाम कृतः। सर्वं च वस्तुजातं सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वभिन्नत्वाभिन्नत्वादिभिरनैकान्तिकमिच्छंति, स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिचनास्ति च–स्यादवक्तव्यम्, स्यादस्तिचावक्तव्यम् च स्यानास्ति चावक्तव्यं च, स्यादस्ति च नास्तिचावक्तव्यं चेति सर्वत्र सप्तभंगीनयावतारात्। सर्वं वस्तुजातं द्रव्यपर्यायात्मकमिति द्रव्यात्मना सत्त्वैकत्वनित्यत्वाद्युपपादयंति, पर्यायात्मना च तद्विपरीतं, पर्यायाश्च द्रव्यस्यावस्था विशेषाः, तेषां च भावाभावरूपत्वात्सत्वासत्वादिकं सर्वं उपपन्नमिति।

ये लोग वैशेषिकों की तरह पृथ्वी आदि के परमाणुओं को चार प्रकार का नहीं मानते, अपितु सबको एक स्वभाव का मानते हैं। केवल परिणाम से ही उनमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि भेद मानते हैं। उनके मत से, सारी ही वस्तुएं, सत्य-असत्य नित्य-अनित्य भिन्न-अभिन्न तथा अनैकांतिक (अनियत) हैं। अर्थात् स्यात् हैं, स्यात् नहीं हैं, स्यात् हैं भी नहीं भी, स्यात् अव्यक्त हैं, स्यात् हैं और अवक्तव्य हैं, स्यात् नहीं है और अवक्तव्य हैं, स्यात् हैं और नहीं हैं और अवक्तव्य हैं, इत्यादि सप्त भंगी न्याय से प्रस्तुत करते हैं। सभी वस्तुए द्रव्य पर्याय भूत द्रव्यात्मक इसलिए, द्रव्य रूप से वह सत्य, नित्यत्व और एकत्व आदि धर्मों का उपपादन करती हैं। स्वतः पर्याय रूप से, उससे विपरीत उपपादन करतीं हैं। द्रव्यों की अवस्था विशेष ही पर्याय है, जो कि भाव अभाव वाली अवस्था है इसीलिए सत्त्व' असत्व आदि परस्पर विरुद्ध धर्म, समस्त वस्तुओं में उत्पन्न होते हैं।

अत्राभिधीयते–"नैकस्मिन्न संभवात्" इति। नैतदुपपद्यते, कुतः ? एकस्मिन्न संभवात्–एकस्मिन् वस्तुनि अस्तित्वेन अन्नास्तित्वादेविंरुद्धस्य छायातपवद् युगपदसंभवात्। एतदुक्तं भवति–द्रव्यस्य तद्विशेषणभूतपर्यायशब्दाभिधेयावस्थाविशेषस्य च पृथक्पदार्थत्वात् नैकस्मिन्विरुद्धधर्मं समावेशः संभवति इति। तथाहि-एकेनास्ति त्वादिनाऽवस्थाविशेपण विशिष्टस्य तदानीमेव न तद्-विपरीत-नास्तित्वादि विशिष्टत्वं संभवति। उत्पत्ति विनाशाख्य-परिणामविशेषास्यदत्वं च द्रव्यस्यानित्यत्वम, तद्विपरीत च नित्यत्वं तस्मिन् कथं समवैति, विरोधिधर्माश्रियतत्वं च भिन्नत्वम्, तद्-विपरीतंचाभिन्नत्वं कथं वा तस्मिन् समवैति। यथाऽश्वमहिष-त्वयोर्युगपदे कस्मिन् न संभवः।

उक्त जैन मत पर सूत्रकार "नेकस्मिन्" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। उक्त मत असंभव है, एक ही वस्तु में विपरीतता, धूप और छांह की तरह हो नहीं सकती, अस्तित्व और नास्तित्व, ये विरुद्धतायें एक साथ हो नहीं सकती। कथन यह है कि–विशेष द्रव्य की और उसके विशेषण रूप, पर्याय शब्दाभिधेय अवस्था विशेष (अस्तित्व नास्तित्व) की, स्वभावत पृथकता होने से, एक में ही विरुद्ध धर्मों का समावेश होना असंभव है। अस्तित्व आदि किसी एक विशेषण से वस्तु, तत्काल उसके विपरीत, नास्तित्व आदि विशेषण से विशेषित हो जाय, ऐसा संभव नहीं है। उत्पत्ति विनाश नाले परिणाम को प्राप्त द्रव्य की, अनित्य अवस्था में, उसके नितांत विपरीत नित्यता कैसे हो सकती है ? विरोधी धर्मों की आश्रयता ही तो भिन्नता है, उससे विपरीत अभिन्नता होती है, दोनों बातें एक में कैसे संभव हैं ? जैसे कि एक ही जीव में अश्वत्व और भहि-ष्यत्व दोनों एक साथ संभव नहीं हैं।

अयमर्थः पूर्वमेव भेदभेदवादि निरसन समये "तत्तुसमन्वयात्" इत्यत्र प्रपंचितः। कालस्य पदार्थं विशेषणतयैव प्रतीतेस्तस्य

पृथगस्तित्वनास्तित्वादयो न वक्तव्याः, न च परिहर्त्तव्याः। कालोऽस्तिनास्तीयि व्यवहारो व्यवहर्त्तॄणां जात्याद्यस्तित्वनास्तित्व-व्यवहार तुल्यः। जात्यादयो हि द्रव्यविशेषणतयैव प्रतीयंत इति, पूर्वमेवोक्तम्।

उक्त तत्त्व को हम भेदाभेदवाद के निरसन के समय "तत्तु समन्वयात्" सूत्र में विस्तृत रूप बतला चुके हैं। काल की जब पदार्थ विशेष रूप से ही प्रतीति होती है, तब उसके पृथक् अस्तित्व और नास्तित्व को कहने और उसके खंडन करने का प्रश्न ही नहीं उठता, काल के अस्तित्व नास्तित्व का व्यवहार करना, व्यवहार करने वालों की अपनी जाति आदि के अस्तित्व नास्तित्व के व्यवहार के समान है। जाति आदि धर्मों की प्रतीति भी, द्रव्य के विशेषण रूप से ही होती है, ऐसा पहिले ही बता चुके हैं।

कथं पुनरेकमेव ब्रह्म सर्वात्मकमिति श्रोत्तियैरुच्यते? सर्वं चेतनाचेतनशरीरत्वान् सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः सत्यसंकल्पस्य पुरुषोत्तमस्येत्युक्तम्। शरीरशरीरिणोः तद्धर्माणां च अत्यंत वैलक्षण्यमप्युक्तम्। किं च जीवादीनांषण्णां द्रव्याणामेकद्रव्य पर्यायत्वाभावात्तेषु द्रव्यैकत्वेन पर्यायात्मना चैकत्वानैकत्वादयो दुरुपपादाः? अथोच्येत्-षडेतानि द्रव्याणि स्वकीयैः पर्यायैः स्वेनत्वेनचात्मना तथा भवंति इति। एवमपि सर्वं मेनैकान्तिक-मित्यभ्युपगम विरोधः अन्योन्यतादात्म्याभावात्। अतो न युक्तमिदं जैनमतं। ईश्वरानधिष्ठितपरमाणुकारणवादे पूर्वोक्त दोषास्त थैवावतिष्ठंते।

यदि कहो कि–वेदज्ञ लोग एक ही ब्रह्म में सर्वात्मकता कैसे बतलाते हैं? भाई वह तो उसे समस्त जडचेतन शरीर वाला, सर्वज्ञ सर्वशक्ति संपन्न, सत्यसंकल्प पुरुषोत्तम कहते हैं। शरीर और शरीरी इन दोनों के धर्मों में अत्यंत विलक्षणा होती है, यह हम पहिले ही कह चुके हैं।

जीव आदि छहो द्रव्यों का एक पर्यायत्व न होने से, उसमें एक द्रव्यपर्यायिता मानकर, एकता अनेकता का प्रतिपादन करना कठिन है। यदि कहो कि–ये छहो अपने अपने पर्याय होकर, स्वतंत्ररूप से अपने अपने स्वरूपानुसार' भिन्न अभिन्नरूप वाले होते हैं। ऐसा मानने पर भी, सारे पदार्थों में जो अनेक रूपता मान रक्खी है उससे विरुद्धता हो जावेगी, क्यों कि–उनमें परस्पर तादात्म्य तो है नहीं। इसलिए यह जैनमत असंगत है। ईश्वर रहित परमाणु कारणवाद पर जिन दोषों का आरोपण हो चुका है, वे सब, इस मत में भी उसी प्रकार आरोपित होंगे।

एवं चात्माकात्स्न्यम् ।२।२।३२॥

एवं भवदभ्युपगमे सति आत्मनश्चाकात्स्न्यं प्रसज्यते जीवोऽसंख्यात प्रदेशो देह परिमाण इति हि भवतां स्थितिः। तत्रहस्त्यादि-शरीरेऽवस्थितस्यात्मनस्ततो न्यूनपरिमाणे पिपीलकादि शरीरे प्रवेशितोऽल्पदेशव्यापित्वेनाकात्स्न्यं प्रसज्यते- अपरिपूर्णता प्रसज्यत इत्यर्थः।

यदि आपके अभिमत शरीर परिमित सिद्धान्त को स्वीकारते हैं तो आत्मा की अपूर्णता निश्चित होती है, जीव असंख्य स्थलों में देह परिमाण के अनुसार घटता बढ़ता हुआ स्थित रहता है, यह आपका मत है हाथी के शरीर वर्त्तमान आत्मा का यदि चींटी के शरीर में प्रवेश होगा तो अल्पदेशव्यापी होने से उसमें, अपरिपूर्णता होगी।

अथ संकोच विकास धर्मतया आत्मनः पर्यायशब्दाभिधेयाव-स्थान्तरापत्त्या विरोधः परिह्रियत इत्युच्यते, तत्राह–

यदि, संकोच और विकास को आत्मा का धर्म मानकर, पर्याय शब्द-वाच्य अवस्थान्तर प्राप्ति से उक्त अपूर्णता का परिहार करते हो, तो सुनो

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ।२।२।३३॥

न च संकोच विकास रूपावस्थान्तरापत्त्या विरोधः परिहर्तुं शक्यते, विकार तत्प्रयुक्तानित्यत्वादि दोष प्रसक्तेर्घटादितुल्यत्व प्रसंगात्।

संकोच विकास रूप अवस्थान्तर प्राप्ति को मानकर भी विरोध का परिहार नहीं कर सकते, ऐसा मानने से विकार और विकाराधीन अनित्यता आदि दोष संभावित होंगे, जिसके फलस्वरूप आत्मा, घट आदि की तरह विकृत पदार्थ हो जायगा।

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः।२।२।३४॥

जीवस्य यदन्त्यं परिमाणम् मोक्षावस्थागतं, तस्य पश्चाद्देहान्तर परिग्रहाभावात् अवस्थितत्वादात्मनश्च मोक्षावस्थस्य तत्परिमाणस्य चोभयोर्नित्यत्वात्तदेव आत्मनः स्वाभाविकं परिमाणमिति पूर्वमपि तस्मादविशेषः स्यात्। अतो देह परिमाणत्वात्मनो न स्यादित्यसंगतमेवेदमार्हतमतम्।

जीव का जो मोक्षकालीन अंतिम परिमाण होगा, वह निश्चित ही संकोच विकास रहित स्थिर परिमाण होगा, क्यों कि उसके बाद तो देहान्तर प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मा और आत्मा का मोक्षकालीनपरिमाण दोनों ही नित्य हैं, इससे निश्चित होता है कि–वही आत्मा का स्वाभाविक परिमाण होगा, उसके पूर्व के परिमाणों का कोई महत्त्व नहीं है। इस से सिद्ध हो गया कि–आत्मा का परिमाण कभी देहानुसार नहीं होता। यह अर्हत मत नितांत असंगत है।

७ पशुपत्यधिकरणः—

पत्युरसामंजस्यात्।२।२।३५॥

कपिलकणाद सुगतार्हतमतानामसामंजस्यात् वेदवाह्यत्वाच्च निश्श्रेयसार्थिभिरनादरणीयत्वमुक्तम्, इदानीं पशुपतिमतस्य वेदविरोधाद सामंजस्याच्च अनादरणीयतोच्यते। तन्मतानुसारिणश्चतुर्विधाः, कापालाः कालामुखाः, पाशुपताः, शैवाश्च इति। सर्वेचैते वेदविरुद्धां तत्त्वप्रतिक्रियां ऐहिकामुष्मिकनिश्श्रेयससाधनकल्पनाश्चकल्पयंति। निमित्तोपादान-

योर्भेदं, निमित्तकारणं च पशुपतिमाचक्षते। तथानिश्श्रेयससाधनमपि मुद्रिकाषट्क धारणादिकं-यथाहुः कापालाः "मुद्रिकाषट्क तत्त्वज्ञः परमुद्रा विशारदः भगासनस्थमात्मानं ध्यात्वानिर्वाणमृच्छति, कण्ठिकारुचकं चैव कुंडलं च शिखामणिः भस्म यज्ञोपवीतं च मुद्राषट्कं प्रचक्षते। आभिर्मुद्रित देहस्तु न भूय इति जायते" इत्यादिकम्।

कापिल, कणाद, सुगत, अर्हत् आदि के मत असंगत और वेदवाह्य होने से मुमुक्षुओं के लिए अनादरणीय हैं। अब पशुपति के वेदविरुद्ध असंगत मत की अनादरणीयता बतलाते हैं। इस मत के अनुयायी चार प्रकार के हैं, कापालिक, कालमुख, पाशुपत और शैव। ये सब वेद विरुद्ध तंत्र प्रणाली तथा ऐहिक पारलौकिक मोक्ष साधन की कल्पना करते हैं। निमित्त और उपादान कारणों में भेद तथा पशुपति को निमित्त कारण मानते हैं। तथा मोक्ष की साधनिका छः मुद्राओं को धारण करना मानते हैं, जैसा कि-कापालिक कहते हैं-"छः मुद्रिकाओं को जानने वाले, पर मुद्रा विशारद, अपने को भगासनस्थ रूप में ध्यान करके निर्वाण प्राप्त करते हैं, कंठिका, रुचक, कुंडल और शिखामणि तथा भस्म और यज्ञोपवीत, ये छः मुद्रायें हैं, इन छहों से जिसका देह मुद्रित है, वह पुनः जन्म नहीं लेता। "इत्यादि,

तथा कालामुखा अपि कपालपात्रभोजनशवभस्मस्नान तत्प्राशन लगुडधारणसुराकुंभस्थापनतदाधारदेवपूजादिकमैहिकामुष्मिक सकलफलसाधनमभिदधति। "रुद्राक्षकंकणंहस्ते जटा चैका च मस्तके, कपालं भस्मनास्नानम् "इत्यादि च प्रसिद्धं शैवागमेषु। तथा केनचित्क्रियाविशेषेण विजातीयानामपि ब्राह्मण्यप्राप्तिमुत्तमाश्रमप्राप्तिं चाहुः "दीक्षा प्रवेश मात्रेण ब्राह्मणो भवतिक्षणात्, कापालं व्रतमास्थाय यतिर्भवतिमानवः "इति।

तथा कालमुख भी, कपालपात्र में भोजन, शवभस्म स्नान, उसी का भक्षण, लगुडधारण, मद्यकुंभस्थापन, उसी से देवता का पूजन आदि को

ऐहिक आमुष्मिक फल का साधन कहते हैं। "हाथ में रुद्राक्ष का कंकण, मस्तकपर एक जटा, नर कपाल ग्रहण और भस्म स्नान "इत्यादि शैवागमों में प्रसिद्ध आचार हैं तथा किन्ही विशेष क्रियाओं से, विजातीयों की भी ब्राह्मणत्व प्राप्ति और उत्तम आश्रय प्राप्ति बतलाते हैं–"दीक्षा प्रवेश मात्र से तत्काल ब्राह्मण हो जाता है तथा कापालिक व्रत में स्थित होकर मानव, यति हो जाता है। "इत्यादि,

तत्रेदमुच्यते-"पत्युरसामंजस्यात्"इति। "नैकस्मिन्न संभवात्" इत्यतो "न" इत्यनुवर्त्तते। पत्युः, पशुपतेः, मतं नादरणीयम्। कुतः? असामंजस्यात्। असामंजस्यं च अन्योन्यव्याघातात् वेदविरोधाच्च। मुद्रिकाषट्कधारणभगासनस्थात्मध्यानसुराकुंभस्थापन तत्स्थदेवतार्चनं गुढाचारः स्मशानभस्मस्नानप्रणवपूर्वाभिध्यानानन्यन्योन्य विरुद्धानि वेदविरुद्धं चेदं तत्त्व परिकल्पनमुपासनमाचारश्च।

उक्त मत के निराकरण के लिए "पत्युरंसामजस्यात्" सूत्र प्रस्तुत किया जाता है, "नैकस्मिन् "इत्यादि पूर्व सूत्र से इस सूत्र में भी "न" शब्द का अनुवर्त्तन होगा। पति अर्थात् पशुपति का मत अनादरणीय है, क्यों कि–वह असंगत है। परस्पर विरुद्धता और वेदविरुद्धता होने से इसका तालमेल नहीं बैठता। छः मुद्राओं का धारण करना, भगासनस्थ होकर ध्यान करना, सुराकुम्भ स्थापन करना, उसी से देवार्चन करना गूढ आचार करना, स्मशान भस्म से स्नान करना तथा प्रणवोच्चारण पूर्वक ध्यान करना इत्यादि विरुद्धतायें हैं। तत्त्व परिकल्पना, उपासना और आचार में यह मत, वेदविरुद्ध है।

वेदाः खलु परब्रह्म नारायणमेव जगत्तिमितमुपादानं च वदंति- "नारायणं परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः, नारायणपरोज्योतिरात्मा नारायणः परः "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति" सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति" तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्यादयः। परब्रह्मभूत परमपुरुष वेदनमेव च मोक्षसाधनमुपासनं वदंति–"वेदाहमेतं पुरुषं महांतं आदित्यवर्णं तमसस्तुपारे "तमेवविद्वानमृत इह भवति"

नान्यः पन्थाः, अयनाय विद्यते "इत्यादिना एकतां गताः सर्वे वेदांताः, तदितिकर्त्तव्यताभूतं कर्म च वेदविहितवर्णाश्रम संबंधि यज्ञादिकमेव वदंति—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषंति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन "एतमेवलोकमिच्छंतः प्रव्राजिनः प्रव्रजंति "इत्यादयः। केवल परतत्त्व प्रतिपादनपरनारायणानुवाकसिद्धतत्त्वपराः केषुचिदुपासनादि विधिपरेषु वाक्येषु श्रुताः प्रजापतिशिवेन्द्राकाश-प्राणादिशब्दा इति "शास्त्र दृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् "इत्यत्र प्रतिपादितम्। तथा—"एको ह वै नारायण आसीन्नब्रह्मानेशानः" इत्यारभ्य "स एकाकी न रमेत" इति सृष्टिवाक्योदितं स्रष्टारं नारायणमेव समान प्रकरणस्थाः "तदेव सौम्येदमग्रे "इत्यादिषु साधारणाः सद्ब्रह्मादि शब्दाः प्रतिपादयंतीति "जन्माद्यस्ययतः" इति प्रतिपादितम्। अतो वेद विरुद्ध तत्त्वोपासनानुष्ठानाभिधानात् पशुपतिमतमनादरणीयमेव।

वेदों में, परब्रह्म नारायण को ही, जगत का निमित्त और उपादान कारण बतलाया गया है—"नारायण ही परब्रह्म, नारायण ही परं तत्त्व नारायण ही परं ज्योति और नारायण ही परमात्मा हैं "उन्होंने कामना की कि अनेक रूपों में व्यक्त हो जाऊँ" उन्होनें इच्छा की कि—अनेक होकर जन्म लूँ" उन्होने अपनी स्वयं सृष्टि की "इत्यादि। परब्रह्म परमपुरुष के ज्ञान को ही, मोक्ष का साधन, उपासना बतलाया गया है।—"अज्ञान से अतीत, आदित्यवर्ण इस महान् पुरुष को मैं जानता हूँ "साधक पुरुष इस प्रकार जानकर इस लोक में ही अमर हो जाता है" उनको पाने का इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इत्यादि रूप से सारे ही वेदांत वाक्य एक ही तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। वेदविहित, वर्णाश्रमानुगत यज्ञ आदि को ही, मोक्षोपाय का अंगीभूत कर्म बतलाया गया है "ब्राह्मण, वेदाध्ययन, वेदोक्त यज्ञ दान, तप और भोग निवृत्ति द्वारा, उसको जानने की इच्छा करते हैं" "इसी प्रकार संन्यासी आत्मलोक प्राप्त की कामना से संन्यास ग्रहण करते हैं "इत्यादि। उपासना विधायक किन्ही किन्हीं वाक्यों में कहे गए, प्रजापति शिव, इन्द्र, आकाश और प्राण आदि शब्दों

को नारायण ही मानना चाहिए तैत्तरीयोपनिषद् के नारायण अनुवाक से ऐसा ही सिद्ध होता है, इसका प्रतिपादन हम "शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत्" सूत्र में कर चुके हैं। तथा—"सृष्टि के पूर्व एक नारायण ही थे, ब्रह्मा, शंकर आदि कोई न थे "इत्यादि से प्रारंभ करके "वह अकेले रमण नहीं करते "इत्यादि सृष्टि वाक्य में जिन नारायण को स्रष्टा बतलाया गया है, उन्हे ही दूसरे सृष्टि प्रकरण में-" हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व यह जगत सत् ही था "इत्यादि में साधारण सत् शब्द से बतलाया गया है। "जन्माद्यस्य यतः" सूत्र में इसका विवेचन हो चुका है वेदविरुद्ध तत्त्व की उपासना का प्रतिपादक पाशुपत सिद्धान्त निश्चिय ही अनादरणीय है।

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ।२।२।३६।।

वेदवाह्यानामनुमानाद् हि केवल निमित्तेश्वर कल्पना तथा सति दृष्टानुसारेण कुलालादिवदधिष्ठानं कर्त्तव्यम्, न च कुलालादेर्मृदाद्याधिष्ठानवत्पशुपतेर्निमित्तभूतस्य प्रधानाधिष्ठान-मुत्पद्यते, अशरीरत्वात्, सशरीराणामेव हि कुलालादीनामधिष्ठान-शक्तिर्दृष्टा, न चेश्वरस्य सशरीरत्वमभ्युपगंतव्यम्, तच्छरीरस्य सावयवस्य नित्यत्वं अनित्यत्वे च "शास्त्र योनित्वात्" इत्यत्र दोषस्योक्तत्वात्।

वेदविरुद्ध पाशुपतों के अनुमान से यदि ईश्वर को ही निमित्तकारण रूप से कल्पना करेंगे तो, उन्हें निमित्त कारण रूप से दीखने वाले कुम्हार आदि की तरह ही मानना पड़ेगा। कुम्हार आदि जैसे मिट्टी आदि उपादानों से निर्माण करते हैं वैसे ही पशुपति, प्रधान से निर्माण नहीं कर सकते क्यों कि वह शरीरी नहीं है. शरीर वाले कुम्हार आदि में ही निर्माण शक्ति देखी जाती है; ईश्वर को शरीर वाला कभी माना नहीं जा सकता, क्यों कि, उनका सांगोपांग शरीर मानने से, नित्यता और अनित्यता होगी जिसे कि—"शास्त्रयोनित्वात्" में दोष बतला चुके हैं।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ।२।२।३७।।

यथा भोक्तुर्जीवस्य करणकलेबराद्यधिष्ठानमशरीरस्यैव दृश्यते, तद्वन्महेश्वरस्याप्यशरीरस्य च प्रधानाधिष्ठानमुपपद्यत इति चेत्-न भोगादिभ्यः पुण्यपापरूपकर्मफलभोगार्थं पुण्यपापरूपादृष्टकारितं हि तदधिष्ठानं तद्वद् पशुपतिरपि पुण्यपापरूपादृष्टवत्तया तत्फलभोगादि सर्वं प्रसज्येत्, अतो नाधिष्ठान संभवः।

शरीर होते हुए भी भोक्ता जीव को जैसे, देह और इन्द्रिय आदि से निर्माण करते देखा जाता है वैसे ही महेश्वर भी अशरीरी होते हुए प्रधान से सृष्टि करते हैं, ऐसा नहीं कह सकते, ऐसा मानने से भोग आदि की संभावना होगी। जीव का जो देह इन्द्रिय आदि में अधिष्ठान है वह पुण्य-पाप कर्मों के फल भोगने के लिए हैं, वैसे ही पशुपति में भी पुण्यपाप कर्म और उसके फल भोगने की स्थिति होगी। इसलिए पशुपति का अधिष्ठान नहीं हो सकता।

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ।२।२।३८।।

वाशब्दश्चार्थे, पशुपते पुण्यापुण्यरूपादृष्टवत्त्वे जीववदंतवत्त्वं सृष्टिसंहाराद्यास्पदत्वं असर्वज्ञता च स्यादित्यनादरणीयमेवेदं "विरोधेत्वनपेक्ष्यस्यात्" इत्यादिना वेदविरूद्धस्यानादरणीयत्वे सिद्धेपि पशुपति मतस्य वेदविरूद्धताख्यापनार्थं "पत्युरसामंजस्यात्" इति पुनरारम्भः। यद्यपि पाशुपतशैवयोर्वेदाविरोधिन इव केचन धर्माः प्रतीयंते, तथापि वेदविरूद्ध निमित्तोपादानभेदकल्पनापरावर तत्त्वव्यत्यय कल्पनामूलत्वात् सर्वंमसमंजसमेवेति "असामंजस्यात्" इत्युक्तम्।

सूत्रस्थ वा शब्द च के अर्थ में प्रयुक्त है। पशुपति का यदि पुण्य अपुण्य रूप अदृष्ट संबंध स्वीकारेंगे तो, जीव की तरह उनकी भी नाशवान, सृष्टि-संहार और सर्वज्ञता हो जावेगी, इसलिए यह मत अनादरणीय

ही है। "वेद विरुद्ध होने से उपेक्षणीय है" इस वाक्य के अनुसार अनादरणीय सिद्ध होने पर भी, इस मत की वेद विरुद्धता बतलाने के लिए "पत्युरसामंजस्यात्" सूत्र से उसी बात को पुनः आरंभ किया गया है। यद्यपि पाशुपत और शैवमत की कुछ मान्यतायें, वेद से अविरुद्ध भी प्रतीत होती हैं तथापि-वेद विरुद्ध, निमित्त और उपादान कारणों की भेद कल्पना, पर अपर तत्व की विपर्यय कल्पना ही जब इस मत के मूल सिद्धान्त हैं तो उसीसे सारा मत असंगत हो जाता है, "असामंजस्यात्" से यही बात कही गई है।

८ उत्पत्यसंभवाधिकरणः—

उत्पत्यसंभवात् ।२।२।३६॥

कपिलादितंत्र सामान्याद भगवदभिहितपरमनिः श्रेयस साधनावबोधिनि पंचरात्रतंत्रेऽप्यप्रामाण्यमाशंक्य निराक्रियते। तत्रैव माशंकते—"परमकारणात् परब्रह्मभूतात् वासुदेवात् संकर्षणो नाम जीवो जायते, संकर्षणात् प्रद्युम्नसंज्ञं मनोजायते, तस्मादनिरुद्ध संज्ञोऽहंकारो जायते" इति हि भागवतप्रक्रिया। अत्र जीवस्योत्पत्तिः श्रुतिविरुद्धा प्रतीयते, श्रुतयो हि जीवस्य अनादित्वं वदंति "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" इत्यादिना।

कपिल आदि तन्त्रों की समानता होने से, स्वयं भगवान द्वारा उपदिष्ट मोक्ष साधन बोधक पंचरात्र तंत्र की भी अप्रामाणिकता की आशंका करके निराकरण करते है—"परमकारण परब्रह्म स्वरूप वासुदेव से संकर्षण नामक जीव उत्पन्न हुआ, संकर्षण से प्रद्युम्न नामक मन हुआ, उससे अनिरुद्ध नामक अहंकार होता है।" ऐसी भागवतों की प्रकिया है। इस पर आशंका करते हैं कि—इसमें जो जीव की उत्पत्ति बतलाई गई है वह वेद विरुद्ध है, वेदों में तो जीव को अनादि बतलाया गया है— "विपश्चित न उत्पन्न होता है न मरता है" इत्यादि।

न च कर्त्तुः करणम् ।२।२।४०॥

"संकर्षणात् प्रद्युम्नसंज्ञ मनो जायते" इति कर्त्तुः जोवात् करणस्य मनस उत्पत्तिर्नसंभवति । "एतस्माज्जायते प्राणो मनसः सर्वेन्द्रियाणि च" इति परस्मादेव ब्रह्मणो मनसोऽप्युत्पत्तिश्रुतेः । अतः श्रुतिविरुद्धार्थं प्रतिपादनादस्यापि तंत्रस्य प्रामाण्यं प्रतिसिध्यत इति ।

"संकर्षण से प्रद्युम्न नामक मन होता है" कर्त्ता जीव से इन्द्रिय रूप मन की जो उत्पत्ति बतलाई गई है वह भी संभव नहीं है । "इससे ही प्राण मन आदि इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं" इत्यादि श्रुति में परब्रह्म से ही मन की उत्पत्ति बतलाई गई है। इसलिए श्रुति विरुद्ध प्रतिपादन करने वाले इस तंत्र की भी प्रामाणिकता, अमान्य है ।

एवं प्राप्त प्रचक्ष्महे--इस पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ।२।२।४१॥

वा शब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तते, विज्ञानं चादिचेति परब्रह्म विज्ञानादि । संकर्षण प्रद्युम्नानिरुद्धानामपि परब्रह्मभावे सति तत्प्रतिपादन परस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं न प्रतिषिध्यते । एतदुक्तं भवति-भागवत प्रक्रियामजानतामिदें चोद्यं—यज्जीवोत्पत्तिर्विरुद्धाऽभिहिता इति । वासुदेवाख्यं परं ब्रह्मैवाश्रितवत्सलं स्वाश्रित समाश्रयणीयत्वाय स्वेच्छया चतुर्धाऽवतिष्ठत इति हि तत्प्रक्रिया । यथा पौष्कर संहितायां– "कर्त्तव्यत्वेन वै यत्र चातुरात्म्यमुपास्यते, क्रमागतैः स्वसंज्ञाभिः ब्राह्मणैरागमं तु तत्" इत्यादि । तच्च चातुरात्म्योपासनं वासुदेवाख्य परब्रह्मोपासनमिति सात्वत संहितायामुक्तम्– "ब्राह्मणानां हि सद्ब्रह्म वासुदेवाख्ययाजिनाम् विवेकादपरं शास्त्रं ब्रह्मोपनिषदंमहत्" इति ।

सूत्र वा शब्द पूर्वपक्ष की आपत्ति का निवारक है। विज्ञानादि का तात्पर्य है, सबका कारणीभूत परब्रह्म। संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भी परब्रह्म के ही स्वरूप हैं, उनके प्रतिपादक शास्त्र की प्रामाणिकता प्रतिषिद्ध नहीं हो सकती। कथन यह है कि—भागवत संप्रदाय की तत्त्व चिंतन प्रणाली को न जानने वाले ही ऐसा कहते हैं कि-जीव की उत्पत्ति शास्त्र विरुद्ध है। भागवतों का मत है कि---वासुदेव नामक परब्रह्म ही शरणागत वत्सल रूप से अपने भक्तों को आश्रय प्रदान करने के लिए स्वेच्छा से चार रूप धारण करते हैं। जैसा कि पौष्कर संहिता में वे कहते हैं—जिससे, गुरु शिष्य भावापन्न ब्राह्मण लोग, कर्त्तव्य बुद्धि से चतुर्व्यूह की उपासना करते हैं वही आगम है" इत्यादि। वह चतुर्व्यूह उपासना, वासुदेव नामक परब्रह्म की ही है, ऐसा सात्वत संहिता में कहा गया है—"वासुदेव नामक सद्ब्रह्म के उपासक ब्राह्मणों को विवेक प्रदान करने वाला यही एक मात्र ब्रह्मोपनिषद् है।"

तद् हि वासुदेवाख्यं परंब्रह्म संपूर्णषाड्गुण्यवपुः सूक्ष्मव्यूहविभव भेदभिन्नं यथाधिकारं भक्तैः ज्ञानपूर्वेण कर्मणा अभ्यर्चितं सम्यक् प्राप्यते। विभवार्चनाद्व्यूहं प्राप्य, व्यूहार्चनात् परं ब्रह्म वासुदेवाख्यं सूक्ष्मं प्राप्यत इति वदंति। विभवो हि नाम रामकृष्णादि प्रादुर्भावगणः। व्यूहो वासुदेव संकर्षणप्रद्युम्नानिरूद्धरूपश्चतुर्व्यूहः। सूक्ष्मं तु केवल षाड्गुण्य विग्रहं वासुदेवाख्यं परब्रह्म। यथा पौष्करे—"यस्मात् सम्यक् परंब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम्, अस्मादवाप्यते शास्त्रात् ज्ञानपूर्वेण कर्मणा" इत्यादि।

संपूर्ण छः गुणों वाले सूक्ष्म व्यूह रूप विशिष्ट संपत्तिशाली उन वासुदेव नामक परब्रह्म को, भक्तगण अपने अपने अधिकारानुसार, ज्ञान-युक्त कर्म द्वारा अर्चना करके, अच्छी तरह प्राप्त होते हैं। विभवार्चन से व्यूह की प्राप्ति करके, व्यूहार्चन करते हैं उससे परब्रह्म वासुदेव नामक सूक्ष्म तत्त्व को प्राप्य करते हैं। राम कृष्ण आदि अवतार ही विभव हैं, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्यम्न और अनिरुद्ध चतुर्व्यूह हैं। सूक्ष्म तो केवल छःगुण संपन्न, वासुदेव नामक परब्रह्म ही हैं। जैसा कि —पौष्कर संहिता

में कहा गया है—"वासुदेव नामक सद्ब्रह्म की प्राप्ति, जिस शास्त्रोपादिष्ट ज्ञान पूर्वी कर्म से होती है" इत्यादि।

अतः संकर्षणादीनामपि परस्यैव ब्रह्मणः स्वेच्छाविग्रह रूपत्वात् "अजायमानो बहुधा विजायते" इति श्रुतिसिद्धस्येवाश्रित वात्सल्यनिमित्त स्वेच्छाविग्रह संग्रहरूपजन्मनोऽभिधानात्तदभिधायि शास्त्रप्रामाण्यस्याप्रतिषेधः, इति। तत्र जीवमनोऽहंकार तत्त्वाना-मधिष्ठातारः संकर्षण प्रद्युम्नानिरुद्धा इति तेषामेव जीवादिशब्दै-रभिधानमविरुद्धम्, यथा आकाश प्राणादिशब्दैः ब्रह्मणोऽभिधानम्।

संकर्षण आदि तीन, परब्रह्म के स्वेच्छा विग्रह हैं—"जो जन्मरहित-होते हुए भी, अनेक रूपों में आविर्भूत होते हैं" ऐसा श्रुति प्रसिद्ध मत है; शरणागत वात्सल्य से स्वेच्छा विग्रहों के रूप में उनका प्राकट्य बतलाया गया है, जिससे कि उनके प्रतिपादक शास्त्र की प्रामाणिकता अकाट्य सिद्ध होती है। जीव मन अहंकार के अधिठणता, संकर्षण-प्रद्युम्न और अनिरुद्ध है, उन्हें ही जीव आदि शब्दों से बतलाया गया है, जैसा कि—आकाश आदि शब्दों से परब्रह्म का उल्लेख किया गया है।

विप्रतिषेधाच्च।२।२।४२॥

विप्रतिषिद्धा हि जीवोत्पत्तिस्तस्मिन्नपितंत्रे, यथोक्तं परम संहितायाम् "अचेतना परार्था च नित्या सतत विक्रिया, त्रिगुणा कर्मिणां क्षेत्रं प्रकृतेरूपमुच्यते। व्याप्तिरूपेण संबंधस्तस्याश्च पुरुषस्य च, स हि अनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चितः" इति। एवं सर्वास्वपि संहितासु जीवस्य नित्यत्ववचनाज्जीवस्वरूपोत्पत्तिः पंचरात्रतंत्रे प्रतिषिद्धैव। जन्ममरणादिव्यवहारस्तु लोकवेदयोर्जीवस्य यथोपपद्यते, तथा "नात्मा श्रुतेः" इत्यत्र वक्ष्यते। अतो जीवस्योत्पत्तिस्तत्रापि प्रतिषिद्धैवेति जीवोत्पत्तिवादनिमित्ताप्रामाण्य शंका दूरोत्सारिता।

जीव की उत्पत्ति तो नारद पांचरात्रतंत्र में भी अस्वीकार की गई है जैसा कि परम संहिता में--"अचेतन परार्थं (पुरुष की भोग साधिका) नित्य और निरंतर विकारशील, त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही जीवों की कर्म भूमि है, जो कि यथार्थ सा है। व्यापक होने से प्रकृति के साथ पुरुष का दृढ़ संबंध हो गया है, जो कि अनादि अनंत सत्य सा प्रतीत होता है।" ऐसा ही सभी संहिताओं में जीव के नित्यता बोधक वाक्यों से जीव की स्वरूपोत्पत्ति. पांचरात्रतंत्र में प्रतिषिद्ध है। जीव के जन्म और मरण आदि का व्यवहार जैसा लोक और वेद में किया जाता है उसे "नात्मा श्रुतेः" में दिखलाया है। जीव की उत्पत्ति तो, पांचरात्रतंत्र में भी प्रतिषिद्ध हैं इसलिए जीवोत्पत्तिवाद निमित्तक प्रामाण्य की शंका निराकृत हो जाती है।

यश्चैव केषांचिद् उद्घोषः "सांगेषु वेदेषु निष्ठामलभमानः शांडिल्यः पंचरात्र शास्त्र मधीतवान् "इति। सोऽप्यनाघ्रातवेदवचसामनाकलिततदुपवृंहणन्यायकलापानां श्रद्धामात्र विजृम्भितः, यथा--"प्रातः प्रातरनृतं ते वदंति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम् "इति-अनुदितहोमनिन्दा उदितहोम प्रशंसार्थेत्युक्तम्, यथा च भूमविद्याप्रक्रमे नारदेन "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमम् "इत्यारभ्य सर्वविद्यास्थानमभिधाय--"सोऽहं भगवो मंत्रविदेवास्मि नात्मवित् "इति भूमविद्याव्यतिरिक्तासु सर्वासु विद्यास्वात्मवेदनालाभवचनं वक्ष्यमाणभूमविद्या प्रशंसार्थंकृतं अथवाऽस्य नारदस्य सांगेषु वेदेषु यत्परतत्वं प्रतिपाद्यते, तदलाभनिमितोऽयंवादः, एवमेव शांडिल्यस्येति। पश्चाद् वेदांत वेद्यवासुदेवाख्य परब्रह्म तत्त्वाभिधानादवगम्यते तथा वेदार्थस्य दुर्ज्ञानतया सुखावबोधार्थः शास्त्रारम्भः परमसंहितायामुच्यते--"अधीता भगवन् वेदाः सांगोपांगाः सविस्तराः, श्रुतानि च मयांऽगानि वाक्यो वाक्ययुतानि च न चैतेषु समस्तेषु संशयेन बिना क्वचित्, श्रेयोमार्गं प्रपश्यामि

येन सिद्धिर्भविष्यति "इति "वेदांतेषु यथासारं संगृह्य भगवान हरिः, भक्तानुकंपमाविद्वान् संचिक्षेप यथा सुखम् "इति च ।

किसी का जो यह कथन है कि–"शांडिल्य ऋषि ने अङ्गों सहित वेदों में पुरुषार्थ निष्ठा न देखकर पांचरात्र शास्त्र का अध्ययन किया" इस वाक्य में वेद वेदांग में पुरुषार्थ निष्ठा की अनुपलब्धि गई है, इसलिए यह तन्त्र वेद विरुद्ध है। उन कहने वालों ने, वस्तुतः वेदों को सूंघा तक नहीं और न वे वेदानुकूल युक्तियों से ही परिचित हैं, उनमें केवल श्रद्धा का अंकुर मात्र ही है, जिसके आधार पर वे वेद की दुहाई देते हुए प्रायः अनर्गल प्रलाप करते हैं। वेद की युक्ति का एक उदाहरण जैसे—"जो सूर्योदय के पूर्व हवन करते हैं, वे नित्य प्रातः काल झूठ बोलते हैं" ऐसी सूर्योदय पूर्व के हवन की निन्दा का तात्पर्य सूर्योदय के बाद के हवन की प्रशंसा ही है। तथा–भूमाविद्या के प्रकरण में नारद ने कहा कि– भगवन् ! मैंने ऋग् यजु साम अथर्व चारों वेद पढ़ा तथा पांचवें वेद इतिहास पुराण का भी स्मरण किया" इत्यादि से सभी विद्याओं का उल्लेख करके "हे भगवन् ! मैं मन्त्र वेत्ता तो हूँ किन्तु आत्म वेत्ता नहीं हूँ" इत्यादि में, ब्रह्मविद्या के अतिरिक्त समस्त विद्याओं में आत्म ज्ञान प्राप्ति का अभाव बतला गया, वह एक मात्र भूमाविद्या की प्रशंसा के लिए ही है। अथवा अङ्गों सहित में जो परतत्त्व निहित है, उसको न समझ सकने के कारण नारद ने ऐसा कहा, उसी प्रकार शांडिल्य संबंधी कथन भी है। उक्त शांडिल्य सम्बन्धी कथन के ठीक बाद ही, वेदांत वेद्य वासुदेव नामक पर ब्रह्म तत्त्व का उल्लेख है, उससे यही बात सिद्ध होती है। ऐसे ही वेदार्थ दुर्ज्ञेयता के अनायास बोध के लिए पांचरात्र शास्त्र के प्रारंभ में पर संहिता में कहा गया कि–"भगवन! अंगों सहित वेदों का अध्ययन किया, तथा वाक्ययुक्ति विशिष्ट वेदांगों का भी श्रवण किया, किन्तु उनमें असंशयित ऐसा श्रेयमार्ग नहीं पाया, जिससे कि सिद्धि हो सके "भगवान हरि ने स्वयं वेदों का सारतत्त्व संग्रह करके, भक्तों पर कृपावश, सहज ज्ञान प्राप्ति के लिए संक्षिप्त किया"।

अतः स भगवान् वेदैकवेद्यः परब्रह्माभिधानोवासुदेवो निखिल हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानानं त ज्ञानानंदाद्यपरिमितोदारगुणसागरः सत्यसंकल्पश्चातुर्वर्ण्यचातुराश्रम्यव्यवस्थयाऽवस्थितान् धर्मार्थं काम

मोक्षाख्य पुरुषार्थाभिमुखान् भक्तानवलोक्य पारकारुण्य सौशील्य-वात्सल्यौदार्यं महोदधिः स्वस्वरूपस्वविभूति स्वाराधन तत्फल याथात्म्यावबोधिनो वेदान् ऋग्यजुसामाथर्वभेदभिन्नानपरिमितशाखान् विध्यर्थवादमंत्ररूपान् स्वेतर सकलसुरनरदुरवगाहांश्चावधार्य तदर्थ याथात्म्यावबोधि पंचरात्र शास्त्रं स्वयमेव निर्मिमीतेति निरवद्यम्।

सारांश यह है कि–अपार करुणावात्सल्य और सुशीलता के सागर, वेदांत वेद्य, हीनतारहित, महान् गुणों की खान, अनंत ज्ञान आनंद आदि अपरिमितउदार गुणों के सागर सत्यसंकल्प परब्रह्म वासुदेव ने चारों वर्णों और आश्रमों की व्यवस्था के अनुरूप, अपने भक्तों को, धर्म अर्थ काम मोक्ष पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए उत्सुक देखकर, अपने स्वरूप, विभूति आराधना और आराधना के फल के प्रतिपादक, ऋग् यजु साम अथर्व आदि रूपों में विभक्त असंख्य शाखावाले, विधि, अर्थवाद और मंत्र वाले वेदों को, अपने से भिन्न देव मनुष्य आदि के लिए दुर्विज्ञेय समझकर सुबोध पंचरात्र शास्त्र का स्वयं ही निर्माण किया। इसलिए यह शास्त्र अनवद्य है।

यत्तु परैः सूत्र चतुष्टयं कस्यचिद्विरुद्धांशस्य प्रामाण्य निषेध परं व्याख्यातम्, तत्सूत्राक्षराननुगुणं, सूत्रकाराभिप्रायविरुद्धं च तथाहि–सूत्रकारेण वेदांतन्यायाभिधायीनि सूत्राण्यभिधाय वेदोपवृंहणाय च भारतसंहितां शतसाहस्रिकां कुर्वता मोक्षधर्मे ज्ञानकांडेऽभिहितं–"गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः, य इच्छेत् सिद्धिमास्थातुं देवतां कां यजेत् सः"इत्यारम्भ महता प्रबंधेन पंचरात्र शास्त्र प्रक्रियां प्रतिपाद्य "इदं शतसहस्राद् हि भारताख्यानविस्तरात् आविध्य मति मंथानं दध्नोघृतमिवोद्धृतं, नवनीतं यथा दध्नो, द्विपदां ब्राह्मणो यथा आरण्यकं च वेदेभ्यः औषधीभ्योयथाऽमृतम् "इदं महोपनिषदं चतुर्वेद समन्वितं, सांख्य योग कृतांतेन पंचरात्रानुशब्दितम् "इदं श्रेय इदं ब्रह्म इदं हितमनुत्तमं, ऋग्यजुः सामभिर्जुष्टमथर्वांगिरसैस्तथा, भविष्यति प्रमाणं वा एतदेवानुशासनम्"इति। सांख्ययोगशब्दाभ्यां

ज्ञानयोगकर्मयोगावभिहतौ–यथोक्तं–"ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनामिति । भीष्मपर्वण्यापि–"ब्राह्मणैक्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः, अर्चनीयश्च, सेव्यश्च पूजनीयश्च माधवः । "सात्वतं विधिमास्थाय गीतसंकर्षणेन यः "इति । कथमेवं ब्रुवाणो वादरायणो वेदविदग्रेसरो वेदांतवेद्य परब्रह्मभूतवासुदेवोपासनार्चनादि प्रतिपादनपरस्य सात्वतशास्त्रस्याप्रामाण्यं ब्रूयात्?

जिन्होनें उक्त चारों सूत्रों की, विरुद्धांश प्रामाण्य निषेध परकव्याख्या की है, वह सूत्रार्थं और सूत्रकार के अभिप्राय के विरुद्ध है । सूत्रकार ने, वेदांत व्याख्या के नियम के प्रकाशक ब्रह्मसूत्रों की रचना करके–वेदों की वास्तविक विवेचना करने वाली, महाभारत के एक लाख श्लोकों की संहिता बनाई उसी के मोक्षधर्म के ज्ञान कांड में "ग्रहस्थ, व्रह्मचारी, वाणप्रस्थी और संन्यासी, जो भी सिद्धि प्राप्ति की इच्छा करते हैं वे किन देवता का अर्चन करें? "इत्यादि से प्रारंभ करके बड़े सुव्यवस्थित ढंग से पंचरात्र शास्त्र का प्रतिपादन इस प्रकार किया है–"दही से निकले नवनीत की तरह, द्विजातियों में श्रेष्ठ व्राह्मण की तरह, वेदो में आरण्यक की तरह, समुद्र से निकले अमृत की तरह, अपनी बुद्धि रूपी मथानी की सहायता से, एकलाख श्लोक वाले आख्यायिका प्रधान महाभारतरूपी दही के समुद्र से, नवनीत की तरह यह पांचरात्र शास्त्र निकाला है । चारों वेदों के सार से युक्त यह महोपनिषद्, सांख्य योग और वेदांत में "पंचरात्र" शब्द से वर्णित है । यही परम कल्याण रूप मोक्ष, यही ब्रह्म प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ हित तथा यही ऋग् यजु साम और अथर्व वेद के प्रतिपाद्य तत्त्व का प्रामाणिक अनुशासन करने वाला है । "यहाँ सांख्य और योग शब्द से ज्ञान और कर्म योग समझना चाहिए–जैसा कि–"ज्ञान योग से सांख्य तथा कर्म योग से योग, तात्पर्य है" इस वाक्य से निश्चित होता है । भीष्मपर्व में भी इसी प्रकार कहा गया कि–"व्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शुद्रों के लिए, संकर्षण सहित माधव ही, सात्वत विधि के अनुसार पूज्य, सेव्य और अर्च्यं कहे गए हैं । "वेदज्ञों के अग्रगण्य भगवान वादरायण ही ऐसा कहें और स्वयं वे ही, वेदांत वेद्य परब्रह्मस्वरूप भगवान वासुदेव की अर्चना के प्रतिपादन में तत्पर सात्वत शास्त्र को अप्रामाणिक बतलावें ऐसा कैसे संभव है?

ननु च—"सांख्यं योगः पंचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा। किमेतान्येकनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानि वामुने। इत्यादिना साख्यादोनामप्यादरणीयतोच्यते, शारीरके तु सांख्यादीनि प्रतिषिध्यंते, अत इदमपितंत्रं तत्तुल्यम्, नेत्युच्यते, यतस्त्रपीममेव शारीरकोक्तं न्यायमवतारयति "किमेतान्येकनिष्ठानि प्रचङ्निष्ठानिवा? "इति प्रश्नस्यायमर्थः—किं सांख्ययोगपाशुपतवेद पंचरात्राण्येकतत्त्व-प्रतिपादनपराणि, पृथक्तत्त्वप्रतिपादनपराणि वा? यदैकतत्त्वप्रतिपादन-पराणि, किं तदैकं तत्त्वम्? यदा तु पृथक्तत्त्वप्रतिपादनपराणि तदैषांपरस्परं विरुद्धार्थं प्रतिपादनपरत्वात् वस्तुनि विकल्पासंभवाच्चैकमेव प्रमाणमंगीकरणीयम्, किंतदेकम्—इति। अस्योत्तरं ब्रुवन्—"ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै, सांख्यस्य वक्ता कपिलः "इत्यारम्भ सांख्ययोगपाशुपतानां, कपिलहिरण्यगर्भ पशुपति कृतत्वेन पौरुषेयत्वं प्रतिपाद्य "अवांतरतपानाम वेदाचार्यः स उच्यते "इति वेदानामपौरुषेयत्वम-भिधाय—"पंचरात्रस्यकृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम् "इति पंचरात्रतंत्रस्य वक्ता नारायणः स्वयमेवेत्युक्तन्यन्। एवंवदतश्चायमाशयः—पौरुषेयाणां तंत्राणां परस्पर विरुद्ध वस्तु वादितया अपौरुषेयत्वेन निरस्तप्रमादादिनिखिलदोषगंधवेदवेद्यवस्तु-विरुद्धाभिधायित्वाच्च यथावस्थितवस्तुनि प्रामाण्यं दुर्लभम्। वेदवेद्यश्च परब्रह्मभूतो नारायणः, अतस्तत्तंत्राभिहितप्रधानपुरुष पशुपतिप्रभृतितत्त्वस्य वेदांतवेद्यपरब्रह्मभूतनारायणात्मकतयैव वस्तुत्वमभ्युपगमनीयमिति।

कहते हैं कि—"सांख्य, योग, पंचरात्र, वेद पाशुपत, ये सब क्या, एक ही उद्देश्य साधन में पर्यवसित हैं अथवा भिन्न भिन्न साधनों में ? इत्यादि वाक्यों में सांख्य आदि का तो आदर किया गया है, शारीरक ब्रह्मसूत्र में

इन सांख्य आदि का प्रतिषेध किया गया है, यह पांचरात्र तंत्र भी उसी प्रकार प्रतिषिद्ध है। नहीं ऐसा कहना ठीक नहीं, शारीरक सूत्रों की युक्तियों की तरह उक्त वाक्य में भी युक्ति पूर्ण प्रस्तावना की गई है। "किमेतान्येक निष्ठानि" इत्यादि प्रश्न का तात्पर्य है कि—सांख्य, योग, पाशुपत, वेद पांचरात्र आदि शास्त्र, क्या एकही तत्व का प्रतिपादन करते हैं अथवा भिन्न भिन्न तत्वों का? यदि एक का ही प्रतिपादन करते हैं तो वह एक तत्व क्या है? यदि भिन्न भिन्न का प्रतिपादन करते हैं तो, उन सब में प्रमाण रूप से किसी एक को ही स्वीकारा जा सकता है, सो वह स्वीकार्य तत्व कौन सा है? इस प्रश्न का उत्तर भी नहीं दिया गया कि-ये विभिन्न मतानुयायियों के ज्ञान के फलस्वरूप उद्भूत प्रक्रियायें हैं. उनमें सांख्य के वक्ता कपिल हैं "इत्यादि से प्रारंभ करके—सांख्य योग और पाशुपत मतों की कपिल, हिरण्यगर्भ और पशुपति प्रणीत पौरुषेयता का प्रतिपादन करके—"वे (नारद) ही अपान्तरतपा नामक वेदाचार्य कहलाते हैं "इत्यादि से वेदों की अपौरुषेयता दिखलाकर "संपूर्ण पांचरात्र स्वयं नारायण ने कहा"इत्यादि से स्वयं नारायण को ही पंचरात्र तंत्र का वक्ता बतलाया। इतना कहने का आशय यह है कि—पौरुषेय मतों के परस्पर विरुद्ध तत्व प्रतिपादन के तथा अपौरुषेय होने से, वेद वेद्य तत्त्व, प्रमादादि समस्तदोषों से रहित है, इसलिए जीव की प्रकृति से, विरुद्ध सा प्रतीत होता है, वस्तु की यथार्थता में इनको प्रमाण रूप से स्वीकारना बड़ा कठिन सा है। वेदवेद्य तत्त्व नारायण ही हैं, इसलिए सांख्य आदि शास्त्रोपदिष्ट, प्रकृति पुरुष, पशुपति आदि तत्त्वों को वेदांत वेद्य परब्रह्मस्वरूप नारायणात्मक रूप से ही स्वीकारा जायेगा।

तदिदमाह च—"सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते, यथागमं यथान्यायं निष्ठा नारायणः प्रभुः "इति। "यथागमं यथान्यायम् "इति न्यायानुगृहीततत्तदागमोक्तं वस्तुपरामृशतो नारायण एव सर्वस्यवस्तुनो निष्ठेति दृश्यते, ब्रह्मात्मकतया तत्तंत्राभिहितानां तत्वानां "सर्वं खल्विदं ब्रह्म "विश्वं नारायणः "इत्यादिना सर्वस्य ब्रह्मात्मकतामनुसंदधानस्यनारायण एव निष्ठेति प्रतीयत इत्यर्थः।

उक्त आशय को स्पष्टतः कहा भी है–"समस्त ज्ञान शास्त्र में, शास्त्र और युक्ति के अनुसार ज्ञात होता है कि–प्रभुनारायण ही निष्ठा (तत्त्व की परमसीमा) हैं। ' इसमें "यथागमं यथान्यायम्" का तात्पर्य है कि–न्यायानुमोदित, समस्त वस्तुतत्त्व का विचार करने पर ज्ञात होता है कि सारे शास्त्रों के पदार्थ अब्रह्मात्मक हैं, नारायण ही सब वस्तुओं में निष्ठा हैं। यह सब ब्रह्मस्वरूप है। सारा जगत नारायण स्वरूप है "इत्यादि से निश्चित होता है कि-सारीवस्तुएं ब्रह्मात्मक हैं नारायण ही सबकी निष्ठा हैं।

अतोवेदांत वेद्यः परब्रह्मभूतोनारायणः स्वयमेव पंचरात्रस्य-कृत्नस्य वक्तेति, तत्स्वरूपतदुपासनाभिधायि तत्तंत्रमिति च तस्मिन्नितर तंत्रसामान्यं न केनचिदुद्भावयितुंशक्यम्। अतस्तत्रैवेदमुच्यते–"एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च, परस्परांगान्येतानि पंचरात्रं तु कथ्यते " इति। सांख्यं च योगश्च सांख्ययोगम्, वेदाश्चारण्यकानि च वेदारण्यकम्, परस्परांगान्येतानि एकतत्त्वप्रतिपादनपरतयैकीभूतानि एकं पंचरात्रमिति कथ्यते।

वेदांत वेद्य परब्रह्मस्वरूप नारायण ही, स्वयं संपूर्ण पंचरात्र के वक्ता हैं, उनका प्रणीत शास्त्र उनका ही स्वरूप है और उनकी उपासना का विधायक हैं, अन्यान्यशास्त्र उसकी समानता नहीं कर सकते। उस महाभारत में वहीं कहा गया कि–"सांख्य-योग, वेद–आरण्यक सब परस्पर अंगांगींभाव से पांचरात्र शास्त्र में वर्णन किये गए हैं। "सांख्य और योग तथा वेद और आरण्यक, एकही तत्त्व के प्रतिपादक होने से एक हैं, ये शास्त्र ही संगठित होकर पंचरात्र नामक एक शास्त्र कहलाते हैं।

एतदुक्तं भवति–सांख्योक्तानि पंचविंशतितत्त्वानि, योगोक्तं च यमनियमाद्यात्मकं योगं, वेदोदितकर्मस्वरूपाण्यंगीकृत्य तत्त्वानां ब्रह्मात्मकत्वम्। योगस्य च ब्रह्मोपासन प्रकारत्वं कर्मणां च तदाराधनरूपतामभिदधति ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपादयंत्यारण्यकानि।

एतदेव परेण ब्रह्मणा नारायणेन स्वयमेव पंचरात्रतंत्रे विशदीकृतम्—इति ।

कथन यह है कि—सांख्योक्त पच्चीस तत्त्व, योगोक्त यमनियमादि साधन आदि वेदोदित कर्मों को, ब्रह्मात्मभाव से स्वीकारा गया है, आरण्यक भी, योग को ब्रह्मोपासना का विषय, तथा कर्मों को ब्रह्म का ही आराधनात्मक बतलाकर, ब्रह्मात्मक बतलाते हैं। इसी बात को परब्रह्म नारायण ने स्वयं, पंचरात्र तंत्र में, विस्तृत रूप से बतलाया है।

शारीरके च सांख्योक्त तत्त्वानामब्रह्मात्मकतामात्रं निराकृतं न स्वरूपम्। योगपाशुपतयोश्चेश्वरस्य केवलनिमित्तिकारणता, परावरतत्त्व विपरीत कल्पना, वेदवहिष्कृताचारो निराकृतः न योग स्वरूपं पशुपति स्वरूपं च। अतः "सांख्यं योगः पंचरात्रम् वेदाः पाशुपतंतथा, आत्मप्रमाणान्येतानि न हंतव्यानि हेतुभिः।" इत्यपि तत्तदभिहित तत्तत्स्वरूपमात्रमंगीकार्यम्, जिनसुगताभिहिततत्त्ववत् सर्वं न बहिष्कार्यमित्युच्यते यथागमम्-"यथान्यायंनिष्ठानारायणः प्रभुः" इत्यनेनैकार्थ्यात् ।

शारीरक शास्त्र में—सांख्योक्त तत्त्वों की अब्रह्मात्मकता मात्र का निराकरण किया गया है, उसके स्वरूप का नहीं। योग और पाशुपत मत की, केवल ईश्वरनिमित्तकारणता, परावर तत्त्व की विपरीत कल्पना, वेद बहिष्कृत आचार प्रणाली का ही निराकरण किया गया है, योग या पाशुपत के स्वरूप का नही। "सांख्य, योग, पंचरात्र, वेद, पाशुपत ये सब आत्मप्रमाणक शास्त्र हैं, तर्क द्वारा इनका खंडन करना उचित नहीं है" इत्यादि वाक्य भी, उन शास्त्रों के पदार्थो में से, केवल अस्तित्वांश को ही स्वीकारता है, जैन बौद्ध की तरह संपूर्ण को त्याज्य नहीं मनता। "यथान्यायं निष्ठा नारायणः प्रभु" इत्यादि वाक्य से इन सबकी समानता परिलक्षित होती है।

॥ द्वितीय अध्याय द्वितीयपाद समाप्त ॥

[द्वितीय अध्याय]

[तृतीयपाद]

१ वियदधिकरणः—

न वियद श्रुतेः ।२।३।१॥

सांख्यादिवेदवाह्यतंत्राणां न्यायाभासमूलतया विप्रतिषेधाच्चास-मंजस्यमुक्तम्, इदानीं स्वपक्षस्य विप्रतिषेधादिदोषाभावख्यापनाय ब्रह्मकार्यतया अभिमत चिदचिदात्मक प्रपंचस्य कार्यता प्रकारो विशोध्यते।

वेद वाह्य सांख्य आदि तंत्रों में जो युक्तियाँ दिखलाई गई वे सब युक्त्याभास मात्र हैं, विरुद्धार्थ का ही प्रतिपादन करती हैं इसलिये उनकी असंगति दिखलाई गई। अब अपने मत में, वह सब विरुद्धतायें नहीं हैं, इस बात को बतलाने के लिये, ब्रह्म के कार्यरूप से अभिप्रेत, जडचेतनात्मक जगत की उत्पत्ति प्रणाली की निर्दोषता का प्रतिपादन करेंगे।

तत्र वियदुत्पद्यते न वा ? इति संशय्यते । किं युक्तम् ? न वियदुत्पद्यत इति । कुतः ? अश्रुतेः, संभावितस्य हि श्रवण संभवः, असंभावितस्य तु गगनकुसुम वियदुत्पत्यादेः शब्दाभिधेयत्वं न संभवति । न खलु निरवयवस्य सर्वगतस्याकाशस्य आत्मनः, इवोत्पत्तिर्निरूपयितुं शक्यते, अत एव उत्पत्यसंभवात् छांदोग्ये सृष्टि प्रकरणे तेजः प्रभृतीनामेवोत्पत्तिराम्नायते "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" इति । तैत्तरीयकाथर्वणादिषु "तस्माद् वा एतस्मा-दात्मन आकाशः संभूतः" एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च

खंवायुर्ज्योतिरापः" इत्यादिषु श्रूयमाणा वियदुत्पत्तिः, अर्थविरोधाद्-बाध्यते-इति ।

सर्व प्रथम—आकाश की उत्पत्ति है या नहीं? ऐसी शंका करते हैं। कहें कि उत्पत्ति नहीं होती, सो कैसे ? श्रुति में उसका उल्लेख नहीं मिलता, जो वस्तु संभावित होती है, श्रुति में उसी का उल्लेख किया जाता है, असंभावित गगन कुसुम और आकाश की उत्पत्ति आदि कभी शब्दोल्लेख के योग्य हो नहीं सकते। आत्मा की तरह निरवयव और सर्व व्यापी आकाश की उत्पत्ति का निरूपण संभव नहीं है, इसीलिए इसकी उत्पत्ति को असंभव मानकर छांदोग्य के सृष्टि प्रकरण में तेज आदि तीन तत्वों की ही उत्पत्ति बतलाई गई है—"उन्होंने सोचा अनेक रूपों में जन्म लूं, अतः उन्होंने तेज की उत्पत्ति की ।" आथर्वणिक तैत्तरीयोप निषद में—"उस आत्मा से आकाश हुआ" "इन्हीं से प्राण मन-इन्द्रियाँ, आकाश-वायु-तेज और जल हुआ" इत्यादि में आकाश की उत्पत्ति बतलाई भी गई है, जो कि—उक्त मत की बाधक हो रही है ।

सिद्धांतः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते-उक्त संशय पर कहते हैं-

अस्तितु ।२।३।२॥

अस्तित्वाकाशस्योत्पत्तिः, अतीन्द्रियार्थविषया हि श्रुतिः प्रमाणान्तराप्रतीतामपि वियदुत्पत्तिं प्रतिपादयितुं समर्थैव । न च श्रुति प्रतिपन्नेऽर्थे तद्विरोधिनिरवयवत्वादि हेतुकमनुत्पत्त्यनुमानमुदेतु-मलम्, आत्मनोऽनुत्पत्तिर्न निरवयवत्व प्रयुक्तेति वक्ष्यते ।

आकाश की उत्पत्ति होती है, अतीन्द्रिय विषय बोधिका श्रुतियाँ, निश्चित ही, अन्य प्रमाणों से अज्ञेय, आकाश की उत्पत्ति का प्रतिपादन करने में समर्थ हैं। अवयव रहित आकाश की उत्पत्ति न होने के विषय में जो अनुमान है, वह भी श्रुतियों से प्रतिपाद्य अर्थ का विरोधी होकर, समक्ष उपस्थित नहीं हो सकता। आत्मा की उत्पत्ति न होने का कारण, एकमात्र निरवयवता ही नहीं है, इसका आगे विवेचन करेंगे।

गौण्यसंभवाच्छब्दाच्च ।२।३।३॥

"तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्यादि वियदुत्पत्ति श्रुतिर्गौणीति कल्पयितुं युक्तम् "तत्तेजोऽसृजत्" इति सिसृक्षोः ब्रह्मणः प्रथमं तेज उत्पद्यत इति तेज उत्पत्ति प्राथम्येन वियदुत्पत्ति प्रतिपादनासंभवात्, "वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्" इति वियतोऽमृतत्व शब्दाच्च ।

"उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" इत्यादि श्रुति को गौणार्थ बोधिका मानना ही युक्ति संगत होगा "उन्होंने तेज की सृष्टि की" इत्यादि श्रुति बतलाती है कि—सृष्टि के इच्छुक ब्रह्म ने सर्व प्रथम तेज की उत्पत्ति की, ऐसी तेज उत्पत्ति की प्राथमिकता से, आकाश की उत्पत्ति का प्रतिपादन करना संभव नहीं है। "वायु और आकाश ये दोनों अमृत (नित्य) हैं" ऐसी आकाश की अमरता भी कही गई है।

कथमेकस्य संभूतशब्दस्य आकाशापेक्षया, गौणत्वम्, अग्न्याद्यपेक्षया मुख्यत्वमिति चेत्—तत्राह—

एक ही संभूत शब्द का आकाश के लिए गौणार्थ तथा अग्नि आदि के लिए मुख्यार्थ होना कैसे संभव है? इस पर कहते हैं।

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ।२।३।४॥

एकस्यैव "तस्माद्वा एकस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्याकाशे मुख्यत्वासंभवात् गौणतया प्रयुक्तस्य संभूतशब्दस्य "वायोरग्निः" इत्यादिष्वनुषक्तस्य मुख्यत्वंस्यादेव, ब्रह्मशब्दवत् यथा ब्रह्म शब्दः "तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" इत्यत्र प्रधाने गौणतया प्रयुक्तस्तस्मिन्नेव प्रकरणे" तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते" इति ब्रह्मणि मुख्यतया प्रयुज्यते, तद्वत् । अनुषंगे च श्रवणावृत्ताविवाभिधानावृत्तिर्विद्यत एवेत्यर्थः ।

"उस आत्मा से आकाश हुआ" इस वाक्य में प्रयुक्त एक ही संभूत शब्द, आकाश में मुख्यार्थ बोधक नहीं हो सकता, क्योंकि–उसी वाक्य में गौणरूप से प्रयुक्त संभूत शब्द का "वायु से अग्नि" इत्यादि में संबंध होने से मुख्यार्थ ही होना निश्चित है। ब्रह्म शब्द की तरह इसकी व्यवस्था है। जैसे कि–ब्रह्म शब्द–"इस ब्रह्म से नाम रूप और अन्न उत्पन्न हुए" इस वाक्य में जैसे गौण रूप से प्रयुक्त होते हुए भी उसी प्रकरण में "तप द्वारा ब्रह्म प्राप्त होता है" उसी से अन्न होता है इस वाक्य में उसका मुख्य रूप से प्रयोग किया गया है, वैसे ही संभूत शब्द की भी व्यवस्था है। अनुषंग में पदानुवृत्ति की तरह, पदार्थ की अनुवृत्ति भी निश्चित होती है।

परिहरति—उक्त तथ्य का परिहार करते हैं—

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात् ।२।३।५॥

छांदोग्य श्रुत्यनुसारेणान्यासांवियदुत्पत्तिवादिनीनांश्रुतीनांगौणत्वं कल्पयितुं न युज्यते, यतः छांदोग्य श्रुत्यैव वियदुत्पत्तिरंगीकृता, "येनाश्रुतं श्रुतं" इत्यादिना ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञानात्। तस्या हि प्रतिज्ञायाः, अहानिराकाशस्यापि ब्रह्मकार्यत्वेन तदव्यतिरेकादेव भवति।

छांदोग्य श्रुति के अनुसार आकाश की उत्पत्ति बतलाने वाली अन्य श्रुतियों की गौणार्थ कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि—छांदोग्य श्रुति ही आकाश की उत्पत्ति स्वीकारती है। "जिससे अश्रुत भी श्रुत होता है" इत्यादि वाक्य से, ब्रह्म के ज्ञान से समस्त के ज्ञान की प्रतिज्ञा की गई है, इससे निर्णय होता है कि - ब्रह्म से यदि आकाश की उत्पत्ति मानी जावे तो, ब्रह्म का कार्य आकाश, ब्रह्म से अभिन्न सिद्ध होता है, जिससे कि—उक्त प्रतिज्ञा में हानि नहीं होती।

शब्देभ्यः ।२।३।६॥

इतश्च वियदुत्पत्तिः छांदोग्ये प्रतीयते, "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इति प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणशब्दात् "ऐतदात्म्यमिदंसर्वम्" इत्येवमादि शब्देभ्यश्च कार्यत्वेनब्रह्मणोऽव्यति-

रेकप्रतीतेः। न च "तरोजोऽसृजत्" इति तेजस उत्पत्ति श्रुतिर्वियदुत्पत्तिं वारयति। वियदुत्पत्तिवचनमात्रेण तेजसः प्रतीयमानं प्राथम्यं श्रुत्यंतरप्रतिपन्नां वियदुत्पत्तिं न निवारयितुमलम्।

इसलिए भी आकाश की उत्पत्ति छांदोग्य में प्रतीत होती है कि-"हे सौम्यः सृष्टि से पूर्व यह जगत एक अद्वितीय सत् ही था" इस वाक्य में सृष्टि से पूर्व, एकता को बतलाने वाला शब्द है तथा "यह सब कुछ आत्म्य ही है" इत्यादि में ब्रह्म से अभिन्न सब कुछ कहा गया है, जिससे आकाश की भी अभिन्नता सिद्ध होती है। "उन्होंने तेज की सृष्टि की" तेज की उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुति, आकाश की उत्पत्ति का निराकरण नहीं करती। केवल आकाश की ही उत्पत्ति की बात होती तो हम उक्त श्रुति को निवारिका मानते पर अन्य तत्त्व भी तो हैं इसलिए तेज की उत्पत्ति से यहाँ तेज की सृष्टि की प्राथमिकता दिखलाई गई है। अन्य श्रुतियों में आकाश की उत्पत्ति का भी उल्लेख है यह श्रुति उसका निवारण तो कर नहीं सकती।

यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत् ।२।३।७॥

तु शब्दश्चार्थे "ऐतदात्म्यमिदंसर्वम्" इत्यादिभिराकाशस्य विकारत्ववचनेन तस्याकाशस्य ब्रह्मणो विभाग-उत्पत्तिरप्युक्तैव। लोकवत् यथा लोके एते सर्वेदेवदत्त पुत्रा इत्यभिधाय तेषु केषांचित्त उत्पत्तिवचनेन सर्वेषामुत्पत्तिरुक्तास्यात् तद्वत्। एवं च सति "वायुश्चांतरिक्षंचैतदमृतम्" इति सुराणामिव चिरकाल स्थायित्वाभिप्रायम्।

सूत्र में तु शब्द च के अर्थ में प्रयुक्त है। "यह सब कुछ आत्म्य है" इत्यादि वाक्य में, आकाश भी विकृत रूप से सब में सम्मिलित बतलाया है, जिससे कि-ब्रह्म से आकाश की भिन्नता और उत्पत्ति भी कह दी गई। जैसे कि लोक में "ये सब देवदत्त के पुत्र हैं" इतना कहकर किसी एक की उत्पत्ति का उल्लेख कर दिया गया तो, सभी पुत्रों की उत्पत्ति का उल्लेख

हो गया वैसे ही आकाश की बात भी है । "वायु आकाश अमर हैं" इत्यादि तो केवल, देवताओं की तरह, चिरकाल स्थिति का ही द्योतक है ।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ।२।३।८॥

अनेनैव हेतुना मातरिश्वनो वायोरप्युत्पत्तिर्व्याख्याता । वियन्मातरिश्वनोः पृथग्योगकरणं "तेजोऽतस्तथाह्याह "इति मातरिश्वपरामर्शार्थम् ।

उक्त विवेचन से मातरिश्वा (वायु) की उत्पत्ति की भी व्याख्या हो गई । आकाश और वायु की उत्पत्ति के लिए अलग से निर्देश करने का अभिप्राय यह है कि-"तेजोऽतस्तथा "इत्यादि में एकमात्र मातरिश्वा का ही निर्देश किया गया है ।

असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ।२।३।६॥

तु शब्दोऽवधारणार्थं, असंभवः-अनुत्पत्तिः । सतः- ब्रह्मण एव, तद्व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदप्यनुत्पत्तिर्नसंभवति, अनुत्पत्तेः एतदुक्तं भवति-वियन्मातरिश्वनोरुत्पत्ति प्रतिपादनमुदाहरणार्थन् उत्पत्यसंभवस्तु सतः परमकारणस्य परस्यैव ब्रह्मणः । तद्व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्याव्यक्तमहदहंकारतन्मात्रेन्द्रियवियत्यवनादि-कस्य प्रागेचस्यैक बिज्ञाने न सर्व विज्ञान प्रतिज्ञादिभिरवगतकार्य-भावस्यानुत्पत्तिनेपिपद्यत इति ।

सूत्र में तु शब्द अवधारण अर्थ का बोधक है। असंभव शब्द, उत्पत्ति की असंभावना का बोधक है । सत् ब्रह्म से ही जब उत्पत्ति है तब उनसे अतिरिक्त अन्य किसी की भी अनुत्पत्ति संभव नहीं है, कहने का तात्पर्य यह है, कि-आकाश और वायु की उत्पत्ति का जो प्रतिपादन किया गया है, वह तो उदाहरण मात्र है । जब सत् स्वरूप परमकारण परब्रह्म ही हैं तब उत्पत्ति असभव है कही एक की जानकारी से समस्त

को जानकारी होती है, इस प्रतिज्ञा से जब यह निर्णय हो गया कि अव्यक्त-महत्तत्व-अहंकार-तन्मात्रा-इंद्रियाँ-आकाश-वायु आदि सब ब्रह्म के ही कार्य रूप हैं, तब इन सब प्रपंचों की अनुत्पत्ति को सिद्ध ही नहीं किया जा सकता।

२ तेजोऽधिकरणः—

तेजोऽतस्तथाह्याह ।२।३।१०॥

ब्रह्म व्यतिरक्तस्य कृत्स्नस्य ब्रह्मकार्यत्वमुक्तम्, इदानी व्यवहित कार्याणां किं केवलात्तत्तदनंतरकारणभूताद्वस्तुन उत्पत्तिः, आहोस्वित् तदरूपाद् ब्रह्मणः? इति चिन्त्यते। किं युक्तम् केवलास्तदवस्तुन इति। कुतः? तेजस्तावत् अतः मातरिश्वन एवोत्पद्यते "वायोरग्निः इतिह्याह।

पिछले अधिकरण में बतलाया गया कि, ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ ब्रह्म का ही कार्य है। अब विचार किया जाता है कि-सृष्टि के बाद में जो कार्य होते हैं वे, कार्यों से उत्पन्न होते हैं अथवा परब्रह्म ही उनके भी कारण हैं? कहते हैं कि-बीते हुए कार्यों से ही अग्रिम कार्य उत्पन्न होते हैं, "वायु से अग्नि हुआ" ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

आपः ।२।३।११॥

आपोऽपि अतः—तेजस एवोत्पद्यंते, "अग्नेरापः" "तदपोऽसृजत "इतिह्याह।

जल भी-तेज से उत्पन्न होता है,"अग्नि से जल हुआ "फिर जल की सृष्टि की "इत्यादि वाक्यों से ऐसा ही ज्ञात होता है।

पृथिवी ।२।३।१२॥

पृथिवी अद्भ्य उत्पद्यते—"अद्भ्यः पृथिवी "ताअन्तमसृजन्त "इतिह्याह।

पृथवी जल से होती है, ऐसा–"जल से पृथिवी हुई "उन जलों ने अन्न की सृष्टि की इत्यादि वाक्यों में कहा गया है।

नन्वन्न शब्देन कथं पृथिव्यभिधीयते? अतआह—

अन्न शब्द से पृथिवी अर्थ कैसे हो सकता है? इस पर कहते हैं—

अधिकार रूपशब्दान्तरेभ्यः।२।३।१३॥

महाभूतसृष्ट्यधिकारात् पृथिव्येवान्नशब्देनोक्तेति प्रतीयते। अदनीयस्य सर्वस्य पृथिवी विकारत्वात् कारणे कार्यशब्दः। तथा वाक्य शेषे भूतानां रूपसंशब्दने "यदग्नेरोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य "इत्यप्तेजसोः सजातीयमेवान्नशब्द-वाच्यं प्रतीयते। शब्दांतरं च समानप्रकरणे–"अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी "इति श्रूयते। अतः पृथिव्यवान्नशब्देनोच्यत इत्यद्भ्यः एव पृथिवी जायते। उदाहृतास्तेजः प्रभृतयः प्रदर्शनार्थाः। महदादयोऽपि स्वानंतर वस्तुन एवोत्पद्यंते यथाश्रुत्यभ्युपगमाविरोधात्। "एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च, खंवायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी "तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः "तत्तेजोऽसृजत इत्यादयो ब्रह्मणः परम्परया कारणत्वेऽप्युपपद्यंत इति।

महाभूतों की सृष्टि के प्रकरण में "अन्न" शब्द से पृथ्वी का उल्लेख ही प्रतीत होता है। सारे भोज्य पदार्थ, पृथ्वी के ही विकार हैं, इसलिए कारण को ही कार्य शब्द से कह दिया गया प्रतीत होता है। उक्त वाक्य के अंत में रूप शब्द से इसी बात की पुष्टि की गई है–"अग्नि का जो –रोहित रूप है वह तेज का ही है, जो शुक्लता है वह जल की है तथा कृष्णता अन्न (पृथ्वी) की है "इसमें जल और तेज के सजातीय रूप से जो अन्न का उल्लेख किया गया है उससे अन्न का अर्थ पृथ्वी ही प्रतीत होता है। इसी के समान दूसरे प्रकरण में–"अग्नि से जल, जल से पृथिवी हुई इत्यादि में पृथ्वी शब्द का स्पष्ट उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि-अन्न

शब्द पृथ्वी का ही बोधक है। जो जल से अन्न की उत्पत्ति बतलाई गई उसका तात्पर्य पृथिवी की उत्पत्ति से ही है। तेज आदि की उत्पत्ति का जो प्रसंगतः वर्णन किया गया वह केवल उदाहरण मात्र है। श्रुतिसम्मत सिद्धांत के विरोध की निवृत्ति के लिए समझना चाहिए कि–महत् आदि तत्त्व अपनी पूर्ववर्त्ती वस्तुओ से, उत्पन्न होते हैं। "इस ब्रह्म से–प्राण,मन, इंद्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और विश्वाधार पृथ्वी हुई" इस ब्रह्म से नाम, रूप और अन्न हुए "इस परमात्मा से आकाश हुआ "उसने तेज की सृष्टि की "इन वाक्यों में कहे गए तत्त्वों के पारस्परिक संबंधानुसार ब्रह्म की कारणता स्वीकारने से, श्रुतियों की संगति हो जाती है।

तदभिध्यानादेव तु तल्लिंगात सः ।२।३।१४॥

तु शब्दात् पक्षोव्यावृत्तः, महदादिकार्याणामपि तत्तदनंतरवस्तु शरीरकः स एव पुरुषोत्तमः कारणम्। कुतः? तदभिध्यानरूपात् तल्लिंगात्, अभिध्यायनम्, बहुस्यामिति संकल्पः "तत्तेज ऐक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति" ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्यामः प्रजायेमहि" इत्यात्मनो बहुभवन संकल्परूपेक्षणश्रवणान्महदहंकाराकाशादीनामपि कारणानां तथा विधेक्षापूर्विकैव स्वकार्यंसृष्टिरिति गम्यते, तथाविधं चेक्षणं तत्तच्छरीकस्य परस्यैव ब्रह्मण उपपद्यते। श्रूयते च सर्व शरीरकत्वेन सर्वात्मकत्वं परस्यब्रह्मणोऽन्तर्यामि-ब्राह्मणे "य पृथिव्यां तिष्ठन्" योऽप्सुतिष्ठन्" यस्तेजसि तिष्ठन्" यो वायौ तिष्ठन्" य आकाशे तिष्ठन्" इत्यादि। सुबालोपनिषदि च–"यस्य पृथिवी शरीरम् "इत्यारभ्य–"यस्याहंकारः शरीरम्" "यस्य बुद्धिः शरीरम्" यस्याव्यक्तं शरीरम्" इत्यादि।

सूत्रस्थ तु शब्द से पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति होती है। महद् आदि के भी पूर्ववर्त्ती कार्यो के शरीरी वह पुरुषोत्तम ही, कारण हैं, उनका सृष्टित्व ज्ञापक अभिध्यान इस बात की पुष्टि करता है। "बहुत हो जाऊं" ऐसा संकल्प ही अभिध्यान है। "उस तेज ने संकल्प किया कि

बहुत होकर जन्म लूं" "उन जलों ने संकल्प किया कि-बहुत होकर उत्पन्न हो जावे" इस आत्मबहुभाव प्राप्ति विषयक, संकल्प रूप ईक्षण बोधक श्रुति, से ज्ञात होता है कि— महद् अहंकार और आकाश आदि की जो कार्य रूपा सृष्टि है, वह भी परमात्मा के संकल्प से ही होती है, उन कारण वस्तुओं के शरीरी परमात्मा ही ऐसा संकल्प कर सकते हैं, अचेतन जड, तेज आदि में ईक्षण की शक्ति संभव नहीं है । अन्तर्यामी ब्राह्मण में-"जो पृथ्वी में स्थित होकर" जो जल में स्थित होकर "जो तेज में स्थित होकर" इत्यादि परब्रह्म का सर्व शरीरी और सर्वान्तिर्यामी होना बतलाया गया है । तथा सुबालोपनिषद् में भी ऐसे ही-"पृथिवी जिनका शरीर है" इत्यादि से प्रारम्भ करके "अहंकार जिनका शरीर है" इत्यादि से वही दिखलाया गया है ।

यथोक्तं—"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यादिषु श्रूयमाणा ब्रह्मणः प्राणादि सृष्टिः, परंपरयाप्युपपद्यत इति—अत्रोच्यते—

जो यह कहा कि—"एतस्माज्जायते" इत्यादि में कही गई ब्रह्म की प्राणादि सृष्टि, परस्पर संबद्ध होकर उत्पन्न होती है-उस पर कहते हैं—

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ।२।३।१५॥

तु शब्दोऽवधारणार्थः अव्यक्तमहदहंकाराकाशादि क्रमाद् विपर्ययेण यः सर्वेषां कार्याणां ब्रह्मान्तर्गत रूपः क्रमः "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यादिषुप्रतीयते स च क्रमस्तत्तादरूपात् ब्रह्मणः तत् तत्कार्योत्पत्तेरेवोपपद्यते । परम्परया कारणत्वे हि आनंतर्य श्रवणमुपरूध्येत् । अतः "एतस्माज्जायते" इत्यादि कमपि सर्वस्य ब्रह्मणः साक्षात्संभवस्योरांभनम् ।

सूत्र में तु शब्द अवधारण अर्थ का बोधक है । अव्यक्त महत् अहंकार आकाश आदि के उत्पत्ति क्रम से विपरीत भाव से जो "उस से

प्राण" इत्यादि में वर्णित ब्रह्मोत्पत्ति क्रम की, असंगति प्रतीत होती है, उससे ज्ञात होता है कि—उत्पादन भूत वस्तु रूपता को प्राप्त ब्रह्म, से ही, उन पदार्थों की उत्पत्ति हुई है। संपूर्ण सृष्टि ब्रह्मात्मक ही है, इसलिए उत्तरोत्तर जो कार्य होते हैं; वे भी ब्रह्मात्मक हैं, ऐसा सिद्ध होता है। परस्पर कारणता मानने से कारण रूप में वर्णित ब्रह्मानंतर्य (ब्रह्म ही साक्षात् कारण है) बाधित हो जायेगा। इसलिए समझना चाहिए कि— "एतस्माज्जायते" इत्यादि में, सब की, ब्रह्म से ही साक्षात् उत्पत्ति बतलाई गई है।

अन्तराविज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिगादिति चेन्नाविशेषात् ।२।३।१६॥

विज्ञान साधनत्वादिन्द्रियाणि विज्ञानमित्युच्यंते; यदुक्तं— "एतस्माज्जायते" इत्यादिना सर्वस्य ब्रह्मणोऽनंतरकार्यत्वं श्राव्यते, अतश्चनेन वाक्येन सर्वस्य साक्षाद् ब्रह्मण उत्पत्तिरसिध्यानलिंगांव-गतोत्ताभ्यत इति, तन्नोपपद्यते, क्रमविशेष परत्वादस्य वाक्यस्य, अत्रापि सर्वेषां क्रम प्रतीतेः खादिषु तावत् श्रुत्यंतरसिद्धिः क्रमोऽत्रापि प्रतीयते, तैः सह पाठलिंगात् भूतप्राणयोरन्तराले विज्ञान मनसी अपि क्रमेणोत्पद्येते इति प्रतीयते। अतः सर्वस्य साक्षाद् ब्रह्मण एव संभवस्योत्तंभनमिदंवाक्यं न भवतीति चेत् तन्न, अविशेषात्— "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यनेनाविशेषात्। विज्ञान मनसोः खादीनां च "एतस्माज्जायते" इत्यनेन साक्षात्संभव रूपसंबंधस्याभिधेयस्य सर्वेषां प्राणादिपृथिव्यंतानामविशिष्टत्वात् स एव विधेयः, नः क्रमः। श्रुत्यंतरसिद्धक्रमविरोधाच्च नेदं क्रमपरम्—"पृथिव्यप्सु प्रलीयते" इत्यारभ्य "तमः एकीभवति" इत्यंतेन क्रमांतर प्रतीतेः। अतोऽव्य-क्तादिशरीरकात् परस्माद् ब्रह्मण एव सर्वकार्याणामुत्पत्तिः तेजः प्रभृतयश्च शब्दास्तदात्मभूतं ब्रह्मैवाभिदधति।

विज्ञान की साधन होने से इन्द्रियों को विज्ञान शब्द से उल्लेख किया गया है। "एतस्मात्" इत्यादि वाक्य से, सारा जगत्, ब्रह्म के साक्षात कार्य रूप से हुआ, ऐसा ज्ञात होता है, इसलिए अन्यान्य वाक्यों में समस्त वस्तुओं के साक्षात् संबंध से ही, ब्रह्म से उत्पत्ति कही गई हैं, उक्त वाक्य में उसी का समर्थन किया गया हो, सो बात नहीं है। अपितु यह वाक्य उत्पत्ति के क्रम विशेष का बोधक है, तथा अन्य वाक्यों में भी संपूर्ण सृज्य पदार्थों का उत्पत्ति क्रम ही प्रतीत होता है, अर्थात् अन्य श्रुतियों में जो आकाशादि का उत्पत्ति क्रम है, उसी की पुनरुक्ति "एतस्मात्" इत्यादि में की गई है। क्रम से उत्पन्न आकाश आदि के साथ उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि-इन्द्रिय और मन भी, भूतवर्ग और प्राणों के मध्य में क्रमशः उत्पन्न हुए। इसलिए सब की ब्रह्म से ही साक्षात् उत्पत्ति हुई, ऐसा नहीं कह सकते अस्तु। तुम्हारा उक्त तर्क असंगत है-"इसी से प्राण हुआ" इस वाक्य में कोई विशेषता परिलक्षित नहीं होती। अर्थात् "एतस्माज्जायते" वाक्य के प्रतिपाद्य—विज्ञान, मन और आकाशादि की जो साक्षात् संबंध से उत्पत्ति है, वह प्राण से लेकर पृथ्वी तक, सभी के लिए समान रूप से अभिधेय है, क्रमशः ही हो; ऐसी कोई विशेष बात नहीं है। इस वाक्य का क्रम अन्य श्रुतियों के क्रम से अविरुद्ध ही हो ऐसा भी कुछ निश्चित नहीं है, "पृथ्वी जल में लीन होती है" से प्रारम्भ करके" अन्धकार में एकीभूत हो जाते हैं" इस अंतिम वाक्य तक, क्रम में अंतर प्रतीत होता है। इसलिए अव्यक्त आदि शरीरी ब्रह्म से ही समस्त कार्यों की उत्पत्ति हुई है, यह मानना पड़ेगा। तेज आदि शब्द तदात्मक होने से, ब्रह्म अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं।

नन्वेदं सर्वशब्दानां ब्रह्मवाचित्वेसति तैस्तैः शब्दैः तत्तद्वस्तुव्यपदेशो व्युत्पत्ति सिद्धः उपरुध्येत–तत्राह—

सारे ही शब्द यदि ब्रह्मवाचक हैं, तो शब्द शास्त्रानुयामी नियम सिद्ध जो विशेष अर्थ बोधन की प्रक्रिया है, उसमें बाधा होगी? इस पर कहते हैं-

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशोभाक्तस्तद्भाव भावित्वात्

।२।३।१७॥

तु शब्दश्चोदिताशंका निवृत्यर्थः। निखिलजंगमस्थावख्यपाश्रयस्तत्ताच्छब्दव्यपदेशः भाक्तः, वाच्यैकदेशेभज्यत इत्यर्थः, समस्तवस्तु प्रकारिणो ब्रह्मणः प्रकारभूतवस्तुग्राहिप्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वाद् वेदांतश्रवणात् प्राक् प्रकार्यप्रतीतेः, प्रकारिप्रतीतिभावभावित्वाच्च तत्पर्यवसानस्य लोके तत्तद्वस्तु मात्रे वाच्यैक देशे ते ते शब्दाः भंक्त्वाभंक्त्वा व्यपदिश्यंते।

सूत्रस्थ तु शब्द उठाई गई शंका के समाधान के लिए प्रयुक्त है। स्थावरजंगात्मक संपूर्ण वस्तु विषयक जो विशेष विशेष व्यवहार है वह भाक्त अर्थात् वाच्यार्थ के एक अंश मात्र का ग्राहक है। अभिप्राय यह है कि—समस्त पदार्थ ब्रह्म के प्रकार हैं और ब्रह्म उनके प्रकारी हैं। प्रकारी भूत ब्रह्म अपने प्रकार भूत पदार्थों में, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञेय नहीं हैं, वेदान्त वाक्यों से ही उनकी प्रकार्य प्रतीति होती है। प्रकारी की प्रतीति होने से, उसके प्रकार की प्रतीति की, परिसमाप्ति हो जाती है। लोक में तो अलग-अलग वस्तुओं के लिए, एक-एक विशेष शब्द नियत हैं।

अथवा तेजः प्रभृतिभिः शब्दैः तत्तद्वस्तुमात्र वाचितया व्युत्पन्नैर्ब्रह्मणो व्यपदेशो भाक्तः स्यात्, अमुख्य स्यादित्याशंक्य—"चराचरव्यपाश्रयस्तु" इत्युच्यते। चराचरव्यपाश्रयः तद्व्यपदेशः तद्वाचिशब्दः, चराचरवाचिशब्दो ब्रह्मण्यभाक्तः मुख्य एव, कुतः? ब्रह्मभाव भावित्वात् सर्वशब्दानां वाचक भावस्य, नामरूपव्याकरण श्रुत्याभ्यागतम्।

अलग अलग नामों से निर्दिष्ट तेज आदि शब्दों का ब्रह्मनाम से निर्देश करना ही भाक्त अर्थात् गौण है, इस आशंका पर सूत्रकार कहते हैं—"चराचरव्यपाश्रयस्तु" अर्थात् ब्रह्म से जो चराचर का व्यपदेश है अभाक्त अर्थात् मुख्य है, गौण नहीं। क्यों कि—ब्रह्मभाव से भावित होने से ही, समस्त शब्दों की वाचकता है, ऐसा, भगवान की नामरूप में व्याकृत होने वाली श्रुति से ज्ञात होता है।

३ आत्माधिकरणः—

नात्माश्रुतेः नित्यत्वाच्चताभ्यः ।२।३।१८॥

वियदादेः कृत्स्नस्य परस्माद् ब्रह्मण उत्पत्तिरुक्ता । इदानीं जीवस्याप्युत्पत्तिरस्तिनेति संशय्यते, किं युक्तम्? अस्तीति, कुतः? एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञोपपत्तेः, प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणाच्च । वियदादेरिव जीवस्याप्युत्पत्तिवादिभ्यः श्रुतयश्च संति—"यतः प्रसूता जगतः प्रसूती तोयेन जीवान् व्यससर्ज भूम्याम् "प्रजापतिः प्रजा असृजत्"सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः यतोवा इमानि भूतानि जायंते" इति, एव सचेतनस्य जगदुत्पत्तिवचनात् जीवस्याप्युत्पत्तिः, प्रतीयते ।

आकाशादि समस्त की उत्पत्ति, ब्रह्म से बतलाई गई । अब, जीव की उत्पत्ति होती है या नहीं? ऐसा संशय करते हैं । कह सकते हैं कि—होती है, क्योंकि—एक के ज्ञान से सब का ज्ञान होता है, इस नियम से सृष्टि के पूर्व सब कुछ अद्वैत था, इस कथन से सिद्ध होता है कि जीव की भी उत्पत्ति हुई । आकाश आदि की तरह जीव की उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुतियाँ भी हैं । जैसे कि—"जिनसे जगत की प्रसूति हुई एवं जो पृथ्वी में जीवों की सृष्टि करते हैं "प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि की" "हे सौम्य! यह सारी प्रजा सत् से ही उत्पन्न, सत् में ही स्थित, सत् आयतन वाली है" ये सारे भूत उन्हीं से उत्पन्न होते हैं । इत्यादि सचेतन जगत् की उत्पत्ति के वर्णन से, जीव की उत्पत्ति भी प्रतीत होनी है ।

न च वाच्यं—ब्रह्मणो नित्यत्वात् तत्त्वमस्यादिभिश्च जीवस्य ब्रह्मत्वावगमात् जीवस्य नित्यत्वम्—इति । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म "इत्येवमादिभिर्वियदादेऽपि ब्रह्मत्वावगमात्तस्यापि नित्यत्व प्रसक्तेः । अतो जीवोऽपि वियदादिवदुत्पद्यत इति ।

यह नहीं कह सकते कि—ब्रह्म नित्य है, इसलिए—तत्त्वमसि आदि जीव ब्रह्म की एकता बतलाने वाले वाक्यों के अनुसार, जीव भी नित्य है । ऐसे तो "यह सब कुछ ब्रह्मात्मक है "यह सब ब्रह्म हैं इत्यादि के

अनुसार ब्रह्मात्मक आकाशादि भी नित्य हो जावेंगे। इसलिए यही मानना चाहिये कि आकाश आदि की तरह जीव की भी उत्पत्ति होती है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—नात्मा श्रुतेः, इति। नात्मोत्पद्यते कुतः? श्रुतेः "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" ज्ञाज्ञौ द्वावजौ "इत्यादिभिर्जीवस्योत्पत्ति प्रतिषेधो हि श्रूयते। आत्मनो नित्यत्वं च ताभ्यः श्रुतिभ्यः एवावगम्यते "नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" "अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमानेशरीरे "इत्यादिभ्यः अतश्चनात्मोत्पद्यते।

उक्त संशय पर सिद्धान्त कहते हैं "नात्माश्रुतेः अर्थात् आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती, श्रुति से ऐसा ही निश्चित होता है-"विद्वान का जन्म और मरण नहीं होता "अल्पज्ञ और सर्वज्ञ-दो अजन्मा हैं" इत्यादि से जीव की उत्पत्ति का निषेध ज्ञात होता है। आत्मा की नित्यता भी उन्हीं श्रुतियों से ज्ञात होती है—"जो नित्यों के नित्य, चेतनों के चेतन, तथा एक—होकर भी, अनेक कामनाओं की पूर्त्ति करते हैं "यह आत्मा, अज, नित्य, शाश्वत और पुराण (चिरन्तनर) है जो कि शरीर के मरने पर भी नहीं मरता" इत्यादि। इससे निश्चित हुआ कि—आत्मा अजन्मा है।

कथं तर्हि एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञोपपद्यते? इत्थं उपपद्यते—जीवस्यापि कार्यत्वात् कार्यकारणयोरनन्यत्वाच्च। एवं तर्हि वियदादिवदुत्पत्तिमत्त्वमंगीकृतं स्यात्? नेत्युच्यते—कार्यत्वं हि नामैकस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिः,? तज्जीविस्याप्यस्त्येव। इयांस्तुविशेषः वियदादेरचेतनस्य यादृशोऽन्यथाभावो, न तादृशो जीवस्य, ज्ञान संकोचविकासलक्षणो जीवस्यान्यथाभावः, वियदादेस्तु स्वरूपान्यथा भावलक्षणः। सेयं स्वरूपान्यथाभावलक्षणोत्पत्तिः जीवे प्रतिषिध्यते।

फिर, एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा कैसे उपपन्न होगी? जीव को भी ब्रह्म का कार्य तथा कार्य कारण की एकता मानने से हो

जावेगी। इसका मतलब तो यह हुआ कि आपने आकाश आदि की तरह जीव की उत्पत्ति स्वीकार ली? ऐसा नहीं कह सकते-एक ही द्रव्य की अवस्थान्तर प्राप्ति ही कार्य कहलाती है, वही स्थिति जीव की भी है। आकाश आदि अचेतन द्रव्य भी, अवस्थान्तर प्राप्त कार्य हैं, पर जीव की अवस्थान्तर प्राप्ति, उनसे भिन्न कुछ विशिष्ट है। जीव का जो अन्यथा भाव है वह, ज्ञान संकोचविकास लक्षण वाला है। (अर्थात् ज्ञान के संकोच विकास के कारण ही वह ब्रह्म से भिन्न है तथा आकाश आदि का अन्यथा भाव, स्वरूपान्यथा भाव है (अर्थात् आकाशादि स्वरूप से ही भिन्न हैं) उक्त स्वरूपान्तरित उत्पत्ति को ही जीव में नहीं माना गया है।

एतदुक्तं भवति-भोग्यभोक्तृनियंतृन् विविक्त स्वभावान् प्रतिपाद्य, भोग्यगतमुत्पत्त्यादिकं, भोक्तरि प्रतिषिध्य, तस्यनित्यतां च प्रतिपाद्य, भोग्यगतमुत्पत्त्यादिकं, भोक्तृगतंचापुरुषार्थाश्रयत्वं नियन्तरि प्रतिषिध्य, तस्य नित्यत्वं-निरवद्यत्वं-सर्वदासर्वज्ञत्वं-सत्यसंकल्पत्वं-करणाधिपाधिपत्वं-विश्वस्यपतित्वं च प्रतिपाद्य सर्वावस्थयोश्चिदचिदोस्तं प्रतिशरीत्वं तस्य चात्मत्वम् प्रतिपादितम्।

कथन यह है कि-विभिन्न स्वभाव वाले, भोग्य (जागतिक पदार्थ) भोक्ता (जीव) और नियंता (ब्रह्म) का निरूपण इस प्रकार किया गया है-भोग्यगत उत्पत्ति आदि का भोक्ता में प्रतिषेध करके उसकी नित्यता का प्रतिपादन करके-भोग्यगत उत्पत्ति आदि और भोक्तागत जागतिक आसक्ति का नियन्ता में प्रतिषेध करके उसकी नित्यता निर्दोषता, सर्वज्ञता, सत्यसंकल्पता, करणाधिपाधिपता-विश्वाधिपत्यता का प्रतिपादन करके समस्त अवस्था वाले जडचेतन को उनका शरीर तथा उन परमात्मा को सबका अंतर्यामी बतलाया गया है।

अतः सर्वदा चिदचिद्वस्तुतया तत्प्रकारं ब्रह्म, तत्कदाचित् स्वस्माद् विभक्तव्यपदेशानर्हातिसूक्ष्मदशापन्न चिदचिद् वस्तु शरीरे तिष्ठति, तत्कारणावस्थं ब्रह्म। कदाचिच्च विभक्तनामरूपस्थूल चिदचिद्वस्तुशरीरम्, तच्च कार्यावस्थम्। तत्र कारणावस्थस्य

कार्यावस्थापत्तावचिदंशस्य कारणावस्थायां शब्दादिविहीनस्य भोग्यत्वाय शब्दादिमत्तया स्वरूपान्यथाभावरूपविकारो भवति। चिदंशस्य च कर्मफलविशेष भोक्तृत्वाय तदनुरूपज्ञानविकास रूप विकारो भवति। उभय प्रकार विशिष्टे नियंत्रंशे तदवस्थतदुभय विशिष्टतारूप विकारो भवति कारणावस्थायां अवस्थान्तरापत्तिरूपो विकारः प्रकारद्वये प्रकारिणि च समानः।

इसीलिए–जड़चेतन रूपों में ब्रह्म की निरंतर स्थिति होने से, जागतिक पदार्थों और जीवों को, ब्रह्म का ही प्रकार कहा गया है जब वह ब्रह्म अपने से भिन्न न कहलाने योग्य अति सूक्ष्म दशा को प्राप्त जड़चेतन रूप शरीर में स्थित रहते हैं, उसे कारणावस्थ ब्रह्म कहते हैं। वही ब्रह्म जब, विभक्त नाम रूप वाले जड़चेतनमय शरीर में स्थित रहते हैं, उसे कार्यावस्थ ब्रह्म कहते हैं। कारणावस्था का जड़ भाग, शब्दादि हीन होने से भोग्य नहीं होता; भोग्यता संपादन के लिए ही–उस जड़ भाग की, कार्यावस्था में भोगने योग्य शब्दादि रूपी, अन्यथाभाव विकृति होती है। कारणावस्था के चेतन भाग की, कर्मफल विशेष भुक्ति के लिए, उसी के अनुरूप तारम्यानुसार, ज्ञान विकास रूपी, विकृति होती है। दोनों प्रकारों से विशिष्ट, नियंत्रंश में, दोनों (कार्य कारण) अवस्थाओं से विशिष्ट, विकार होता है। कारणावस्था में जो अवस्थान्तरापत्ति विकार होता है वह, दोनों प्रकारों और प्रकारी में, समान रूप वाला होता है।

अत एवैकस्यावस्थान्तरापत्तिरूपविकारापेक्षया "येनाश्रुतं श्रुतम् "इत्येक विज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञायमृदादि दृष्टांतो "यथा सौम्येकेन" इत्यादिना निर्दशितः। ईदृशज्ञानसंकोचविकास-करतत्तदेह संबंध वियोगाभिप्रायाः जीवस्योत्पत्तिमरणवादिन्यः "प्रजापतिः प्रजाअसृजत" इत्याद्याः श्रुतयः। अचिदंशवत् स्वरूपान्यथात्वाभावाभिप्राया उत्पत्ति प्रतिषेधवादिन्यो नित्यत्ववा-दिन्यश्च 'न जायतेम्रियते" इत्याद्याः "नित्योनित्यानां" इत्याद्याश्च श्रुतयः। स्वरूपान्यथात्वज्ञानसंकोचविकास रूपोभयविधानिष्ट

किराभावाभिधाया: "सवाएषमहानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतो ब्रह्म 'नित्योनित्यानां" इत्याद्या: परविषया: श्रुतय: । एवं सर्वदाचिदचिद् वस्तुविशिष्टस्य ब्रह्मण: प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणं च नामरूपविभागा भावादुपपद्यते । "तद् हि इदं तर्हि अव्याकृतमासीतन्नामरूपाभ्याम् व्याक्रियत इति हि नामरूपविभागाभावाभ्यां नानात्वैकत्वे वदति इति ।

एक ही की अवस्थान्तरापत्ति रूप विकार स्थिति के विषय में "येनाश्रुतं श्रुतम्" इत्यादि से एक विज्ञान से समस्त विज्ञान की प्रतिज्ञा का सिद्धान्त बतलाकर, मिट्टी आदि के दृष्टान्त की "यथा सौम्येकेन" इत्यादि श्रुति से दिखालाया गया है । ज्ञान के संकोच विकास के साधक विशेष विशेष देहों के संबंध और वियोग जन्य, जीवों की उत्पत्ति और विनाश के बोधक-"प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि की" इत्यादि वाक्य हैं । उत्पत्ति प्रतिषेधक और नित्यता के बोधक-"न जायतेम्रियते"नित्योनित्या-नाम इत्यादि वाक्यों का अभिप्राय यह है कि-अचिदंश की तरह चिदंश की, स्वरूपान्यथाभाव स्थिति नहीं होती । पर-तत्त्व विषयक "सवाएव महानज" नित्याना नित्यो"इत्यादि श्रुतियों का अभिप्राय यह है कि-संकोच विकास रूप चेतन विकाश उसमें (परतत्त्वमें) नहीं होते । सदा जड़चेतन-मय होते हुए, सृष्टि के पूर्व नाम रूपों की विभक्ति से रहित होने से, ब्रह्म का एक त्वावधारण भी उपपन्न हो जाता है । "यह जगत् सृष्टि के पूर्व अव्यक्त था, सृष्टि के समय नाम रूप वाला हो गया "इत्यादि श्रुति भी, नाम रूप विभाग के सद्भाव और असद्भाव के अनुसार-एकता और अनेकता बतलाती है ।

येत्वविद्योपाधिकं जीवत्वं वदंति, ये च पारिमार्थिकोपाधिकृतं, ये च सन्मात्रस्वरूपं ब्रह्म स्वयमेव भोक्तृभोग्यनियंतृरूपेण त्रिधावस्थितं वदंति, सर्वेऽप्येते अविद्याशक्तेरुपाधिशक्तेर्भोक्तृभोग्यनियंतृशक्तीनां च प्रलयकालेऽवस्थानेऽपितदानीमेकत्वावधारणं नामरूपविभागाभावादे-वोपपादयंति ।

जो लोग (शांकर) जीव को अविद्योपाधिक कहते हैं, और जो लोग (भास्कर आदि) पारमार्थिक उपाधिकृत मानते हैं, तथा जो लोग (श्री निवास आदि) एकमात्र सत् स्वरूप ब्रह्म को ही, स्वयं भोक्ता–भोग्य -और नियंता रूप तीन अवस्थाओं वाला मानते हैं; वे सब अविद्याशक्ति–उपधिशक्ति–भोक्ता–भोग्य और नियंतृशक्ति संपन्न, नाम रूप विभाग रहित एकत्वावधारण (एकता) का ही, प्रकारान्तर से समर्थन करते हैं।

"वैषम्यनैर्घृण्ये च सापेक्षत्वात्" न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च" इति सूत्राभ्यां-जीवभेदस्य तत्कर्मप्रवाहस्यचानादित्वाभ्युपगमाच्च। इयान्विशेषः, एकस्यानाद्यविद्यया ब्रह्मस्वयमेव मुह्यति, अन्यस्य पारमार्थिकानाद्युपाधिना ब्रह्म स्वरूपमेव बध्यते, उपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वंतराभावात्। अपरस्य ब्रह्मैव विचित्राकारेण परिणमते, कर्मफलानिचानिष्टानि भुंक्ते, नियंत्रंशस्य भोक्तृत्वाभावेऽपि, सर्वज्ञत्वात्स्वस्मादभिन्नं भोक्तारमनु संदधातीति स्वयमेव भुंक्ते।

"वैषम्य नैर्घृण्ये" न कर्माविभागादिति "इत्यादि दोनों सूत्रों से, जीव का भेद और उसका कर्म प्रवाह तथा उन दोनों की अनादिता तो, वे लोग भी स्वीकारते हैं–पर उनके मानने का अपना विशेष ढंग है–एक के मत में,–अनादि अविद्या से ब्रह्म स्वयं ही मोहित होता है। दूसरे के मत में–पारमार्थिक अनादि उपाधि से ब्रह्म का स्वरूप आवद्ध होता है। तीसरे के मत में– ब्रह्म ही स्वयं विचित्र आकारों में परिणत होकर कर्म फल तथा अनिष्टों का भोग करता है, भोक्तृत्व का अभाव होते हुए भी, सर्वज्ञनियंता, भोक्ता को अपने से अभिन्न मानकर–स्वयं ही भोग करते हैं।

अस्माकं तु स्थूल सूक्ष्मावस्थचिदचिद्वस्तु शरीरं ब्रह्म कारणो भयावस्थावस्थितमपि सर्वदा निरस्त निखिल दोषगंधं सत्यसंकल्पत्वाद्यपरिमितोदार गुणसागरभवतिष्ठते। प्रकारभूतचिदचिद्वस्तुगताः, अपुरूषार्थाः, स्वरूपान्यथाभावश्चेति, सर्वं समंजसम्।

हमारी दृष्टि से तो, स्थूल सूक्ष्म अवस्था वाले, जड़चेतनमय शरीरी ब्रह्म, कार्य कारण दोनों अवस्थाओं में स्थित रहते हुए भी, निर्दोषता, सत्य संकल्पता आदि अपरिमित उदार विशेष गुणों सहित विराजते हैं। ऐसा मानने से ही, ब्रह्म की ही प्रकार, जडचेतन वस्तुओं की अपुरुषार्थता और स्वरूपान्यथाभाव आदि की संगति हो जाती है।

४ ज्ञाधिकरण :–

ज्ञोऽत एव ।२।३।१६॥

वियदादिवज्जीवो नोत्पद्यत इत्युक्तम्। तत्प्रसंगेन जीव स्वरूपं निरूप्यते। किं सुगतकपिलाभिमत चिन्मात्रमेव आत्मनः स्वरूपं, उत् कणभुगभिमतपाषाणकल्प स्वरुपमचित् स्वभावमेवागंतुक चैतन्यगुणकम्, अथ ज्ञातृत्व मेवास्य स्वरूपमिति। किं युक्तम्? चिन्मात्रमिति, कुतः? तथा श्रुतेः। अन्तर्यामि ब्राह्मणे हि–"य आत्मनि तिष्ठन्" इति। माध्यंदिनीयपर्यायस्य स्थाने "यो विज्ञाने तिष्ठन्" इति काण्वाअधीयते। तथा–"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च "इति कर्त्तुरात्मनो विज्ञानमेव स्वरूपं श्रूयते। स्मृतिषु च– "ज्ञानस्वरूपमत्यंतनिर्मलं परमार्थतः" इत्यादिष्वात्मनो ज्ञानस्वरूपत्वं प्रतीयते। अपरस्तु–जीवात्मनो ज्ञानत्वे–ज्ञातृत्वे च स्वाभाविकेऽभ्युपगम्यमाने तस्य सर्वगतस्य सर्वदा सर्वत्रोपलब्धि प्रसंगात्। करणानां च वैयर्थ्यात्, सुषुप्तिमूर्च्छादिषु सतोऽप्यात्मनश्चैतन्यानुपलब्धेः जाग्रतः सामग्रयां सत्यां ज्ञानोत्पत्ति दर्शनादस्य न ज्ञानं स्वरूपं नापि ज्ञातृत्वं, आगंतुकमेव चैतन्यम्, सर्वगतत्वं चात्मनोऽवश्याभ्युपेत्यम् सर्वत्र कार्योपलब्धेः सर्वत्रात्मनः सन्निधानाभ्युपगमाच्छरीरगमनेनैव कार्यं संभवेसति, गति कल्पनायां प्रमाणाभावाच्च। श्रुतिरपि सुषुप्ति बेलायां ज्ञानाभावं दर्शयति–"नाहं खल्वयमेवं संप्रत्या-

त्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि "इति । तथा मोक्षदशायां ज्ञानाभावं दर्शयति–"न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इति । "ज्ञानस्वरूपम्" इत्यादि प्रयोगस्तु ज्ञानस्य तदसाधारण गुणत्वेन लाक्षणिक इति ।

आकाशादि की तरह, जीव की उत्पत्ति नहीं होती यह बतला चुके, अब प्रसंग से, जीव के स्वरूप का निरूपण करेंगे। जीवात्मा का स्वरुप बुद्ध और कपिल के मतानुसार चिन्मात्र, ही है ? अथवा कणाद का अभिमत, पत्थर सा जड़ स्वभाव, आगंतुक चैतन्यगुण वाला है ? अथवा ज्ञातृत्व ही इसका रुप है ? इन तीनों में कौन सा वेदांत अभिमत है ? कहते हैं कि—चिन्मात्र रूप ही है, श्रुतियों से ऐसा ही ज्ञात होता है। अन्तर्यामी ब्राह्मण में–"जो आत्मा में स्थित है" इस वाक्य के ही पर्यायरुप "जो विज्ञान में स्थित है" "काण्व वाक्य से भी ऐसा ही ज्ञात होता है। तथा–"विज्ञान ही यज्ञ करता है तथा कर्मों का भी संपादन करता है', इत्यादि में आत्मा को विज्ञान स्वरुप ही सुना जाता है। स्मृति में— "वस्तुतः आत्मा ज्ञान स्वरुप और अत्यंत निर्मल है" इत्यादि से आत्मा की ज्ञानस्वरुपता प्रतीत होती है। इस पर कणाद का कथन है कि–जीव को यदि ज्ञानस्वरुप और ज्ञातृस्वरुप मानेगे तो सर्वगत उस जीव की, सदा सब जगह उपलब्धि संभव होगी तथा भोग साधिका इन्द्रियों की प्रयोजनीयता भी समाप्त हो जायेगी। विशेष रूप से सुषुप्ति और मुर्छावस्था में आत्मा के रहते हुये भी उसकी चैतन्योपलब्धि न हो पावेगी। जागरित अवस्था में तो, ज्ञान के साधन रहते हैं, इसलिए ज्ञानोत्पत्ति देखी जाती है इन सबसे ज्ञात होता है कि, जीव का वास्तविक स्वरूप न ज्ञान है न ज्ञातृत्व। अपितु चैतन्य ही उसका गुण है, वह भी आगंतुक है। जीव की सर्वव्यापकता अवश्य माननी पड़ेगी, क्योंकि सभी जगह उसका कार्य देखा जाता है, इसलिए उसकी सर्वत्र अवस्थिति भी माननी पड़ेगी। शरीर के जाने पर ही, जीव द्वारा सब जगह कार्य होना संभव हो सकता है, बिना शरीर के तो, जीव के जाने का, प्रमाण कहीं मिलता नहीं (इससे सिद्ध होता है कि—जीव चैतन्य रूप ही है जब वह जागरित रहता है तभी शरीर के आश्रय से चल फिर कार्य करता है, यदि ज्ञान स्वरुप होता तो बिना चले फिरे भी सब जगह की बात जान लेता) श्रुति भी सुषुप्ति

अवस्था में ज्ञानाभाव बतलाती है—"निश्चय ही यह सोया हुआ व्यक्ति, मैं अमुक हूं ऐसा ज्ञान नहीं रखता तथा इन सब जागतिक वस्तुओं को भी नहीं जानता।" मोक्षदशा में भी ज्ञानाभाव श्रुति ही से ज्ञात होता है— प्रयाण के बाद संज्ञा ज्ञान नहीं रहती" इत्यादि। जीव के लिए किया गया "ज्ञानस्वरूपम्' प्रयोग तो लाक्षणिक है, जो कि—उसका असाधारण गुण है।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-ज्ञोऽत एव ज्ञ एव-अयमात्मा ज्ञातृत्व स्वरूप एव, न ज्ञानमात्रम्, नापिजडस्वरूपः, कुतः ? अतएव-श्रुतेरेवेत्यर्थः। "नात्माश्रुतेः" इति प्रकृता श्रुतिः, अत इति शब्देन परामृश्यते। तथा छांदोग्ये प्रजापतिवाक्ये मुक्तामुक्तात्मस्वरूपकथने 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा" मनसैवेतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्म लोके "सत्यकाय: सत्यसंकल्प." नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम् अन्यत्रापि—"न पश्यो मृत्युंपश्यति" तथावाजसनेयके—"कतम आत्मा इति पृष्ट्वा "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यंतर्ज्योतिः पूरूषः" तथा— "एष दृष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मंता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञाना-त्मापुरूषः" एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः" इति।

उक्त कथन पर "ज्ञोऽत एव" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। यह जीवात्मा ज्ञातृत्व स्वरूप ही है, ज्ञान स्वरूप या जड़ स्वरूप नहीं है। "नात्माश्रुतेः" सूत्र में जो श्रुति उल्लिखित है, इस सूत्र में, अतः शब्द से उसी का संबंध जानना चाहिए। छांदोग्योपनिषद् के प्रजापति वाक्य में मुक्त और अमुक्त आत्मा का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—"मैं इसे सूंघता हूं, इस तथ्य को जो जानता है"वही" आत्मा है "ब्रह्मलोक में जो काम्य विषय हैं, आत्मा, मन की सहायता से उन सबका अनुभव करके प्रसन्न होता है" आत्मा सत्काम और सत्यसंकल्प है" इत्यादि। और जगह भी जैसे—"आत्म दर्शी कभी मृत्यु को नहीं देखता" वृहदारण्यक में भी जैसे—"आत्मा कौन है? ऐसा प्रश्न करने पर उत्तर दिया गया-"हृदय के भीतर प्राणों में स्थित प्रकाशस्वभाव विज्ञानमय पुरुष ही आत्मा है" और भी जैसे-"अरीमैत्रेयी!

इस विज्ञाता को और कैसे जानना चाहती है ? "यह पुरूष ज्ञाता ही है" यह विज्ञानात्मा पुरूष, निश्चित ही दृष्टा-श्रोता-मंता-आघ्राता, आस्वाद कर्त्ता, बोद्धा और कर्त्ता है "इस प्रकार इस द्रष्टा की सोलह कलायें हैं" इत्यादि।

यतूक्तं ज्ञातृत्वे स्वाभाविके सति सर्वंगतस्य तस्य सर्वदा सर्वत्रोपलधिः प्रसज्यत् इति-तत्रोच्यते-

जो यह कहा कि-आत्मा का ज्ञातृत्व मान लेने से, सर्वंगत उस आत्मा की, सदा सर्वत्र उपलब्धि होगी—इसका उत्तर देते हैं-

उत्क्रांतिगत्यागतीनाम् ।२।३।२०॥

नायं सर्वंगतः, अपित्वणुरेवायमात्मा कुतः ? उत्क्रांतिगत्याग-तीनां श्रुतेः, उत्क्रांतिस्तावच्छ्रुयते-"तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नोवाऽन्येभ्योवा शरीरदेशेभ्यः" इति। गतिरपि-"ये वै केचास्माल्लोकात् प्रयंति चंद्रमसमेव ते सर्वे गच्छंति" इति। आगतिरपि-"तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे" इति। विभुत्वे हि एता उत्क्रान्त्यादयो नोपपद्येरन्।

यह आत्मा सर्वंगत नहीं है, यह तो अणु है, उत्क्रांति गति औरआगति वाली श्रुतियों से ऐसा ही ज्ञान होता है उत्क्रांति जैसे-"यह विज्ञानात्मा-उस प्रकाशमान रूप से, चक्षु-मूर्धा अथवा किसी अन्य मार्ग से निष्क्रमण करता है। "गति जैसे-"जो इस लोक से प्रयाण करते हैं वे सब चंद्रमंडल में ही जाते हैं। "आगति जैसे- "उस लोक से पुनः कर्म करने के लिए इस लोक में आते हैं। "इत्यादि जीव को विभु मानने से, उत्क्रांति आदि का होना संभव नहीं हैं।

स्वात्मना चोत्तरयोः ।२।३।२१॥

च शब्दोऽवधारणे। यद्यपि शरीर वियोग रूपत्वेनोत्क्रांतिः स्थितस्याप्यात्मनः कथंचिदुपपद्यते, गत्यागती तु न कथंचिद् उपपद्यते। अतस्ते स्वात्मनैव संपाद्ये।

सूत्रस्थ च शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त हैं। विभु स्वरूप जीवात्मा की, शरीर वियोग रूप उत्क्रांति, किसी प्रकार हो भी जावे पर गति और अगति तो किसी प्रकार संभव नहीं है। ये दोनों कार्य तो उसके स्वायत्त हैं .(इसलिए जीवात्मा विभु नहीं हैं)

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।२।३।२२॥

"योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" इति जीवं प्रस्तुत्य, "स वा एष महानज आत्मा" इति महत्त्व श्रुतेः, नाणुर्जीवः, इति चेन्न, इतराधिकारात्–जीवादितरस्य प्राज्ञस्य तत्राधिकारात् यद्यप्युपक्रमे जीवः प्रस्तुतः तथापि "यस्यानुवितः प्रतिवुद्धआत्मा" इति मध्येपरः प्रतिपाद्यत इति, तत्संवंधोदं महत्वं न जीवस्य ।

"इद्रियों में जो यह विज्ञानमय है" इत्यादि में जीवको प्रस्तुत करके "वह महान् अज आत्मा है' इत्यादि में उसकी स्वरूपगत महत्ता दिखलाई गई है, इसलिए जीव, अणु नहीं प्रतीत होता। इत्यादि शंका नहीं करनी चाहिये, इस प्रसंग में तो पर तत्व प्राज्ञ परमात्मा का वर्णन है, यद्यपि जीव का नहीं उपक्रम में जीव को प्रस्तुत किया गया है, परंतु उक्त उपक्रम के बाद, मध्य में "प्रतिबुद्ध आत्मा जिससे ज्ञात होता है" इत्यादि में, परमात्मा का प्रतिपादन किया गया है, इसलिए उपसंहार के वाक्यांश में जो महान् शब्द का प्रयोग है, वह परमात्मा के लिए ही है, जीव के लिए नहीं।

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ।२।३।२३॥

साक्षादणुशब्द एव श्रूयते–"एषोऽणुरात्माचेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश" इति । उद्धृत्यमानं उन्मानं, अणुसदृशं वस्तूद्धृत्य तन्मानत्वं जीवस्य श्रूयते–"बालाग्र शतभागस्य शतधाकल्पितस्य च भागो जीवस्य विज्ञेयः,, इति । आराग्रमात्रो हि अवरोऽपिदृष्टः" इति च । अतोऽणुरेवायमात्मा ।

श्रुति में–साक्षात् अणु शब्द का ही प्रयोग किया गया है–"यह अण आत्मा चित्त से ही जाना जा सकता है, पांच प्रकार के प्राण जिसमें प्रवेश करते हैं उदाहरण के द्वारा ही जिसका परिमाण बतलाया जा सके उसे उन्मान कहते हैं। अणु के समान वस्तु का उदाहरण दे कर जीव का स्वरूप निरूपण किया गया है—जैसे–' बाल के अग्रिम भाग के सौवें के भी सौवें हिस्से के बराबर ही जीव स्वरूप हो सकता,है आत्मा महान है, पर इसका दूसरा रूप (जीव) आरा की धार के सामान सूक्ष्म हैं। इत्यादि से जीवात्मा की अणुता ही ज्ञात होती है।

अथस्यात्–आत्मनोऽणुत्वे सकल शरीर व्यापिनो वेदना नोपपद्यत इति, तत्रमतांतरेण परिहारमाह–

शंका करते हैं कि–यदि आत्मा को अणु मानते हैं तो, सारे शरीर में होने वाली वेदना की जो प्रतीति होती है। वह न होनी चाहिए इसका अन्य उदाहरण से परिहार करते हैं·–

अविरोधश्चन्दनवत्।२।३।२४॥

यथाहरिचन्दनविंदुर्देहैकदेश वर्त्यंपिसकलदेहव्यापिन माह्लादंजनयति, तद्वदात्मापि देहैकदेशवर्त्ती सकल देशवर्तिनीं वेदनामनुभवति।

जैसे की–मलयागिरीचंदन की एक विन्दु देह के एक स्थान में स्थित होकर सारे शरीर को आह्लादित करती है, वैसे ही आत्मा, देह के एक स्थान में ही ठहरकर सारे शरीर की वेदना की अनुभूति करता है।

अवस्थिति वैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद् हृदिहि।२।३।२५॥

हरिचन्दनविन्द्वादेर्देहदेशविशेषावस्थित :विशेषात्तथा भावः आत्मनस्तु तन्न विद्यत इति, चेन्न आत्मनोऽपिदेहदेश विशेषे स्थित्यभुपगमात्, हृदयदेशस्यहि आत्मनः स्थितिः श्रूयते "हृदि हि अयमात्मा तत्रैकशतं नाडीनाम् " इति, तथा "कतम आत्मा" इति प्रकृत्य " योऽयं विज्ञानमयः प्राणेश्रु हृद्यन्तज्योंतिः" इति।

आत्मनो देश विशेषस्थिति ख्यापनाय चंदन दृष्टान्तः प्रदर्शितः, नतु चंदनस्य देशविशेषापेक्षा ।

मलयागिरी चंदन तो देह के विशेष स्थान में स्थित होकर, शरीर को आह्लादित करता है, यह तो ठीक है, किन्तु जीवात्मा के लिए तो कोई ऐसा निर्देश नहीं है कि-वह देह के अमुक स्थान में ही रहता है, ऐसी शंका करना ठीक नहीं ,आत्मा की भी देह के विशेष स्थान में स्थिति बतलाई है गई है । आत्मा की स्थिति हृदय में बतलाई गई है–यह आत्मा हृदय में स्थित रहता है, जहाँकि–एक सौ नाड़िया है' "आत्मा कौन है ? "ऐसा प्रश्न करने पर "जो कि-विज्ञानमय इद्रियों के मध्य में हृदयान्तर्गत ज्योति है "इत्यादि में, आत्मा की स्थिति बिशेष बतलाई गई है । इसी स्थिति विशेष को समझने के लिए ही, चंदन का दृष्टान्त दिया गया है । चंदन के लिए यह कोई आवश्यक नहीं है कि–वह देह के अमुक स्थान विशेष में ही स्थित हो, तभी शरीर को आह्लादित करेगा जीवात्मा के तो स्थान विशेष का ही उल्लेख है ।

एक देश वर्त्तिनः सकलदेहव्यापिकार्यंकरत्वं प्रकारं स्वमतेनाह-

जीवात्मा की, एक देशवर्त्ती हो कर सर्वदेह व्यापी कार्यक्षमता को अपने मत से, स्पष्ट करते हैं—

गुणाद्वाऽलोकवत् ।२।३।२६॥

वा शब्दो मतान्तरव्यावृत्यर्थः, आत्मा स्वगुणेन ज्ञानेन, सकलदेहं व्याप्यावस्थितः, आलोकवत्-यथा मणिद्युमणि-प्रभृतीनामेकदेशवर्त्तिनामालोकोऽनेकदेशव्यापी दृश्यते तद्वद् हृदयस्थ-स्यात्मनो ज्ञान सकल देह व्याप्यवर्त्तते, ज्ञातुः प्रभास्थानीयस्य ज्ञानस्य स्वाश्रयादन्यत्र वृत्तिर्मणिप्रभावदुपपद्यत इति प्रथम सूत्रे स्थापितम् ।

सूत्र में वा शब्द अन्य मत के परिहार का द्योतक है । जीवात्मा अपने स्वाभाविक गुण ज्ञान के आश्रय से, संपूर्ण शरीर में व्याप्त हो कर स्थित है । जैसे कि–एक देशवर्ती सूर्य कान्त आदि मणि का अलोक चारो

ओर देखा जाता है, वैसे ही हृदयस्थ आत्मा का ज्ञान, समस्तशरीर व्यापी होता है। मणि प्रभा की तरह, ज्ञाता आत्मा का जो प्रभास्थानीय ज्ञान है, वह आश्रय (आत्मा) के अलावा भी रहता हैं। ऐसा पहिले सूत्र में बतला चुके है।

ननूक्तं ज्ञानमात्रमेवात्मेति, तत्कथं ज्ञानस्य स्वरूप व्यतिरिक्त-गुणत्वमुच्यते ? तत्राह—

जब यह कहा गया कि-आत्मा ज्ञान मान ही है तब उस ज्ञान को स्वरूप से भिन्न गुणवाला कैसे कहते हो ? इसका उत्तर देते हैं।

व्यतिरेको गंधवत्तथाच दर्शयति।२।३।२७॥

यथा पृथिव्याः गंधस्य गुणत्वेनोपलभ्यमानस्य ततो व्यतिरेकः तथा जानामीति, ज्ञातृगुणत्वेन प्रतीयमानस्य ज्ञानस्यात्मनो व्यतिरेकः सिद्धः, दर्शयति श्रुतिः " जानात्येवायं पुरुषः" इति।

गुण रूप से प्रतीयमान गंध जैसे–पृथ्वी से भिन्न है वैसे ही "मैं जानता हूं" ऐसा, गुण से प्रतीयमान ज्ञाता का ज्ञान भी, आत्मा से भिन्न है, श्रुति भी यही कहती है "यह पुरुष निश्चय ही जानता है।

पृथगुपदेशात् ।२।३।२८॥

स्वशब्देनैव विज्ञानं, विज्ञातु पृथगुपदिश्यते "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते "इति।

"विज्ञाता (जीव) का विज्ञान कभी विलुप्त नहीं होता" इस श्रुति में विज्ञान और विज्ञाता का स्पष्ट रूप से पृथक् निर्देश किया गया है।

यतूक्तं "यो विज्ञानेतिष्ठन्" विज्ञानं यज्ञं तनुते" ज्ञानस्यरुप मत्यंतनिर्मलम्" इत्यादिषु ज्ञानमेवात्मेति व्यपदिश्यत इति-तत्राह-

जो यह कहा कि–जो विज्ञान में अवस्थान करता है "जो विज्ञान और यज्ञ का प्रकाश करता है "जो ज्ञान स्वरूप अत्यंत निर्मल है "इत्यादि में तो आत्मा को ज्ञान स्वरुप ही कहा गया है। इस पर कहते हैं।

तद्गुण सारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ।२।३।२६॥

तुशब्दश्चोद्यंब्यावर्त्तयति, तद्गुणसारत्वात् विज्ञान गुणसारत्वात् आत्मनो विज्ञानमिति व्यपदेशः । विज्ञानमेवास्य सारभूतोगुणः यथा प्राज्ञस्यानंदः सारभूतो गुण इति प्राज्ञ आनंदशब्देन व्यपदिश्यते" यदेष आकाश आनन्दो व स्यात्" आनंदो ब्रह्मेतिव्यजानात्" इति । प्राज्ञस्यहि आनन्दः सारभूतोगुणः "स एको ब्रह्मण आनंदः", आनंदंब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन" इति । यथावा– "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इति विपश्चितः प्राज्ञस्य ज्ञान शब्देन व्यपदेशः । "सह ब्रह्मणा विपश्चिता" यः सर्वज्ञः" इत्यादिषु प्राज्ञस्य ज्ञानं सारभूतो गुण इति विज्ञायते ।

सूत्रस्थतु शब्द पुर्वोक्त आशंका का निराकरण करता हैं तद्गुणसातत्व का तात्पर्य विज्ञान की गुणसारता से है । आत्मा को ही विज्ञान शब्द से निर्देश किया गया हैं, विज्ञान ही आत्मा का सारभूत गुण है. जैसे कि–प्राज्ञ परमात्मा का, सारभूत गुण आनंद है इसी से प्राज्ञ का आनंदशब्द से निर्देश किया गया है । "यह अकाश आनंद नहीं,है, आनंद को ही ब्रह्मजनो "इत्यादि । आनंद प्राज्ञका ही सारभूत गुण है, ऐसा–ऐसा–"एक मात्र ब्रह्म ही आनंद है "ब्रह्मानंद को जानकर विज्ञपुरुष किसी से नहीं डरता" इत्यादि से निश्चित होता है । तथा "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म "में विपश्चित प्राज्ञ ज्ञान शब्द से भी उल्लेख किया गया है "सह ब्रह्मणा विपश्चिता" य सर्वज्ञः इत्यादि वाक्यों में, ज्ञान को, प्राज्ञ का सारभूत गुण कहा गया है ।

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषः तद्दर्शनात् ।२।३।३०॥

विज्ञानस्य आत्मभाविधर्मत्वात्तेन तद् व्यपदेशो न दोषः, तथा च-खण्डादयोयावत् स्वरूपभाविगोत्वादि धर्मं शब्देन 'गौरिति" व्यपदिश्यमाना दृश्यंते स्वरूपनिरूपण धर्मत्वादित्यर्थः चकारात् ज्ञानवदात्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वेन विज्ञानमिति व्यपदेशो न दोष इति समुच्चिनोति ।

विज्ञान ही, आत्मा का नियत सहभावी धर्म (गुण) है इसलिए विज्ञान शब्द से उसका उल्लेख दोषावह नहीं है। जैसे कि सांड़ आदि, गौ के समान स्वरूप वाले होने से ही गौ कहलाते हैं। अर्थात् स्वरूप निरुपक धर्म होने से ही गौ कहलाते हैं। सूत्रस्थ च शब्द का तात्पर्य है कि ज्ञान जैसे स्व प्रकाश है आत्मा भी वैसे ही स्व प्रकाश है, इस लिए विज्ञान रूप से आत्मा का निर्देश, दोषावह नहीं है

यच्चोक्तं सुषुत्प्यादिषु ज्ञानाभावात् ज्ञानस्य स्वरूपानुवंधिधर्मत्वं इति-तत्राह—

जो यह कहा कि सुषुप्ति मूर्छा आदि में, ज्ञान का अभाव होने से, ज्ञान, कभी अत्मा का स्वाभाविक गुण हो हीं नही सकता इसी का उत्तर देते हैं हैं—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्ति योगात् ।२।३।३१॥

तुशब्दश्चोदिताशंका निवृत्यर्थः। अस्य ज्ञानस्य सुषुप्त्यादिष्वपि विद्यमानस्य जागर्यादिष्वभिव्यक्ति संभवात् स्वरूपानुवंधि धर्मत्वोपपत्तिः पुंस्त्वादिवत्—यथा पुंस्त्वाद्यसाधारणस्य धातोर्बाल्यावस्थायां सतोऽप्यनभिव्यक्तस्य युवत्वेऽभिव्यक्तौ पुंसस्तद्वत्ता न कादाचित्कीभवति। सप्तधातुमयत्वं हि शरीरस्य स्वरूपानुवंधि- "तत् सप्तधातु त्रिमलं द्वियोनि चतुर्विधाहारमयं शरीरम्" इति शरीर स्वरूप व्यपदेशात्। सुषुप्त्यादिष्वपि अहमर्थः प्रकाशत इति प्रागेवोक्तम्। तस्य विद्यमानस्य ज्ञानस्य विषय गोचरत्वं जागर्यादावुप्रलभ्यते, एते चात्मनो ज्ञातृत्वादयोधर्माः प्रागेवोपादिताः। अतो ज्ञातृत्वमेव जीवात्मनः स्वरूपम्। सचायमात्माऽणुपरिमाणः।

सूत्र का तु शब्द, की गई शंका का निवारक है। यह ज्ञान सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में भी रहता है, जागरित अवस्था में उसकी अभिव्यक्ति मात्र होनी है। इससे उसकी स्वाभाविक धर्मता सिद्ध होती है, जैसे कि-मनुष्य पुंसत्व रूप से, यौवन में ही प्रस्फुरित होता हैं, बाल अवस्था में वह अनभिब्यक्त रहता है, एकाएक ही उसका विकास नहीं होता। सप्त-

धातुमय शरीर का वर्णन इस प्रकार मिलता हैं-"सात धातु—तीन मल-दो योनि और चार प्रकार के आहारों के विकार वाला यह शरीर है। "सुषुप्ति आदि में भी "अहं" की स्थिति रहती है, उस ज्ञान की विद्यमानता से ही, जागरित अवस्था में वह ज्ञान देखा जाता है। आत्मा के ज्ञातृत्व आदि गुणों का प्रतिपादन तो हो ही चुका। इसलिये यही मानना चाहिए कि-ज्ञातृत्व ही जीवात्मा का स्वरूप है, और अणु ही आत्मा का परिमाण हैं।

"न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इत्यपि न मुक्तस्यज्ञानाभावउच्यते, अपितु "एतेभ्योभूतेभ्यः समुत्थायतान्येवानुविनश्यति" इति संसारादशायां यद्भूतानुविधायित्वप्रयुक्तं जन्मनाशादि दर्शनम्, तन्मुक्तस्य न विद्यते, "न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगं नोत दुःखताम्, सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वदाः। "नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं" "मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते "इत्यादि श्रुत्यैकार्थ्यात्।

"न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" वाक्य में भी, मुक्त जीव का ज्ञानाभाव नहीं दिखलाया गया है, अपितु-"जीव इन समस्त भूतों से उठकर, उनके अनुसार ही नष्ट माना जाता है" ऐसा जो संसार दशा में, जीव का जन्म मरण दृष्टि गोचर होता है' वह मुक्त जीव का नहीं होता, यही उक्त वाक्यांश का तात्पर्य है। "मुक्त जीव मृत्यु नहीं देखता, न रोग और दुःख ही देखता है, बाकी सब कुछ देखता और सब कुछ प्राप्त करता" है उसे अतिनिकटस्थ इस शरीर का भी स्मरण नहीं रहता है मन से ही समस्त है 'इत्यादि श्रुतियाँ एक स्वर से उक्त तथ्य की ही पुष्टि करती है।

संप्रति ज्ञानात्मवादे तस्य सर्वगतत्वेदूषणमाहा—

अब, ज्ञानात्मवादे की दृष्टि से जीव की विभुता का दूषण-बतलाते हैं।

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि प्रसंगोऽन्यतर नियमोवाऽन्यथा ।२।३।३२॥

अन्यथा सर्वगतत्वपक्षे, तस्य ज्ञानमात्रत्व पक्षे च नित्यनुपलब्ध्यनुपलब्धो सहैव प्रसज्येयाताम्; अन्यतरनियमो वा नित्यं स्यात्, अनुपलब्धिरेव वा।

यदि उपर्युक्त सिद्धान्त नहीं मानोगे तो, जीव की विभुता और ज्ञानमात्र स्वरूपता की एक साथ सदा, उपलब्धि और अपलब्धि और अनुपलब्धि होगी अथवा दोनों में से एक ही बात होगी अथवा नित्य उपलब्धि होगी या नित्य अनुपलब्धि होगी।

एतदुक्तं भवति-लोकेतावदवर्त्तमानयोरात्मोपलब्ध्यनुपलब्ध्योरयं ज्ञानात्मा सर्वगतो हेतुः स्यात् उपलब्धेरेव वा, अनुपलब्धेरेव वा, उभय हेतुत्वे, सर्वदा सर्वत्रोभयं प्रसज्येत, यद्यप्युपलब्धेरेव, सर्वस्य सर्वदासर्वत्रानुपलम्भो न स्यात्। अथानुपलब्धेरेव, सर्वदा, सर्वत्रोपलब्धिर्न स्यात् इति। अस्माकं शरीरस्यांतरेवावस्थित-त्वादात्मनस्तत्रैवोपलब्धिर्नान्यत्रेति व्यवस्था सिद्धिः करणायत्तोपलब्धेरपि सर्वेषामात्मनां सर्वतत्वेन सर्दैः करणैः सर्वदाः संयुक्तत्वाददृष्टादेरप्यनियमादुक्त दोषः समानः।

कथन यह कि–व्यवहार क्षेत्र में साधारण रूप से ज्ञानात्मा, जब स्वयं ही, उपलब्धि और अनुपलब्धि का कारण हो जावेगा तो, या तो उसकी उपलब्धि होगी, अथवा अनुपलब्धि ही होगी। यदि दोनों का ही कारण होगा, तो दोनों ही सदा सर्वत्र साथ साथ रहेंगी। पर जहाँ उपलब्धि रहेगी, वहाँ सबकी, सदा, सर्वत्र अनुपलब्धि नहीं हो सकती, तथा अनुपलब्धि की स्थिति में, सबकी, सदा, सर्वत्र उपलब्धि नहीं हो सकती। हमारे मत से आत्मा जब तक शरीर में रहेगा, तब तक, उसकी शरीर रूप से उपलब्धि होती रहेगी, कोई अड़चन न पड़ेगी सारी बात बन जायगी। विषयोपलब्धि को इंद्रियाधीन मानने से भी, सब आत्मायें जब विभु और इंद्रियों से सदा संयुक्त हैं, उनका व्यवस्थापक कोई है नहीं, तब फिर वही बात उपस्थित होगी जो कि सर्वथा दोष ही है।

५ कर्त्ताऽधिकरणः—

कर्त्ताशास्त्रार्थवत्वात् ।२।३।२३॥

अयमात्मा ज्ञाता, सचाणुपरिमाण इत्युक्तम्। इदानीं किं स एव कर्त्ता, उत स्वयमकर्त्तैव सन्नचेतनानां गुणानां

कर्त्तृत्वमात्मन्यध्यस्य तीति चिन्त्यते । किं युक्तम् ? अकर्त्तैवात्मेति, कुतः? आत्मनो ह्यकर्त्तृत्वं गुणानामेव च कर्त्तृत्वमध्यात्म शास्त्रेषु श्रुयते । तथाहि कठवल्लीषु जीवस्य "न जायते म्रियते" इत्यादिना जरामरणादिकं सर्वं प्रकृतिधर्मं प्रतिषिध्य हननादिषु क्रियासु कर्तृत्वमपि प्रतिषिध्यते-"हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्, उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते "इति । हंतार आत्मानं जानन्न जानात्यात्मानमित्यर्थः । तथा च भगवता स्वयमेव जीवस्य अकर्त्तृत्वं स्वरूपम्, कर्त्तृत्वाभिमानस्तु व्यामोह इत्युच्यत-"प्रकृतः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः, अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते 'नान्यगुणेभ्यः कर्त्तारं यदाद्रष्टाऽनुपश्यति" कार्य कारण कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते, पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते "इति च अतः पुरुषस्य भोक्तृत्वमेव, प्रकृतेरेव तु कर्त्तृत्वम् इति ।

यह आत्मा ज्ञात और अणु परिमाण वाला है यह बतला चुके अब क्या वह कर्त्ता भी है? अथवा स्वयं अकर्त्ता होकर अचेतन गुणों के कर्त्तृत्व की (बुद्धि) से अपने में अध्यास (आरोपित) कर लेता है? इस पर विचार करते हैं, कह सकते हैं कि आत्मा कर्त्ता नहीं है, अध्यात्म शास्त्र में आत्मा का अकर्त्तृत्व और गुणों का कर्त्तृत्व बतलाया गया है। जैसे कि- कठबल्ली में जीव के जन्ममरण आदि समस्त धर्मो का-"न जायते म्रियते" इत्यादि से निषेध करके, हनन आदि क्रियाओं का भी निषेध करते है-"मारने वाला यह समझे कि मैंने मारा' तथा मरने वाला समझे कि-मैं मारा गया, ये दोनों ही तथ्य को नहीं जानते' क्योंकि-न वह मारता है, न यह मरता है "अर्थात् जो, अपने को मारने वाला समझते हैं वे, वस्तुतः आत्मा को नहीं जानते । स्वयं भगवान भी जीव का अकर्त्तृत्व तथा कर्त्तृत्वाभिमान को व्यामोह बतलाते हैं-" प्राकृतिक गुणो द्वारा क्रियमाण संपूर्ण कर्मो को अहंकार से विमूढ़ व्यक्ति " मैं करता हूं" ऐसा अभिमान करता है, बुद्धिमान सूक्ष्म दृष्टि वाला, गुणों के अतिरिक्त किसी को कर्त्ता नहीं मानता । कार्य और कारण के कर्त्तृत्व का हेतु, प्रकृति कहा गया है तथा-सुख दुःख आदि भोक्तृत्व पुरुष का बतलाया गया है। इस प्रकार पुरुष की भोक्तृता और प्रकृति की कर्त्तृता बतलाई गई है ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात्" इति आत्मैव कर्त्ता न गुणाः, कस्मात्? शास्त्रार्थवत्वात्। शास्त्राणि हि "यजेत स्वर्गकामः" "मुमुक्षु ब्रह्मोपासीत" इत्येवमादीनि स्वर्गमोक्षादिफलस्य भोक्तारेमेव कर्तृत्वे नियुंजते, नहि अचेतनस्य कर्तृत्वेऽन्यो नियुज्यते। शासनाच्च शास्त्रं शासनं च प्रवर्त्तनम्, शास्त्रस्य च प्रवर्त्तकत्वं बोधजननद्वारेण, अचेतनं च प्रधानं न बोधयितुं शक्यम्। अतः शास्त्राणामर्थवत्त्वं भोक्तुश्चेतनस्यैव कर्तृत्वे भवेत्। तदुक्तं—"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि" इति।

उक्त कथन पर सिद्धान्त रूप से—"कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् आत्मा ही कर्त्ता है गुण नहीं है' शास्त्र से ऐसा ही निश्चित होता है। शास्त्रों में "स्वर्णाभिलाषी यज्ञ करता है" मुमुक्षु ब्रह्म की उपासना करता है, इत्यादि में, स्वर्गमोक्ष आदि फल के भोक्ता को ही कर्त्ता कहा गया है, अचेतन प्रकृति को कर्त्ता नहीं कहा गया है। शासन करने ही से शास्त्र कहलाता है·कर्त्तव्य कर्म में प्रवृत्त रहना ही शासन का प्रयोजन है शास्त्र, बोधजनक वाक्यो से जीवों को सत्कर्म में प्रवृत्त कराते हैं; अचेतन प्रकृति को कर्म प्रवृत्त कराया नहीं जा सकता। शास्त्रों की सार्थकता, चेतन भोक्ता के लिए ही है। ऐसा ही कहा भी गया है—"कार्य कर्त्ता को ही शास्त्रोक्त क्रिया का फल मिलता है"

यदुक्तं—"हन्ताचेन्मन्यते" इत्यादिना हननक्रियायामकर्तृत्वमात्मनः श्रूयत इति, तदात्मनो नित्यत्वेन हन्तव्यत्वाभावादुच्यते यच्च "प्रकृतेः क्रियमाणानि" इत्यादिना गुणानामेव कर्तृत्वं स्मर्यत इति, तत्सांसारिक प्रवृत्तिष्वस्य कर्तृता सत्त्वरजस्तमोगुण संसर्गकृता, न स्वरूपप्रयुक्तेति प्राप्ताप्राप्ताविवेकेनगुणानामेवकर्तृतेत्युच्यते। तथा च तत्रैवोच्यते—"कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु इति। तथा तत्रैवात्मनश्च कर्तृत्वमभ्युपेत्पोच्यते—"तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः, पश्यत्यकृत् बुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः" इति। "अधिष्ठानं तथा कर्त्ताकरणं च पृथग्विधम्,

विविधा च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्" इत्यधिष्ठानादि दैवपर्यन्त सापेक्षे सत्यात्मनः कर्त्तृत्वे य आत्मानमेव केवलंकर्त्तारं मन्यते न स पश्यतीत्यर्थः ।

जो यह कहा कि-:'हंताचेन्मन्यते" इत्यादि में आत्मा की अकर्त्तृता बतलाई गई है; सो बात नहीं है, वहाँ पर आत्मा की नित्यता बतलाते हुए, उसकी हंतव्यता का निषेध किया गया है। और जो यह कहा कि— "प्रकृतेः क्रियमाणानि" इत्यादि से, गुणों की कर्त्तृता कही गई है, सो बात भी नहीं है-वहाँ एक मात्र सांसारिक प्रवृत्तियों में ही, सत्त्वरजतम संसर्ग कृता कर्त्तव्यता बतलाई गई है वास्तविक कर्त्तृता नहीं बतलाई गयी है। भोक्ता, जीवात्मा की उच्चावच. भाव को बतलाने वाली, गुणों की कर्त्तृता कही गई है, जैसा कि-उक्त प्रसंग में ही गीता में कहा गया है—"सत् असत् योनियों में, जन्म का कारण गुणों की आसक्ति ही हैं।" उसी प्रसंग में आत्मा की कर्त्तृता का भी उल्लेख है- "जो केवल आत्मा को ही कर्त्ता मानता है, वह दुर्मति अकृत बुद्धि होने के कारण, यथार्थता को नहीं समझ पाता "अधिष्ठान (शरीर) कर्त्ता (जीव) पृथक् पृथक् करण (इन्द्रियाँ) विभिन्न प्रकार की चेष्टायें और दैव, ये पांच कारण हैं।" इस प्रकार आत्मा का कर्त्तृत्व, अधिष्ठान से लेकर दैव तक, पाँचो से सापेक्ष माना गया है, इसलिए जो लोग, एकमात्र आत्मा को कर्त्ता मानते हैं, वे निश्चित ही आत्मा को नहीं जानते। यही उक्त कथन का तात्पर्य है।

उपादानाद विहारोपदेशाच्च ।२।३।३४॥

"स यथा महाराजः" इति प्रकृत्य "एवमेवैष एतान् गृहीत्वा स्वेशरीरे यथाकामं परिवर्त्तते" इति प्राणानामुपादाने विहारे च कर्त्तृत्वमुपदिश्यते ।

"जैसे कि वह महाराज" ऐसा कहकर "यह आत्मा भी उसी प्रकार, समस्त प्राणों (इन्द्रियों) को ग्रहण करके, अपने शरीर में यथेच्छ विहार करता है" इत्यादि में प्राणों के ग्रहण और विचरण में आत्मा की कर्त्तृता का उपदेश दिया गया है।

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ।२।३।३५।।

"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेपि च" इति लौकिक वैदिक क्रियासु कर्त्तृत्व व्यपदेशाच्च कर्त्ता । विज्ञानशब्देन नात्मनो व्यपदेशः, अपित्वंतः करणस्य बुद्धेरिति चेत् एवं सति निर्देश विपर्ययः स्यात् बुद्धेः करणत्वाद् विज्ञानेनेति करणविभक्तिनिर्देशः स्यात् ।

"विज्ञान यज्ञ और कर्मों का संपादन करता है" इत्यादि में लौकिक वैदिक क्रियाओं में जीवात्मा का कर्त्तृत्व स्पष्ट बतलाया गया है, इसलिए उसी का कर्त्तृत्व निश्चित होता है । यदि कहो कि–विज्ञान शब्द से आत्मा का व्यपदेश नहीं है अपितु अंतःकरण की अंग रूप बुद्धि का व्यपदेश है । यदि इन्द्रियों का व्यपदेश मान लेगे तो कथन का तात्पर्य ही विपरीत हो जायेगा । यदि विज्ञान शब्द से बुद्धि अर्थ सापेक्ष होता तो "विज्ञानं" के स्थान पर "विज्ञानेन" ऐसा करण विभक्ति, का निर्देश किया गया होता ।

उपलब्धिवदनियमः ।२।३।३६।।

आत्मनोऽकर्त्तृत्वे दोष उच्यते । यथाऽत्मनोविभुत्वे नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंग इत्यादिनोपलब्धेरनियम उक्तः, तद्वदात्मनोऽकर्त्तृत्वे प्रकृतेश्चकर्त्तृत्वे तस्याः सर्व पुरुषसाधारणत्वात् सर्वाणि कर्माणि सर्वेषां भोगाय स्युः, नैव वा कस्यचित् । आत्मनां विभुत्वाभ्युपगमात् सन्निधानमपि, सर्वेषामविशिष्टम् । अत एव चान्तः करणादीनामपि नियमो नोपपद्यते, यदायत्ताव्यवस्था स्यात् ।

आत्मा को कर्त्ता न मानने से दोष बतलाते हैं । जैसे कि—आत्मा की विभुता मानने से "नित्य उपलब्धि और अनुपलब्धि की समस्या उपस्थित होती है" इत्यादि वाक्य से उपलब्धि की अनियमितता कही गई, वैसे ही—आत्मा का अकर्त्तृत्व और प्रकृति का कर्त्तृत्व मानने से, सर्व सुलभ प्रकृति के सारे कर्म, सभी के लिए, भोग के साधन हो जावेगे भोग की विषमता का कोई नियम ही न रह जायेगा । आत्माओं को

विभु मानने से, आत्माओं का प्रकृति सान्निध्य भी, समान हो जायेगा, इस प्रकार अंतः करणों के नियमों की भी कोई विशेषता न रह जायेगी, जिससे कि—कर्म भोग की विलक्षणता घटित होती है।

शक्तिविपर्ययात् ।२।३।३७।।

बुद्धेः कर्त्तृत्वे कर्त्तुरन्यस्य भोक्तृत्वानुपपत्तेर्भोक्तृत्वशक्तिरपि तस्या एव स्यादित्यात्मनो भोक्तृत्वशक्तिर्हीयते। भोक्तृत्वं च बुद्धेरेव संपद्यत इति आत्म सद्भावे प्रमाणाभावश्च स्यात्। "पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्" इति हितेषामभ्युपगमः।

बुद्धि का कर्त्तृत्व मानने से; कर्त्ता से भोक्तृता को भिन्न नही किया जा सकता, इसलिए भोक्तृता भी, बुद्धि की ही माननी पड़ेगी इस प्रकार आत्मा की भोक्तृत्व शक्ति समाप्त हो जायेगी तथा बुद्धि की भोक्तृता निश्चित होने से, आत्मा के अस्तित्व के प्रमाणों का ही अभाव हो जायेगा। "भोक्तृभाव से ही वह पुरुष है" यह वाक्य भी फिर बुद्धि परक ही माना जायेगा।

समाध्यभावाच्च ।२।३।३८।।

बुद्धेः कर्त्तृत्वे,मोक्षसाधनभूत समाधावपि सैव कर्त्री स्यात्। स च समाधिः "प्रकृतेरन्योऽस्मि" इत्येवं रूपः, न च प्रकृतेरन्योऽस्मीति प्रकृतिः समाधातुमलम्। अतोऽप्यात्मैव कर्त्ता।

बुद्धि की कर्त्तृता होने से, मोक्ष की साधननिका समाधि क्रिया भी बुद्धि की ही होगी। समाधि अवस्था क्रिया में "मैं प्रकृति से भिन्न हूं" ऐसी अनुभूति होती है। यदि समाधि को बुद्धिकृत मानते हैं तो "प्रकृति से अन्य हूँ" ऐसा समाधान नहीं हो सकेगा, क्योंकि बुद्धि तो प्रकृति का ही स्वरुप है, वह स्वयं तो अपने को निवृत्त कर नहीं सकती इसलिए, आत्मा को ही, कर्त्ता मानना पड़ेगा।

नन्वात्मनः कर्त्तृत्वेऽभ्युपगम्यमाने सर्वदा कर्त्तृत्वान्नोपरमेतेत्यत्राह—

आत्मा का कर्त्तृत्व स्वीकारने से, आत्मा की कर्त्तृता कभी समाप्त ही न होगी? इस शंका का समाधान करते हैं—

यथा च तक्षोभयथा ।२।३।३९।।

वागाधिकरण संपन्नोऽप्यात्मा यदेच्छति, तदा करोति, यदा तुनेच्छति, तदा न करोति, यथा तक्षा वाश्याधिकरण सन्निधानेऽपि इच्छाऽनुगुण्ये न करोति, न करोति च । बुद्धेस्त्वचेतनायाः कर्त्तृत्वे तस्याः भोगवांच्छदिनियमकारणाभावात् सर्वदा कर्त्तृत्व-मेव स्यात् ।

वागादि इंद्रियों वाला जीवात्मा, जब इच्छा होती है, तभी कार्य करता है, जब नहीं होती तब नहीं करता, जैसे कि–बढ़ई, वसूला हथौड़े आदि साधनों से अपनी इच्छानुसार ही कार्य करता है और अनिच्छा होने पर नहीं करता । बुद्धि तो अचेतन है, उसमें भोग आदि की इच्छा तो होती नहीं, यदि उसे कर्त्ता मानेंगे तो सदा कार्य चालू ही रहेगा (जैसे कि मशीन चालू कर दी जाय तो सदा चलती ही रहेगी) ।

६ परायत्ताधिकरणः—

परात्तु तच्छ्रुतेः ।२।३।४०।।

इदं जीवस्य कर्त्तृत्वं किं स्वातंत्र्येण? उतपरमात्माऽयत्तमिति? किं प्राप्तम्? स्वातंत्र्येणेति । परमात्माऽयतत्त्वे हि विधि निषेध शास्त्रानर्थक्यं प्रसज्येत् । यो हि स्वबुद्धया प्रवृत्ति निवृत्यारंभ शक्तः, स एव नियोज्यो भवति । अतः स्वातंत्र्येणास्य कर्त्तृत्वम् ।

अब विचार होता है कि–जीव का कर्त्तृत्व स्वायत्त है अथवा परमात्मायत्त? कह सकते हैं कि–स्वायत्त है । परमात्मायत्त मानने से तो, विधि निषेध के विधायक शास्त्रीय वाक्यों का कोई अर्थ ही न रह जायगा । परमात्मा सब समर्थ हैं, अपनी बुद्धि के अनुसार प्रवृत्ति निवृत्ति करने की शक्ति रखते हैं, वही नियोजक भी हो सकते हैं, इसलिए कर्त्तृत्व में उनका अधिपत्य संभव नहीं है। इसलिए जीव का तो, स्वतंत्र ही कर्त्तृत्व है [अर्थात्–यदि परमात्मायत्त कर्त्तृत्व होता तो शास्त्रों के

उपदेश की क्या आवश्यकता थी, सर्व समर्थ परमात्मा जैसा चाहते वैसा करते, शास्त्र में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उपदेश दिया गया है इसलिए जीवात्मा का कर्तृत्व सिद्ध होता है] ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—"परात्तुतच्छ्रुतेः" इति । तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, तत्—कर्तृत्वं अस्य—जीवस्य—परात् परमात्मन एव हेतोर्भवति, कुत.? श्रुतेः 'अंतः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्माशरीरम् य आत्मानमंतरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति । स्मृतिरपि—"सर्वस्य चाहं हृदिसन्निविष्टो मत्तः स्मृतिः ज्ञानमपोहनं च "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति, भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानिमायया "इति ।

उक्त कथन पर सिद्धान्त रूप से "परात्तुतच्छ्रुतेः" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। सूत्रस्थ तु शब्द पक्ष का व्यावर्त्तक है । इस जीव का कर्तृत्व परायत्त अर्थात् परमात्मायत्त ही है, ऐसा श्रुति से ज्ञात होता है "जो कि-जीवों का सर्वान्तर्यामी शासक है" जो आत्मा में अन्तर्यामी रूप से स्थित होकर, सयंमन करता है, आत्मा उसे नहीं जानता, आत्मा ही जिसका शरीर है, वह सर्वान्तर्यामी अमृत है । "इत्यादि-स्मृति में भी जैसे-"मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूँ, मुझसे ही, स्मृति, ज्ञान और अपोहन (वितर्क) होता है"ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में स्थित है और अपनी माया से यंत्र की तरह सभी प्राणियों को घुमाता रहता है । "

नन्वेवं विधिनिषेध शास्त्रानर्थक्यं प्रसज्येतेत्युक्तम्-तत्राह—

ऐसा मानने से-विधिनिषेधात्मक शास्त्र व्यर्थ हो जावेंगे, ऐसा पहिले ही कह चुके हैं। इसका उत्तर देते हैं—

कृत प्रयत्नापेक्षस्तु विहित प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः २।३।४१॥

सर्वासु क्रियासु पूरुषेण कृतं प्रयत्नं उद्योगमपेक्ष्यांतर्यामी परमात्मा तदनुमति दानेन प्रवर्त्तयति । परमात्मानुमति मंतरेणास्य

प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इत्यर्थः । कुत एतत्? विहित प्रतिसिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः आदिशब्देनानुग्रहनिग्रहादयो गृह्यंते । यथा द्वयोः साधारणे धने परस्वत्वापादनमन्यतरानुमतिमंतरेण नोपपद्यते, अथापीतरानुमतेः स्वेनैव कृतमिति तत्फलं स्वस्यैव भवति । पापकर्मसु निवर्त्तनशक्तस्याप्यनुमंतृत्वं न निर्दयत्वमावहतीति सांख्य समय निरूपणे प्रतिपादितम् ।

सभी क्रियाओं में पुरुषकृत प्रयत्न ही होता है, मनुष्य के उद्योगानुसार, अन्तर्यामी परमात्मा, उसे तद्विषयक बुद्धि प्रदान करके उसमें संलग्न करते हैं । अर्थात् परमात्मा की अनुमति के बिना इस जीवात्मा की कार्यक्षमता और प्रवृत्ति हो नहीं सकती । ऐसा कैसे समझा? विधि और निषेध की अनिवार्यता से ही यह बात प्रतीत होती है । प्रभु का निग्रह अनुग्रह आदि भी उसके प्रमाण हैं । जैसे कि–दो व्यक्तियों के साझे के धन में, व्यय आदि कार्यों में परस्पर अनुमति आवश्यक है पर यदि कोई व्यक्ति, दूसरे की अनुमति बिना, स्वतः ही दान आदि करे तो, उसके, पाप पुण्य आदि का फल उसे स्वयं ही भोगना पड़ेगा, वैसे ही जीवात्मा संसार के कार्यों में, परमात्मा की साझेदारी भूलकर स्वयं ही अपने को कर्त्ता मान बैठता है, उसी के फलस्वरूप उसे भोग भोगने पड़ते हैं, अनुमति दाता परमात्मा चुपचाप, उसकी करतूतों को देखते रहते हैं । पाप कर्मों से वह जीवों को बचा सकते हैं, फिर उसके पाप कर्म की अनुमति क्यों देते है, यह तो उनकी निर्दयता है, इसका उत्तर हम सांख्यमत के निरूपण के समय दे चुके हैं ।

नन्वेवम् "एष हि एव साधु कर्मकारयति तं यमधोनिनीषति" इत्युन्निनीषयाऽधोयोनीषमा च स्वयमेव साध्वसाधुनी कर्मणी कारयतीत्येतन्नोपपद्यते । उच्यते–एतन्नसर्वसाधारणम्, यस्त्ववतिमात्र परमपुरुषानुकूल्ये व्यवस्थितः प्रवर्त्तते,तमनुगृह्णन भगवान् स्वयमेव स्वप्राप्त्युपायेष्वतिकल्याणेषु कर्मस्वेव रुचिं जनयति । पश्चातिमात्रप्रातिकूल्ये व्यवस्थितः प्रवर्त्तते, तं निगृह्णन्

स्वप्राप्तिविरोधिष्वधोगतिसाधनेषु कर्मसुरुचिं जनयति। यथोक्तं भगवता स्वयमेव—"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते, इति मत्वा भजंते मां बुधाभाव समन्विताः" इत्यारभ्य "तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्, ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांतिते "तेषामेवानुकंपार्थं अहमज्ञानजंतमः नाशयाम्यात्म भावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता" इति। तथा—"असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् "इत्यादि "मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषंतोऽभ्य सूयकाः "इत्यन्तमुक्त्वा "तानहंद्विषतः क्रुरान् संसारेषुनराधमान्, क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु "इत्युक्तम्।

"परमात्मा उसी से उत्तम कर्म कराते हैं, जिसे उठाना चाहते हैं तथा जिसे गिराना चाहते हैं, उससे नीच कर्म कराते है "इत्यादि से भगवान द्वारा ही उत्तम निकृष्ट कर्म कराने की बात सिद्ध होती है, जिससे कि-उपर्युक्त मत का सामंजस्य नहीं बैठता। इसका उत्तर देते हैं यह बात सर्वसाधारण के लिए नहीं है, अपितु जो लोग एकमात्र परमपुरुष परमात्मा के आश्रित होकर उन्ही की अनुमति के अनुसार कार्य करने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं, परमात्मा, उन पर कृपा करके अपनी प्राप्ति के उपायभूत कल्याणमय कर्मों में उसकी रुचि प्रकट करते हैं, तथा जो लोग भगवत् प्राप्ति से विपरीत कर्मों में संलग्न रहते हैं, उन पर वे परमात्मा अकृपा करते हुए अपनी प्राप्ति के प्रतिकूल, अधोगति के उपायभूत कर्मों में आसक्त कर देते हैं। जैसा कि—भगवान ने स्वयं कहा है—"मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ, सब मुझसे ही प्रवृत्त किये जाते हैं "ऐसा समझ कर भाव समन्वित ज्ञानी भक्त मुझको भजते हैं" उन, निरन्तर मुझमें लगे हुए भजन करने वाले भक्तों को मैं, प्रीतिपूर्वक ऐसी बुद्धि प्रदान करता हूँ, जिससे वे, मुझे प्राप्त कर सकें, "उन्ही पर अनुग्रह करके मैं, उनमें आत्मभाव से स्थित होकर, अज्ञान से उत्पन्न उनके अंधकार को, प्रज्वलित ज्ञान दीप के द्वारा नाश कर देता हूँ "इत्यादि। तथा "जो यह कहते हैं कि-जगत असत्य, अप्रतिष्ठ और ईश्वर रहित है" मेरी निन्दा करने वाले, अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ ईश्वर की निंदा करते हैं "इत्यादि से सर्वसाधारण व्यक्तियों का रूप बतलाकर

"उन द्वेष करने वाले, क्रूर अशुभ नराधमों को मैं, संसार में निरन्तर आसुरी योनियों में ही डालता हूँ "इत्यादि विशिष्ट गति कही है।

७—अंशाधिकरणः—

अंशोनानाव्यपदेशादन्यथापि दाश कितवादित्वमधीयतएके२।३।४२॥

जीवस्य कर्त्तृत्वं परमपुरुषायत्तमित्युक्तम्। इदानीं किमयं जीवः परस्मादत्यंतभिन्नः, उत परमेव ब्रह्म भ्रांतम्, उत ब्रह्मैवोपाध्यवच्छिन्नम्, अथ ब्रह्मांश? इति संशय्यते, श्रुति विप्रतिपत्तेः संशयः

जीव का कर्त्तृत्व, परमपुरुषायत्त है, यह बतलाया गया अब विचार करते हैं कि-जीव परमात्मा से अत्यंत भिन्न है.अथवा अज्ञानाच्छन्न भ्रांत ब्रह्म ही है, अथवा उपाधिपरिच्छिन्न ब्रह्म है, अथवा ब्रह्म का अंश है? ऐसा संशय परस्पर भिन्न श्रुतियों के आधार पर होता है।

ननु "तदन्यत्वमारंभणशब्दादिभ्यः "अधिकं तु भेदनिर्देशात् इत्यत्रैवायमर्थो निर्णीतिः। सत्यम्, स एव नानात्वैकत्वश्रुति विप्रतिपत्या आक्षिप्य जीवस्य ब्रह्मांशत्वोपपादनेन विशेषतो निर्णीयते, यावद् हि जीवस्य ब्रह्मांशत्वं न निर्णीतम्, तावज्जीवस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वं ब्रह्मणः—तस्मादधिकत्वं च न प्रतितिष्ठति।

"तदन्यत्वमारंभण" अधिकं भेद "इत्यादि दोनों सूत्रों में ही इस विषय का निर्णय हो चुका था। ठीक है अब परस्पर भिन्न श्रुति वाक्यों के अनुसार संशय उपस्थित करके, जीव की ब्रह्मांशता का समर्थन करके विशेष निर्णय करते हैं। जब तक जीव की ब्रह्मांशता का, निर्णय नहीं किया जाता, तब तक उसकी ब्रह्म की ब्रह्म से अनन्यता या उससे श्रेष्ठता, सिद्ध नहीं हो सकती।

किं तावत् प्राप्तम्? अत्यंतभिन्न, इति, कुतः? "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ "इत्यादिभेदनिर्देशात्। ज्ञाज्ञयोरभेदश्रुतयस्तु "अग्निना सिंचेत् "इति वद् विरुद्धार्थ प्रतिपादनादौपचारिक्यः।

उक्त प्रकार में से जीव का कौन सा रूप हो सकता है? कहते हैं कि जीव अत्यंत भिन्न है, क्योंकि-"ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ" इत्यादि में स्पष्ट भेद निर्देश किया गया है। ज्ञाता और अज्ञाता की अभिन्नता को बतलाने वाले वाक्य तो "अग्नि से सींचता है" के समान विरुद्धार्थ प्रतिपादक औपचारिक मात्र हैं।

ब्रह्मणोंऽशो जीव इत्यपि न साधीयः, एकवस्तु एकदेशवाचीहि अंश शब्दः, जीवस्य ब्रह्मैकदेशत्वे, तद्गता दोषा ब्रह्मणि भवेयुः। न च ब्रह्म खंडो जीव इत्यंशत्वोपपत्तिः, खंडनानाहंत्वात् ब्रह्मणः प्रागुक्तदोष प्रसंगाच्च। तस्मादत्यंत भिन्नस्य च तदंशत्वं दुरुपपादम्। यद्वा भ्रांतं ब्रह्मैव जीवः, कुतः "तत्त्वमसि" अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि ब्रह्मात्मभावोपदेशात्। नानात्ववादिन्यस्तु प्रत्यक्षादि सिद्धार्थानुवादित्वादनन्यथा। सिद्धाद्वैतोपदेशपराभिः श्रुतिभिः प्रत्यक्षादय इवाविद्यान्तर्गताः ख्याप्यन्ते। अथवा ब्रह्मैवानाद्युपाध्वच्छिन्नं जीवः। कुतः तत एव ब्रह्मात्मभावोपदेशात्। न चायमुपाधिभ्रांतिपरिकल्पित इति वक्तुं शक्यम्, बंधमोक्षादिव्यवस्थानुपपत्तेः, इति।

जीव, ब्रह्म का अंश है, यह बात भी सहज साध्य नहीं है एक वस्तु की, एक स्थानीय वस्तु को ही अंश शब्द से निर्देश किया जाता है इस प्रकार जीव की ब्रह्मैकदेशता सिद्ध होती है, जिससे कि एक देशस्थानीय जीव के दोष, ब्रह्म में भी हो सकते हैं। जीव, ब्रह्म के खंड के रूप में अंश माना गया हो सो बात नहीं है, ब्रह्म का खंड तो किया ही नहीं जा सकता वह तो अखंड है। खंड मानने से तो निश्चित ही उक्त दोष का प्रसंग होगा ही। ब्रह्म से अत्यंत भिन्न मानकर जीव की अंशता का समर्थन भी सहज नहीं है। "तत्वमसि" "अयमात्मा" इत्यादि ब्रह्मात्मभाव को बतलाने वाले वाक्यों से, भ्रांतब्रह्म ही जीव है, ऐसी धारणा वाले द्वैतपरक श्रुति वाक्यों को मानने से यह भ्रांति होती है कि-निश्चित ही विरुद्धता होगी और वे "तत्त्वमसि" आदि अद्वैत परक वाक्य व्यर्थ हो जावेगे। इसलिए ये प्रत्यक्ष में दीखने वाली विभिन्नता और इसके प्रतिपादक श्रुति वाक्य

मिथ्या हैं। अथवा– ब्रह्मात्मभाव के उपदेश के आधार पर जो "ब्रह्म ही अनादि उपाधियों से अवच्छिन्न जीव है" ऐसा मानने वाले हैं, वे उपाधि को भ्रांति कल्पित तो कह नहीं सकते, क्योंकि बंध मोक्ष आदि की व्यवस्था न हो पावेगी।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते ब्रह्मांश इति, कुतः? नानाव्यपदेशात् अन्यथा च- एकत्वेन व्यपदेशात्। उभयधा हि व्यपदेशो दृश्यते। नानात्वव्यपदेशः तावत्स्रष्टत्वसृज्यत्वनियंतृत्वनियाम्यत्वसर्वज्ञत्वाज्ञत्व स्वाधीनत्वपराधीनत्वाशुद्धत्वकल्याणगुणाकरत्वतद्विपरीतपतित्वशेष त्वादिभिर्दृश्यते। अन्यथा च अभेदेन व्यपदेशोऽपि "तत्वमसि" अयमात्माब्रह्म इत्यादिभिर्दृश्यते। अपि दाशकितवादित्वमधीयत एके" ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मे मे कितवाः" इत्याथर्वणिका ब्रह्मणो दाशाकितवादित्वमप्यधीयते। ततश्च सर्वजीवव्यापित्वेनाभेदोव्यपदिश्यत् इत्यर्थः। एवमुभय व्यपदेशमुख्यत्वसिद्धये जीवोऽयं ब्रह्मणोंऽश इत्यभ्युपगंतव्यः।

इस पर स्वमत प्रकट करते हैं कि—जीव, ब्रह्म का अंश ही है, ऐसा उन दोनों की एकता बतलाने वाले वाक्यों से ही ज्ञात होता है। द्वैत और अद्वैत दोनों का ही वर्णन मिलता है। भेद के वर्णन में, सृष्टि कर्त्तृत्व—सृज्यत्व, नियंतृत्व—नियाम्यत्व, सर्वज्ञत्व—अज्ञत्व, स्वाधीनत्व-पराधीनत्व, शुद्धत्व-अशुद्धत्व, कल्याण गुणाकरत्व-पतित्व और शेषत्व आदि विपरीत भावनायें पाई जाती हैं। "तत्वमसि" अयमात्मा 'ब्रह्म इत्यादि में अभेद का वर्णन मिलता है। वेद की एक शाखा में-" ब्रह्म ही दाश है, ब्रह्म ही दास है, ब्रह्म ही कितब है" इत्यादि से ब्रह्म का दास कितब आदि भाव भी मिलता है। वह सब जीवों में व्यापक होने से अभिन्न हैं, यह बात इससे ज्ञात होती है।

न च भेदव्यपदेशानां प्रत्यक्षादिप्रसिद्धार्थत्वेनान्यथासिद्धत्वम्, ब्रह्मसृज्यत्वतन्नियाम्यत्वतच्छरीरत्वतच्छेषत्वतदाधारत्वतत्पाल्यत्वतत्संहार्यत्व तदुपासकत्वतत्प्रसादलभ्यधर्मार्थकाममोक्ष रूप पुरुषार्थ-

भाक्तवादय स्तत्कृतश्च जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वेनान्यथा-सिद्धः। अतोन जगत्सृष्ट्यादिवादिनीनां प्रमाणान्तरसिद्धभेदानु-वादेन मिथ्यार्थोपदेशपरत्वम्।

यह नहीं कह सकते कि-प्रत्यक्ष में दीखने वाले भेद अकारण हैं-क्यों कि-ब्रह्म की सृज्यता, ब्रह्म की नियामकता, ब्रह्म की देहता ब्रह्मांगता, ब्रह्म की पाल्यता, ब्रह्म की संहारकता, तथा ब्रह्मोपासना और ब्रह्मानुग्रह से प्राप्त धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप पुरुषार्थ औरउससे होने वाला जीव ब्रह्म का भेद तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय नहीं है, इसलिए अकारण नहीं है। जगत् की सृष्टि आदि को बतलाने वाली श्रुतियाँ, अभेद परक श्रुतियों के समक्ष, केवल कथन मात्र हैं, यह बात, उक्त वर्णन से सिद्ध नहीं होती।

न चा खंडैकरसचिन्मात्रस्वरुपेण ब्रह्मणाऽत्मनोऽतद्भावानु-संधानं, वहुभवन संकल्पपूर्वकवियदादिसृष्टि, जीवभावेन तत् प्रवेशं, विचित्रनामरूपव्याकरणं, तत्कृतानंतविषयानुभवाः मित्त सुखदुःख भागित्वम्, अभोक्तृत्वेन तत्र स्थित्वा तन्नियमनेनान्तर्यामित्वं, जीव भूतस्य स्वस्य कारणब्रह्मात्मभावानुसंधानं, संसारमोक्षं, तदुपदेश शास्त्रं च कुर्वाणेन भ्रमितव्यमित्युपदिश्यते, तथा सत्युन्मत्तप्रलपित त्वापातात्।

और न अखंड एक रस चिन्मात्र, स्वरूप ब्रह्म के साथ, जीवात्मा की अतिसूक्ष्म भिन्नता, अनेक रूपों में अविर्भूत होने के लिए संकल्प-पूर्विका आकाश आदि की सृष्टि, जीवभाव से उनमें प्रवेश, विचित्र नाम रूपों की अभिव्यक्ति, उस अभिव्यक्ति के फलस्वरूप होने वाली विषयानु-भवजनित सुख दुःख आदि द्विविधायें, अभोक्तारूप से जीव में स्थिति और संर्वान्तर्यामी रूप से उनकी नियामकता, जीव का अपने में कारण रूपी ब्रह्मात्मभाव का अनुसंधान, संसार का मोक्ष, आदि के उपदेश देने वाले शास्त्रों के कर्त्ता को भ्रामक उपदेश देने वाला नहीं कह सकते, ऐसा कहना तो पागल का प्रलाप मात्र है।

उपाध्यवच्छिन्नंब्रह्म, जीव इत्यपि न साधीयः, पूर्वनिर्दिष्ट नियंतृत्व, नियाम्यत्वादिव्यपदेशवाधादेव । नहि देवदत्तादेरेकस्यैव गृहाद्युपाधिभेदान्नियंतृनियाम्यभावादिसिद्धिः । अत उभय व्यपदेशो पपत्तये जीवोऽयं ब्रह्मणोंऽश इत्यभ्युपेत्यम् ।

ब्रह्म ही अनादि उपाधियों से अवच्छिन्न जीव है, इसको सिद्ध करना भी कठिन है। जो नियंतृत्व नियाम्यत्व आदि द्विविधायें बतलाई गई वह ऐसा मानने में बाधक होगी। एक ही देवदत्त, घर आदि नाम वाला लेकर, नियंता और नियम्य दोनों नहीं हो सकता। इसलिए भेदाभेद की व्यवहारिकता की सिद्धि के लिए, इस जीव को ब्रह्म का अंश मानना पड़ेगा।

मंत्रवर्णात् ।२।३।४३।।

"पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इतिमंत्रवर्णाच्च ब्रह्मणोंशो जीवः । अंशवाची हि पादशब्दः । "विश्वाभूतानि" इति जीवानां वहुत्वाद बहुवचन मंत्रे, सूत्रेऽपिअंश इत्येक वचनं जात्यभिप्रायम् । "नात्माश्रुतेः" इत्यत्राप्येक वचनं जात्यभिप्रायम् "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" इत्यादि श्रुतिभ्य ईश्वराद्भेदस्यात्मनां बहुत्वे प्रामाणिके सति ज्ञानस्वरूपत्वेन सर्वेषामेकरूपत्वेऽपि भेदकाकारः आत्ममाथात्म्यवेदनक्षमैरवगम्यते "अजंततेश्चा व्यतिकरः इत्यनंतरमेववचात् बहुत्वं वक्ष्यति ।

"साराभूत समुदाय इनके एक चरण में हैं, इनके तीन चरण अविकृत रूप से प्रकाशमय अमृत हैं" इस वैदिक मंत्र से भी, जीव, ब्रह्म का अंश सिद्ध होता है। मंत्र में वर्णित पाद शब्द, अंशवाची ही हैं। "विश्वाभूतानि" शब्द जीवों की बहुलता का बोधक बहुवचन है। सूत्र में प्रयुक्त "अंश" शब्द का एक वचन प्रयोग, जीव की जातिगत एकता का बोधक है। "नात्माश्रुतेः" सूत्र में किया गया एक वचन का प्रयोग भी, जातिगत एकता के अभिप्राय से ही है। "जो नित्यों का नित्य, चेतनों का

चेतन, अकेला ही अनेकों की कामनाओं को पूर्ण करता है" इत्यादि में ईश्वर जीव का भेद, अभेद और नित्यता की विज्ञप्ति से भी, जीव की अंशता सिद्ध होती है। इस प्रकार जब नित्य आत्माओं की बहुलता सिद्ध हो जाती है, तब समस्त आत्माओं की ज्ञानस्वरूप एक रूपता होते हुए भी जो परस्पर आकार भेद है, उससे आत्मगत यथार्थ वेदन क्षमता ज्ञात होती है [अर्थात् अपने अपने शुभाशुभकर्मानुसार सबकी अपनी अपनी विभिन्न अनुभूतियाँ और भोग होते हैं, ऐसा ज्ञात होता है] "अंशतः" आदि सूत्र में आत्मा बाहुल्य का वर्णन करेंगे।

अपिस्मर्यते ।२।३।४४।।

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूत. सनातनः" इति जीवस्य पुरुषोत्तमांशत्वं स्मर्यते, अतश्चायमंशः ।

"जीवों में मेरा ही सनातन अंश, जीव रूप से रहता है" ऐसी जीव की पुरुषोत्तममांशता स्मरण भी की गई है। इसलिए जीव अंश रूप ही है।

अंशत्वेऽपि जीवस्य ब्रह्मैकदेशत्वेन जीवगता दोषा ब्रह्मण ऐवेत्याशंक्याह–

अंश होते हुए भी, ब्रह्मैकदेशीय जीव के दोष, ब्रह्म के माने जावेंगे यह आशंका करते हुए उत्तर देते हैं –

प्रकाशादिवत्तु नैवंपरः ।२।३।४५।।

तुशब्दाश्चोद्यं व्यावर्त्तयति, प्रकाशादिवज्जीवः परमात्मनोंऽशः यथा अग्न्यादित्यादेर्भास्वतो भारूपः प्रकाशांऽशोभवति, यथा-गवाश्वशुक्लकृष्णादीनां गोत्वादिविशिष्टानां वस्तूनां गोत्वादीनि विशेषणान्यंशाः, यथा वा देहिनो देवमनुष्यादिर्देहोंऽशः, तद्वत् । एकवस्त्वेकदेशत्वं हि अंशत्वम्, विशिष्टस्यैकस्य वस्तुनो विशेषणमंश एव । तथा च विवेचकाः विशिष्टे वस्तुनि विशेषणां-

शोऽयम् विशेष्यांशोऽयमिति व्यपदिशंति। विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वेऽपि स्वभाव वैलक्षण्यं दृश्यते। एवं जीवपरयोर्विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वं, स्वाभावभेदश्चोपपद्यते। तदिदमुच्यते नैवं परइति। यथा भूतो जीवः, न तथाभूतः परः। यथैवहिप्रभायाः प्रभावानन्यथा भूतः तथा प्रभास्थानीयात् स्वांशाज्जीवादंशी परोऽप्यर्थान्तरभूत इत्यर्थः एवं जीवपरयोर्विशेषण विशेष्यत्वकृतं स्वभाववैलक्षण्यमाश्रित्य भेद निर्देशाः प्रवर्त्तन्ते, अभेदनिर्देशास्तु प्रथक्सिद्ध्यनर्हविशेषणानां-विशेषपर्यन्तत्वमाश्रित्य मुख्यत्वेनोपपद्यन्ते। "तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादिषु तच्छब्दब्रह्मशब्दवत् त्वमयमात्मेति शब्दा अपि जीवशरीरक ब्रह्मवाचकत्वेनैकार्थाभिधायित्वादित्ययमर्थः प्रागेव प्रपंचितः।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्त शंका का निवारक है। प्रकाशादि की तरह, जीव, परमात्मा का अंश है, जैसे कि-अग्नि आदित्य आदि का उद्दीप्त प्रकाश, उनका ही अंश होता है। विशेषणीभूत गोत्व आदि जाति धर्म, विशिष्ट गो अश्व जैसे शुक्ल कृष्ण आदि वस्तु के अंश हैं, वैसे ही जीव भी ब्रह्म का अंश है, तथा देह जैसे, देहधारी मनुष्य देवता आदि का अंश है, वैसे ही, जीव भी ब्रह्म का अंश है। एक वस्तु का एकदेशीय, अंश होता है, अतः, एक विशिष्ट वस्तु का विशेषण, उसका अंश ही कहलायेगा। विवेचक लोग भी, विशेषण युक्त पदार्थ का ऐसा ही विवेचन करते हैं कि– "यह अंश विशेषण है, यह अंश विशेष्य है"। विशेषण विशेष्य का अंशांशी संबंध होते हुए भी, स्वाभाविक भेद भी होता है। इसीलिए सूत्रकार ने कहा "नैवं परः" अर्थात् जैसा जीव है, वैसा ही परमात्मा नहीं हैं। जैसे कि प्रभा सेप्रभावान् की भिन्नता होती है, वैसे ही अपने अंश जीव से परमात्मा भिन्न है। इसी प्रकार-जीव की विशेषण-विशेष्य कृत स्वाभाविकी भिन्नता के आधार पर, भेद का निर्देश किया गया है। अभेद का निर्देश तो, स्वतंत्ररूप से स्थित होने में असमर्थ विशेषणों की, विशेष्य पर्यन्तता का द्योतक है, मुख्य रूप से अभेद नहीं हो सकता। "तत्वमसि" अयमात्माब्रह्म" इत्यादि में तत् शब्द के पर्याय-

वाची ब्रह्म शब्द की तरह, त्वम-अयं-आत्मा आदि शब्द भी जीव शरीरी ब्रह्मवाची अनेकार्थ बोधक हैं, ऐसा पहिले भी विवेचन कर चुके हैं।

स्मरंति च ।२।३।४६।।

एवं प्रभा प्रभावद्रूपेण शक्तिशक्तिमद् रूपेण शरीरात्मभावेन चांशांशि भावं जगद्ब्रह्मणोः पराशरादयः स्मरंति- "एकदेशस्थित-स्याग्नेर्ज्योत्स्नाविस्तारिणी यथा, परस्यब्रह्मणः शक्तिः तथेदमखिलं जगत" यत्किंचित् सृज्यते येन सत्वजातेन वै द्विज, तस्य सृज्यस्य संभूतौ तत्सर्वं वै हरेस्तनुः इत्यादिना। चकाराच्छ्रुतयोऽपि- "यस्यात्माशरीरम्" इत्यादिना आत्म-शरीरभावेनंशांशित्वं वदंतीत्युच्यते।

पराशर आदि ऋषि भीप्रभा और प्रभावान्, शक्ति और शक्तिमान शरीर और शरीरी की तरह जगत् और ब्रह्म का अंशांशी भाव मानते हैं जैसेकि" एक स्थान में स्थित अग्नि की ज्योत्स्ना जैसे चारो ओर फैलती है, पर ब्रह्म की शक्ति भी वैसे ही, निखिल जगत के रूप में विस्तृत है। "प्राणियों द्वारा जो कुछ भी निर्माण कार्य होता है, वह सब हरि का ही शरीर है।" इत्यादि सूत्रस्थ च शब्द, श्रुति का भी ऐसा ही कथन है, यह द्योतन करता है। श्रुति भी-"यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादि से, शरीर शरीरी भाव से, अंशांशी भाव, बतलाती है।

एवं ब्रह्मणोंऽशत्वे ब्रह्म प्रवर्त्यत्वे, ज्ञत्वे च सर्वेषां समाने केषांचिद् वेदाध्ययनतदर्थानुष्ठानाद्यनुज्ञा, केषांचित्तत्परिहारः, केषांचिद्दशनस्पर्श नाद्यनुज्ञा, केषांचित्तत्परिहारश्च शास्त्रेषु-कथमुपपद्यत इत्याशंक्याह—

ऐसे ब्रह्मांशत्व ब्रह्मनियामत्व, एवं ज्ञातृत्वादिधर्म यदि जीवमात्र के समान होगे तो, शास्त्रों में किसीको वेदाध्ययन और वैदिक कर्मों की अनुमति दी गई हैं और किसी को नहीं दी गई किसी को मूर्त्ति के दर्शन स्पर्श की आज्ञा दी गई है किसी को नहीं दी गई यह बात कैसे बनेगी? ऐसी शंका कर के उत्तर देते हैं—

अनुज्ञा परिहारौ देह संबंधात् ज्योतिरादिवत्।२।३।४७।।

सर्वेषां ब्रह्मांशत्वज्ञत्वादिनैकरूपत्वे सत्यपि ब्राह्मणक्षत्रियवैश्य शूद्रादिरूपशुच्यशुचिदेह संबंधनिबंधनानुज्ञापरिहारावुपपद्यते ज्योतिरादिवत् यथाग्नेरग्नित्वेनैकरूपत्वेऽपि श्रोत्रियागारादग्निराह्रियते स्मशानादेस्तु परिह्रियते, यथा चान्नादि श्रोत्रियादेरनुज्ञायते अभिशस्तादेस्तुपरिह्रियेत।

सभी जीव ब्रह्म के अंश और ज्ञातृत्व धर्म वाले हैं यह बात सही हैं, उनमें जो भेद हैं वह, ब्राह्मणक्षत्रिय वैश्य शूद्र आदि शरीर संबंध से शुचि अशुचि माना गाया है इसी आधार पर शास्त्रों में आज्ञा और निषेध का विधान किया गया है जैसे कि-अग्नि स्वरूपतः एक है पर, पवित्र याज्ञिक की अग्नि लाने की आज्ञा तथा स्मशान आदि अपवित्र स्थानों की अग्नि का निषेध किया गया है। तथा जैसे --याज्ञिक के यहाँ के अन्न लेने की आज्ञा तथा निंदित व्यक्ति के अन्न का निषेध किया गया है।

असंततेश्चाव्यतिकरः।२।३।४८।।

ब्रह्मांशत्वादिनैकरूपत्वे सत्यपि जीवानामन्योन्यभेदादणुत्वेन प्रतिशरीरं भिन्नत्वाच्च भोगव्यतिकिरोऽपि न भवति। भ्रांतब्रह्म जीववादे चोपहित ब्रह्म जीववादेच, जीवपरयोर्जीवानां च भोगव्यतिकरादयः सर्वदोषाः संतीत्यभिप्रायेण स्वपक्षे भोगव्यतिकाराभावः उक्तः।

ब्रह्मांशता आदि कारणों से जीवों की एकता होते हुए भी, जीवों के पारस्परिक भेद तथा अणुरूप से प्रतिशरीर में भिन्नता होने से भोग व्यतिकर अर्थात् एक दूसरे के भोग में, मिलावट नहीं हो पाती। भ्रांतब्रह्म जीववाद तथा उपहित ब्रह्म जीववाद में तो जीव और परमात्मा एवं जीवों में परस्पर-भोग व्यतिकर की संभावना है, इसीलिए अपने मतानुसार भोग व्यतिकराभाव दिखलाया गया है।

ननु भ्रांतब्रह्म जीववादेऽपि अविद्याकृतोपाधिभेदादभोग्य व्यवस्थादयः उपपद्यंते-अत आह-

यदि कहें कि-भ्रांतब्रह्मवाद में भी, अविद्या कृत उपाधि मान कर, भेद स्वीकारने से, भोग्यव्यवस्था हो सकेगी-उसका उत्तर देते हैं-

आभास एव च ।२।३।४६॥

अखंडैकरस प्रकाशमात्र स्वरूपस्य स्वरूपतिरोधानपूर्वकोपाधि-भेदोपपादन हेतुराभास एव । प्रकाशैकस्वरूपस्य, प्रकाशतिरोधानं प्रकाशनाश एवेति प्रागेवोपपादितम् । " आभासा एव" इतिवापाठः तथा सति हेत व आभासाः । चकारात्" पृथगात्मानं प्रेरितारम् च मत्वा" "ज्ञाज्ञौ द्वौ" तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्ति" इत्यादि श्रुतिविरोधश्च । अविद्यापरिकल्पितोपाधिभेदेऽपि सर्वोपाधिभिरु-पहितस्वरूपस्यैकत्वाभ्युपगमात् भोगव्यतिकरस्तदवस्थ एव ।

अखंड एक रस, एक मात्र प्रकाश स्वरूप ब्रह्म के स्वरूप को ढकने वाले उपाधि भेद के समर्थन में जो हेतु उपस्थित किया जाता है, वह हेत्वाभास मात्र है । प्रकाशवान् के प्रकाश का तिरोधान होना तो प्रकाश नाश ही है, ऐसा बतला चुके हैं ।

सूत्र में " आभासा एव" ऐसा पाठान्तर भी मिलता है, जिसके अनुसार अर्थ किया जाता है कि-जितने भी हेतु उपस्थित किए जाते हैं, वे सब आभास हैं । पर सूत्र में, च के विशेष योग मानने से "पृथगात्मानं प्रेरितारं" ज्ञाज्ञौ" तयोरन्यः पिप्पलं" इत्यादि भेद निर्देशक श्रुतियों से विरोध उपस्थिति की बात भी निश्चित होती है । अविद्या परिकल्पित उपाधि भेदवाद में भी, उपाधियों से ब्रह्म के स्वरूप के उपहित होने पर भी, एकत्व स्वीकारने में जो भोग का व्यतिकर होता है वह भी रहता ही है, यही चकार के प्रयोग का तात्पर्य है ।

परमार्थिको पाध्युपहितब्रह्म जीववादेऽप्युपाधिभेद हेतु भूता-नाद्यदृष्टवशाद्व्यवस्था भविष्यतीत्याशंक्याह---

पारमार्थिक उपाधि उपहित ब्रह्म जीववाद में भी उपाधि भेद के कारणभूत, अनादि अदृष्ट कर्म ही व्यवस्थापक होंगे । इसका उत्तर-

अदृष्टानियमात् ।२।३।५०।।

उपाधिपरम्पराहेतुभूतस्यादृष्टस्यापि ब्रह्मस्वरूपाश्रयत्वेन नियमहेत्वभावादव्यवस्थैव उपाधिभिरदृष्टैश्च स्वसंबंधेन ब्रह्मस्वरूपच्छेदा संभवात्।

उपाधि उपहितब्रह्म के अंशगत भेद को मानने पर भी, ब्रह्म का जो अंश और उपाधि के साथ संबंध होने के नाते, उपाधिकृत भोग, केवल उस अंश में ही होगा, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि-सारी उपाधियों का अदृष्ट परमात्मा से आत्मीय संबंध है, इसलिए ब्रह्म के स्वरूप में भी उनका होना संभव है।

अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् ।२।३।५१।।

अदृष्ट हेतुभूताभिसंध्यादिष्वप्युक्तादेव हेतोरनियमएव।

इसी प्रकार अदृष्ट हेतुभूत अभिषन्धि आदि में भी अनियम ही होगा (अर्थात् "एकोऽहं वहुस्या" इत्यादि ब्रह्माभिषंधि, जीव से संबंधित हो जायगी)

प्रदेशभेदादितिचेन्नान्तर्भावात् ।२।३।५२।।

यद्यप्येकमेव ब्रह्मस्वरूपम्, तच्छेदानर्ह नानाविधोपाधिभिः संबध्यते-तथाप्युपाधिसंबंधिब्रह्मप्रदेशभेदादुपपद्यत एव भोगव्यवस्थेति चेत्-तन्न-उपाधीनां तत्र तत्र गमनात् सर्वं प्रदेशानां सर्वोपाध्यन्तर्भावात् व्यतिकरस्तदवस्थ एव। प्रदेशभेदेन संबंधेऽपि सर्वस्यब्रह्मप्रदेशत्वात्तत्तत्प्रदेशसंबंधि दुःखं ब्रह्मण एव स्यात्। पूर्वत्र "नित्योपलब्धिअनुपलब्धि प्रसंगोऽन्यतरनियमोवाऽन्यथा" "उपलब्धिवदनियमः" इत्याभ्यां सूत्राभ्यां वेदवाह्यानां सर्वगत जीववादिनां दोष उक्तः, अत्र तु "आभास एव च" इत्यादिभिः सूत्रैः वेदावलंबिनामात्मैकत्ववादिनां दोष उच्यते।

यद्यपि ब्रह्म स्वरूपत: एक तथा उपाधि संबंध होते हुए भी अविभक्त ही है, फिर भी उपाधियों के साथ, ब्रम्ह के विभिन्नांशों का संबंध होने से भोग व्यवस्था अवश्य ही होगी। ऐसा नहीं है–कि जो जो उपाधियाँ हैं वे सब परमात्मा की अंश होने से एक ही हैं ठीक है; ब्रह्मांश के दोषों का, इसी नाते ब्रह्म में भी संश्लेष हो ही जायगा अंशों के दुःख ब्रह्म के ही दुःख माने जावेंगे। "नित्योपलब्ध्युपलब्धि" "उपलब्धिवदनियम:" इत्यादि दोनों सूत्रों से वेदबाह्य सर्वगत जीव वादी कपिल आदि मतों का दोष बतला चुके हैं। यहाँ "आभास एव च "इत्यादि सूत्रों से वेदावलंबी अद्वैत वादियों का दोष बतलाया गया।

॥ द्वितीय अध्याय तृतीयपाद समाप्त ॥

[द्वितीय अध्याय]

[चतुर्थ–पाद]

१ प्राणोत्पत्त्यधिकरणः—

तथा प्राणाः ।२।४।१।।

ब्रह्म व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य कार्यत्वेनोत्पत्तावुक्तायां जीवस्य कार्यत्वेऽपि स्वरूपान्यथाभावलक्षणोत्पत्तिरपोदिता, तत्प्रसंगेन जीव स्वरूपंशोधितम् । संप्रति जीवोपकरणानामिन्द्रियाणां प्राणस्य चोत्पत्यादि प्रकारो विशोध्यते । तत्र किमिन्द्रियाणां कार्यत्वं जीववत् उत वियदादिवदिति चिन्त्यते । किं युक्तम् ?

ब्रह्म से भिन्न समस्त आकाशादि पदार्थों की कार्यरूप से उत्पत्ति बतलाते हुए, जीव की कार्यरूप होते हुए भी, अन्यथा भाव उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया । प्रसंग से ही जीव के स्वरूप का भी विश्लेषण किया गया । अब जीव की उपकरणरूप इंद्रियों तथा प्राण की उत्पत्ति के प्रकार का विश्लेषण करते हैं। विचार करते हैं कि–इंद्रियों की कार्यता जीव की तरह है अथवा आकाश आदि की तरह है?

जीववदेवेत्याह पूर्वपक्षी "तथा प्राणाः" इति । प्राणा इंद्रियाणि यथा जीवो नोत्पद्यते तथा इन्द्रियाण्यपि नोत्पद्यंते। कुतः? श्रुतेः यथा जीवस्यानुत्पत्तिः श्रुतेरवगम्यते तथा प्राणानामप्यनुत्पत्तिः श्रुतेरेव अवगम्यते । तथा प्राणा इति प्रमाणमप्यतिदिश्यते ।

उक्त विचार पर पूर्वपक्ष वाले, "तथा प्राणाः" सूत्र से जीव के समान कार्यता का समर्थन करते हैं । प्राणाः अर्थात् इन्द्रियां, जैसे कि-जीव की अनुत्पत्ति है वैसे ही इन्द्रियों की भी है । श्रुतियों से ही इसका ज्ञान

होता है, जैसे कि-जीव की अनुत्पत्ति श्रुति से ज्ञात होती है, वैसे ही प्राणों की अनुत्पत्ति भी श्रुतियों से ही ज्ञात होती है। तथा प्राणा: से, शास्त्रीय प्रमाणों की ओर ही अतिदेश (इशारा) किया गया है।

का पुनरत्र श्रुति:? 'असद् वा इदमग्रआसीत्तदाहु: किं तदासीदिति ऋषयो वावते अग्रे सदासीत् तदाहु: के ते ऋषय: इति प्राणावाव ऋषय: "इति जगदुत्पत्ते: प्रागिन्द्रियाणां सद्भाव: श्रूयते। प्राणशब्दे बहुवचनादिंद्रियाण्येवेति निश्चीयते। न चेयं श्रुति: वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्" सैषाऽनस्तमिता देवतायद्वायु "इतिवच्चिरकालावस्थायित्वेन परिणेतुंशक्या" असद् वा इदमग्र आसीत्" इति कृत्स्नप्रपंचप्रलयवेलायामप्यवस्थितत्व श्रवणात्। उत्पत्तिवादिन्यस्तु जीवोत्पत्तिवादिन्य इव नेतव्या इति।

इस विषय की कौन सी श्रुति है? सो बतलाते हैं-कि-"सृष्टि के पूर्व यह जगत् अव्यक्त था, जिज्ञासा हुई कि-उस समय था क्या? ये सारे ऋषि थे, वे ऋषि कौन हैं? प्राण ही ऋषि हैं। "इस श्रुति में जगत् उत्पत्ति के पूर्व, इंद्रियों का अस्तित्व सुना जाता है। प्राण शब्द के बहुवचन के प्रयोग से, इंद्रियों का अर्थ निश्चित होता है। "वायु और अंतरिक्ष दोनों अमृत हैं "ज्ञात होता है कि वायु अविनाशी देवता है "इत्यादि श्रुतियों की तरह उक्त श्रुति का चिरस्थायित्व अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि-"सृष्टि के पूर्व यह सब अव्यक्त था इत्यादि से समस्त जगत के प्रलय काल में भी, प्राणों की उपस्थिति इसमें बतलाई गई है। प्राणों की उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुतियों को, जीवोत्पत्ति बतलाने वाली श्रुतियों के अनुसार ही मानना चाहिए।

सिद्धान्ता-एवं प्राप्तेऽभिधीयते-वियदादिवदेव प्राणाश्चोत्पद्यंते, कुत:? "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" आत्मा वा इदमेक एवाग्रासीत् "इत्यादिषु प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणात्" एतस्माज्जायते प्राणो मन: सर्वेन्द्रियाणि च" इतीन्द्रियाणामुत्पत्ति श्रवणाच्च प्रागवस्थानासंभवात्।

नचात्मोत्तपत्तिवादवदिन्द्रयोत्पत्तिवादाः परिणेतुं शक्याः, आत्मवदुत्पत्ति प्रतिषेधश्रुतीनां नित्यत्वे श्रुतीनां चादर्शनात्।

उक्त पक्ष के उत्तर में सिद्धान्त उपस्थित करते हैं कि—आकाश आदि की तरह प्राणों की भी उत्पत्ति होती है, ऐसा "हे सौम्य। सृष्टि के पूर्व एकमात्र सत् ही का! आत्मा ही एकमात्र का! इत्यादि सृष्टि के पूर्व एक ही वस्तु की सत्ता के वर्णन से ही, निश्चित होता है। तथा "इसी से प्राण, मन और इंद्रियाँ हुई" इत्यादि में स्पष्ट रूप से बतलाई गई श्रुतियों की उत्पत्ति के वर्णन से भी, ऐसा ही निश्चित होता है कि—इंद्रियाँ सृष्टि के पूर्व नहीं थीं। जीवोत्पत्ति की प्रतिपादक श्रुतियों की तरह, इंद्रियों की उत्पत्ति प्रतिपादिका श्रुतियों का तात्पर्य हो, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि—आत्मा की तरह इन्द्रियों की उत्पत्ति और नित्यता को बतलाने वाली, एक भी श्रुति नहीं मिलती।

"असद् वा इदमग्र आसीत्" इत्यादि वाक्येऽपि प्राणशब्देन परमात्मैव निर्दिश्यते। "सर्वाणि हवा इमानिभूतानि प्राणमेवाभिसंविशंति प्राणमभ्युज्जिहते" इति प्राणशब्दस्य परमात्यपि प्रसिद्धेः। "प्राणा वा ऋषयः" इति ऋषि शब्दश्च सर्वज्ञे तस्मिन्नेव युज्यते। न त्वचेतनेष्विन्द्रियेषु।

"असत् वा" इत्यादि उपर्युक्त वाक्य में भी प्राण शब्द से परमात्मा का ही निर्देश किया गया है। "ये सारे भूत समुदाय प्राण में ही प्रवेश करते हैं तथा प्राणों से ही निर्गमन करते हैं "इत्यादि वाक्य में प्राण शब्द का, परमात्मा अर्थ ही प्रसिद्ध है। "प्राणा वा ऋषयः" में कहे ऋषि शब्द से भी, सर्वज्ञ उसपरमात्मा का अर्थ करना ही युक्ति संगत होगा। अचेतन इन्द्रिय परक अर्थ करना युक्ति संगत नहीं है।

ऋषयः प्राणाः, इति बहुवचन श्रुतिः कथमुपपद्यत इति चेत् तत्राह—

ऋषयः प्राणाः इस बहुवचनांत श्रुति की संगति कैसे होगी? इस संशय का उत्तर देते हैं—

गौण्य संभवात्तत्प्राक् छ्रुतेश्च ।२।४।२॥

वहुवचन श्रुतिर्गौणी, वह्वर्थासंभवात् तस्यैवपरमात्मनः सृष्टेः प्रागवस्थानुश्रुतेरेव ।

ब्रह्म के लिऐ वहुवचन का प्रयोग असंभव है, इसलिए वहुवचन का प्रयोग गौण मानना चाहिए, परमात्मा की सृष्टि-पूर्विका स्थिति को बतलाने वाली ' सोम्येदमग्र" इत्यादि श्रुति से ही ऐसा निश्चित होता है। वही प्रधान श्रुति है।

तत्पूवकत्वाद्वाचः ।२।४।३॥

इतश्च प्राणशब्दः परमात्मावचनः, वाचः परमात्मव्यतिरिक्त विषयस्य नामधेयस्य वाग्विषय भूतवियदादिसृष्टि पूर्वकत्वात् । "तद् हि इदं तर्हि अव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति नामरूपभाजामभावात्तदानीं वागादीन्द्रिय कार्याभावाच्चतानि न संतीत्यर्थः ।

इसलिए भी प्राण शब्द परमात्मा वाची है कि–परमात्मा से भिन्न आकाश आदि की सृष्टि के बाद ही, उनका नाम करण हुआ है (इससे यह सिद्ध होता है कि-प्राण शब्द का इंद्रिय परक नाम भी बाद में ही पड़ा है) "यह जगत् सृष्टि के पूर्व अव्यक्त था, वही, नामरूप वाला हुआ "इत्यादि वर्णन से ज्ञात होता है कि-सृष्टि के पूर्व नाम रूप वाला कुछ नहीं था, वागादि इंद्रियों के कार्य का भी अभाव था, इसलिए वो नहीं थीं।

२. सप्तगत्याधिकरणः—

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ।२।४।४॥

तानि इंद्रियाणि किं सप्तैव स्युः, उत एकादशेति ? चिन्त्यते । श्रुति विप्रतिपत्तेः संशयः। किं प्राप्तम् ? सप्तेति । कुतः ? गतेर्विशेषितत्वाच्च । गतिस्तावज्जायमानेन म्रियमाणेन न जीवेनं

सह लोकेषु संचरण रूपा सप्तानामेवश्रूयते "सप्त इमे लोका येषु चरंति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त इति"। वीप्सा पुरुष भेदाभिप्राया विशेषिताश्चते गतिमंतः प्राणाः स्वरुपतः" यदा पंचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह, बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्" इति। शरीरान्तः संचरणं विहाय मोक्षार्थं-गमन परमा गति। एवं जीवेन सह जन्म मरणयोः सप्तानामेव गति श्रवणात् योगदशायां ज्ञानानीति विशेषितत्वाच्च जीवस्य करणानि श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वा घ्राणबुद्धिर्मनांसि सप्तैवेति गम्यते। यानि त्वितराणि विषयाणां ग्राहकत्वेन "अष्टौ ग्रहाः" सप्तवै शीर्षंण्याः प्राणाः द्वाववांचौ" इत्यादिषु चतुर्दश पर्यन्तानि प्राण प्रतिपादक वाक्येषु वाक्याणिपादपायूपस्थाहंकारचित्ताख्यानि इन्द्रियाणि प्रतीयंते, तेषां जीवेन सह गतिश्रवणाभावज्जीवस्थाल्पापकारकत्व-मात्रेणौपचारिकः प्राणव्यपदेशः।

इन्द्रियाँ सात हैं या ग्यारह ? इस पर विचार करते हैं-श्रुतियों में दोनों मतों का उल्लेख है इसलिए संशय होता है। गति और विशेषोक्ति से तो सात ही प्रतीत होती हैं। जायमान और म्रियमाण जीव के साथ लोकों में भ्रमण करने वाली सात का ही वर्णन मिलता है- जैसे कि-"ये सात लोक (इन्द्रियों के सात द्वार उसी से उत्पन्न होते हैं) जिनमें प्राण विचरते हैं, हृदय की गुहा में शयन करने वाले ये, सात सात के समुदाय सभी में स्थित हैं। भिन्न भिन्न अर्थ के द्योतन के लिए, सप्त पद की वीप्सा की गई है। जब, ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर होकर बुद्धि को भी स्थिर करती हैं, उसे ही योगी लोग, परमगति कहते हैं। इस प्रकार गति शील प्राणों का स्वरूप, विशेष रुप से बतलाया गया है। परम गति का अर्थ है, शरीर के अंदर संचरण का परित्याग करते हुए, मोक्ष की ओर अभिमुख होना। ऐसे मुमुक्षु जीव के साथ सातों की गति सुनी जाती है। "ज्ञानानि" विशेषण होने से कर्ण' त्वक्, चक्षु- जिह्वा, घ्राण, बुद्धि, मन आदि सात की ही, योग दशा में स्थिति रहती है ऐसा

प्रतीत होता है, अर्थात् ये सात ही जीव की क्रिया साधिका हैं। "इसके अतिरिक्त और जो प्राण प्रतिपादक आठ ग्रह हैं, उनमें सात शीर्ष स्थानीय, दो अधो स्थानीय हैं" इत्यादि वाक्यों में चौदह इन्द्रियों का वर्णन मिलता है, जिससे. वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, अहंकार और चित्त इत्यादि सात का भी इन्द्रियत्व ज्ञात होता है, किन्तु इन सब की जीव के साथगति का उल्लेख नहीं मिलता। जीव की, बहुत अल्प परिमाण में साधिका होने से, इन सबका भी गौण रूप से, प्राणशब्द से व्यवहार किया गया है।

सिद्धान्तः– इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे–

इस मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं–

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ।२।४।५।।

न सप्तैवेन्द्रियाणि, अपित्वेकादश, हस्तादीनामपि शरीरे स्थिते जीवे, तस्यभोगोपकरत्वात्, कार्यभेदाच्च। दृश्यते हिश्रोत्रादीनामिव हस्तादीनामपि कार्यं भेद आदानादिः, अतस्तेऽपि संत्येव। अतो नैवम्-अतो हस्तादयो न संतीत्येवं न मंतव्यामित्यर्थः। अध्यवसायाभिमान चिन्तावृत्तिभेदान्मन एव बुद्धयहंकार चित्तशब्दैर्व्यपदिश्यत, इत्येकादशेन्द्रियाणि। अतः "दशेमे पुरुषे प्राणाः, आत्मैकादशः "इति आत्मशब्देन मनोऽभिधीयते। इन्द्रियाणिशैकं च पंच चेन्द्रिय गोचराः" तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवावैकारिका दश, एकादशंमनश्चात्र "इत्यादिश्रुतिस्मृतिसिद्धेन्द्रिय संख्या स्थिता। अधिक संख्यावादाः, मनोवृत्तिभेदाभिप्रायाः न्यूनव्यपदेशास्तु तत्र तत्र विवक्षितगमनादिकार्यं विशेष प्रयुक्ताः।

सात ही इन्द्रिया नहीं हैं, अपितु ग्यारह हैं हस्त आदि इन्द्रियां भी शरीर में स्थित जीव के भोग का कार्य संपादन करती हैं, ज्ञान इन्द्रियों से इनके कार्य में भी भेद रहता है। कान आदि इन्द्रियों की तरह हाथ आदि इन्द्रियाँ भी, पकड़ना आदि कोई न कोई उपयोगी कार्य करती हैं। हाथ आदि नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। अध्यवसाय (निश्चय)

अभिमान और चिन्तन आदि वृत्तियों के भेद से, मन ही- बुद्धि, अहंकार और चित्त नाम से व्यवहृत होता है। इसलिए इन्द्रियाँ ग्यारह ही हैं। "जीव में दश प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा है "इस वाक्य में आत्मा शब्द मन के लिये प्रयोग किया गया है। "इन्द्रियाँ दस और एक ग्यारह हैं, और इन्द्रियों के पांच विषय हैं" इन्द्रियों को तैजस (राजस) कहा गया है, उनके अधिष्ठाता दस देवताओं को वैकारिक (सात्विक) कहा गया है, मन ग्यारहवाँ है" इत्यादि श्रुतिस्मति वाक्यों से इन्द्रियों की संख्या ग्यारह ही निश्चित होती है अधिक संख्या बतलाने वाले वाक्य, मनोवृत्ति के बोधक हैं तथा कम संख्या बतलाने वाले वाक्य, गमन आदि कार्य भेद के बोधक हैं।

३. प्राणाऽणुत्वाधिकरण—

अणवश्च ।२।४।६।।

"त एते सर्वं एव समाः सर्वेऽनंताः" इत्यानंत्य श्रवणाद्-विभुत्वं प्राणानाम्। एवं प्राप्तेऽभिधीयते" प्राणमनूत्क्रांतं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामति "इत्युत्क्रांत्यादि श्रवणात् परिमितत्वे सिद्धे सत्युत् क्रान्त्यादिषु पार्श्वस्थैरनुपलभ्यमानत्वादणवश्च प्राणाः। आनंत्ये श्रुतिस्तु" अथ यो हैतानंतानुपास्ते" इत्युपासन श्रवणादुपास्य प्राण विशेषण भूत कार्यं बाहुल्याभिप्रायाः।

"ये इन्द्रियाँ सभी समान और अनंत हैं" इत्यादि में इन्द्रियों की अनंतता बतलाई गई है, इसलिए, ये इन्द्रियाँ विभु हैं। इस संशय पर अपना मत बतलाते हैं कि-" प्राण पर अनुगमन करने पर सारे ही प्राण अनुगमन करते हैं "ऐसे उत्क्रांति के वर्णन से इनकी परिमिति सिद्ध होती है, निकट में उपस्थित व्यक्ति भी इनकी उत्क्रांति आदि को नहीं जान पाते इसलिये ये अणु ही हैं अनंतता को बतलाने वाली श्रुति "जो इन अनंत प्राणों की उपासना करते हैं" इत्यादि से उपासना विधान बतलाया है, इसीलिए उपास्य प्राण में श्रेष्ठता सूचक बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

श्रेष्ठश्च ।२।४।७॥

प्राण संवादे शरीरस्थिति हेतुत्वेन श्रेष्ठतया निर्णीतो मुख्य प्राणः "आनीदवातं स्वधया तदेकं "इति महाप्रलय समयेस्वकार्यभूत प्राणन सद्भाव श्रवणात् "एतस्माज्जायते" इति जन्मश्रवणस्य जीवजन्मश्रवणवदुपपत्तेर्नोत्पद्यत इत्याशंक्य प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणादि विरोधात् "एतस्माज्जायते प्राणः "इति पृथिव्यादितुल्योत्तपति श्रवणात्, उत्पत्ति निषेधाभावाच्च, जायत एवश्रेष्ठश्च प्राण इत्युच्यते । "आनीदवातम्" इति तु न जैवं श्रेष्ठम् प्राणमभिप्रेत्योच्यते, अपितु परस्य ब्रह्मण एकस्यैव विद्यमानत्वमुच्यते । "अवातम्" इति तत्रैव श्रवणात् । पुर्वेणैवतुल्यन्यायत्वेऽपि पृथग् योगिकरणमुत्तरचिन्तार्थम् ।

छांदोग्य में प्राण संवाद के प्रस्ताव में, पंचवृत्ति विशिष्ट मुख्य प्राण ही, शरीर स्थिति के श्रेष्ठ कारण बतलाये गए हैं । "वायुहीन स्वधा सहित एक प्राण ही था" इस वाक्य में महा प्रलय के समय भी मुख्य प्राण का अस्तित्व माना गया है । अतः "एतस्माज्जायते" इत्यादि प्राणोत्पत्ति बोधक श्रुति को भी जीवोत्पत्ति श्रुति की तरह गौणार्थ कह सकते हैं-इस पर कहते हैं कि-श्रेष्ठ प्राण निश्चित ही उत्पन्न होता है-ऐसा न मानने से सृष्टि पूर्व की अद्वैतस्थिति से विरोध होता है ।"एतस्माज्जायते" इत्यादि श्रुति पृथ्वी आदि द्रव्यों की तरह, प्राण की उत्पत्ति का भी कथन करती है, उत्पत्ति के निषेधपरक वाक्यों का कहीं अभाव नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि--श्रेष्ठ प्राण की उत्पत्ति होती है । "आनीतवातम्" वाक्य श्रेष्ठ जीववाची प्राण का वोधक नहीं है, अपितु-एकमात्र परब्रह्म की विद्यमानता का द्योतक है । इसमें जो "अवातम्" विशेषण दिया गया है, वही उक्त बात की पुष्टि करता है । [क्योंकि--प्राण तो वायुरूप ही है] ।

४ वायुक्रियाधिकरणः—

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ।२।४।८॥

सोऽयं श्रेष्ठः प्राणः किं महाभूतद्वितीयवायुमात्रम्, तस्य

वा स्पंदनरूपक्रिया, अथवा वायुरेव कंचन विशेषमापन्नः, इति विशये वायुरेवेति प्राप्तम् "यः प्राणः स वायुः" इति व्यपदेशात्। यद् वा वायुमात्रे प्राणत्व प्रसिद्धय भावादुच्छ्वासनिश्वासादि वायुक्रियायां प्राणशब्द प्रसिद्धेश्च तत् क्रियैव।

वह श्रेष्ठ प्राण, पंचभूतों में द्वितीय स्थानीय वायुमात्र है, अथवा वायु की स्पंदनात्मक क्रियामात्र है, अथवा अन्य किसी प्रकार की वायु की अवस्था विशेष है? इस संशय पर-वायु ही है ऐसा "जो वायु है वही प्राण है" इत्यादि से निश्चित होता है। अथवा-केवल वायु को ही, प्राण कहा नहीं गया है अपितुश्वास-प्रश्वास रूप क्रिया को प्राण कहा गया है, इसलिए प्राण शब्द उक्त क्रिया विशेष का ही वाचक है।

सिद्धान्तः-इति प्राप्ते-वायुमात्रम्, न च तत्क्रियेत्युच्यते, कुतः? पृथगुपदेशात्-"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुः" इति तत एव पृथगुपदेशात् वायुक्रियापि न भवति प्राणः, न हि तेजः प्रभृतीनां क्रिया तैः सहप्रथग् द्रव्यतयापदिश्यते "यः प्राणः सः वायुः" इति तु वायूरेवावस्थान्तरमापन्नः प्राणः न तेजः प्रभृतिवत्तत्वान्तरमितिज्ञापनार्थम्। उच्छ्वासविश्वासादावपि प्राणः स्पन्दत इति क्रियावति द्रव्य एव प्राण शब्द प्रसिद्धिः, एव न क्रियामात्रे।

इस पर कहते हैं कि-न वायुमात्र ही है, उसकी न क्रिया ही है, क्योंकि-प्राण और वायु दोनों का पृथक् उल्लेख किया गया है-"इससे प्राण, मन, इन्द्रियां ख और आकाश होते हैं "इत्यादि में प्राण और वायु का पृथक् पृथक् स्पष्ट उल्लेख है, इसलिए वायु या वायु की क्रिया रूप प्राण नहीं है। तेज आदि की क्रियाओं का कहीं पृथक् उल्लेख मिलता भी नहीं। "जो प्राण है, वही वायु है" इत्यादि में दिखलाया गया है कि-वायु ही भिन्न अवस्था को प्राप्त प्राण है, तेज आदि की तरह, प्राण कोई भिन्न तत्त्व नहीं है, इसी बात के ज्ञापन के लिए ही ऐसा कहा गया है। उच्छ्वास प्रश्वास में भी "प्राण स्पंदन करते हैं "ऐसे क्रियावान् द्रव्य की ही, प्राण शब्द से प्रसिद्धि बतलाई गई है, क्रियामात्र की नहीं।

किमयं प्राणो वायोर्विकारः सन्नग्निवद्भूतान्तरम्? नेत्याह-

यह प्राण, वायु का विकार रूप से अग्नि की तरह एक स्वतंत्र भूत नहीं हो सकता इसको बतलाते हैं—

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ।२।४।६।।

नायं भूतविशेषः, अपितु चक्षुरादिवज्जीवोपकरणविशेषः। तच्चोपकरणत्वमुपकरणभूतैरिन्द्रियैः सह शिष्ट्यादिभ्योऽवगम्यते। चक्षुरादिभिस्सहायं प्राणः शिष्यते, प्राणसंवादादिषु तत् सजातीयत्वे हि तैः सहशासनं युज्यते। प्राणशब्द परिगृहीतेषु करणेष्वस्य विशिष्याभिधानमादिशब्दे गृह्यते "अथह य एवायं मुख्य प्राणः" योऽयंमध्यमः प्राणः इत्यादिषु विशिष्याभिधानात्।

यह प्राण, भूत-विशेष वायु नहीं है। अपितु नेत्र आदि की तरह जीव का उपकरण विशेष है। उपकरण भूत इन्द्रियों के साथ इसकी भी उपकरणता, शास्त्रोपदेशों से ही ज्ञात होती है। प्राण संवाद आदि प्रकरण में, नेत्र आदि के साथ ही, इस प्राण का भी एक साथ उल्लेख किया गया है, इन्द्रियों का सजातीय होने से, इसका एक साथ उल्लेख होना उपयुक्त भी है। प्राण शब्द से कही जाने वाली इन्द्रियों में इसका विशिष्ट स्थान है, यही सूत्रस्थ आदि शब्द का तात्पर्य है। "यही मुख्य प्राण है" यही मध्यम प्राण है" इत्यादि वाक्यों में, विशिष्ट रूप से इसका उल्लेख मिलता है।

चक्षुरादिवदस्यापिकरणत्वे तद्वदस्यापि जीवं प्रत्युपकार विशेषरूप क्रियाया भवितव्यम्। सातु न दृश्यते, अतो नायं चक्षुरादिवद् भवितुमर्हतीति चेत्-तत्राह-

यदि कहो कि- नेत्र आदि की तरह, इसे भी कारण नहीं मान सकते, क्यों कि-जीव के लिए, नेत्र आदि से जो विशेष विशेष उपकार रूप क्रियायें होती हैं, वो प्राण में तो पाई नहीं जातीं, इसलिए प्राण कभी नेत्र आदि की तरह, उपकरण नहीं हो सकता। इस पर कहते हैं

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ।२।४।१०।।

अकरणत्वात्--करणं क्रिया, अक्रियत्वात् अस्य प्राणस्य जीवं प्रत्युपकार विशेषरूपक्रिया रहितत्वाच्च यो दोष उद्भाव्यते, स नास्ति, यत् उपकारविशेषरूपां शरीरेन्द्रियधारणादिरूपां क्रियां दर्शयति श्रुतिः "यस्मिनुत्क्रान्ते इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते सवः श्रेष्ठः" इत्युक्त्वा वागाद्युत्क्रमणेऽपि शरीरस्येन्द्रियाणां च स्थिति दर्शयित्वा प्राणोत्क्रमणे शरीरेन्द्रियशैथिल्याभिधानात् । अतः प्राणापानव्यानोदानसमानाकारेण पंचधाऽवस्थितोऽयं प्राणः शरीरेन्द्रियधारणादिना जीवस्योपकरोतीति चक्षुरादिवत्वकरणत्वम् ।

कारण का अर्थ क्रिया हैं, क्रिया राहित्य ही इसका हेतु है, अर्थात् जीव के प्रति, इस मुख्य प्राण की, किसी प्रकार की उपकरण साधन रूप क्रिया नहीं होती, जो यह दोषारोपण किया जाता है, यह आरोप ठीक नहीं, क्यों कि--श्रुति ही शरीर और इन्द्रियों को धारण करना आदि, प्राणकृत, उपकार विशेषों का उल्लेख करती है--" जिसके निकल जाने पर यह शरीर अतिपापी की तरह दीखने लगता है, वह श्रेष्ठ प्राण ही है "ऐसा कह कर वाक् आदि इन्द्रियों के उत्क्रमण करने पर भी शरीर की अवस्थिति बतलाकर, प्राणोत्क्रमण करने पर ही शरीर और इन्द्रियों की शिथिलता बतलाई गई है । इसलिए, प्राण अपान-उदान-व्यान समान आदि पांच रूपों में विभक्त यह प्राण, शरीर इन्द्रिय आदि को धारण पोषण करने वाला, नेत्र आदि की तरह ही उपकारी साधन है ।

नन्वेवं नामभेदात् कार्यभेदाच्च प्राणापानादयः तत्त्वान्तराणि स्युः, तत्राह--

नामगत एवं कार्यगत भेद होने से, प्राण आदि पांचों पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं ? इस संशय पर कहते हैं--

पंचवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ।२।४।११।।

यथा कामादि वृत्ति भेदे तत्कार्यभेदेऽपि न कामादिकं मनसः तत्वान्तरं "कामःसंकल्पोविचिकित्साश्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भी-

रित्येतत्सर्वं मन एव" इति वचनात् । एवं "प्राणापानोदान-व्यानसमानाः इत्येतत सर्व प्राण एव" इति वचनात् अपानादयोऽपि प्राणस्येव वृत्ति विशेषाः न तत्वांतरमित्यवगम्यते ।

जैसे कि-कामादिवृत्तियों के भेद होने से, काम आदि, मन से पृथक् नहीं माने जाते "काम-संकल्प-विचिकित्सा-श्रद्धा-अश्रद्धा-धृति-अधृति ह्री-धी-भी-आदि सभी मन हैं" इत्यादि से ऐसा ज्ञान होता है। वैसे ही—"प्राण-अपान—उदान—व्यान—समान आदि सब प्राण ही हैं" इत्यादि से अपान आदि सभी, प्राण की ही वृत्ति सिद्ध होते हैं: भिन्न नहीं ज्ञात होते ।

अणुश्च ।२।४।१२।।

अणुश्चायम् पूर्ववदुत्क्रांत्यादि श्रवणात् "तमुत्क्रामंते प्राणोऽनूत्क्रामति"इत्यादिषु । अधिकाशंका तु "समएभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण "प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्" सर्वं हीदं प्राणेनावृतम इत्यादि श्रवणात् महापरिमाण इति ।

ये प्राण भी अणु परिमाण वाला है, पूर्व की तरह इसके भी उत्क्रमण का वर्णन मिलता है " उस जीवात्मा के उत्क्रमण करने पर प्राण भी उत्क्रमण करते हैं" इत्यादि । विशेष शंका ये होती है कि " प्राण, इस त्रिलोकी के समान हैं, और सबके समान हैं ' "प्राणों में ही सब स्थिति" है ये सब कुछ प्राण से ही आवृत है, इत्यादि श्रुतियों से तो, प्राण, महा परिमाण का प्रतीत होता है ।

(सिद्धांत) परिहारस्तु- उत्क्रांत्यादिश्रवणात् परिच्छिन्नत्वे निश्चिते सर्वस्य प्राणिजातस्य प्राणायत्तस्थितित्वेन वैभववादोपपत्तिः इति

उक्त शंका का परिहार करते हैं कि-उत्क्रमण आदि से प्राण की परिमिति निश्चित हो जाती है, प्राणिमात्र की स्थिति प्राणाधीन है, इस तथ्य को बतलाने के लिए ही प्राण की प्रभुता बतलाई गई है ।

६ ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरण :—

ज्योतिराद्यधिष्ठानंतु तदामननात्प्राणवता शब्दात् ।२।४।१३।।

सर्वश्रेष्ठानां प्राणानां ब्रह्मउत्पत्ति इयत्ता परिमाणं चोक्तम्। तेषां प्राणानामग्न्यादिदेवताधिष्ठितत्वं च पूर्वमेव। "अभिमानव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्" इत्यनेन सूत्रेण प्रसंगादुपपादितम्, जीवस्य च स्वभोगसाधनानामेषामधिष्ठातृत्वं लोकसिद्धम् "एवमेवैष एतान् प्राणान् गृहीत्वा स्वेशरीरे यथाकामंपरिवर्त्तते" इत्यादि श्रुति सिद्धञ्च। तदिदं जीवस्य अग्न्यादिदेवतानां च प्राणविषयमधिष्ठानं किं स्वायत्तं उत परमात्मवत्वमिति? विशये नैरपेक्ष्यात्-स्वायत्तम्।

मुख्य प्राण सहित समस्त प्राणों की उत्पत्ति ब्रह्म से बतला कर उनका परिमाण निश्चित किया गया। उन प्राणों की अग्निआदि देवताओं से अधिष्ठातृता भी "अभिमान व्यपदेशस्तु" सूत्र से प्रसंगतः बतलाई गई। इन प्राणों की, जीवाधिष्ठातृता तो, भोग साधन रूप से लोक व्यवहार में प्रसिद्ध ही है तथा "यह जीव इन प्राणों के आश्रय से अपने शरीर में यथेष्ट भोगों की अनुभूति करता है" इत्यादि श्रुतियों से भी सिद्ध है। इस जीव का अग्निआदि देवताओं का जो प्राणविषयक अधिष्ठान हैं, वह स्वायत्त है अथवा परमात्मायत्त? इस विषय में कहते हैं कि–जीव को अपने यथेष्ट भोगों में परमात्मा की अपेक्षा दृष्टिगत नहीं होती, इसलिए स्वायत्त ही है।

सिद्धान्तः—इति —प्राप्ते—उच्यते—ज्योतिराद्यधिष्ठानमिति। प्राणवता जीवेन सह, ज्योतिरादीनामग्न्यादिदेवतानां प्राणविषयमधिष्ठानं, तदामननात् तस्य परमात्मनः, आमननाद् भवति। आमननं आभिमुख्येन मननं, परमात्मनः संकल्पादेव भवतीत्यर्थः। कुतएतत्? शब्दात्—इंद्रियाणां साभिमानदेवतानां जीवात्मनश्च स्वकार्येषु परम पुरुषमननायत्तत्व शास्त्रात्।

यथान्तर्यामिब्राह्मणादिषु "योऽग्नौ तिष्ठन् अग्नेरन्तरो यमग्निर्नवेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमंतरो यमयति सत आत्मान्तर्याम्यमृतः "यो वायौ तिष्ठन्" यो आदित्येतिष्ठन्" यो आत्मनितिष्ठन्" यश्चक्षुषि तिष्ठन्" इत्यादि । यथा च–"भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः, भीषास्मादग्निश्चन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पंचमः "इति । तथा- "एतस्यवाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि । सूर्याचंद्रमसी विधृतौः तिष्ठतः" "इत्यादि ।

उक्त संशय पर कहते कि– प्राणवान जीव के साथ, ज्योति आदि देवताओं का जो प्राण विषयक अधिष्ठान है, वह परमात्मा के आमनन से होता है । अभिमुख्य मनन को आमनन कहते हैं, अर्थात् परमात्मा के संकल्प से होता है, ऐसा शास्त्र से ही ज्ञात होता है । इंद्रिय और इंद्रियाभिमानी देवताओं तथा जीवात्मा के अपने अपने कार्यो में परमपुरुष परमात्मा की, इच्छा शक्ति की ही प्रेरणा रहती है, ऐसा शास्त्र का मत है । जैसा कि–अन्तर्यामी ब्राह्मणादि का वचन है–"जो अग्नि में स्थित होकर भी अग्नि से भिन्न हैं, अग्नि उन्हे नहीं जानता, अग्नि ही उसका शरीर है, वे अग्नि का अंतर्यामी रूप से शासन करते हैं वे अंतर्यामी परमात्मा अमृत है" जो वायु में स्थित "जो सूर्य में स्थित "जो आत्मा में स्थित" जो नेत्रों में स्थित" इत्यादि । और भी जैसे–"इनके भय से वायु चलता है, इनके भय से सूर्य उदय होता है, इनके भय से अग्नि, चंद्र और पांचवा मृत्यु भी दौड़ता है" तथा–"हे गार्गी ! इसके प्रशासन में सूर्य और चंद्र स्थिर हैं । इत्यादि ।

तस्य च नित्यत्वात् ।२।४।१४॥

सर्वेषां परमात्माऽधिष्ठितत्त्वस्य नित्यत्वात् स्वरूपानुबंधित्वेन नियतत्वाच्च तत्संकल्पादेवैषामधिष्ठितृत्वमवर्जनीयम् । "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत्" इत्यादिना परमपुरुषस्य नियंतृत्वेन सर्वचिदचिद्वस्तुष्वनुप्रवेशः स्वरूपानुबंधी

श्रूयते, स्मर्यते च–"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति ।

सभी का परमात्मा के साथ जो अधिष्ठान है, वह नित्य है, अर्थात् परमात्मा, जीवात्मा आदि के अंतःकरण में निश्चित स्थित हैं, तथा उन्हीं के संकल्प से सारा कार्य जीवादि कर पाते हैं, इससे परमात्मा का अधिष्ठान अनिवार्य सिद्ध होता है । "उसकी रचना कर उसी में प्रविष्ट हो गए, उसमें प्रवेश करके सत् और त्यत् हुए" इत्यादि वाक्यों में, परम पुरुष से नियंत्रन समस्त जड़चेतन में अनुप्रवेश स्वरूपानुबंधी (वास्तविक रूप से अभिन्न रूपवाला) कहा गया है। जैसा कि– स्मृति में भी–'मैं एकांश से सारे जगत में परिव्याप्त हूँ । इत्यादि,

७ इन्द्रियाधिकरणः—

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ।२।४।१५॥

किं सर्वे प्राण शब्दनिर्दिष्टा इद्रियाणि, उत श्रेष्ठ प्राणव्यतिरिक्ता एवेति विशये प्राणशब्दवाच्यत्वात्, करणत्वाच्च सर्वं एवेन्द्रियाणि ।

एवं प्राप्ते उच्यते–श्रेष्ठ व्यतिरिक्ता एव प्राणा इन्द्रियाणि कुतः? श्रेष्ठादन्येष्वेव प्राणेषु तद्व्यपदेशात्–"इंद्रियाणि दशैकं च पंचचेंद्रिय गोचराः" इत्यादिभिर्हि चक्षुरादिषु समनस्केष्वेव इंद्रियशब्दो व्यपदिश्यते ।

शंका की जाती है कि-सारे ही प्राण इन्द्रियवाची हैं अथवा श्रेष्ठ प्राण के अतिरिक्त अन्य प्राण इन्द्रिय वाची हैं? इस पर कहते हैं कि–सभी प्राण इंद्रियवाची हैं भोग के साधन होने से ये इन्द्रियवाची हैं ।

इसका समाधान करते हैं कि—श्रेष्ठ प्राण से अतिरिक्त प्राण ही इंद्रियवाची हैं, श्रेष्ठ से अन्य प्राणों के लिए ही, इन्द्रियरूप से उल्लेख मिलता है–"इन्द्रियाँ ग्यारह हैं तथा पांच उनके विषय हैं" इत्यादि वाक्यों में चक्षु आदि दस और मन को ही इंद्रिय कहा गया है ।

भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च ।२।४।१६॥

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यादिषु इन्द्रियेभ्यः प्राणस्य पृथक् श्रवणात् प्राणव्यतिरिक्तानामेवेन्द्रियत्वमवगम्यते । मनसः पृथक् श्रवणेऽपि तस्यान्यत्रेन्द्रियान्तर्भाव उक्तः "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि "इत्यादौ । वैलक्षण्यं च चक्षुरादिभ्यः श्रेष्ठ प्राणस्योपलभ्यते, सुषुप्तौ हि प्राणस्य वृत्तिरुपलभ्यते, चक्षुरादीनां तु वृत्तिर्नोपलभ्यते । कार्यं च चक्षुर्वागादीनां समनस्कानां ज्ञानकर्म साधनत्वम्, प्राणस्य तु शरीरेन्द्रियधारणम्, प्राणाधीनधारणत्वात् इन्द्रियेषु प्राणशब्दव्यपदेशः तथा च श्रुतिः-"त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन् तस्मादेत एतेनाख्यायंते" इति । रूपमभवन्-शरीरमभवन्-तदधीन प्रवृत्तयोऽभवन्नित्यर्थः ।

"इस परमात्मा से, प्राण–मन और इंद्रियाँ हुईं," इत्यादि में इन्द्रियों और प्राण का पृथक् उल्लेख है, जिससे कि–प्राण भिन्न इन्द्रियता की प्रतीति होती है। उक्त वाक्य में मन का भी पृथक् रूप से उल्लेख है पर "मनः षष्ठेन्द्रियाणि" इत्यादि वाक्य में मन की इन्द्रियों में ही गणना कर दी गई है इससे वह पृथक् नहीं सिद्ध होता । इन्द्रियों से प्राण की विलक्षणता भी पाई जाती है, सुषुप्तावस्था में श्वास प्रश्वास के रूप में प्राण की वृत्ति पाई जाती है पर इन्द्रियों की वृत्ति नहीं पाई जाती, तथा –नेत्रादि मन सहित इन्द्रियाँ, ज्ञान कर्म का साधन करती और प्राण शरीर इंद्रियों को धारण करता है । प्राणाधीन धारकता होने से ही, इंद्रियों में प्राण शब्द का प्रयोग होता है, ऐसा ही श्रुति का वचन है–"वे इन्द्रियाँ, प्राण स्वरूप हैं, इसीलिए इनमें प्राण शब्द का प्रयोग होता है ।" रूप होने का तात्पर्य है–शरीरस्थानीय होना, अर्थात् मुख्य प्राण के अधीन ही इन सबकी प्रवृत्ति होती है ।

८ संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरण––

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत् कुर्वत् उपदेशात् ।२।४।१७॥

भूतेन्द्रियादीनां समष्टिसृष्टिः, जीवानां कर्तृत्वं च परस्माद्

ब्रह्मणः, इत्युक्तं पुरस्तात् । जीवानांस्वेन्द्रियाधिष्ठानं च परायत्तमितिचानंतरं स्थिरीकरणाय स्मारितम् । यात्वियं नामरूपव्याकरणात्मिकाप्रपंचव्यष्टिसृष्टिः, सा किं समष्टि जीवरूपस्य हिरण्यगर्भस्यैव कर्म, उत्तेजः प्रभृतिशरीरकस्य परस्याबादिसृष्टिवद् हिरण्यगर्भशरीकस्य परस्य ब्रह्मणः? इदानीं चिन्त्यते ।

भूतों और इंद्रियों की समष्टि सृष्टि तथा जीवों का कर्त्तृत्व परमात्मा के अधीन है, ऐसा पहिले ही कह चुके हैं । जीवों की अपनी इन्द्रियो की अधिष्ठातृता भी परमात्मायत्त है, इसे बतलाते हुए पुनः उक्त मत को ही दृढ़ किया गया । अब विचार किया जाता है कि—जो यह नामरूपवाली प्रपंच व्यष्टि सृष्टि हैं, वह समष्टि रूप हिरण्यगर्भ की कृति है, अथवा हिरण्यगर्भ के शरीरी परमात्मा की सृष्टि है?

कि युक्तम्? समष्टि जीवस्येति, कुतः? "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणि" इति जीवकर्त्तृत्वश्रवणात्, न हि परादेवता स्वेनरूपेण नामरूपे व्याकरवाणीत्यैक्षत, अपितुस्वांशभूतेन जीवरूपेण "अनेन जीवेनाऽत्मना" इति वचनात् ।

उक्त संशय पर, समष्टि जीव का ही कर्त्तृत्व समझ में आता है, क्योंकि—"जीव रूप से प्रवेश करके नामरूप को व्यक्त करूँगा" इस श्रुति में जीव कर्त्तृत्व ही प्रतीत होता है । परमात्मा स्वयं ही नामरूप में व्यक्त होने की इच्छा नहीं कर सकते, अपितु अपने अंश रूप जीव से ही, इच्छा करते हैं, ऐसा "अनेन जीवेनात्मना" पद से परिलक्षित हो रहा है ।

नन्वेवं चारेणानुप्रविश्य परबलं संकलयानीतिवत् "व्याकरवाणि" इत्युत्तमपुरुषः कर्त्तृस्थ क्रियश्च प्रविशति लाक्षणिकः स्यात् । नैवम्—तत्रराजचारयोः स्वरूपभेदालाक्षणिकत्वं, इह तु जीवस्यापि स्वांशत्वेन स्वरूपस्वांशेन रूपेण प्रवेशो व्याकरणं चात्मन एवेति न लाक्षणिकत्वप्रसंगः । न च सहयोगलक्षणेयं तृतीया,

कारकविभक्तौ संभवन्त्यामुपपदविभक्तेरन्याय्यत्वात् । न च करणे तृतीया, ब्रह्मकर्तृकयोः प्रवेशव्याकरणयोर्जीवस्य साधकतमत्वाभावात्। न च जीवस्य कर्त्तृत्वं प्रवेशमात्रे पर्यवस्यति । नामरूपव्याकरणं तु ब्रह्मण एवेति शक्यंवक्तुम्, क्त्वाप्रत्ययेन समानकर्तृकत्व प्रतीतेः । जीवस्य स्वांशत्वेन स्वरूपत्वेऽपि परस्वरूपव्यावृत्त्यर्थः "परेण जीवेन" इति परात्वेन परामर्शः । अतो हिरण्यगर्भं कर्तृकेयं नामरूपव्यक्रिया । अतएव च स्मृतिषु चतुर्मुखकर्त्तृक सृष्टिप्रकरणे नामरूपव्याकरणं संकीर्त्यते—"नामरूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपंच न वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः" इत्यादौ ।

तर्क करते हैं कि–यदि ऐसा है तो–"गुप्तचर के रूप से घुसकर शत्रुओं की सेना की संख्या का संकलन करूँगा" इत्यादि लाक्षणिक वाक्य की तरह उक्त वाक्यगत "व्याकरवाणि" में जो, उत्तम पुरुष (अहं) का एवं कर्त्तृ निष्ठ "प्रविश" धातु का प्रयोग है वह भी लाक्षणिक हो जायेगा? ऐसा नहीं होगा, क्योंकि राजा और गुप्तचर में स्वरूप भेद होने से लाक्षणिकता है, पर उक्त वाक्य में तो, जीव के, अपने अंश स्वरूप होने से, उसके रूप से प्रवेश और व्यक्तीकरण अपना ही कहलावेगा । इसलिए इसमें लाक्षणिकता का प्रसंग ही नहीं है । यहाँ सहयोग लक्षण वाली तृतीया विभक्ति भी नहीं है जिससे कि–जीव के साथ ऐसा अर्थ किया जा सके । कारक विभक्ति (अभेद में तृतीया) के संभव होने पर उपपद विभक्ति (सहार्थ में तृतीया) की कल्पना करना व्याकरण नियम से अनुचित भी है । यहाँ करण निमित्तक तृतीया भी नहीं है, जिससे कि–"जीव के द्वारा" ऐसा अर्थ संभव हो । ब्रह्म कर्तृक प्रवेश और अभिव्यक्ति में, जीव में साधकता का अभाव है, इसलिए करण निमित्तक विभक्ति नहीं है । जीव का कर्तृत्व प्रवेश मात्र से ही पर्यवसित नहीं हो सकता, नामरूप की अभिव्यक्ति में ब्रह्म का ही कर्त्तृत्व हो सकता है । नामरूप की अभिव्यक्ति की शक्ति जीव में तो देखी नहीं जाती क्योंकि "क्त्वा" प्रत्यय से दोनों कार्य एक के ही द्वारा सपन्न होते हैं, ऐसा निश्चित होता है । ब्रह्म का अंश होने से, जीव को ब्रह्म का अंश मान भी लिया जाय तो भी उसकी, परब्रह्मभाव निवृत्ति के लिए "अनेन जीवेन" से

भिन्नता बतलाई गई है, इसलिए हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) कर्त्तृक ही यह नाम-रूप विक्रिया है ऐसा निश्चित होता है। जैसा कि-स्मृति में-चतुर्मुख कर्त्तृक सृष्टि प्रकरण में-नामरूप के व्याकरण का उल्लेख भी है-"हिरण्यगर्भ ने सृष्टि के प्रथम वैदिक शब्दों के आधार पर देव आदि भूतों के नामरूप तथा कर्त्तव्य विधि सृष्टि की'; इत्यादि।

सिद्धान्तः-एवं प्राप्तेऽभिधीयते-"संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु" इति तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिः, नामरूपव्याकरणम् तत् त्रिवृत् कुर्वंतः, परस्यैवब्रह्मणः, तस्यैवनामरूपव्याकरणोपदेशात् त्रिवृत्करणं कुर्वंत एव हि नामरूपव्याकरणमुपदिश्यते-"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रोदेवता अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" इति समानकर्त्तृकत्व प्रतीतेः। त्रिवृत् कारणं तु चतुर्मुखस्याण्डान्तर्वर्त्तिनो न संभवति, त्रिवृत्कृतैः तेजोबन्नैर्हि अण्डमुत्पाद्यते, चतुर्मुखस्य चाण्डे संभवः स्मर्यंते-"तस्मिन्नण्डेऽभवद् ब्रह्मा सर्वलोक पितामहः" इति। अतस्त्रिवृत्करणं परस्यैवब्रह्मणः, तत्समानकर्तृकं नामरूप व्याकरणं च तस्यैवेति विज्ञायते।

उक्त कथन पर सूत्र रूप से सिद्धान्त प्रस्तुत किया जाता है-"संज्ञामूर्त्ति "इत्यादि। सूत्र में तु शब्द पूर्व पक्ष के निराकृति का सूचक है। संज्ञामूर्त्तिक्लृप्ति अर्थात् नामरूप का व्याकरण उसको त्रिवृत् करते हुए परब्रह्म से ही संभव है, उसी से नामरूप व्याकरण, त्रिवृत् करते हुए बतलाया गया है-"इस देवता ने संकल्प किया कि-जो यह तीन देवता हैं इनमें जीवात्मरूप से प्रविष्ट होकर नाम रूप की अभिव्यक्ति करूँ और इन तीनों को तीन-तीन रूपों में व्यक्त करूँ" इत्यादि में परब्रह्म की ही समान कर्त्तृता बतलाई गई है। ब्रह्माण्ड से होने वाले चतुर्मुख ब्रह्मा में त्रिवृत् करण की क्षमता नहीं है, त्रिवृत् कृत पृथ्वी जल और तेज से ही तो ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है, चतुर्मुख की अण्डोत्पत्ति स्मृति प्रसिद्ध है-"सबके पितामह ब्रह्मा उस ब्रह्माण्ड से हुए" इत्यादि से सिद्ध होता है कि-त्रिवृत् करण परब्रह्म का

ही कार्य है तथा उसी के समान, नामरूप व्याकरण भी उन्हीं का कार्य है।

कथं तर्हि "अनेन जीवेन" इति संगच्छते "आत्मनाजीवेन" सामानाधिकरण्यात् जीव शरीरं परंब्रह्मैव जीवशब्देनाभिधीयते यथा—"तत्तेज ऐक्षत्" तदपोऽसृजत् "त आप ऐक्षन्त" ता अन्नमसृजत" तेजप्रभृतिशरीरकं परमेवब्रह्माभिधीयते। अतो जीवसमष्टिभूतहिरण्यगर्भशरीरकस्य परस्यैवब्रह्मणः कर्म नामरूप-व्याकरणम्।

(प्रश्न) "अनेन जीवेन" की संगति कैसे होगी? (उत्तर) "आत्मन जीवेन" इस समानाधिकरण वाक्य से, जीव शरीरी परब्रह्म ही जीव शब्द से कहा गया, प्रतीत होता है। जैसेकि-"उस तेज ने इच्छा की" इत्यादि में तेज आदि के शरीरी परब्रह्म का ही, उल्लेख है। इसलिए जीव समष्टि भूत हिरण्यगर्भ के शरीरी परब्रह्म ही नामरूप व्याकरण के कर्त्ता हैं।

एवं च "प्रविश्यनामरूपे व्याकरवाणि" इति प्रविशतिउत्तम-पुरुषश्चाक्लिष्टौ मुख्यार्थाविव भवतः। प्रवेशव्याकरणयोः समानकर्त्तृकत्वमप्युपपद्यते। अतः"सेयं देवता"इत्यादिवाक्यस्यायमर्थः, इमाः तेजेऽबन्नरूपाः त्रिस्रो देवताः,अनेन जीवेन-जीवसमष्टिविशिष्टेन -आत्मानाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणि-देवादिविचित्रसृष्टितन्ना-नमधेयानि च करवाणि। तदर्थमन्योन्यसंसर्गप्राप्तानामेषां तेजोबन्नानां विशेष सृष्ट्यसमर्थानां तत्सामर्थ्यायैकैकां त्रिवृतं करवाणि-इति। अतः परस्यैवब्रह्मणः कर्मेदंनामरूपव्याकरणम्।

तथा—"प्रवेश करके नामरूप की अभिव्यक्ति करूँगा" इस वाक्य में "प्रविश्य" पद से ही उत्तम पुरुष (मैं) का बोध सहजरूप से हो जाता है। प्रवेश और अभिव्यक्ति ये दोनों समानकर्त्तृत्व का बोध कराते हैं। चतुर्मुख कर्त्तृक सृष्टि प्रकरण के, नामरूपव्यक्तीकरण के उपदेश से ज्ञात होता है कि-यह देवादिकों कीविचित्र सृष्टि,चतुर्मुख के शरीरी परब्रह्म की ही कृति है। "सेयं देवता" इत्यादि वाक्य का अर्थ है कि—इमाः—तेज जल

पृथ्वी रूप तीन देवता "अनेन जीवेन" -जीवसमष्टि विशिष्ट आत्मा वाले इनमें प्रवेश करके नामरूप की अभिव्यक्ति करूँगा अर्थात्-देवादि विचित्र सृष्टि और उनका नामकरण करूँगा। नामरूप की अभिव्यक्ति में, एक दूसरे से संसर्ग हीन, विशिष्ट कार्य रचना में असमर्थ इन तीनों को, पृथक्-पृथक् कार्य सामर्थ्य के लिए तीन तीन करूँगा। इससे सिद्ध होता है कि-नामरूपाभिव्यक्तीकरण कर्म, परब्रह्म परमात्मा का ही है।

अथ स्यात्-नामरूपव्याकरणस्य त्रिवृत्करणेनैककर्तृकत्वात्परमात्मकर्तृकमिति न शक्यतेवक्तुम्, त्रिवृत्करणस्यापि जीवकर्तृकत्वसंभवात्। अण्डसृष्ट्युत्तरकालं हि चतुर्मुखसृष्टि जीवेषु त्रिवृत्करण-प्रकार उपदिश्यते-"यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति" अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो भागस्तत्पुरीषं भवति योमध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठः तन्मनः" इत्यादिना। तथा पूर्वस्मिन्नपिवाक्ये "यदग्नेरोहितं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य" इत्यादिना चतुर्मुखसृष्ट्याग्न्यादित्यचंद्रविद्युत्सु त्रिवृत्करणं प्रदर्श्यते नामरूपव्याकरणोत्तरकालं च त्रिवृत्करणं श्रूयते। "सेयं देवतेमास्तिस्रो देवताः, अनेनजीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरोत्तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत् "इति। तत्राह—

(शंका) ऐसा हमने मान लिया कि-नामरूप अभिव्यक्ति और त्रिवृत् करण परमात्मा की कृति है, त्रिवृत् करण; एकमात्र परमात्मा की ही कृति है ऐसा नहीं मान सकते, त्रिवृत्करण, जीव कर्तृक भी हो सकता है ब्रह्माण्ड सृष्टि के बाद चतुर्मुख ब्रह्मा ने अपने सृष्टि जीवों में त्रिवृत्करण का इस प्रकार उपदेश दिया-"हे सौम्य! ये तीनों देवता, पुरुष को प्राप्त कर कैसे तीन तीन हो जाते हैं, यह मुझसे समझो, खाया हुआ अन्न तीन भागों में विभक्त हो जाता है, उसका स्थूल भाग पुरीष, मध्यम भाग मांस और सूक्ष्म भाग मन बन जाता है।"इत्यादि, इसी के पूर्व के वाक्य में जैसे—"अग्नि में जो रक्तिमा है वह तेज की, जो धवलिमा है वह जल की तथा श्यामता पृथ्वी की है।" इत्यादि में चतुर्मुख से सृष्ट अग्नि चंद्र

और विद्युत् में त्रिवृत् करण दिखलाया गया है। नाम रूप अभिव्यक्ति के बाद भी त्रिवृत् करण का वर्णन मिलता है–"यही देवता, तीनों देवताओं में जीवात्मा रूप के प्रवेश करके, नामरूप को अभिव्यक्त कर त्रिवृत्करण करते हैं।–"इसका उत्तर देते हैं—

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ।२।४।१८।।

यदुक्तमण्डसृष्ट्युत्तरकालं चतुर्मुखसृष्टदेवतादिविशेषोऽयं "तासां त्रिवृतत्रिवृतमेकैकामकरोत्" इति, त्रिवृत्करणोपदेश, इति तन्नोपपद्यते "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते" इत्यत्र मांसमनसो पुरीषादणुत्वेनाणीयस्त्वेन च व्यपदिष्टयोः कारणानुविधायित्वेनाप्य तैजसत्वप्रसंगात् "आपः पीताः" इत्यत्रापि मूत्रप्राणयोः स्थविष्ठाणीयसोः पार्थिवत्वतैजसत्वप्रसंगात्। न चैवमिष्यते, मांसादिभौममिष्यते पुरीषवन्मांसमनसी अपि भौमे पार्थिवे इष्यते "अन्नमशितं त्रेधा" इति प्रक्रमात्। यथाशब्द-इतरयोश्च-इतरयोरपि "आपः पीताः" "तेजोऽशितम्" इति पर्याययोर्यथाशब्दं विकारा इष्यंते। "आपः पीतास्त्रेधा विधीयंते" इत्यपामेव त्रेधा परिणामः शब्दात् प्रतीयते तथा–"तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते" इत्यपि तेजस एव त्रेधा परिणामः शब्दात् प्रतीयते, अतः पुरीषमांसमनांसि पृथिवी विकाराः मूत्रलोहितप्राणाः अब्विकाराः, अस्थिमज्जावाच-स्तेजोविकाराः, इति प्रतिपत्तव्यम्, "अन्नमयं हि सौम्यमनः, आपोमयः प्राणस्तेजोमयीवाक्" इति वाक्यशेषाविरोधाच्च। अतः "तासां त्रिवृत् त्रिवृतमेकैकामकरोत् "इत्युक्तास्त्रिवृत्करण प्रकारः 'अन्नमशितम्' इत्यादिना न प्रदर्श्यंते, तथा सति मनप्राणवाचां त्र्याणामप्यणीयस्त्वेन तैजसत्वात् "अन्नमयं हि सोम्यमनः" इत्यादिर्विरुध्येत प्रागेव त्रिवृत्कृतानां पृथिव्यादीनां पुरुषं प्राप्तानाम् "अन्नमशितम्" इत्यादिनैकैकस्य त्रेधा परिणाम उच्यते। अण्ड-

सृष्टेः प्रागेव च तेजोबन्नानां त्रिवृत्करणेन भवितव्यम्, अत्रिवृत्कृतानां तेषां कार्यारम्भासामर्थ्यात्। अन्योन्यसंयुक्तानामेव हि कार्यारम्भसामर्थ्यम् तदेव हि त्रिवृत्करणम्। तथा च स्मर्यते— "नानावीर्याः पृथग् भूतास्ततस्ते संहतिं विना, नाशक्नुवन्प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः, समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्पर समाश्रयाः, महदाद्या विशेषान्ता अंडमुत्पादयंतिते" इति। अतएव च—"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरोत्"तासां त्रिवृतंत्रिवृनमेकैकामकरोत् पाठक्रमोऽर्थक्रमेण बाध्यते। अंडान्तवर्त्तिष्वग्न्यादित्यादिषु-त्रिवृत करणप्रदर्शनं श्वेतकेतोः शुश्रूषोरंडान्तवर्त्तित्वेन, तस्य वहिष्ठ वस्तुषु त्रिवृत्करणप्रदर्शनायोगात् त्रिवृत्कृतानां कार्येषुअग्न्यादित्यादिषु क्रियते।

जो यह कहा कि—ब्रह्माण्ड सृष्टि के बाद चतुर्मुख द्वारा सृष्ट, देवता आदि का "तासां त्रिवृत्" इत्यादि में त्रिवृत् करण का उपदेश किया गया है। यह बात असंगत है, क्योंकि—"भुक्त अन्न तीन भागों में विभक्त हो जाता है" इस वर्णन में मांस और मन को, पुरीष से, अणु और अणीयस कहा गया है, जो कि—कारण के अनुकूल कार्य है, यदि सृष्टि के बाद त्रिवृत करण मानेंगे तो, जल और तेज भी, इसके कारण माने जावेंगे। "पिये हुए जल" इत्यादि में भी, मूत्र और प्राण, रूप स्थूल और सूक्ष्म में, पृथ्वी और तेज, कारण रूप से उपस्थित हो जावेंगे। इसलिए उक्त बात नहीं कह सकते। मांस आदि भौम ही कहलावेंगे, अर्थात् पुरीष की तरह मांस और मन भी भौम ही कहलावेंगे, "अन्नं त्रेधा" से ऐसा ही प्रतीत होता है। ऐसे ही "आपः पीताः "तेजोऽशितम्" इत्यादि में कहे गए विकारों को भी उक्त वेदोक्त रीति से ही मानना होगा। "पिया हुआ जल तीन रूप का हो जाता है" इस वेद मंत्र से तीन रूप वाले परिणाम की स्पष्ट प्रतीति होती है। उक्त वैदिक नियम के अनुसार-पुरीष-मांस-मन -पार्थिव विकार, मूत्र-रक्त-प्राण-जलीय विकार, अस्थि-मज्जा-वाणी-तैजस -विकार हैं। 'हे सौम्य! यह मन अन्नमय है" जलमय प्राण तथा तेजोमयी वाणी है" इस प्रकरण के अंतिम वाक्य से यही बात निर्विरोध सिद्ध होती

है। "उनको प्रत्येक को तीन तीन किया" में कहा गया त्रिवृत् करण का प्रकार "भुक्त अन्न" के प्रकार की तरह नहीं है, यदि उसी प्रकार का मानेंगे तो, मन, प्राण और वाणी रूप अति सूक्ष्म तैजस रूपों की "हे सौम्य! मन अन्नमय है" इत्यादि से विरुद्धता होगी पहिले से ही तीन रूपों में विभक्त पृथ्वी आदि के पुरुष रूप को प्राप्त होजाने पर "भुक्त अन्न" आदि का ही त्रेधा परिणाम होता है, यही उक्त प्रसंग में कहा गया है। सृष्टि के पूर्व ही, पृथ्वी जल तेज आदि की तीन रूपों में विभक्ति हो सकती है. यदि वे प्रथम से ही तीन रूपों में विभक्त न रहें तो, उनमें कार्यारम्भ की क्षमता नहीं हो सकती। एक दूसरे से मिलकर ही उनमें कार्य की क्षमता संभव है। इन तीनों का पारस्परिक सम्मेलन ही त्रिवृत् करण कहलाता है वैसा ही स्मृति का भी मत है—"ये सारे भूत विभिन्न प्रकार की शक्ति वाले पृथक् पृथक् हैं, उन सबकी संहति के बिना, प्रजा की सृष्टि संभव नहीं है, महत्तत्व से लेकर विशेष तक, परस्पर संयुक्त होकर पारस्परिक आश्रय से ब्रह्माण्ड का उत्पादन करते हैं। "ब्रह्म, जीवात्मारूप से प्रविष्ट होकर नामरूप में अभिव्यक्त होता है, उसीने, प्रत्येक को तीन तीन किया" ऐसा वेदोक्त पाठ्यक्रम, उक्तस्मार्त्तअर्थ-क्रम से बाधित होता है। ब्रह्माण्ड मध्यवर्त्ती अग्नि और आदित्य आदि के त्रिवृत् करण का जो उपदेश है, उसका कारण यह है कि-शुश्रुषु श्वेतकेतु के लिए सृष्टि के पूर्ववर्त्ती त्रिवृत् करण का उपदेश सुबोध्य न होगा, इसलिए उसे त्रिवृत् कृत भूत कार्य आदि का त्रिवृत्करण बतलाया गया। इस प्रकार समझने से, वेदोक्त पाठ्यक्रम की संगति हो जाती है।

स्यादेत् "अन्नमशितम्" आपः पीताः "तेजोऽशितम्" इति त्रिवृत्कृतानामन्नादीनामेकैकस्य तेजोबन्नात्मकत्वेन त्रिरूपस्य कथमन्नामापस्तेज इत्येकैकरूपेण व्यपदेश उपपद्यत इति—तत्राह—

(शंका) हमने ऐसा मान लिया कि-उपदेश की सुबोधता के लिए ऐसा किया गया, परंतु त्रिवृत् कृत अन्न आदि के जो तीन तीन रूप हैं, उनका जो "अन्नमशितम्" आपः पीताः" तेजोऽशितम्" इत्यादि में अन्न-जल और तेज नाम से पृथक् निर्देश है, उसकी कैसे संगति होगी? इसका उत्तर देते हैं—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ।२।४।१९।।

वैशेष्या–विशेषभावः । त्रिवृत्करणेन त्रिरूपेऽप्येकैकस्मिन्नन्नाद्याधिक्यात्तत्रतत्रानादिवादः । द्विरुक्तिरध्याय समाप्तिं द्योतयति ।

सूत्रस्थ वैशेष्य का अर्थ है, विशेष भाव अर्थात् वैशिष्ट्य त्रिवृत् करण द्वारा, प्रत्येक तीन रूप होते हुए भी, एक-एक में, अन्न जल तेज आदि भाव की अधिकता है, इसलिए उन्हें अन्न आदि नामों से निर्देश किया गया है । पद की द्विरुक्ति, अध्याय समाप्ति की द्योतिका है ।

।। द्वितीय अध्याय समाप्त ।।

तृतीय अध्याय

प्रथम-पाद

१ तदन्तर प्रतिपत्त्यधिकरणः--

तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहतिसंपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।३।१।१॥

अतिक्रान्ताध्यायद्वयेननिखिलजगदेककारणं निरस्तनिखिलदोषगंधपरिमितोदारगुणसागरं सकलेतरविलक्षणं परंब्रह्म, मुमुक्षुभिरुपास्यतया वेदांता प्रतिपादयंतीत्ययमर्थः स्मृतिन्यायविरोध परिहार परपक्षप्रतिक्षेपवेदांतवाक्यपरस्परविरोधपरिहार रूपकार्यं स्वरूप संशोधनैः तद्दुर्धर्षणत्वहेतुभिः सह स्थापितः, अतोऽध्यायद्वयेन ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपादितम् । उत्तरेणेदानीं तत्प्राप्त्युपायैः सह प्राप्तिप्रकारश्चिन्तयितुमिष्यते । तत्र तृतीयाध्याये उपायभूतोपासन विषया चिन्तावर्त्तते। उपासनारंभाभ्यर्हितोपायश्च प्राप्यवस्तु व्यतिरिक्तवैतृष्ण्यम्प्राप्यतृष्णाचेति, तत्सिद्धयर्थं जीवस्य लोकान्तरेषु संचरतो जाग्रतस्वपतःसुषुप्तस्यमूर्छंतस्य दोषाः, परस्यब्रह्मणस्तद्रहितता, कल्याणगुणाकरत्वं च प्रथमद्वितीययोः पादयोः प्रतिपाद्यन्ते ।

पिछले दो अध्यायों में, समस्त जगत के एक मात्र कारण, निर्दोष असीम उदार गुणों के सागर, सबसे विलक्षण, परब्रह्म ही मुमुक्षुओं के उपास्य रूप से वेदांत वाक्यों के प्रतिपाद्य हैं, इस सिद्धान्त की स्थापना के लिए, स्मृति और तर्कों का विरोध करते हुए, विरोधी पक्षों का परिहार-तथा परस्पर विरोधी वेदांत वाक्यों की संगति दिखलाते हुए उक्त सिद्धान्त की विशुद्ध रूप से स्थापना की गई। इससे निश्चित होता है

कि उन दो अध्यायों में ब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया। इसके बाद अब उन परमात्मा की प्राप्ति के उपायों से, प्राप्ति के प्रकार पर विचार करते हैं। इस तृतीय अध्याय में, उपाय रूप उपासना पर विचार किया गया है। उपासना में सर्वप्रथम, प्राप्तव्य से भिन्न वस्तुओं में वितृष्णा और प्राप्य के प्रति तीव्र आवेग, ये दो हितकर उपाय बतलाए गए हैं, इन दोनों की पुष्टि के लिए, प्रथम और द्वितीय पाद में, लोकान्तर संचरणशील जीव के, जाग्रत-स्वप्न सुषुप्ति और मूर्छा आदि अवस्थाओं से संबंधी दोष तथा परमात्मा में दोषों का अभाव तथा कल्याणमय गुणों की स्थिति का प्रतिपादन किया गया है।

तत्र देहात् देहान्तरंगच्छन्नयंजीवो देहान्तरारंभहेतुभिर्भूत-सूक्ष्मैः संपरिष्वक्त एव गच्छति उत न? इति चिन्तायां यत्र यत्र जीवो याति, तत्र तत्र भूतसूक्ष्माणां सुलभत्वादसंपरिष्वक्तो यातीति प्राप्तम्। पश्चादपि पूर्वपक्षबीजान्युपन्यस्य निरसिष्यति।

यह जीव, एक देह से दूसरे में जाते समय, देहान्तर के आरंभ के कारणभूत सूक्ष्म भूतों से परिवेष्टित रहता है या नहीं? इस पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि-जीव जहाँ-जहाँ जाता हैं वहाँ-वहाँ उसे, सारे सूक्ष्म भूत सुलभ हो जाते हैं, इसलिए वह इन्हें साथ नहीं ले जाता। इसके बाद उक्त पक्ष की मूल बातों का विश्लेषण करते हुए खंडन करेंगे।

सिद्धान्तः—तत्र सिद्धान्तमाह—तदंतरप्रतिपत्तौ रंहति संप-रिष्वक्त इति। "संज्ञामूर्त्तिक्लृप्ति" इति मूर्ति शब्देन देहः प्रस्तुतः, स तच्छब्देन परामृश्यते। तदन्तर प्रतिपत्तौ—देहान्तर गमने भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो जीवो रंहति—गच्छतीत्यर्थः। कुतः? प्रश्ननिरूप-णाभ्यां। पंचाग्निविद्यायामेवं प्रश्न प्रतिवचने आम्नायेते—श्वेतकेतुं किलारुणेयं पांचालः प्रवाहणः कर्मिणांगन्तव्यदेशं, पुनरावृत्ति प्रकारं देवयानपितृयाणपथव्यावर्त्तने, अमुष्य लोकस्याप्रासांरं च वेत्थेति पृष्ट्वेदमपि पप्रच्छ—"वेत्थ यथा पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो

भंवति'' इति। तमिमं पश्चिमं प्रश्नं प्रतिब्रुवंश्च द्युलोकमग्नित्वेन रूपयित्वा" तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धांजुहवति, तस्या आहुतेः सोमोराजा संभवति" इत्यादिना–देवाख्याः जीवस्य प्राणाः अग्नित्वेन रूपिते द्युलोके श्रद्धाख्यं वस्तु प्रक्षिपंति, सा च श्रद्धा सोमराजाख्यामृतमयदेहरूपेण परिणमते, तं चामृतमयं देहं त एव प्राणाः पर्जन्येऽग्नित्वेनरूपिते प्रक्षिपंति, तच्च तत्र प्रक्षिप्तमन्नं भवति, तच्चान्नं त एव पुरुषेऽग्नित्व रूपिते प्रक्षिपंति, तच्च तत्र रेतो भवति, तच्चान्नं त एव योषायामग्नित्व रूपितायां प्रक्षिपंति, तच्च तत्र प्रक्षिप्तं गर्भो भवतीत्युक्त्वा आह–"इति तु पंचम्यामाहुतौ हुतायामापः पुरुषवचसो भंवति " इति। एव पंचम्यामाहुतो हुतायामापः पुरुषशब्दाभिलप्यां भवंतीत्यर्थः एवमुक्त पूर्वाष्वप्याहुतिष्वनुवर्त्तमानानामेवापां सूक्ष्मरूपाणामिदानीं पुरुषाकारत्वं भवतीत्युक्तं भवति। अत एवं प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां देह-हेतुभूतैः सूक्ष्मैः सह तत्र तत्र यातीति गम्यते।

उस पर सिद्धांत कहते हैं, "संज्ञामूर्त्ति" इत्यादि सूत्र में मूर्त्ति शब्द देह का वाचक है, इस प्रस्तुत सूत्र में उसे ही" तत्" शब्द से बतलाया गया है। "तदनंतर प्रतिपत्तौ" का अर्थ है कि-यह जीव देहान्तर प्राप्त करने पर सूक्ष्म भूतों से संसक्त होकर "रंहति" अर्थात् गमन करता है। ऐसा निर्णय प्रश्नोत्तरों से हो जाता है। पंचाग्नि विद्या के प्रसंग में, इससे संबंधित प्रश्न—उत्तर किये गए, पंचाल राज प्रवाहण ने आरुणिश्वेकेतु से कर्म योगियों का गतिस्थान, पुनः आवृत्ति का प्रकार, देवयान पितृयान मार्ग का वर्णन, इत्यादि स्वर्ग आदि लोकों में जाने की इच्छा से पूछा "क्या तुम जानते हो कि पांच आहुतियों को प्राप्त कर ही जीव का पुरुष नाम होता है?" इस द्वितीय प्रश्न के पूछने पर द्युलोक को अग्नि रूप बतलाते हुए कहा कि- "इस अग्नि से देवता लोग श्रद्धा की आहुति देते हैं, उस आहुति से सोमराज उत्पन्न होते हैं" इत्यादि से बतलाया गया है कि- द्यु रूप अग्नि में सर्वप्रथम श्रद्धा की आहुति होती है वही श्रद्धा

अमृतरूप में परिणत हो जाती है, वे प्राण उस अग्निरूप से कल्पित पर्जन्य में निक्षिप्त होकर वर्षारूप में परिणत होते है। वे ही पृथ्वी रूप अग्नि में निक्षिप्त होकर अन्न रूप में परिणत होते हैं, वह अन्न, जीव के देह रूप अग्नि में प्रक्षिप्त होकर वीर्य रूप से परिणत हो जाताहै, उस वीर्य को अग्वि रूप स्त्री योनि मार्ग से धारण कर गर्भाकार में परिणत करती है। "इस प्रकार पांचवीं आहुति को प्राप्त कर ही वह पुरुष नाम धारी होता है" अर्थात् इस पांचवी आहुति को प्राप्त जल ही वह पुरुष नाम वाला होता है। इस प्रकार के प्रश्नोत्तर से ज्ञात होता है कि-देह के उपादानरूप भूतसूक्ष्मों के सहयोग से ही जीव उन स्थानों में जा पाता है।

ननु "आपः पुरुषवचसः" इत्युक्ते अपांपुरुषाकारपरिणाम प्रतीतेर्गच्छता जीवेन तासामेव परिष्वंगः प्रतीयते, अतः कथं सर्वेषां भूतसूक्ष्माणां परिष्वंग इति? तत्राह—

"जल ही पुरुष पद वाच्य होता है" इस कथन से तो, जल की ही पुरुषाकार परिणित बतलाकर उसका ही सहचर्य मात्र बतलाया गया है, फिर अन्य सूक्ष्म भूतो के साहचर्य की बात कैसे संगत होगी? इसका उत्तर देते हैं—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ।३।१।२।

तु शब्दश्चोद्यं व्यावर्त्तयति, देहारंभकाणामपांकेवलानां न देहारंभसंभवः। देहाद्यारंभाय हि—"तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकाम-करोत्" इति त्रिवृत्करणम्। केवलानामपां श्रवणं तु तासां भूयस्त्वात्। देहे च लोहितादिभूयस्त्वेनारंभकेष्वपां भूयस्त्वं गम्यते।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्त तर्क का समाधान करता है। देहारंभ का कारण केवल जल ही देहरचना में समर्थ नहीं हो सकना देहारंभ में तो "उन तीनों में प्रत्येक को तीन तीन करता है" ऐसा त्रिवृत् करण ही, कारण होता है। केवल जल का ही जो वर्णन मिलता है वह, उसकी बहुलता का

ही द्योतक है, देह में रक्तवीर्य आदि, जल रूप में ही, बाहूल्य से होते हैं, इसलिए जल के बाहुल्य का वर्णन किया गया है।

प्राणगतेश्च ।३।१।३॥

इतश्च भूतसूक्ष्म परिष्वक्तस्य गमनमिति गम्यते उत्क्रामति जीवे प्राणानां तदनुगतिः श्रूयते "तमुत्क्रान्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामंतं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामंति" इति। स्मर्यंते च—"मनः षष्ठाणीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानिकर्षंति, शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्" इति। न च निराश्रयाणां गतिरुपपद्यत इति तदाश्रयभूताना भूतसूक्ष्माणामपि गतिरभ्युपगंतव्या।

इससे भी भूत सूक्ष्मों संसक्त गमन ज्ञात होता है कि उत्क्रण करते हुए जीव के साथ प्राणों का अनुगमन वतलाया गया है—"उसके उत्क्रमण करने पर प्राण भी अनुत्क्रमण करते हैं।" स्मृति में भी जैसे—"जीव सुषुप्ति और मृत्यु के समय, मन के सहित पांचों ज्ञानेन्द्रियों को आकृष्ट करके स्थित रहता है। देहाधिपति जीव जिस समय शरीर ग्रहण करता है और जिस समय शरीर छोड़ता है, उस समय इन इन्द्रियों को अपने साथ उसी प्रकार ले जाता है, जैसे कि—वायु गंध को ले जाता है" इत्यादि। निराश्रित इन्द्रियों का कभी स्वतः गमन संभव नहीं है, इसलिए उनके आश्रयभूत भूतसूक्ष्मों की भी उनके साथ गति माननी होगी।

अग्न्यादिगतिश्रुतिरितिचेन्न भाक्तत्वात् ३।१।४॥

'यत्रास्यपुरुषस्यमृतस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राणः चक्षुरादित्यम्" इत्यादिना प्राणानां जीवमरणकाले अग्न्यादिष्वप्यय श्रवणात् न तेषां जीवेन सह गमनमिति गतिश्रुतिरन्यथा नेयेति चेत् न भाक्तत्वात्-अग्न्यादिष्वप्ययश्रवणस्य। कथं भाक्तत्वं? "ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशाः" इत्यनपियद्भिः लोमादिभिः सह श्रवणात्। अतश्चक्षुराद्यप्ययश्रुतिरधिष्ठातृदेवतोपक्रमणपरा।

"मृत पुरुष की वाणी अग्नि को, प्राण वायु को, नेत्र सूर्य को प्राप्त होते हैं" इत्यादि में तो, जीव के मरण काल में, अग्नि आदि की प्राप्ति बतलाई गई है, जिससे, जीव के साथ गमन करने वाली श्रुति अन्यथा सिद्ध होती है? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए यह श्रुति तो गौण है, "लोम ओषधि में, केश वनस्पति में, इत्यादि गौण श्रुति के साथ ही उक्त श्रुति का पाठ है इसलिए यह भी गौण है। चक्षु आदि के लीन होने की बात तो, केवल उनके अधिष्ठाता देवताओं से देह से, वहिर्गमन की ही बोधिका है।

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव हि उपपत्तेः ।३।१।५॥

यदुक्तमद्भिः सूक्ष्माभिर्भूतान्तरसंसृष्टाभिः परिष्वक्तो जीवो गच्छतीति प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामवगम्यत इति, तन्नोपपद्यते, द्युलोकाग्निविषये प्रथमे होमे अपां होम्यत्वाश्रवणात् "तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धांजुहवति" इति श्रद्धैवहोम्यत्वेन श्रुता। श्रद्धानाम जीवस्य मनोवृत्तिविशेषत्वेन प्रसिद्धा। अतो नापस्तत्र होम्या इति चेत्, न यतः ताः आप एव श्रद्धाशब्देन तत्राभिधीयंते, कुतः? प्रश्न प्रतिवचनोपपत्तेः।

जो यह कहा कि–प्रश्नोत्तरों से ज्ञात होता है कि–अन्यान्य भूतों से संसक्त सूक्ष्म जल ही जीव के साथ गमन करता है, सो बात समझ में नहीं आती क्योंकि–द्युलोक रूपी अग्नि में प्रथम हवन के रूप में जल की हवनीयता नहीं सुनी जाती। जीव की मनोवृत्ति विशेष ही श्रद्धानाम से प्रसिद्ध है, इसलिए जल वहाँ पर होम्य नहीं हो सकता। यह शंका उपयुक्त नहीं है, जल ही यहाँ श्रद्धा शब्द से उल्लेख्य है, प्रश्नोत्तरों से ऐसा ही निश्चित होता है।

"वेत्थ यथा पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवंति" इति प्रश्न प्रतिवचनोपक्रमेहि श्रद्धाद्युलोकाग्नौ होम्यत्वेन श्रुता, तत्रयदि श्रद्धा शब्देनापो नोच्येरन्, ततोऽन्यथाप्रश्नोऽन्यथा प्रतिवचनमिति असंगतम् स्यात्। "इति तु पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसः" इति प्रतिवचन

निगमनं च श्रद्धाया अप्त्वमेव सूचयति "वेत्थ यथा" इति हिं प्रश्नगतः प्रकारः "इति तु पंचम्याम्" इतीति शब्देन परिहारे निगम्यते। श्रद्धासोमराजवर्षान्नरेतोगर्भरूपेणापां परिणाममुक्त्वा हि एवमापः पुरुषवचस इति निगम्यते। श्रद्धाशब्दस्य चाप्सु वैदिकप्रयोगो दृश्यते—"अपः प्रणयति श्रद्धा वा आपः" इति। श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति" इति सोमाकारेण परिणामश्चापामेवोपपद्यते अतो भूतान्तरसंसृष्टाभिरद्भिः संपरिष्वक्तो जीवो रंहतीत्युपपन्नम्।

"क्या तुम जानते हो कि–पांचवीं आहुति को प्राप्त, पुरुषवाची वह कैसे होता है? "इस प्रश्न के उत्तर के प्रारंभ में ही द्युलोकाग्नि के हवनीय पदार्थ के रूप में श्रद्धा का उल्लेख किया गया है। यदि उक्त प्रसंग में श्रद्धा का अर्थ जल नहीं करेंगे तो अन्यथा प्रश्न का अन्यथा उत्तर होगा, जो कि–असंगति होगी। "पांचवीं आहुति में पुरुषवाची होता है" इस उत्तर के कथन से श्रद्धा ही जल रूप से प्रतीत होती हैं। "वेत्थ यथा" इत्यादि प्रश्न के प्रकार का स्वरूप, "इति पंचम्याम्" वाक्य के "इति" शब्द से परिहार किये जाने पर ही स्पष्ट होता है। श्रद्धा-सोमराज-वर्षा-अन्नवीर्य-गर्भ आदि रूपों में जल का क्रमशः परिणाम बतलाकर, उस जल को ही पुरुषवाची बतलाया गया है। श्रद्धा शब्द का जल नाम से वैदिक प्रयोग भी मिलता है "अप का प्रणयन करने वाला श्रद्धा ही जल है" इत्यादि। "श्रद्धा का हवन करते हैं, इस आहुति से सोमराज होते हैं" इसमें जल का सोमाकार परिणाम सिद्ध किया गया है, इसलिए यह मानना चाहिए कि–अन्य भूतों से संसक्त होकर–जल विशिष्ठ संसक्त जीव, गमन करता है।

अश्रुतत्वादितिचेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः।३।१।६॥

यत् पुनरुक्तं अद्भिः संपरिष्वक्तो जीवो याति इत्ययमर्थं एतस्माद्वाक्यादवगम्यत इति, तन्नोपपद्यते, अस्मिन् वाक्ये जीवस्या श्रवणात्। अत्राहि श्रद्धादय एवाम्बुव्यवस्थाविशेषा, हीम्यन्ते

श्रुताः, ननु जीवस्तत्परिष्वक्त इति चेत्, तन्न इष्टादिकारिणां प्रतीतेः, अस्मिन्नेववाक्ये हि उत्तर ब्रह्मज्ञानविधुरेष्टापूर्तदत्तकारिणो द्युलोकं प्राप्य सोमराजानोभवंति, पुण्यकर्मावसाने च पुनरागत्य गर्भं प्राप्नुवंतीत्युच्यते" अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्तदत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवति "इत्यारभ्य" पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चंद्रमस-मेष सोमोराजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयंति "तस्मिन्यावत्-संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते" यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिंचति तद्भूय एव भवति " इति । अत्रापिद्युलोकाग्नौ "श्रद्धांजुह्वति तस्या आहुतेस्सोमोराजा संभवति " इति तदे-कार्थत्वात् श्रद्धावस्थदेहविशिष्टः सोमरूपदेहविशिष्टो भवतीत्यु-क्तमिति गम्यते । देहस्य जीवविशेषणतैक स्वरूपस्य वाचकः शब्दो विशेष्ये जीव एव पर्यवस्यति, अतः संपरिष्वक्तोजीवो यातीत्युपद्यते।

पुनः जो यह कहा कि–जलों से संसक्त जीव के गमन का अर्थ ही उक्त वाक्य में प्रतीत होता है, सो यह कथन असंगत है, क्योंकि–इस वाक्य में तो जीव का उल्लेख ही नहीं है। इस प्रसंग में तो, केवल जल ही अवस्था विशेष श्रद्धा आदि, हवनीय द्रव्य के रूप में कहा गया है, उससे समन्वित जीव का तो उल्लेख है नहीं। इत्यादि शंका नहीं करनी चाहिए उक्त प्रसंग में इष्टापूर्त्त करने वालों का वर्णन किया गया है, इस वाक्य के शेषांश में ही कहा गया है कि–ब्रह्मज्ञान से रहित, केवल इष्टापूर्त्त करने वाले पुरुष द्युलोक में जाकर सोमराजा होते हैं और पुण्यकर्मों की समाप्ति हो जाने पर, पुनः गर्भ में आते हैं। कहते हैं कि– "जो ग्रहस्थ, प्रथम इष्टापूर्त्त और दत्त, इन तीन कर्मों के उपासक हैं, वे धूम्र दक्षिणायन मार्ग को प्राप्त होते हैं" पितृलोक से आकाश, से चन्द्र लोक को प्राप्त होते हैं, ये ही सोमराजा, देवताओं के अन्न हैं, इन्हें ही देवता भक्षण करते हैं " जब तक पुण्यक्षीण नहीं होते तब तक चन्द्र लोक में रुक कर पुनः उसी मार्ग से लौट आते हैं।" जो जो प्राणी अन्न खाकर वीर्य सिंचन करते हैं, उन्हीं में इनका जन्म होता है।" इत्यादि यहाँ पर भी द्युलोक रूपी अग्नि में " श्रद्धा की आहुति देते हैं" इस आहुति

से सोमराजा होते हैं" इस प्रसंग में उक्त अर्थ की ही प्रतीति होने से, श्रद्धावस्थ देह विशिष्ट ही, सोमरूप देह विशिष्ट होता है, ऐसा ज्ञात होता है। यह देह. जीव का ही विशेषण है देहवाचक शब्द भी. अपने विशेष्य जीव में ही पर्यवसित होगा यह स्वाभाविक है। इसलिए जीव भूतसूक्ष्म से संसक्त होकर ही गमन करता है, यह बात संगत हो जाती है।

ननु च "ते देवा भक्षयंति" इति देवैर्भक्ष्यमाणत्ववचनात् "सोमोराजा" इति न जीव उच्यते, जोवस्यानदनीयत्वात्। तत्राह–

(शंका) "उसे देवता खाते हैं" ऐसे देवत्व के भक्षणत्व से ज्ञात होता है कि–"सोमोराजा" जीव के लिए नहीं कहा गया हैं, क्योंकि–जीव कोई भक्ष्य पदार्थ नहीं है। इसका उत्तर देते हैं–

भाक्तं वानात्मवित्वात्तथाहि दर्शयति ।३।१।७।।

वाशब्दश्चोद्यं व्यावर्त्तयति । इष्टादिकारिणोऽनात्मवित्वात् स देवानां भोगोपकरणत्वेनेहामुत्र च वर्त्ततेइहेष्टादिना तदाराधनं कुर्वन्नुपकरोति, आराधनप्रीतैर्देवैर्दत्तममुंलोकंप्राप्य तत्रतत्समानभोगः तदुपकरणं भवति "यथा पशुरेवं स देवानाम्" इत्यनात्मविदो देवानामुपकरणत्वं दर्शयति श्रुतिः । स्मृतिरप्यात्मविदां ब्रह्मप्राप्तिमनात्मविदां च देवभोग्यत्वं दर्शयति "देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यांति मामपि" इति। अतो जीवस्य देवानां भोगोपकरणत्वाभिप्रायमन्नत्वेन भक्ष्यत्ववचनं अतस्तद्भाक्तम्, तेनतृप्तिरेव च देवानां भक्षणमिति श्रूयते "न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एतदेवामृतं दृष्टवा तृप्यन्ति" इति। तस्माद्भूतसूक्ष्मैसंपरिष्वक्तं जीवो रंहतीति सिद्धम्।

सूत्रस्थ वा शब्द तर्क का समाधान करता है। यज्ञ करने वालों में आत्मज्ञान का अभाव रहता है, इसलिए वे इस लोक और परलोक में

देवताओं के भोग्य होते हैं। इस लोक में, यज्ञ करके उनकी आराधना करते हुए उनका भोग साधन करते हैं, आराधना से प्रसन्न देवताओं से प्राप्त परलोक में उनके अनुरूप भोगोपकरण होते हैं। जैसे कि—"यह देवताओं का पशु है" इत्यादि श्रुति, अनात्मविद पुरुष को देवताओं का उपकरण बतलाती है। स्मृति भी आत्मविदों की ब्रह्म प्राप्ति तथा अनात्मविदों की देव भोग्यता का वर्णन करती है "देवों की आराधना करने वाले देवताओं को प्राप्त करते हैं, और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं।" इस प्रकार जीवों को, देवों का भोगोपकरण बतलाने के लिए ही भक्षणीय अन्न बतलाया गया है, जो कि गौण कथन है। देवताओं की तृप्ति ही देवताओं का भोजन है जैसे कि–"वे देवता न खाते हैं न पीते हैं, वे तो अमृत पदार्थ को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं।" इत्यादि से सिद्ध होता है कि–जीवात्मा भूतसूक्ष्मों से संसक्त होकर ही गमन करता है।

२. कृतात्ययाधिकरणः–

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवंच ।३।१।८।।

केवलेष्टापूर्त्तदत्तकारिणां धूमादिना पितृयानेन यथा गमनं कर्मफलावसानेन पुनरावर्त्तनं चाम्नातं "यावत् संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानंपुनर्निवर्तन्ते" इति। तत्र प्रत्यवरोहम् जीवः किमनुशयवान् प्रत्यवरोहति उतनेति संशय्यते। किं युक्तम्? कर्मणः कृत्स्नस्योपभुक्तत्वात् नानुशयवानिति प्राप्तम्। अनुशयो हि उपभुक्तशिष्टंकर्म। तच्च कृत्स्नफलोपभोगे सति नावशिष्यते। "यावत्संपातमुषित्वा" इति वचनात् कृत्स्नोपभोगश्च ज्ञायते। संपतंत्यनेन स्वर्गं लोकमिति सम्पातः कर्मोच्यते। श्रुत्यंतर च "प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत् किंचेह करोत्ययम्, तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे" इति।

जो केवल इष्टापूर्त्त और दत्त कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे धूम आदि पितृमार्ग से गमन करते हैं, और कर्मफल के समाप्त हो जाने पर पुनः लौट आते हैं ऐसा-- "जब तक पुण्यक्षीण नहीं होते तब तक भोगने के बाद उसी मार्ग से लौट आते हैं" कहा गया। इस पर संशय होता कि—लौटने वाला जीव, सानुशय लौटता है अथवा नहीं? विवेचना से ज्ञात होता है कि-जब वह समस्त कर्मों को भोग चुकता है तब अनुशय रहित होकर लौटता है। उपभोग से बचे हुए कर्म को अनुशय कहते हैं वह संपूर्ण फल भोग के बाद तो बच नहीं सकता। "यावत् संपातमुषित्वा से संपूर्ण भोग ही ज्ञात होता है। जिससे स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है ऐसे कर्म को ही संपात कहते हैं। इसी प्रकार की दूसरी श्रुति भी है— "जीव इस जगह जो कुछ शुभाशुभ कर्म करता है, उस कर्म के शेष हो जाने पर, उन कर्मों से प्राप्त लोकों से पुनः यहीं लौट आता है" इत्यादि।

सिद्धान्तः-- एवंप्राप्तेऽभिधीयते-अनुशयवान् प्रत्यवरोहति-इति। कुतः? दृष्टस्मृतिभ्यां-श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। श्रुतिस्तावद् "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते, रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं क्षत्रिययोनिं वैश्ययोनिं वा, अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिं आपद्येरन् श्वयोनिं वा शूकर योनिं वा चाण्डाल योनिं वा" इति प्रत्यवरूढान प्रतिश्रूयते। अमुष्माल्लोकात् प्रत्यवरूढेषु रमणीय कर्माणो रमणीयां ब्राह्मणादि योनिं प्रतिपद्यन्ते; कपूयचरणाः, कुत्सित कर्माणः कुत्सितां श्वशूकरचाण्डालादि योनिं प्रतिपद्यन्त इति प्रत्यवरूढानां पुण्यपापकर्मयोगं दर्शयति। स्मृतिरपि- "वर्णाश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठा प्रेत्य कर्मफलमनुभूयतः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुः श्रुतवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते विश्वंचोविपरीता नश्यंति हि" इति। तथा —"ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिरूपंवर्णबलंमेधांप्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यन्ते तच्चचक्रवद् उभयोर्लोकयोः सुख एव वर्तते" इति।

उक्त संशय पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि–जीव सानुशय लौटता है ऐसा श्रुतिस्मृति से निश्चित होता है। श्रुति जैसे "इस लोक में जो शुभ कर्म करते हैं, वे शीघ्र ही शुभ, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य योनियों को प्राप्त करते हैं। जो अशुभ कर्म करते हैं वे शीघ्र ही, शूकर-कूकर-चांडाल आदि अशुभ योनियों को प्राप्त करते हैं।" ऐसा सानुशय प्रत्यावर्त्तन का वर्णन करती है। परलोक से रमणीय शुभ कर्मों से युक्त लौटने पर ही शुभ ब्राह्मण आदि शुभ योनियाँ प्राप्त होती हैं तथा अशुभ कर्मों के आचरण से शूकर आदि योनियाँ प्राप्त होती हैं, इत्यादि लौटने वालों को ही पुण्य पाप कर्मो को बतलाया गया है। स्मृति में इसी प्रकार कहते हैं कि-"वर्ण और आश्रम कर्मो का भलीभाँति पालन करने वाले, मरणोपरान्त कर्मफलों का अनुभव करके अंत में विशिष्ट-देश-जाति-कुल-रूप-आयु-विद्या-धन-प्रतिष्ठा-सुख-आदि से युक्त होकर जन्म लेते हैं। इससे विपरीत आचरण करने वाले विपरीत नष्ट फल प्राप्त करते हैं।" तथा-"उसके बाद लौटने पर शेष कर्मफलानुसार जाति-रूप-वर्ण-बल-मेधा-प्रज्ञा-धन-धर्म के अनुष्ठान आदि को प्राप्त करते हैं, ऐसा करते हुए वे दोनों लोकों में सुख प्राप्त करते हैं" इत्यादि।

"यावत्संपातम्" इति फलदानप्रवृत्तकर्म विशेषविषयम्, "यत् किंचेहकरोत्ययम्" इतीदमपि तद्विषयमेव। अभुक्तफलानामकृत-प्रायश्चितानां च कर्मणां कर्मान्तरफलानुभवान्नाशोऽप्यनुपपन्नः। अतोऽमुं लोकं गताः सानुशय एव यथेतमनेव च पुनर्निवर्त्तन्ते-आरोहणप्रकारेण प्रकारान्तरेण च पुनर्निवर्त्तन्ते इत्यर्थः, आरोहणं हि धूमरात्रिपरपक्षदक्षिणायणषण्मासपितृलोकाकाशचन्द्रक्रमेण। अवरोहणं तु चन्द्रमसःस्थानादाकाशवायुधूमाभ्रमेव क्रमेण। तत्रा-काशावरोहणाद्यथेतम्, वाय्वादिप्राप्तेः पितृलोकाद्यप्राप्तेश्चानेवम्

"यावत् संपातम्" श्रुति का तात्पर्य है कि–जो कर्म, फल देने के लिए उन्मुख हैं, उन्हीं का भोग होगा, "यत्किंचित् करोत्ययम्" श्रुति भी यही बात कहती हैं। जिन कर्मों का फल न भोगा गया हो तथा वे प्रायश्चित से भी विनष्ट न हो पाये हों, उनका, अन्य कर्मों के फलभोग से नाश होना असंभव है। इसलिए चन्द्रगत पुरुष का सानुशय आरोहण

और सानुशय अवरोहण होता है, ऐसा ही मानना चाहिए। आरोहण के अनुसार या प्रकारान्तर से भी अवरोहण होता है। अरोहण क्रमशः धूम—रात्रि–कृष्णपक्ष दक्षिणायन—पितृलोक-आकाश-चन्द्रलोक तक होता है। अवरोहण चंद्रलोक से-आकाश-वायु–धूम -मेघ क्रम से होता है। आकाश आदि में तो अवरोहण समान होता है, किन्तु वायु आदि में अवरोहण का क्रम बदल जाता हैं, उसमें पितृलोक आदि की प्राप्ति नहीं होती।

चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ।३।१।६॥

"रमणीय चरणाः" "कपूयचरणाः" इति न चरणशब्देन पुण्य पापरूपं कर्माभिधीयते, चरणशब्दस्य लोकवेदयोराचारे प्रसिद्धेः, लौकिकाः खलु चरणमाचारः शीलंवृत्तमिति पर्यायानभिमन्यते, वेदे च- "यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि" यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि "इति चरणकर्मणो भेदेन व्यपदिश्येते, अतः चरणात्शीलात् योनिविशेषप्राप्तिः, नानुशयादिति चेत्, तत्र, चरणश्रुतिः कर्मोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते, केवलादाचारात् सुखदुःखप्राप्त्यसंभवात् । सुखदुःखेहि पुण्यपापरूप कर्मफले।

"रमणीय चरणाः" कपूय चरणाः" इत्यादि में चरण शब्द से पाप पुण्यरूप कर्म अभिधेय नहीं हैं, चरण शब्द की तो लोक और वेद में आचार रूप से ही प्रसिद्धि है। लोग, प्रायः चरण शब्द को, आचार–शील–कुल आदि का पर्यायवाची मानते हैं। वेद में जैसे-"जो निर्दोष कर्म हैं वे ही आचरणीय हैं" "जो मेरे सुचरित हैं, वे ही तेरे लिए आचरणीय हैं" इत्यादि में चरण और कर्म दोनों का भिन्न रूप से उल्लेख है। यह नहीं कह सकते कि-चरण से ही योनि विशेष की प्राप्ति होती है। चरणविषयक श्रुति, कर्मोपलक्षणार्थक है। ऐसी आचार्य कार्ष्णाजिनि की मान्यता है कि केवल आचार से ही सुख–दुःख की प्राप्ति संभव नहीं है। सुख–दुःख तो, पाप–पुण्य रूप कर्म के ही फल होते हैं।

आनर्थक्यमिति चेन्नतदपेक्षत्वात् ।३।१।१०॥

एवं तर्हि अफलत्वादाचारस्य स्मृतिविहितस्यानर्थक्यमेवेति चेत्-तन्न-तदपेक्षत्वात् पुण्यस्यकर्मणः। आचारवत् एवं पुण्यकर्मस्व-धिकारः "संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु" "आचारहीनं न पुनंति वेदाः" इत्यादि वचनेभ्य अतश्चरणश्रुतिः कर्मोपलक्ष-णार्थेति कार्ष्णाजिने भिप्रायः।

यदि कहें कि-ऐसा मानने से तो, निष्फलत्व हेतु स्मृति शास्त्रोक्त आचार निरर्थक हो जावेंगे? सो बात नहीं है, क्योंकि- सारे पुण्यकर्म सदाचार सापेक्ष ही होते हैं। जैसे कि-"संध्याहीन अपवित्र व्यक्ति सभी कर्मों में अयोग्य माना गया है" आचारहीन को वेद भी पवित्र नहीं करपाते" इत्यादि वचनों से ऐसा ही निश्चत होता है। इसलिए चरण श्रुति कर्मफलक्षणार्थक—ही है, ऐसा कार्ष्णाजिनि का अभिप्राय है।

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ।३।१।११॥

"पुण्यं कर्माचरति" पापं "कर्माचरति" इति कर्मणि चरतेः प्रयोगात् प्रथङ्निर्देशस्य च प्रत्यक्षश्रुतिसिद्धाचारानुमितश्रुतिसिद्ध-विषयत्वेन गोवलीवर्दन्यायेनोपपत्तेः। मुख्ये संभवति न लक्षणा न्याय्येति सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्दाभिधेये, इति बादरिराचार्यो मन्यते। अत्र बादरिमतमेव स्वमतम्, आचारानुमितश्रुतिविहित संध्यावंदनादेः कर्मान्तराधिकारसंपादनं फलमिति तु स्वीकृतम्। अतः सानुशया एव प्रत्यवरोहंति।

"पुण्य कर्म का आचरण करता है,, पाप कर्म का आचरण करता है" इत्यादि कर्माचरण के प्रयोग से, कर्म के अर्थ में "चर" धातु का प्रयोग—गोवलीवर्द न्याय (सांड जैसे गो से भिन्न होते हुए भी गो जाति का होने से गो शब्द से पुकारा जाता है) के अनुसार—उचित ही प्रतीत होता है मुख्यार्थ से ही जब कार्य चल जाय, तो लक्षणार्थ करना न्याय्य नहीं है, इसलिए जब पाप और पुण्य में ही जब चरण शब्द अभिधेय है

तब लक्षणा से अर्थ करना उचित नहीं है, ऐसा बादरि आचार्य का मत है। यह वादरि का मत ही अपना मत है। आचारानुमित श्रुतिविहित–संध्यावंदन आदि कर्म का जो, अन्यान्य कर्मों में अधिकार संपादन रूप-फल स्वीकारा गया है, वही उचित है। इससे सानुशय अवरोहण ही निश्चित होता है।

अनिष्टादिकार्याधिकरणः–

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ।३।१।१२॥

केवलेष्टापूर्त्तदत्तकारिणश्चन्द्रमसं गत्वा सानुशया एव निवर्त्तन्त इत्युक्तम्, इदानीमनिष्टादिकारिणोऽपि चन्द्रमसं गच्छंति, नेति चिन्त्यते, ये विहितं न कुर्वन्ति, निषिद्धं च कुर्वन्ति, त उभयेऽपि पापकर्मणोऽनिष्टादिकारिणः । किं युक्तम्? तेऽपि चंद्रमसं गच्छंतीति, कुतः? तेषामपि हि तद्गमनं श्रुतं "ये वैकेचास्माल्लोकात्प्रयंति चंद्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इत्यविशेषेण सर्वेषामेव गति श्रवणात् ।

केवल इष्टापूर्त्त और दत्त कर्म करने वाले ही चान्द्रमसी गति को प्राप्त कर सानुशय लौटते हैं, यह बतलाया गया। अब अनिष्ट आदि के करने वाले की चान्द्रमसी गति होती है या नहीं? इस पर विचारते हैं। जो शास्त्र विहित कर्म नहीं करते और जो शास्त्र निषिद्ध कर्म करते हैं, वे दोनों ही पापकर्म करने वाले, अनिष्टकर्मी हैं। कह सकते हैं कि वे भी चांद्रमसी गति को प्राप्त होते हैं उनकी भी वैसी ही गति सुनीजाती है जो भी इस लोक से जाते हैं, वे सभी चन्द्रमस को प्राप्त होते हैं", इत्यादि में सभी की गति का वर्णन है।'

एवं तर्हि सुकृतदुष्कृतकारिणोरुभयोरप्यविशिष्टैव गतिः स्यात् नेत्याह ।

ऐसा मानने से तो पाप और पुण्यकारी दोनों की ही एक सी गति होगी ? ऐसा नहीं होता, यही बतलाते हैं—

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौतद्गतिदर्शनात् ।३।१।१३।।

तु शब्दः शंकांव्यावर्त्तयति, इतरेषाम्-अनिष्टादिकारिणां चन्द्रावरोहावरोहौ संयमने-यम शासने तत्प्रयुक्त यातना अनुभूयैव, नान्यथा । कुतः ? तद्गतिदर्शनात्-दृश्यते हि पापकर्मणां यमवश्यतया तद्गमनम् "अयं लोको नास्ति न पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे" वैवस्वतं संगमनम् जनानां यमं राजानम्" इत्यादिषु ।

तु शब्द शंका का समाधान करता है, अनिष्ट कर्म करने वाले लोगों का, चन्द्रमा में आरोहण तभी होता है, जब कि वे यम के शासन में नारकीय यातनाओं की अनुभूति कर चुकते हैं। अन्यथा उनकी चान्द्रमसी गति संभव नहीं है। उनकी गति का ऐसा ही वर्णन मिलता है "जो ऐसा सोचते हैं कि–दृश्य लोक ही सब कुछ है, परलोक कुछ भी नहीं है, वे लोग बार बार मेरी अधीनता प्राप्त करते हैं" लोगों को यम का दर्शन और यमालय में जाना पड़ता है।" इत्यादि।

स्मरंति च ।३।१।१४।।

स्मरंति च सर्वेषां यमवश्यतां पराशरादयः "सर्वे चैते वशं यांति यमस्य भगवन् किल" इत्यादिषु ।

पराशर आदि, सभी की यमवश्यता बतलाते हैं– "ये सभी यम की वश्यता प्राप्त करते हैं" इत्यादि ।

अपि सप्त ।३।१।१५।।

पापकर्मणां गंतव्यत्वेन रौरवादीन् सप्त नरकानपि स्मरंति ।

पापकर्म करने वालों के लिए, रौरव आदि सात नरकों का भी, गंतव्यस्थान के रूप से वर्णन करते हैं ।

तत्रापि तद्व्यापारादविरोधः ।३।१।१६।।

तेष्वपि सप्तसु यमाज्ञयैव गमनादविरोधः । अतोऽनिष्टादि–

कारिणामपि यमलोकं प्राप्य स्वकर्मानुरूपं यातनाश्चानुभूय पश्चात् चंद्रावरोहावरोहौ स्तः।

उन सात रौरवादि नरकों में भी यम की आज्ञा से ही गमन होता है। इससे निश्चित होता है कि-अनिष्टकारी भी यम लोक को प्राप्त कर अपने कर्मानुरूप यातनाओं को भोगकर बाद में चन्द्र पर आरोहण अवरोहण करते हैं।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते—

इस मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात्।३।१७॥

तु शब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः अनिष्टादिकारिणामपि चंद्रप्राप्तिरस्तीत्येतन्नोपपद्यते। कुतः? विद्याकर्मणोरिति विद्याकर्मणोः फलभोगार्थत्वाद देवयान पितृयाणयोः। एतदुक्तं भवति-अनिष्टादिकारिणां यथा विद्या विधुरत्वात् देवयानेन पथा गमनं न संभवति, तद्वदेव, इष्टापूर्त्तदत्त-विधुरत्वात् पितृयानेन चंद्रगमनमपि न संभवति, इति। देवयान पितृयाणयोः विद्याविषयत्वं पुण्यकर्मविषयत्वं च कथमवगम्यत इति चेत्—प्रकृतत्वात्तयोः। प्रकृता हि देवयाने विद्या, पितृयाणे च कर्म "यद्यइत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते" इत्युक्त्वा "तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽह्नः" इत्यादिना देवयानवचनात्। "अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्तेदत्तमित्युपासते" इत्युक्त्वा-"ते धूममभिसंभवंति" इत्यादिना पितृयान वचनाच्च "ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयंति चंद्रमसेव ते सर्वे गच्छंति" इत्येदपि वचनं "य इष्टादिकारिणः ते सर्वे" इति परिणेयम्।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्त मत का व्यावर्त्तक है। अनिष्ट कारियों की भी चांद्रमसी गति होती है, है ऐसा कथन उपयुक्त नहीं है, विद्या और कर्म के फलस्वरूप ही देवयान और पितृयान मार्ग से गति होती है।

कथन यह है कि-जैसे कि-अनिष्टकारी, अध्यात्मविद्या की उपासना के बिना देवयान में नहीं जा सकते, वैसे ही-ईष्टापूर्त्तादत्त कर्म के बिना, पितृयान मार्ग से भी चांद्रमसी गति असंभव है। यदि कहें कि- देवयान और पितृयान की विद्या विषयता और पुण्यकर्म विषयता कैसे ज्ञात हुई? दोनों शास्त्रों में ही वर्णन किया गया है। देवयान के लिए उपासना और पितृयान के लिए कर्म का ही उल्लेख है। "जो उन्हें इस प्रकार जानते हैं, अरण्य में जो श्रद्धा पूर्वक तप करके उपासना करते हैं" वे अर्चिरादिगति को प्राप्त कर, दिवसाभिमानी देवता को प्राप्त करते हैं" इत्यादि से देवयान का तथा "जो ग्राम में इष्टापूर्त्तदान से इनकी उपासना करते हैं" वह धूममार्ग को प्राप्त करते हैं" इत्यादि से पितृयान का उल्लेख किया गया है। "जो कोई इस लोक से जाते हैं, वे सब चान्द्रमसी गति ही प्राप्त करते हैं" इस वचन को भी "जो इष्टादिकारी हैं वे सब" इत्यादि की तरह ही समझना चाहिए।

ननु पापकर्मणां चंद्रगमनाभावे पंचमाहुत्यसंभवात् शरीरारंभ एव नोपपद्यते, "पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवंति" इति हि शरीरारंभः श्रूयते, सा चाहुतिश्चंद्र प्राप्तिपूर्विकेति दर्शितम्, अतः शरीरारंभायैव तेषामपि चंद्रारोहावरोहाववश्याभ्युपेत्याविल्यत आह-

तर्क-यदि पाप करने वालों की चान्द्रमसी गति न होगी तो वे पांच आहुतियों को भी न प्राप्त होंगे, फिर उनका शरीरारंभ भी न होगा क्योंकि-"पांचवीं आहुति प्राप्त कर पुरुष नाम वाला होता है" ऐसा शरीरारंभ का वर्णन मिलता है, इसमें चंद्र प्राप्तिपूर्विका आहुति ही दिखलाई। गई है इसलिए शरीरारंभ के लिए, उनका भी चंद्रारोहण अवरोहण स्वीकारना होगा। इस तर्क का परिहार करते हैं—

न तृतीयोपलब्धेः ।३।१।१८॥

तृतीयस्थानस्य शरीरारंभाय न पंचम्याहुत्यपेक्षा, कुतः? तयोपलब्धेः, तृतीयस्थानशब्देन केवलपापकर्माण उच्यन्ते, तेषां देहारंभे पंचमाहुत्यमपेक्षत्वमुपलभ्यते "वेत्थ यथा केनासौ लोको न संपूर्यते" इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचने "अथैतयोः पथोर्नंकतरेण च

तानीमानिक्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनिभूतानिभवंति जायस्वम्रियस्वेत्येतत् तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यंते" इति तृतीय स्थानस्य द्युलोकारोहावरोहाभावेन द्युलोका संपूर्त्तिवचनादस्य तृतीय स्थानस्य शरीरारम्भाय न पंचमाहुत्यपेक्षा। "पंचम्याहुतौ" इति चापां पंचमाग्निसंबंधस्य पुरुषवचस्त्वहेतुत्वमात्रं प्रतिपादयति, नान्यन्निवारयति, अवधारणाश्रवणात्।

तृतीय स्थानीय पापी के लिए पांच आहुतियों की अपेक्षा नहीं होती ऐसा ही शास्त्र में पाया जाता है। तृतीय स्थान शब्द से केवल पाप करने वालों का ही उल्लेख है, उनके लिए पंच आहुतियों की अनपेक्षा का इस प्रकार वर्णन किया गया है—"क्या तुम जानते हो कि-यह द्युलोक भर क्यों नहीं जाता? "इस प्रश्न के उत्तर में-" बार बार आने जाने वाले क्षुद्रव्यक्तियों का इन दोनों में से किसी भी मार्ग से आना जाना नहीं होता, उनकी तो यहीं मरने जीने की तीसरी गति होती, है इसलिए द्युलोक नहीं भरता "ऐसे तृतीय स्थान का उल्लेख किया गया है, जिसमें द्युलोक के गमनागमन का अभाव रहता है इस वचन से तृतीय स्थानीय की. शरीरारंभ में, पंचाहुति अनपेक्षा ज्ञात होती है। "पंचम्यामाहुतावाप:" इत्यादि श्रुति तो केवल पंचाग्नि संबंधी जल को ही, पुरुष के स्वरूप का समुत्पादक सिद्ध करती है, अन्य कारणों का प्रतिषेध भी नहीं करती। श्रुति में ऐसा कोई निश्चयात्मक शब्द भी नहीं है।

स्मर्यंतेऽपि च लोके ।३।१।१९॥

पुण्यकर्मणामपि केषांचित्पंचमाहुत्यनपेक्षया देहारंभोलोके स्मर्यंते द्रौपदीधृष्टद्युम्नप्रभृतीनाम्।

स्मृतियों में-पुण्य करने वालों में भी, किसी किसी का देहारंभ, पांचआहुतियों के बिना बतलाया गया है, द्रौपदी धृष्टद्युम्न आदि का इसी प्रकार का है।

दर्शनाच्च ।३।१।२०॥

श्रुतावपिदृश्यते केषांचित् पंचमाहुत्यनपेक्षयादेहारंभः 'तेषां

खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवंति आंडजंजीवजमुद्भिजम्" इति, एवमुद्भिजस्वेदजयोः भूतयोः पंचमाहुतिमंतरेणोत्पत्तिर्दृश्यते ।

श्रुति में भी किसी किसी का पंचआहुति के बिना देहारंभ दिखलाया गया है–"इन भूतों में तीन ही प्रकार के बीज होते हैं अंडज, जीवज और उद्भिज" उद्भिज स्वेदज की उत्पत्ति, पांच आहुतियों के विना ही दिखलाई गई है ।

ननुस्वेदजानामत्र न संकीर्त्तनमस्ति "त्रीण्येव बीजानि" इति वचनात् तत्राह–

यहाँ स्वेदजों का तो उल्लेख ही नहीं है "त्रीण्येवबीजानि" ऐसा ही उल्लेख है? इसका समाधान करते हैं–

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ।३।१।२१॥

संशोकजस्य-स्वेदजस्यापि "आडजंजीवजमुद्भिजम्" इत्यत्र तृतीयेनोद्भिजशब्देनावरोधः संग्रहो विद्यत इत्यर्थः । अतः केवल पापकर्मणां चंद्रप्राप्तिर्नसंभवति ।

"अण्डजंजीवजमुद्भिजम्" में कही गइ तीसरी उद्भिज सृष्टि में ही स्वेदज का भी, उल्लेख हो जाता है । इस विवेचन से निश्चित होता है कि–केवल पाप करने वालों की, चान्द्रमसी गति नहीं होती ।

४–तत्स्वाभाव्यापत्यधिकरणः—

तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपद्यतेः ।३।१।२२॥

इष्टादिकारिणोभूतसूक्ष्मपरिष्वक्ताः सानुशयाश्चन्द्रमसोऽवरोहं-तीत्युक्तम्, अवरोहप्रकारश्च "अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतमाकाशम् आकाशाद्वायुं, वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमोभूत्वा अभ्रंभवति, अभ्रंभूत्वा मेघोभवति, मेघोभूत्वा प्रवर्षंति" इति वचनात् । "यथेतमनेवं च" इत्युक्तम् तत्रास्याकाशादि प्रतिपत्तौ

देवमनुष्यादिभाववदाकाशादिभावः, उत् तत्सादृश्यापत्तिमात्रमिति विशये श्रद्धावस्थस्यसोमभाववदविशेषादाकाशादिभावः

इष्टादिकारी, भूतसूक्ष्म से परिष्वक्त होकर सानुशय चंद्रमार्ग से अवरोहण करते हैं, तथा अवरोहण का प्रकार "उसी मार्ग से लौटते हैं–आकाश से वायु–वायु से धूम-धूम से अभ्र–अभ्र से मेघ होकर वर्षते हैं इस प्रकार बतलाया गया। इस पर संशय होता है कि–जीव, मनुष्यादि देह की तरह होकर आकाश आदि से होकर आता है अथवा, आकाश आदि सदृशरूप बनकर आता है?. इस पर समझ में आता है कि श्रद्धावस्था में जैसी सोमभाव की प्रप्ति होती है, वैसा ही आकाशादि भाव भी होता है।

सिद्धान्तः– इति प्राप्ते तत्स्वाभाव्यापत्तिरेवेत्युच्यते। तत्स्वाभाव्यापत्तिः, तत्साहदृश्यापत्तिरित्यर्थः। कुत एतत्? उपपत्तेः सोमभावमनुष्यभावदौ हि सुखदुःखोपभोगाय तद्भावः, अत्रत्वाकाशादौ सुखदुःखोपभोगाभावाद तद्भावानुपपत्तेस्तदापत्ति वचनं तत्संसर्गकृततत्सादृश्यापत्यभिप्रायम्।

उक्त संशय पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि–उसकी स्वाभाव्यापत्ति का उल्लेख है, स्वाभाव्यापत्ति का तात्पर्य है तत्सदृशता प्राप्ति। सोमभाव मनुष्यभावादि की प्राप्ति सुखदुःख के उपभोग के लिए ही होती है, आकाशआदि में सुखदुःख के भोग का अभाव रहता है, इसलिए तदापत्ति या आकाश आदि कहने का अभिप्राय यह है कि-आकाश के साथ मिलकर आकाश आदि का सा रूपधारण करता है।

५ नातिचिराधिकरणः—

नातिचिरेण विशेषात् ३।१।२३॥

आकाश प्राप्ति प्रभृति यावद् व्रीह्यादि प्राप्ति किं तत्र तत्र नातिचिरं तिष्ठति, उतानियम इति विशये, नियमहेत्व-भावादनियमः।

सिद्धांतः—इति प्राप्यते उच्यते—नातिचिरेण—इति । कुतः? विशेषात् उत्तरत्र व्रीह्यादि प्राप्तौ "अतोवैखलु दुर्निष्प्रपतरम्" इति विशिष्यकृच्छ्र निष्क्रमणत्वाभिधानात् पूर्वत्र ह्याकाशादिप्राप्तावचिर-निष्क्रमणं गम्यते । दुर्निष्प्रपतरमितिच्छान्दसः त शब्दलोपः दुर्निष्प्रपतरं—दुःखनिष्क्रमणतरमित्यर्थः ।

आकाश आदि प्राप्ति से लेकर धान्य आदि की प्राप्ति तक जीव, थोड़ा ही समय व्यतीय करता है, अथवा उसके समय का कोई नियम नहीं है? इस शंका पर विचार करने पर नियम का कोई हेतु तो समझ में आता नहीं इसलिए अनियम ही होगा ।

इस पर सिद्धान्त रूप से "नातिचिरेण" सूत्र प्रस्तुत करते हैं । इसका तात्पर्य है कि—अधिक समय नहीं लगता, व्रीहि आदि रूप प्राप्ति का जो उल्लेख है, उससे ऐसा ही ज्ञात होता है । "बड़े कष्ट से निकलना होता है" ऐसे विशेष कष्टपूर्ण निष्क्रमण से ज्ञात होता है कि—इसके पूर्व के आकाश आदि रूप का, बहुत थोड़े समय में, निष्क्रमण हो जाता है । "दुर्निष्प्रपतरम्" इस शब्द में वैदिक व्याकरण के अनुसार द्वितीय "त" शब्द का लोप हो गया है, जिससे अर्थ होता है, दुःखपूर्णनिष्क्रमण वाला ।

६ अन्याधिष्ठिताधिकरणः—

अन्याधिष्ठितेपूर्ववदभिलापात् ।३।१।२४।।

अवरोहन्तो जीवाः व्रीह्यादिभावेन जायंत इति श्रूयते-"मेघो भूत्वा प्रवर्षंति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा जायंते" इति । ते किमन्यैर्भोक्तृभिव्रीह्यादिशरीरैरधिष्ठितान् व्रीह्यादीनां श्लिष्यंति उत ते भोक्तारो व्रीह्यादिशरीरा जायंत इति विशये-"जायंते" इति वचनात् देवो जायते मनुष्यो जायते इतिवद् व्रीह्या-दिशरीरा एव-

लौटने वाले जीव, धान्य आदि भाव से उत्पन्न होते हैं —"मेघ होकर वर्षते हैं, वे ही जौ-चावल-औषधि-वनस्पति-तिल-उर्द होकर

होते हैं" इस श्रुति से ज्ञात होता है। इस पर शंका होती है कि–व्रीहि आदि शरीरधारी अन्य जीवों से अधिष्ठित व्रीहि आदि के साथ संश्लेष मात्र होता है, अथवा वे स्वयं ही व्रीहि आदि शरीर में उपभोग करते हैं। इस संशय पर विचारने पर "जायंते" पद के अनुसार तो, "देवो जायते मनुष्यो जायंते" इत्यादि की तरह, व्रीहि आदि शरीरों में ही जन्म लेते हैं ऐसा निर्णय होता है।

सिद्धान्तः--इति प्राप्ते उच्यते-- अन्याधिष्ठिते-- इति। जीवान्तरेणाधिष्ठिते व्रीह्यादि शरीरे तेषां संश्लेषमात्रमेव। कुतः? पूर्ववदभिलापात्--आकाशादिमेघपर्यन्तवत्केवलतद्भावाभिलापात्। यत्र हि भोक्तृत्वमभिप्रेतम्, तत्र तत्साधन भूतंकर्माभिलप्यते "रमणीयचरणाः" "कपूयचरणाः" इति इह चाकाशादिवन्नाभिलप्यते कर्म, फलप्रदाने प्रवृत्तस्य स्वर्गोपभोग्यफलस्येष्टादेः कर्मणः स्वर्गोपभोगादेव समाप्तत्वात्, अनारब्धस्य "रमणीयचरणाः–" कपूयचरणाः" वक्ष्यमाणत्वात् मध्येकर्मान्तराभावाच्च। अत आकाशादि भाववचनवद् व्रीह्यादि भावे तजन्म वचनमौपचारिकम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि–जीव, अन्याधिष्ठित होकर ही लौटता है। व्रीहि आदि के शरीर में उनका संश्लेष मात्र होता है आकाश से लेकर मेघ तक, उनका केवल तद्भाव मात्र बतलाया गया है, जहाँ उनका केवल भोक्तृत्व ही अभिप्रेत है, वहाँ उनके साधन भूत कर्म भी बतलाये हैं "रमणीयचरणाः, कपूयचरणाः" आदि। यहाँ आकाश आदि की तरह साधन रूप कर्म का तो उल्लेख है नहीं। वस्तुतः फलोन्मुख स्वर्गोपभोग्य, शुभ कर्मों की भुक्ति तो, स्वर्गोपभोग से ही समाप्त हो जाती है जिनकर्मों के फल आरंभ ही नहीं होते, "रमणीय चरणाः कपूय चरणाः" श्रुति में, उन्हीं की चर्चा की गई है। इसलिए कोई ऐसा कर्म समझ में नहीं आता कि जिसके फलस्वरूप, जीवों का व्रीहि आदि शरीरी होना माना जाय। आकाश आदि भाव के वचन की तरह, व्रीहि आदि भाव के वचन को भी, औपचारिक समझना चाहिए।

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ।३।१।२५॥

नैतदस्ति–यदन्याधिष्ठते व्रीह्यादिशरीरे संश्लेषमात्रम्, भोक्तृत्व हेत्वभावान्न व्रीह्यादि भावेन जन्म-इति भोक्तृत्वहेतुसद्भावात् स्वर्गोपभोग्यफलमिष्टादिकमेवाशुद्धम्-पापमिश्रम्, अग्नीषोमीयादि-हिंसायुक्तत्वात् । हिंसा च "हिंस्यात् सर्वभूतानि" इति निषिद्धत्वात् पापमेव । न चात्र पदाहवनीयादिवदुत्सर्गापवादभावः संभवति भिन्न विषयत्वात् । अग्नीषोमीयहिंसाविधिर्हिंसायाः क्रतूपकार-कत्वं बोधयति "न हिंस्यात्" इति तु हिंसायाः प्रत्यवाय फलत्वम् ।

व्रीहि आदि में अधिष्ठित जीव का संश्लेष मात्र ही होता है भोक्तृत्व के कारण का अभाव होने से, व्रीहि आदि जन्म नहीं होता । यह कथन ठीक नहीं है । वहाँ पर भोग का कारण रहता है–, स्वर्ग में जिनका फलभोग होता है, वे यज्ञ आदि कर्म ही, अशुद्ध और पापमिश्रित रहते हैं, अग्निसोमीय यज्ञ हिंसायुक्त होते हैं, "प्राणिमात्र की हिंसा मत करो" इत्यादि में हिंसा का निषेध किया है, अतः हिंसा करना पाप ही है । यहाँ पर पदाहवनीयादि की तरह, उत्सर्गापवाद भाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह विषय ही भिन्न है । अग्निषोमीय हिंसा विधि तो, हिंसा की यज्ञोपकारकता की ही बोधक है, "न हिंस्यात्" इत्यादि में तो सामान्यतः हिंसा की पाप जनकता बतलाई गई है ।

अथोच्येत-अग्नीसोमीयादिषु विधितः प्रवृत्तेनैतद्विषयं निषेधविधिरास्कन्दति, रागं प्राप्तविषयत्वात्तस्येति । नैवम्-इहापि रागप्राप्तेरविशिष्टत्वात् । "स्वर्गकामो यजेत्" इत्येवमादौ हि कामिनः कर्त्तव्यतया यागाद्युपदेशाद्यागादेः स्वर्गादिसाधनत्व-मवगम्य फलरागत एव यागादौ प्रवर्त्तते अग्नीषोमीयादिष्वपि तेषांफलसाधनभूतस्य यागादेरुपकारकत्वं शास्त्रादवगम्य रागादेव । प्रवर्त्तते लौकिक्यामपि हिंसायां केनचित् प्रमाणेन हिंसायाः स्व

समीहित साधनत्वमवगम्य रागात् प्रवर्त्तंत इति न कश्चन् विशेषः तथा नित्येऽप्यपिकर्मसु "सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परम परिमितं सुखम्" इत्यादि वचनात् फलसाधनत्वमवगम्य रागादेव प्रवृत्तिरिति तेषामप्यशुद्धि युक्तत्वम्। अत इष्टादीनां पापमिश्रत्वेनाशुद्धियुक्तानां स्वर्गेऽनुभाव्यंफलं स्वर्गेऽनुभूयहिंसाशस्यफलं व्रीह्यादिस्थावरभावेनानुभूयते स्थावरभावं च पापफलं स्मरंति-" शरीर जैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः" इति। अतो व्रीह्यादिभावेन भोगायानुशयिनो जायंत इति चेत्।

यदि कहें कि अग्नीषोमीय आदि हिंसा कार्य में, जो लोगों की प्रवृत्ति होती हैं वह शास्त्र विधि सम्मत है, अतः "न हिंस्यात्" वाक्य उस वैध प्रवृत्ति का बाधक नहीं हो सकता, इस वाक्य में तो, रागवश या स्वाभाविक हिंसा का ही निरोध किया है। सो ऐसी बात नहीं है- यहाँ भी राग के अतिरिक्त कोई विशेष बात नहीं है। "स्वर्ग कामोयजेत्" इत्यादि वाक्यों में, सकाम व्यक्तियों के लिए जो कर्त्तव्य रूप से याग का उपदेश दिया गया है, जिससे कि लोग, स्वर्ग प्राप्ति की कामना से ही, याग आदि कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। अग्नि सोमीयआदि में भी, फल प्राप्ति की ही कामना रहती है। लौकिकी हिंसा में भी, किसी न किसी अंश में, अपनी अभीष्ट फलसिद्धि मानकर ही, रागपूर्वक हिंसा प्रवृत्ति है, वैदिक हिंसा में, इससे विशेष कोई बात नहीं समझ में आती। वैसे ही नित्यकर्मों में भी "अपने धर्मानुष्ठान में सभी वर्णों को अपरिमित सुख होता है" इत्यादि से फल साधनता की अवगति होने पर ही, राग वश लोगों की स्वकर्म में प्रवृत्ति होती है। नित्यकर्म भी, सकाम होने से अशुद्ध ही समझे जावेंगे। यज्ञ आदि, अनुष्ठान तो, सकाम होने से, पाप-अशुद्ध हैं ही, उनका फल स्वर्ग में अनुभूत हो जाने पर, अवशिष्ट हिंसा के फल को भोगने के लिए, व्रीहि आदि स्थावर शरीरों की प्राप्ति होती है। जिनमें उस फल का भोग हो जाता है स्थावर भाव, पाप के फल स्वरूप ही होता है, ऐसा स्मृति का प्रमाण भी है-"शारीरिक कर्म के दोषों से मनुष्य स्थावर होता है" इत्यादि इससे सिद्ध होता है कि- जीव,

चन्द्रलोक से, भोगानुशायी होकर लौटते समय, व्रीहि आदि स्थावर योनियों में, उत्पन्न होता हुआ आता है।

तन्न, कुतः? शब्दात्— अग्नीसोमीयादेः संज्ञपनस्य स्वर्गलोक प्राप्ति हेतुतया हिंसात्वाभावः, शब्दात्। पशोर्हि संज्ञपन निमित्तां स्वर्गलोक प्राप्तिवदंतं शब्दमामनंति "हिरण्यशरीर ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकमेति" इत्यादिकम्। अतिशयिताभ्युदयसाधनभूतोव्यापारोऽल्प दुःखदोऽपि न हिंसा, प्रत्युत रक्षणमेव। तथा च मंत्रवर्णः—"न वा उ एतस्मिनम्रियसे न रिष्यसि देवान इदेषि पथिभिः सुगेभिः। यत्र यंति सुकृतो नापि दुष्कृतस्तत्रत्वा देवः सविता दधातु" इति। चिकित्सकं च तादात्विकाल्पदुखकारिणमपि रक्षकमेव वदंति, पूजयंति च तज्ज्ञाः।

जैसा तर्क उपस्थित किया गया, बात वैसी नहीं है-उक्त मत शास्त्र सम्मत नहीं है। अग्नीसोमीय आदि जो हिंसा की विधि है, वह स्वर्ग लोक की प्राप्ति का हेतु है, इसीलिए उसे अहिंसा शब्द से प्रयोग किया गया है। पशु के विधिपूर्वक बध करने पर स्वर्गलोक की प्राप्ति का स्पष्ट उल्लेख, श्रुति में है "हिरण्य (स्वर्णमय) शरीर धारण करके, ऊर्ध्वगामी स्वर्गलोक प्राप्त करता "इत्यादि। अत्यंत अभ्युदय की साधन रूपा क्रिया, थोड़ी दुःखदायी भी हो तो उसे हिंसा नहीं कहते अपितु वह रक्षण ही है। वैदिकमंत्र में भी जैसे—"हे पशु। इस प्रकार के बध से तुम मरते नहीं, और न हिंसित ही होते हो, तुम सरल रीति से देवमार्ग को प्राप्त ही रहे हो। जहाँ पुण्यवान् ही जाते हैं, पापी नहीं जाते, उस स्थान में सवितादेव तुम्हें पहुँचावें। "इत्यादि चिकित्सक भी, चिकित्सा के समय रोगी को थोड़ा बहुत दुःख देते ही हैं फिर भी, समझदार लोग उन्हें रक्षक कहकर पूजते हैं।

रेतः सिग्योगोऽथ ।३।१।२६॥

इतश्चौपचारिकं व्रीह्यादिजन्मवचनं, व्रीह्यादिभाववचनानंतरं "योह्यन्नमत्ति योरेतः सिंचति तद्भूय एव भवति" इति रेतः

सिग्भावोऽनुशयिनां श्रूयमाणो यथा तद्योगमात्रं प्रतिपादयति, तद्वद् व्रीह्यादिभावोऽपीत्यर्थः ।

व्रीहि आदि के जन्म की बात तो औपचारिक ही है, व्रीहि आदि भाव के बोधक वाक्यों के बाद "जो जो अन्न खाते हैं जो रेतसिंचन करते हैं बहुलांश में वही होते हैं" इत्यादि श्रुति में, दिखलाया गया है कि– शुक्र सिञ्चनभाव से जीव का, रेत सिंचक के साथ जैसा संबंध होता है, व्रीहि आदि भाव में भी वैसा ही संश्लेष होता है ।

योनेः शरीरम् ३।१।२७॥

योनि प्राप्तेः पंचादेवानुशयिनां शरीर प्राप्तिः, तत्रैव सुखदुःखोपभोग सद्भावात् । ततः प्रागाकाशादि प्राप्ति प्रभृति तद्योगमात्रमेवेत्यर्थः ।

कर्मभोगानुशायी जीवों को, योनि से ही शरीर प्राप्ति होती है, तभी सुखःदुःख उपभोग होते हैं उसके प्रथम आकाश आदि में तो केवल जीव का योग मात्र होता है ।

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

१ संध्याधिकरणः—

संध्ये सृष्टिराह हि ।३।२।१॥

एवं कर्मानुरूपगमनागमनजन्मादियोगेन जाग्रतो जीवस्य दुःखित्वं स्थापितं इदानीमस्य स्वप्नावस्था परीक्ष्यते । स्वप्नमधिकृत्य श्रूयते-"न तत्र रथा न रथयोगा न पंथानो भवंति, अथा रथान् रथयोगान् पथः सृजते न तत्रानंदा मुदः प्रमुदो भवंति, अथानंदान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवंत्यो भवंति, अथ वेशान्ता पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्त्ता" इति तत्र संशयः, किमयं रथादिसृष्टिर्जीवेनैव क्रियते, आहोस्विदीश्वरेण? इति किं युक्तम्? संध्येसृष्टिर्जीवेनेति । कुतः? संध्यं स्वप्नस्थानमुच्यते "संध्यं तृतीयंस्वप्नस्थानमिति वचनात् । सा तु जीवेनैव क्रियते "सृजते स हि कर्त्ता" इत्यादि हि । स्वप्नदृग्जीव एव तत्र प्रतीयते ।

कर्मानुरूप आवागमन जन्म आदि योग से जाग्रत जीव को, दुःख प्राप्ति बतला दी गई । अब जीव की स्वप्नावस्था का विश्लेषण करते हैं । स्वप्न के विषय में श्रुति में कहा गया है कि-"न वहाँ रथ, न रथ का संसर्ग, न मार्ग होते हैं, अपितु, रथ, अश्व, मार्ग आदि की सृष्टि करता है । न वहाँ आनंद, मोद और प्रमोद ही रहते हैं, अपितु आनंद- मोद-प्रमोद की सृष्टि करता है । वहाँ छोटे जलाशय, पुष्करिणी और नदियाँ भी नहीं होतीं, अपितु वेशांत, पुष्करिणी और नदियों की सृष्टि करता है। वही उसका कर्त्ता है ।" इस पर संशय होता है कि-यह सृष्टि जीव कृत है अथवा ईश्वर कृत? विचार करने पर सन्ध्य कृत सृष्टि जीव कृत ही ज्ञात होती है । संधि स्वप्न स्थिति को ही कहते हैं-"संध्या तीसरा स्वप्नस्थान

है" इत्यादि। 'जो रचे सो कर्त्ता" इस वाक्य से स्वप्न को देखने वाला जीव ही, स्वप्न सृष्टि का कर्त्ता प्रतीत होता है।

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ।३।२।२॥

किंच--एनं जीवं स्वप्ने कामानां निर्मातारमेके शाखिनोऽधीयते "य एषु सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" इति, पुत्रादयश्च तत्र काम्यमानतया कामशब्देन निर्दिश्यंते, नेच्छामात्रम्, पुवत्र हि "सर्वान् कामान् छंदतः प्रार्थयस्व" "शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व" इति पुत्रादय एव कामाः प्रकृताः। अतो रथादीन् जीवः स्वप्ने सृजति जीवस्य च सत्यसंकल्पत्वं प्रजापति वाक्ये श्रुतम्, अतः उपकरणाद्यभावेऽपि सृष्टिरुपपद्यते।

किसी किसी वेद की शाखा में जीव को स्वप्नदृश्य "कामों" का निर्माता भी कहा गया है-"नाना प्रकार के भोगों का निर्माण करने वाला पुरुष सोता हुआ भी जागता है"। पुत्र आदि ही वहाँ पर काम्य वस्तुओं के रूप में निर्देश किये गये हैं, केवल इच्छा मात्र ही, उसका अभिप्राय नहीं है। उक्त वाक्य के पूर्व के वाक्य में कहा गया है कि-"सभी कामों को इच्छानुसार मांग लो "सैकड़ों वर्षों की आयु वाले पुत्र पौत्रों को मांग लो" इनमें पुत्रादि को ही काम रूप से बतलाया गया है। इससे निश्चित होता है कि-रथ आदि की स्वप्न रचना जीव ही करता है। जीव की सत्यसंकलपता भी, श्रुति के प्रजापतिवाक्य में कही गई है। इसलिए बिना साधन के भी जीव में सृष्टि रचना की क्षमता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्तेऽभिधीयते

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात् ।३।२।३॥

तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, स्वप्नरथपुषकिरिण्याद्यर्थजातं मायामात्रं परं पुरुषसृष्टमित्यर्थः। मायाशब्दोहि आश्चर्यवाची "जनकस्य कुलेजातादेवमायेवनिर्मिता" इत्यादिषु तथा दर्शनात्। अत्रापि—"न तत्र रथा, न रथयोगा न पंथानः" सकलेतरपुरुषानु-

भाव्यतया न भवंतीत्यर्थः। "अथरथान् अथयोगान्पथः सृजते" स्वप्नदृगनुभाव्यतया तत्काल मात्रावसानान् सृजत् इत्याश्चर्यरूपत्वमेवाह एवं विधाश्चर्यरूपा सृष्टिः सत्यसंकल्पस्य परमपुरुषस्यैवोपपद्यते, न जीवस्य, तस्य सत्यसंकल्पत्वादि युक्तस्यापि संसारदशायाम् कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वान्न जीवस्य तथाविधाश्चर्यसृष्टिरूपपद्यते।

तु शब्द, पक्ष का निवारक है। स्वप्नदृष्ट रथपुष्करिणी आदि केवल माया मात्र हैं जो कि-परमपुरुष की ही सृष्टि है। मायाशब्द आश्चर्यवाची है जैसा कि-"जनक के कुल में देवमाया ने ही मानों जन्म लिया" इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है। स्वप्न प्रसंग में भी-"न रथा" इत्यादि में जिन वस्तुओं का वर्णन किया गया है, वो साधारण पुरुषों के अनुभव में न आने वाली दुर्लभ वस्तुएं है। यही दिखलाया गया है। 'रथ घोड़े मार्ग आदि की सृष्टि करता है" इत्यादि स्वप्न में दृष्टिगत ये वस्तुएं, उस कालमात्र में ही समाप्त हो जाती हैं, यह आश्चर्य की ही बात है। ऐसी आश्चर्यमयी सृष्टि सत्यसंकल्प परमात्मा द्वारा ही संभव है, जीव द्वारा नहीं। जीव सत्यसंकल्प होते हुए भी; संसारदशा में उसका वह गुण पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं रह पाता इसलिए आश्चर्यमयी स्वप्न सृष्टि उससे स्वयं संभव नहीं है।

"कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" इति च परमपुरुषमेवनिर्मितार-माह-"य एषु सुप्तेषु जागर्ति" तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मतदेवामृतमुच्यते, तस्मिन्लोकाःश्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन् "इत्युपक्रमोपसंहारयोः परमपुरुषासाधारण स्वभाव प्रतीतेः। अथ "वेशान्तान पुष्करिण्यः स्रजन्त्यः सृजते स हि कर्त्ता" इति च तयां श्रुत्यैकार्थ्यात् परमपुरुषमेव कर्त्तारमाह।

"कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" इत्यादि वाक्य भी, परमपुरुष परमात्मा के लिए ही, कहा गया है तथा "जो यह सोने पर भी जागता है" "वही परं विशुद्ध तत्त्व, परं ब्रह्म अमृत कहलाता है, उसी में संपूर्ण लोक

आश्रित रहते हैं, उसे कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता" ऐसे उपक्रमोप संहार वाक्यों से भी, परमपुरुष परमेश्वर के असाधारण स्वभाव की प्रतीति होती है। "छोटे-छोटे कुंड और शरोवर नदी आदि की जो रचना करता है, वही उसका कर्त्ता है" इस श्रुति पूर्व और श्रुति की एकवाक्यता होने से, स्वप्न सृष्टि, परमपुरुष की ही कृति निश्चित होती है।

स्वाभाविमं चेज्जीवस्वयापहृतपाप्मत्वादिकं, कुतस्तन्नाभिव्यज्यत् इत्यत् आह—

निर्दोषता आदि धर्म यदि जीव के स्वाभाविक गुण हैं तो स्वयं प्रकाशित क्यों नहीं हो पाते? इस पर कहते हैं—

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्यबंधविपर्ययौ ।३।२।४।।

तु शब्दः शंकाव्यावृत्यर्थः, पराभिध्यानात्-परमपुरुषसंकल्यात् अस्य जीवस्य स्वाभाविकंरूपं तिरोहितम्। अनादिकर्मपरम्परया कृपापराधस्य ह्यस्य स्वाभाविकं कल्याणरूपं परमपुरुषस्तिरोधापयति, ततः सत्यसंकल्पादेव हि अस्य जीवस्य बंधमोक्षौ श्रुतौ "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति "एषह्येवानंदयति" "भीषाऽस्माद्वातः पवते" इत्यादिषु।

तु शब्द शंका का निवारक है। पराभिध्यान अर्थात् परं पुरुष के संकल्प से इस जीव का स्वाभाविक रूप तिरोहित रहता है। अनादि कर्म परम्परा से अपराध करने वाले इस जीव के स्वाभाविक कल्याणमय रूप को, परमात्मा तिरोहित कर देते हैं, उस परमात्मा के सत्यसंकल्प से ही जीव का बंधन मोक्ष होता रहता है, ऐसा श्रुति का मत है—"जब कभी यह जीव, अदृष्ट, निराकार, अकथ्य, स्वाश्रय, परब्रह्म परमात्मा में निर्भयता पूर्वक, स्थिति प्राप्त करता है, तब वह अभयपद को प्राप्त कर लेता है। जब तक यह थोड़ा भी परमात्मा से वियुक्त रहता है, तब तक उसे भय होता रहता है" यह परमात्मा ही सबको आनंद प्रदान करते हैं "इन्ही के भय से पवन चलता है "इत्यादि।

देहयोगाद्वा सोऽपि ।३।२।५।।

सोऽपि तिरोभावो देहयोगद्वारेण वा भवति, सूक्ष्माचिच्छक्ति योगद्वारेण वा, सृष्टिकाले देहावस्थेनाचिद्वस्तुना संयोगाद् भवति प्रलयकाले नामरूपविभागानर्हातिसूक्ष्माचिद् न वस्तुयोगात् । अतोऽनभिव्यक्तस्य रूपत्वात् स्वप्ने जीवोरथादीन् संकल्पमात्रेण स्रष्टुं शक्नोति । "तस्मात्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन् "इति सर्वेषु सुप्तेषु जागरणं सर्वलोकाश्रयत्वमित्यादयो हि परमपुरुषस्यैव संभवंति । अतो जीवानामल्पाल्पकर्मानुगुणफलानुभवार्थं तावन्मात्रकालावसानान् तदेकानुभाव्यानर्थानुत्पादयति ।

जीव का स्वरूप तिरोभाव, देहयोग और सूक्ष्मजडशक्ति द्वारा होता है । सृष्टि के समय, देह में स्थित जड़ वस्तु के संयोग से होता है, और प्रलय काल में नामरूप से अविभक्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म जड़ वस्तु के योग से होता है । इसलिए निर्दोषता आदि अनभिव्यक्त स्वरूप वाला जीव, स्वप्न में; संकल्प मात्र से रथ आदि सृष्टि कर ले ऐसा संभव नहीं है । "उसी में संपूर्ण लोक आश्रय पाते है,उसे कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता" इत्यादि में जो विशेषतायें बतलाई गई हैं, वह परमपुरुष परमात्मा में ही संभव हैं । सूक्ष्मातिसूक्ष्म कर्मों के अनुसार, फलों का भोग कराने के लिए उतने ही समय में समाप्त होने वाले, एकमात्र जीव के अनुभव में आने वाले स्वाप्निक पदार्थों, की, . परमात्मा सृष्टि करते हैं; ऐसा ही निश्चित होता है ।

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।३।२।६।।

इतश्चस्वा प्राअर्थान जीवसंकल्पपूर्वकाः, यतः स्वप्नोऽभ्युदयानभ्युदयोः सूचकः श्रुतेरवगम्यते"यदाकर्मसुकाम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति समृद्धि तत्र जानीयात् तश्मिन्स्वप्ननिदर्शने"इति"अथस्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदंतंपश्यति स एनं हंति "इत्यादेश्च । स्वप्नाध्यायविदश्च स्वप्नं शुभाशुभयोः सूचकमाचक्षते । सूचकत्वं च स्वसंकल्पायत्तस्य

नोपपद्यते, · तथाचाशुभस्यानिष्टत्वाच्छुभस्यसूचकमेव सृष्ट्वा पश्येत् अतः स्वप्ने सृष्टिरीश्वरेणैव कृता ।

इसलिए भी स्वाप्न विषय, जीव के संकल्पित नहीं हो सकते-कि श्रुतियों में- अभ्युदय और पतन के सूचक स्वप्नों का उल्लेख है जैसे कि- "जब किसी अनुष्ठान में संलग्नव्यक्ति, स्वप्न में स्त्री का दर्शन करता है तो उससे उसकी समृद्धि समझनी चाहिए" तथा "स्वप्न में यदि, काले दांत वाले काले पुरुष का दर्शन होता है तो वही पुरुष स्वप्न दृष्टा को मारता है" इत्यादि । स्वप्नाध्याय के ज्ञाताओं ने, स्वप्न को शुभाशुभ सूचक कहा है । यह वस्तु अपने संकल्प के अधीन नहीं होती, अशुभता तो किसी को अभीष्ट होती नहीं, इसलिए शुभ सूचक स्वप्न की ही सृष्टि करके स्वयं देखने की बात समझ में नहीं आती । इससे स्वप्न सृष्टि परमात्मा की सिद्ध होती है ।

२ तदभावाधिकरणः--

तदभावोनाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।३।२।७॥

इदानीं सुषुप्ति स्थानं परीक्ष्यते । इदमाम्नायते--"यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति आसु तदानाडीषु सुप्तो भवति" इति तथा--"अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाडयो द्वासप्तति सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठंते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते" इति तथा--"यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति" इति । एवं नाड्यः पुरीतत् ब्रह्म च सुषुप्तिस्थानत्वेन श्रूयंते, किमेषा विकल्पः समुच्चयोवेत्ति विशये निरपेक्षत्वप्रतीतेः युगपदनेकस्थानवृत्त्यसंभवाच्च विकल्पः ।

अब सुषुप्ति अवस्था पर विचार करते हैं । ऐसी श्रुति है कि-"ये जीव, जिस, समय इन्द्रिय संबंध से रहित होकर एवं पूर्ण प्रसन्नता प्राप्तकर, किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखता तब इन नाडियों में सोता है" "जब वह सोता है तब उस समय वह किसी के विषय में कुछ नहीं जानता,

बहत्तर हजार हिता नाड़ियाँ जो कि-हृदय के पुरीतत स्थान से निकलती हैं उन्हीं के द्वारा चलकर वह पुरीतत में जाकर विश्राम करता है "पुरुष जिस समय सोता समझा जाता है, उस समय वह सद्ब्रह्म से संसक्त रहता है "इत्यादि वाक्यों में-नाडियाँ, पुरीतत और ब्रह्म को सुषुप्ति स्थान बतलाया गया है। अब संशय होता है कि-तीनों ही सुषुप्ति स्थल हैं अथवा इसमें से कोई एक है? विचार करने पर ऐसा समझ में आता है कि-एक ही समय में अनेक स्थानों में रहना तो संभव है नहीं, तीनों एक दूसरे से सापेक्ष भी नहीं प्रतीत होते, इसलिए इनमें से किसी एक ही में स्थिति हो सकती है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते-तदभावः, इति। तदभाव-स्वप्नाभावः सुषुप्तिः, नाडीषुपुरीतत्यात्मनि च भवति, एषां स्थानानां समुच्चय इत्यर्थः। कुतः? तच्छ्रुतेः त्रयाणां स्थानत्व श्रुतेः। न च कार्यभेदेन समुच्चये संभवति, पाक्षिकबाधगर्भविकल्पोन्याय्यः। संभवति च प्रासादखट्वापर्यंकवन्नाड्यादीनां कार्यभेदः। तत्रनाडीपुरीततौ प्रासादखट्वास्थानीयौ, ब्रह्म तु पर्यंकस्थानीयम्। अतोब्रह्मैव साक्षात् सुषुप्तिस्थानम्।

उक्त संशय पर सिद्धान्त कहते हैं कि-स्वप्न का अभाव ही निद्राहै-सुषुप्ति तीनों स्थानों में होती है, ऐसी श्रुति की विज्ञप्ति है। कार्य में भेद होने से ही समुच्चय नहीं होता, एककार्यता होने से ही समुच्चय संभव है, किसी एक की कल्पना करना उचित नहीं है। ऐसा करने से पाक्षिक बाध होगा। इन तीनों में महल, खाट, गोद का सा भेद है। नाडी और पुरीतत को महल और खाट समझना चाहिए तथा ब्रह्म की गोद में ही शयन समझना चाहिए। ब्रह्म ही साक्षात् सुषुप्ति स्थान है।

अतः प्रबोधोऽस्मात् ।३।२।८॥

यतो ब्रह्मैव साक्षात्सुषुप्तिस्थानम्, अतः-अस्मात् ब्रह्मणः एषां जीवानां प्रबोधः श्रूयमाण उपपद्यते-"स त आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे" इत्यादिषु।

जैसे कि– ब्रह्म को ही साक्षात् सुषुप्ति स्थान कहा गया है वैसे, ब्रह्म से ही, जीवों के जागरण की बात भी कही गई है। "सत् ब्रह्म के निकट से लौटने पर, जीव नहीं समझ पाता कि मैं सत् के पास से आ रहा हूँ "इत्यादि।

३ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्याधिकरण:–

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ।३।२।९।।

किं सुषुप्त एव प्रबोध समये उत्तिष्ठति उतान्यः? इति संशये अस्य सकलोपाधिविनिर्मुक्तस्यब्रह्मणि संपन्नस्य मुक्तादविलक्षणत्वेन प्राचीनशरीरेन्द्रियादिसंबंधाभावादन्यः ।

क्या सोने वाला ही, जागता है, या कोई और जागता है? इस पर विचारने से, समझ में आता है कि–सुषुप्त व्यक्ति जब संपूर्ण उपाधियों से रहित ब्रह्म से संसक्त रहता है तो वह मुक्त पुरुष से तो किसी प्रकार कम है नहीं, क्योंकि–वह प्राक्तन शरीर इंद्रिय आदि से रहित हो जाता है। इसलिए जागने वाला कोई अन्य ही हो सकता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते–"स एव तु" इति। तुशब्द पक्षं व्यावर्त्तयति, एवोत्तिष्ठति, कुतः ? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः। कर्मं तावत्सुषुप्तेन पूर्वंकृतं पुण्यपापरूप तत्त्वज्ञानात्प्राक्तेन नैव भोक्तव्यम्। अनुस्मृतिरपि–"य एताहं सुप्तः स एव प्रबुद्धोऽस्मि" इति। शब्दोऽपि सुषुप्तप्रबुद्धः स एवेति दर्शयति–"त इह व्याघ्रो वा, सिंहो वा, वृको वा वराहो वा, कीटो वा, पतंगो वा, दंशो वा, मशको वा यद्यद् भवंति तथा भवंति" इति। विधयश्च मोक्षार्थः सुषुप्तस्य मुक्तत्वेऽनर्थकाः स्युः। न चासौ सर्वोपाधिविनिर्मुक्त आविर्भूत स्वरूपः "तद् यत्रैतत् सुषुप्तः" इति सुषुप्तं प्रकृत्य" नाहं खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाश मे वाणीतो भवति नाहमत्रं भोग्यं पश्यामि" इति वचनात्। मुक्तस्य च–"परं ज्योतिरुपसंपद्यस्वेन रूपे-

णाभिनिष्पद्यते" स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः "स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" "सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" इति सर्वज्ञत्वादि श्रूयते। अतः सुषुप्तः संसरन्नेव आयस्तसर्वकरणो ज्ञानभोगाद्यशक्तो विश्रामस्थानं परमात्मानमुपसंपद्याश्वस्तः पुनर्भोगायोत्तिष्ठति।

उक्त संशय पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि–वही उठता है। तु शब्द उक्त तर्क का निवारक है। कर्म-अनुस्मृति–शब्द और विधि से, उसी की उठने की बात सिद्ध होती है। सुषुप्त व्यक्ति को जब तक तत्त्व ज्ञान नहीं होता, तब तक, पुण्यपापरूप पूर्वकृत कर्म, उसे भोगने ही पड़ेंगे, ऐसी कर्मसंबंधी व्यवस्था है। " जो मैं सोया था, वही मैं उठ आया " ऐसी जगने वाले व्यक्ति की पूर्वानुस्मृति होती है। सोना और जागना एक ही व्यक्ति का होता है, ऐसा श्रुति शब्दों से भी ज्ञात होता है, जैसे कि-" जो जो सोने के पूर्व, व्याघ्र-सिंह-वृक-वाराह-कीट-पतंग-मच्छर आदि देखे जाते हैं, जागने बाद उनकी वैसे ही अनुभूति होती है।" इत्यादि सुषुप्ति से ही यदि मुक्ति होजाती तो, मोक्षविधायक शास्त्रों की सार्थकता ही समाप्त हो जाती है। यह जीव सुषुप्ति के समय, उपाधियों से रहित आविर्भूत स्वरूप नहीं रहता। "जीव जिस समय सोता है" ऐसी उसकी सुषुप्ति बतलाकर-" उस समय वह जीव " मैं ऐसा हूँ " ऐसी अनुभूति नहीं कर पाता दृश्य मान पदार्थों को भी नहीं जानता, विनष्ट पदार्थों को भी नहीं जानता, मेरी लिए भोग्य क्या है, उसे ऐसा भान भी नहीं रहता" इत्यादि में उसकी तात्कालिक परिस्थिति का विवेचन किया गया है। मुक्त रूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है- " परम ज्योति को प्राप्त कर अपने ज्योतिर्मय रूप में अभिव्यक्तहोता है।" वह मुक्त पुरुष उस अवस्था मेंभक्षण-क्रीडा-और रमण करता हुआ विचरण करता है "वह स्वच्छंद हो जाता है, उसकी सभी लोकों में अप्रतिहत गति हो जाती है।" "तत्त्वदर्शी सब कुछ देखता है और सब कुछ प्राप्त कर लेता है" इत्यादि में मुक्त पुरुष की ही सर्वज्ञता का उल्लेख किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि–सुषुप्त व्यक्ति संसारी होते हुए भी, समस्त इन्द्रियों की चेष्टाओं से रहित, विषयों की उपलब्धि और भोग आदि से असक्त

होकर विश्रामस्थल परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर, आश्वस्त होता है, और पुनः भोग के लिए उठ बैठता है।

मुग्धाधिकरण :—

४ मुग्धेऽर्ध संपत्तिः परिशेषात् ।३।२।१०॥

मुग्धमधिकृत्य चिंत्यते, किमियं मूर्च्छा सुषुप्त्यादिष्वन्यतमावस्था, उतावस्थान्तरमिति विशये सुषुप्त्यादीनां अन्यतमावस्थायामेव मूर्च्छा प्रसिद्धि उपपत्तेरवस्थान्तरकल्पने प्रमाणाभावादन्यतमावस्था।

अब मूर्छा पर विचार करते हैं, विचार होता कि यह मूर्छा क्या सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का ही कोई प्रकार है अथवा, कोई स्वतंत्र अवस्था है? इस पर समझ में तो ऐसा आता है कि– सुषुप्ति आदि किसी एक में ही, इसका अन्तर्भाव हो सकता है, इसकी पृथक कल्पना करने का कोई कारण समझ में नहीं आता, यह उन्हीं में कोई एक अवस्था है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते—"मुग्धेऽर्धसंपत्तिः" इति। मुग्धे पुरुषे यातस्यावस्था सा मरणायार्धसंपत्तिः। कुतः? परिशेषात्-न तावत् स्वप्नजागरौ, ज्ञानाभावात्। निमित्तवैरूप्यादाकारवैरूप्याच्चैव न सुषुप्तिमरणे निमित्तं हि मूर्छाया अभिघातादिः। परिशेष्यात् मरणायार्धसंपत्ति मूर्छा, मरणं हि, सर्वप्राणदेहसंबंधोपरतिः, सूक्ष्म प्राणदेह संबंधावस्थिति मूर्छा।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि–मूर्छा आधी मृत्यु है। मुग्ध पुरुष की जो अवस्था होती है वह मरण की आधी अवस्था होती है। स्वप्न और जागृति में तो उसका अन्तर्भाव कर नहीं सकते, क्योंकि–इसमें ज्ञान का अभाव रहता है। कारण की विभिन्नता और आकृति की विभिन्नता से इसे सुषुप्ति और मरण में भी अंतर्भाव नहीं कर सकते। सांघातिक चोट आदि मूर्च्छा के कारण होते हैं। इसलिये मूर्च्छा को सबसे भिन्न ही मानना चाहिए, वह मरण की अर्द्ध अवस्था है। मरणावस्था में

समस्त प्राणों सहित जीव का संबंध विच्छेद हो जाता है। मूर्छा में, जीव की, प्राणों की सूक्ष्म अवस्था सहित, देहस्थिति रहती है।

५. उभयलिंगाधिकरण :—

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिंगं सर्वत्र हि।३।२।११॥

दोष दर्शनाद् वैराग्योदयाय जीवस्यावस्थाविशेषा निरूपिताः, इदानीं ब्रह्मप्राप्तितृष्णा जननाय प्राप्यस्य ब्रह्मणोनिर्दोषत्व कल्याण गुणात्मकत्व प्रतिपादनायारभते। तत्रजागरस्वप्नसुषुप्तिमुग्ध्युत्क्रांतिषु स्थानेषु तत्तत्स्थान प्रयुक्ता जीवस्य ये दोषाः ते तदंतर्यामिणः परस्य ब्रह्मणोऽपितत्रतत्रावस्थितस्य संति नेति विचार्यंते। किं युक्तम् ? संतीति, कुतः ? तत्तादवस्थशरीरेऽवस्थानात्।

अवस्थागत दोषों की अवगति से वैराग्य का उदय होता है, इस लिए सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का वर्णन किया गया। अब ब्रह्म प्राप्ति की तृष्णा को बढ़ाने के लिए, प्राप्य ब्रह्म, के निर्दोषता, कल्याण-गुणमयता आदि गुणों के प्रतिपादन का प्रयास करते हैं। जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति-मूर्छा और मृत्यु आदि अवस्थाओं के दोष जीव में संचरित होते हैं, वे सब परमात्मा में भी होते हैं या नहीं ? ऐसा संशय होता है। कह सकते हैं कि-होते हैं क्योंकि-उन अवस्थाओं, में शरीर में उसकी भी तो स्थिति रहती है।

ननु "संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्" स्थित्यदनाभ्यां च "इत्यादिषु परस्याकर्मवश्यत्वेन दोषाभाव उक्तः, तत्कथमकर्मवश्यस्य परस्यब्रह्मणः तत्तत्स्थानसंबंधाद् दोष उच्यते; इत्थमुच्यते-कर्मा-ण्यपि देहसंबंधमापादयन्त्यपुरुषार्थं जननानि भवंति, इति। "देह-योगाद्वा" इत्यत्रोक्तम् तच्च देहसंबंधस्यापुरुषार्थत्वेन भवति। इतरथा कर्माण्येव दुःखं जनयिष्यंति। किम् देहसंबंधेन, अतोऽकर्मवश्यत्वे सत्यपि नानाविधाऽशुचिदेहसंबंधोऽपुरुषार्थ एव, अतस्तन्नियमनार्थं स्वेच्छया तत्प्रवेशेऽप्यपुरुषार्थसंबंधोऽवर्जनीयः, पूयशोणितादि मज्जनं

हि स्वेच्छाकारितमप्यपुरुषार्थं एव। अतो यद्यपि जगदेककारणं सर्वज्ञत्वादिकल्याणगुणाकरं च ब्रह्म, तथापि "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" य आत्मनि तिष्ठन्" यश्चक्षुषि तिष्ठन् "यो तेजसितिष्ठन्" इत्यादि वचनात् तत्रतत्रावस्थितस्य तत्तत्संबंधरूपापुरुषार्थाः संति इति।

प्रश्न होता है कि—"संभोग प्राप्तिरिति" तथा "स्थित्यदनाभ्यां च" इत्यादि सूत्रों से जब, परब्रह्म की कर्मवशता संबद्ध दोषों का अभाव बतला चुके, तब उन अवस्थाओं से संबद्ध परब्रह्म को उन अवस्थाओं के दोषों से संसक्त कैसे कहा जा सकता है? ऐसे कह सकते हैं कि—कर्मों में, देह संबंध को स्थापित करने पर, पुरुषार्थ संपादन की क्षमता नहीं होती ऐसा "देहयोगाद्वा" सूत्र से सिद्ध कर चुके हैं। वे कर्म देहसंबंधित होने से अपुरुषार्थ जनक होते हैं। वे कर्म ही जब दुःख जनक होते हैं, इसलिए देह संबंध से क्या होता है? जैसे कि-यह विचार समीचीन है, वैसे ही, कर्मवश न होते हुए भी, विविध अपवित्रताओं से संबद्ध शरीर से संबंधी होने से अपुरुषार्थता (दुःख) होना स्वाभाविक ही है। उस शरीर को नियमन करने के लिए, स्वेच्छा से उसमें प्रवेश, करने पर, शारीरिक दुःखों का संश्लेष भी अनिवार्य होजाता है, पूयशोणित आदि में, स्वेच्छा से प्रवेश करना भी तो, अपुरुषार्थ (दुःख) है। यद्यपि ब्रह्म, जगत् के एक मात्र कारण, सर्वज्ञता आदि कल्याणमय गुणों के भंडार हैं फिर भी "पृथ्वी में" "आत्मा में" नेत्रो में "तेज में' इत्यादि में जो उनकी स्थिति का वर्णन किया गया है, उससे उन—उन वस्तुओं से उनका संबंध निश्चित होता है जो कि अपुरुषार्थ (दुःख) ही है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्षमहे—"न स्थानतोऽपिपरस्य" इति। न पृथिव्यात्मादिस्थानतोऽपि परस्यब्रह्मणः अपुरुषार्थ गंधः संभवति। कुतः "उभयलिंगं सर्वत्र हि"—यतः सर्वत्र श्रुतिस्मृतिषु परं ब्रह्म, उभयलिंगं, उभय लक्षणमभिधीयते। निरस्तनिखिलदोषतत्व कल्याणगुणाकरत्वलक्षणोपेत मित्यर्थः "अपहतपाप्माविजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः "समस्त कल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशाद् धृतभूतसर्गः" तेजो बलैश्वर्य महावबोध

सुवीर्यशक्त्यादि गुणैकराशिः, परः पराणां सकलान् यत्र क्लेशादयः संति परावरेशे "समस्त रहितं विष्णवाख्यं परमंपदम्" इत्यादि-श्रुतिस्मृतिभ्यः, उभयलक्षण हि ब्रह्मावगतम् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि पृथिवी आदि में स्थित रहते हुए भी, परब्रह्म परमात्मा में अपुरुषार्थ की गंध तक नहीं आती । श्रुति और स्मृतियों में, परब्रह्म को उभयलक्षणों वाला बतलाया गया है। अर्थात् उनमें, दोषहीनता और कल्याणगुणाकरता दोनों विशेषतायें हैं । जैसे कि-"वह, निर्दोष, अजर, अमर, शोक-भूख-प्यास रहित, सत्य काम और सत्य संकल्प हैं" वह समस्त कल्याणमय गुणों से युक्त, अपनी अंश रूप शक्ति से संपूर्ण जगत को धारण किये हुए हैं, तेज-बल-ऐश्वर्य-विशुद्ध ज्ञान उत्कृष्ट वीर्य और शक्ति आदि गुणों के एक मात्र पात्र, श्रेष्ठों के श्रेष्ठ हैं, उनमें बड़े छोटे किसी प्रकार के दोष नहीं हैं "समस्त हीन ताओं से रहित, विष्णु नामक परंदेव हैं ।" इत्यादि श्रुति स्मृतियों में उभयगुणवाले ब्रह्म का उल्लेख है ।

भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ।३।२।१२॥

यथा जीवस्य प्रजापतिवाक्यावगतापहतपाप्मत्वाद्युभयलिंगस्यापि देवादिदेहयोगरूपावस्थाभेदादपुरुषार्थयोगः, तथान्तर्यामिणः परस्यापि सतोऽपहतपाप्मत्वाद्युभयलिंगस्यतत्तदेवादि शरीरयोगरूपावस्थाभेदाद-पुरुषार्थयोगोऽवर्जनीय इति चेत्, तन्न, प्रत्येकमतद्वचनात्-"यः पृथिव्यां तिष्ठन् "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादिषु प्रतिपर्यायं "सत आत्माऽन्तर्यामृतः" इत्यन्तर्यामिणोऽमृतत्ववचनेन तत्र तत्र स्वेच्छाया-नियमनंकुर्वतस्तत्तत्संबंधप्रयुक्ता पुरुषार्थप्रतिषेधात् । जीवस्य तु तत्स्वरूपं तिरोहितमिति "पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्" इत्यत्रोक्तम् ।

यदि कहें कि-प्रजापति वाक्य में बतलाया गया है कि-जीव में भी निर्दोषता आदि उभय विध गुण विद्यमान हैं, पर उसमें देव मनुष्य आदि देहयोग की अवस्थाओं के भेद से, अपुरुषार्थ अनिवार्य होता है । वैसे ही अन्तर्यामी परब्रह्म के भी, उभयविध गुण होते हुए भी अपुरुषार्थ होगा

ही। सो वात नहीं है क्योंकि परमात्मा की प्रत्येक में स्थित और अनासक्ति वतलाई गई है। "जो पृथ्वी में स्थित होकर" "जो आत्मा में स्थित होकर" "इत्यादि में निर्दिष्ट पर्यायों में "वही तुम्हारे अन्तर्यामी अमृत स्वरूप आत्मा हैं" ऐसे अमृतत्त्व निर्देश द्वारा, स्वेच्छा से नियमन करने वाले परमेश्वर के, विशेष-विशेष दोषों का प्रतिषेध किया गया है। जीव का उभयविध गुणों वाला स्वरूप तो तिरोहित रहता है "पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्" सूत्र से यह बतला चुके हैं।

ननु स्वेच्छया कुर्वतोऽपि तत्तद्वस्तुस्वभावायत्तापुरुषार्थं संबंधो अवर्जनीय इत्युक्तम्। नैतद्युक्तम्, नहि अचिद्वस्वस्त्वपि स्वभावतोऽपुरुषार्थस्वरूपम्, कर्मवश्यानां तु कर्मस्वभावानुगुण्येन परमपुरुषसंकल्पादेकमेववस्तु कालभेदेनपुरुषभेदेन च सुखाय दुःखाय च भवति, वस्तुस्वरूपप्रयुक्ते तु तादूरूप्ये सर्वं सर्वदा सर्वस्य सुखायैव दुःखायैव वा स्यात्, न चैवं दृश्यते, तथाचोक्तं "नर्कस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तम, यस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च। कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तुवस्त्वात्मकं कुतः, तदेव प्रीतये भूत्वा पुनः दुःखाय जायते। तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते, तस्माद् दुःखात्मकं नास्ति न च कंचित् सुखात्मकम्" इति। अतोजीवस्य कर्मवश्यत्वात्तत्तद् कर्मानुगुण्येन् तत्तद्वस्तु संबंध एवापुरुषार्थः स्यात् परस्य। तु ब्रह्मणः स्वाधीनस्य स एव संबंधस्तत्तद् विचित्रनियमनरूपलीला रसयैव स्यात्।

परमेश्वर स्वेच्छा से कार्य करते हुए भी, वस्तुओं के स्वभाव से आयत्त होने के कारण उनका अपुरुषार्थ अनिवार्य हो जाता है, ऐसा कथन भी उपयुक्त नहीं है। जडवस्तु भी स्वभाव से अपुरुषार्थ स्वरूप नहीं होती अपितु कर्माधीन होने से अपने ही स्वभावानुसार एक ही वस्तु परमेश्वर के संकल्प से काल भेद और पुरुष भेद से सुखकर और दुःखकर होती है। वस्तुओं में यदि सुख और दुःख स्वाभाविक होते तो, सभी वस्तुएं तद्रूप होने से या तो सुखी रहतीं या दुःखी ही रहतीं। ऐसा तो

होता नहीं। जैसा कि–कहा भी गया है कि–"हे द्विजोत्तम। पाप और पुण्य ही, नरक और स्वर्ग नाम से कहे जाते हैं। एक ही वस्तु सुखकर दुःखकर, ईर्ष्याजनक और कोपजनक होती है, इसलिए उसका वास्तविक स्वरूप कैसे जाना जाय? जो वस्तु प्रीतिजनक होकर पुनः दुःखदायी हो जाय और वही कोप और प्रसन्नता की भी कारण हो जाय तो उससे पता चलता है कि-न कोई वस्तु दुःखात्म है न सुखात्मक।" इत्यादि वाक्य से ज्ञात होता है कि-कर्माधीन होने से, कर्मानुसार वस्तुओं का संबंध ही, जीव के लिए अपुरुषार्थ होता है तथा स्वाधीन परब्रह्म के वे ही संबंध, विचित्र नियमन रूप लीला रस के कारण होते हैं।

अपिचैवमेके ।३।२।१३॥

अपि च एके शाखिनः एकस्मिन्नेव देहसंयोगे जीवस्यापुरुषार्थं परस्य तु तदभावं नियमनरूपैश्वर्यायत्त दीप्तिप्रयोगं च स्वशब्देनाभिधीयते-"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोरन्नं पिप्पलं स्वादवत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति" इति।

श्रुति की एक शाखा में भी, एक ही देह संयोग में, जीव के अपुरुषार्थ और परमेश्वर में उसके अभाव और नियमन रूप ऐश्वर्य से अधीन स्वप्रकाश का विवेचन किया गया है "सहयोगी, समान स्वभाव वाले दो पक्षी, एक ही वृक्ष पर बैठे हैं, उनमें से एक पके हुए कर्मफल का भोग करता है, दूसरा साक्षी रूप से देखता मात्र है।"

अथ स्यात्-"अनेन जीवेनात्माऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" "इति ब्रह्मात्मकं जीवानुप्रवेशपूर्वकं नामरूपव्याकरणमिति ब्रह्मणोऽपि ब्रह्मात्मभूतस्य देवमनुष्यादिरूपत्वं तन्नामभाक्त्वं चास्ति ततश्च "ब्राह्मणो यजेत्" इत्यादि विधिनिषेधशास्त्रगोचरत्वेन कर्मवश्यत्वमवर्जनीयमिति तत्राह–

(शंका) ऐसा होते हुए भी "मैं इस जीवात्मा में प्रवेश करके नामरूप को व्यक्त करूँगा" ऐसी ब्रह्मात्मक अभिव्यक्ति तदात्मक होवे से

देव मनुष्यादि के नामरूपों वाली होती है तथा "ब्राह्मण को यज्ञ करना चाहिए" इत्यादि विधि निषेधात्मक वाक्यों से परमात्मा की कर्माधीनता अनिवार्य हो जाती है। इसका उत्तर देते हैं—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।३।२।१४।।

देवादिशरीरानुप्रवेशे तेन रूपेण युक्तमप्यरूपवदेव तत् ब्रह्म-रूपरहिततुल्यमेव, जीववच्छरीरित्वनिबंधनं कर्मवश्यत्वमस्य न विद्यत इत्यर्थः। कुतः? निर्वाहकत्वेन प्रधानत्वात्। "आकाशो ह वै नामरूपयोनिर्वहिता ते यदन्तरातद्ब्रह्म" इति सर्वानुप्रवेशेऽपि नामरूपकार्यास्पर्शेन नामरूपयोनिर्वोढृत्वमेव ब्रह्मणः प्रतिपादयति। ननु तच्छरीरकत्वेन तदन्तर्यामित्वे कथमरूपवदिति रूपसंबंधरहित तुल्यत्वमुच्यते? इत्थं यथाजीवस्य तत्तज्जन्य सुखदुःखभाक्त्वेन तत्तद्रूपसंबंधः तथा तदभावात् परस्यारूपवत्वम्। विधिनिषेध-शास्त्राण्यपि कर्मवश्यमेवाधिकुर्वन्ति तस्मादरूपतुल्यमेव परंब्रह्म। ततश्चान्तर्यामिरूपेणावस्थितमपि ब्रह्म निरस्तनिखिलदोषत्व कल्याणगुणाकरस्वरूपोभयलिंगमेव।

देवादि शरीरों में अनुप्रवेश करते हुए, उन उन रूपों से युक्त होकर भी, ब्रह्म, निश्चित ही निराकार की तरह ही रहता है, अर्थात् उसमें जीव की सी कर्माधीनता नहीं रहती। क्योंकि उसकी, निर्वाहक रूप से प्रधानता बतलाई गई है। "आकाश ही नामरूप का निर्वाहक है, ये नाम और रूप जिसमें स्थित हैं, वही ब्रह्म है" यह श्रुति उसी तथ्य का प्रतिपादन करती है। ब्रह्म, सब में प्रविष्ट होकर भी नामरूप जन्य किसी भी प्रकार के कार्यों से संस्पृष्ट नहीं होता, और उसकी नाम रूप निर्वाहकता भी साध्य होती है [प्रश्न] देवादिकों के शरीर से, अतंर्यामी रूप से संबद्ध होते हुए भी उसे "अरूपवद्" कैसे कहा गया? (उत्तर) जैसे कि-जीव के कर्मों से होने वाले सुखदुःखों के भोग से, परब्रह्म की अरूपता होती है। विधिनिषेध शास्त्रों में भी, कर्माधीन के लिए ही अधिकार बतलाते हैं, इसलिए वह अरूपतुल्य ही है। इसलिए अंतर्यामी रूप से अवस्थित होते हुए भी,

परब्रह्म के-समस्तदोष राहित्य और कल्याण गुणाकरत्व, रूप दोनों लक्षण सिद्ध होते हैं।

ननु च "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादिभिर्निर्विशेषप्रकाशैकस्वरूपं ब्रह्मावगम्यते, अन्यत्तु सर्वज्ञत्वसत्यसंकल्पत्वजगत्कारणत्वसर्वान्तरात्मत्वसत्यकामत्वादिकं "नेति नेति" इत्यादिभिः प्रतिषिध्यमानत्वे न मिथ्याभूतमित्यवगंतव्यम्, तत्कथं कल्याणगुणाकरत्वनिरस्तनिखिलदोषत्वरूपोभयलिंगत्वम् ब्रह्मण इति, अत आह–

(प्रश्न) "ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनंतस्वरूप है" इत्यादि वाक्यों से, निर्विशेष एकमात्र प्रकाशस्वरूप, ब्रह्म का ज्ञान होता है, उसी प्रकार अन्यत्र–सत्यसंकल्पता, सर्वज्ञता, जगत्कारणता, सर्वात्मकता, आदि का "नेति नेति" इत्यादि से प्रतिषेध किया गया है, जिससे ये सारे गुण मिथ्या से ज्ञात होते हैं, तब कल्याण गुणाकरत्व और निर्दोषत्व आदि दोनों रूपों वाला कैसे कह सकते हैं? इस पर कहते हैं

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्।३।२।१५॥

यथा "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादिवाक्यै वैयर्थ्यात् प्रकाशस्वरूपत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते, तथा सत्यसंकल्पत्वसर्वज्ञत्वजगत्कारणत्व सर्वात्मकत्वनिरस्तनिखिलाविद्यादिदोषत्वाद्यभिधायिवाक्यौवैयर्थ्यादुभयलिंगमेव ब्रह्म।

"ब्रह्म-सत्य ज्ञान और अनंतस्वरूप है" इत्यादि वाक्यों की सार्थकता के लिए जैसे-ब्रह्म की प्रकाशरूपता स्वीकारी जाती है, वैसे ही सत्यसंकल्पता, सर्वज्ञता, जगत्कारणता सर्वात्मकता, अविद्या आदि दोष राहित्य आदि के बोधक वाक्यों की सार्थकता के लिए, उभय विध लिंग वाला ब्रह्म मानना होगा।

आह च तन्मात्रम्।३।२।१६॥

किं च "सत्यंज्ञानमनंतं" इत्यादि वाक्यं ब्रह्मणः प्रकाश स्वरूपतामात्रं प्रतिपादयति, नान्यत्सत्यसंकल्पत्वादिकं वाक्यान्तरा-

वगतम् निषेधति, "नेति नेति" इति च निषेधविषयोऽनन्तरमेव वक्ष्यते ।

"सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य, ब्रह्म की प्रकाशरूपतामात्र का प्रतिपादक है सत्यसंकल्पता आदि के बोधक अन्यवाक्यों के विषय का विरोध नहीं करता, "नेति नेति" निषेध विषयक वाक्य तो दूसरे प्रकरण का है ।

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ।३।२।१७।।

दर्शयति च वेदांतगणः कल्याणगुणाकरत्वं निरस्तनिखिलदोषत्वं च "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं दैवतानां परमं च दैवतम् । स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्यकश्चिज्जनिता न चाधिपः, । न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैय श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च । यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यज्ञानमयं तपः । भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । एको ब्रह्मणः आनन्दः । यतोवाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्यमनसा सह । आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्नविभेति कुतश्चन । निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनं । "इत्यादि ।

वेदांत वाक्य परमात्मा की कल्याण गुणाकरता और निर्दोषता का स्पष्टतः उल्लेख करते हैं– "वह ईश्वरों के ईश्वर परम महेश्वर, देवाधिदेव हैं । कारण और इन्द्रियों के भी कारण और अधिपति हैं, उनका कोई कारण और जनक नहीं है । उनमें कार्य और कारण नहीं है और न कोई उनके समान या अधिक है । उनकी पराशक्ति स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया आदि अनेक प्रकार की है । वह सर्वज्ञ और सर्वविद है, ज्ञानमय उनका तप है । उनके भय से वायु चलता है तथा सूर्य उदय होता है । वह ब्रह्म ही एक मात्र आनन्द हैं । मन सहित वाणी उनको न पाकर लौट आती है । आनन्द ब्रह्म को जान कर साधक किसी से नहीं डरता । वह परमात्मा अखण्ड, निष्क्रिय, शान्त, निर्दोष और निर्लेप है ।" इत्यादि ।

स्मर्यते च–"यो मामजमनादिं च वेत्ति लोक महेश्वरं। विष्ट-भ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्। मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद् हि विपरिवर्त्तते। उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः। सर्वज्ञः सर्वकृत् सर्वशक्तिज्ञानबलर्धिमान्। अन्यूनश्चाप्यवृद्धिश्च स्वाधीनो नाधिमान् वशी। क्लमतंद्राभयक्रोध कामादिभिरसंयुतः। निरवद्यः परः प्राप्तेर्निर्दिष्टोऽक्षरः क्रमः"। इत्यादि, अतः सर्वत्रावस्थितस्यापि ब्रह्मण उभयलिंगत्वात्तत्तत्स्थान प्रयुक्ता दोषा न परंब्रह्म स्पृशन्ति।

स्मृतियाँ भी उक्त तथ्य की पुष्टि करती हैं–"जो मुझे अज, अनादि और लोकाधिपति जानते हैं मैं एक अंश से सारे जगत् में व्याप्त हूँ। मेरी ही अध्यक्षता में प्रकृति इस जडचेतनमय जगत का प्रसव करती है, इसी से जगत का चक्र चलता रहता है। उत्तमपुरुष परमात्मा, जीवात्मा से भिन्न विशेष है। वह ईश्वर त्रिलोकी का अन्तर्यामी रूप से भरण करता है। वह सर्वज्ञ सर्वकर्त्ता, सर्वशक्ति, ज्ञान और बल ऐश्वर्य वान, ह्रास और वृद्धिरहित, स्वाधीन अजन्मा, वशी क्लेश, आलस्य, भय क्रोध और कामादि रहित निर्दोष, अप्राप्य, अनाश्रित और नित्य है।" इत्यादि, इन सभी प्रमाणों से सिद्ध होता कि ब्रह्म व्यापक होते हुए भी, दोनों प्रकार के गुणो से युक्त होने के कारण, उन उन स्थानीय दोषों से अनस्पृष्ट ही रहता है।

अतएव चोपमा सूर्यकादिवत् ।३।२।१८॥

यतो नानाविधेषु स्थानेषु स्थितस्यापि परस्य ब्रह्मणो न तत् प्रयुक्त दोषभाक्त्वम्, अतएव जलदर्पणादिप्रतिबिम्बितसूर्यादिवत् परमात्मा तत्रतत्राऽवस्थितोऽपि निर्दोष इति शास्त्रेषूपमा क्रियते–"आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग् भवेत्, तथात्मैको ह्यनेकस्थो

जलाधारेष्विवांशुमान् । एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः दृश्यते जल चंद्रवत् ।"इत्यादिषु ।

परब्रह्म, अनेक स्थानों में स्थित होकर भी, उन स्थानों के दोष से अस्पृष्ट रहते हैं, इनको शास्त्रों में, जलदर्पण आदि में प्रतिबिंबित सूर्य आदि की उपमा से समझाया गया है—"एक ही आकाश जैसे घट आदि में भिन्न हो जाता है तथा एक ही सूर्य जैसे विभिन्न जलाशयों में अनेक रूपों में प्रतिविंबित होता है, वैसे ही एक ही परमात्मा सर्वान्तिर्यामी रूप से हरेक भूनों में, जलाशयों में स्थित चंद्र की तरह है।" इत्यादि ।

अत्र चोदयति—इस दृष्टांत को दूषित बतलाते हैं—

अंबुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ।३।२।१६॥

तु शब्दश्चोद्यंद्योतयति । अंबुवदिति सप्तम्यन्तात् वतिः । अंबुदर्पणादिषु यथा सूर्यमुखादयो गृह्यन्ते, न तथा पृथिव्यादिषु स्थानेषु परमात्मा गृह्यते । अब्ध्वादिषुहि सूर्यादयोभ्रान्त्या तत्रस्था इव गृह्यन्ते न परमार्थतः तत्रस्थाः इहतु "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" "योऽप्सुतिष्ठन्" "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्येवमादिना परमार्थत एव परमात्मा पृथिव्यादिषु स्थितो गृह्यते । यतः सूर्यादिरम्बुदर्पणादि-प्रयुक्तदोषाननुषंगस्तत्रतत्र स्थित्यभावादेव । अतो न तथात्वं-दार्ष्टान्तिकस्य न दृष्टान्ततुल्यत्वमित्यर्थः ।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्त मत पर तर्क प्रस्तुत करता है। अंबुवद् पद में सप्तम्यंत वत् प्रत्यय है। उक्त वाक्य का अर्थ होता है कि जल दर्पण आदि में जैसे, सूर्य मुख आदि का प्रतिविम्ब देखा जाता है, पृथ्वी आदि में, परमात्मा का वैसा प्रतिबिम्ब तो दृष्टिगत होता नहीं । भ्रांतिवश ही जल आदि में सूर्य आदि की उपस्थिति मान ली जाती, है वास्तव में तो वे वहाँ रहते नहीं । "जो पृथ्वी में स्थित हैं" "जो जल में स्थित है" इत्यादि वर्णनों में तो परमात्मा की वास्तविक स्थिति बतलाई गई है । सूर्य आदि की जो जल आदि से अनस्पृष्टता है,वह तो स्थिति के अभाव से

है। परमात्मा की तो वैसी है नहीं। इसलिए उपमा उपमेय की तुल्यता न होने से उक्त द्रष्टान्त स्वीकार नहीं है।

परिहरति—उक्त वक्तव्य का परिहार करते हैं—

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसांमंजस्यादेवं दर्शनाच्च।३।२।२०।।

पृथिव्यादिस्थानोन्तर्भावात् स्थानिनः परस्यब्रह्मणः स्वरूपतो गुणतश्च पृथिव्यादि स्थानगतवृद्धिह्रासादि दोषभाक्त्वमात्रं सूर्यादि दृष्टांतेन निवर्त्यंते। कथमिदमवगम्यते? उभयसामंजस्यादेवम्-उभयदृष्टांत सामंजस्यादेवमिति निश्चीयते। "आकाशमेकं हि यथा घटादिषुपृथग् भवेत्"-"जलाधारेष्विवांशुमान्" इति दोषवत् स्वनेकेषु वस्तुषु वस्तुतोऽवस्थितस्याकाशस्य, वस्तुतोऽनवस्थितस्यांशुमतश्चो-भयस्य दृष्टांतस्योपादान हि परमात्मनः पृथिव्यादिगतदोषभाक्त्व-निवर्त्तनमात्रे प्रतिपाद्ये समंजसं भवति।

पृथिव्यादि स्थानों में अन्तर्यामी होते हुए भी, परब्रह्म स्वरूप और गुण से, पृथ्वी आदि स्थानगत वृद्धि ह्रास दोषों से, कहने मात्र को ही संलग्न हैं, यही सूर्य आदि के दृष्टान्त से बतलाया गया है। "एक ही सूर्य भिन्न जलाधारों में भिन्न दीखता है" एक ही आकाश भिन्न घड़ों में भिन्न भिन्न हो जाता है "ये दोनों दृष्टान्त, केवल परब्रह्म के, पृथिव्यादिगत दोष संस्पर्श राहित्य मात्र के लिए प्रस्तुत किए गए हैं। इस प्रकार इन दृष्टान्तों का सामंजस्य हो जाता है।

घटकरकादिषु यथा वृद्धिह्रासभाक्षु पृथक् पृथक् संयुज्यमानं अप्याकाशं वृद्धिह्रासादिदोषैर्न स्पृश्यते, यथा च जलाधारेषु विषमेषु दृश्यमानोंऽशुमान् तदगत् वृद्धिह्रासादिभिर्न स्पृश्यते, तथाऽयम् परमात्मा पृथिव्यादिषु नानाकारेष्वचेतनेषुचेतनेषु च स्थितः तदगत् वृद्धिह्रासादिदोषैरसंस्पृष्टः सर्वत्रवर्त्तमानोऽप्येकएवास्पृष्ट दोषगंधः कल्याणगुणाकर एव। एतदुक्तं भवति-यथा जलादिषु

वस्तुतोऽनवस्थितस्यांशुमतो हेत्वभावाज्जलादिदोषानभिष्वंगः तथापृथिव्यादिष्ववस्थितस्यापि परमात्मनो दोषप्रत्यनीकाकारतया दोषहेत्वाभावान्न दोषसंबंध, इति। दर्शनाच्च-दृश्यते चैवं सर्वात्मना साधर्म्याभावेऽपि विवक्षितांशसाधर्म्यात् दृष्टांतोपादानं "सिंहइव माणवकः" इत्यादौ। अतः स्वभावतोनिरस्तनिखिलाज्ञानादि-दोषगंधस्य समस्तकल्याणगुणाकरस्य पृथिव्यादिस्थानतोऽपि न दोष संभवः।

घट करवा इत्यादि बड़े छोटे पात्रों में पृथक्-पृथक् स्थित आकाश जैसे वृद्धि ह्रास आदि दोषों से रहित होता है तथा-विभिन्न जलाधारों में प्रतिबिंबित सूर्य जैसे-उनके वृद्धि ह्रास आदि दोषों से रहित होता है, वैसे ही यह परमात्मा, पृथिव्यादि विभिन्न आकार वाले अचेतनों और चेतनों में स्थित रहते हुए भी उनके वृद्धि ह्रास आदि दोषों से रहित हैं, सर्वत्र व्याप्त होकर भी एक और निर्दोष और कल्याण गुणों के भंडार हैं। कहने का तात्पर्य है कि-जैसे-जलादि में अवस्थित सूर्य कारण के अभाव से जलादिगत दोषों से अनासक्त रहता है, वैसे ही पृथिव्यादि में स्थित परमात्मा तदाकार न होने से, दोषों से अनस्पृष्ट रहते हैं। ऐसा व्यवहार भी किया जाता है। हर प्रकार की समानता न होते हुए भी, केवल अभिप्रेत अंशमात्र समानता के आधार पर दृष्टान्त दिया जाता है-"यह बालक सिंह के समान है" इसलिए यह निश्चित होता है कि-स्वभाव से निर्दोष समस्त कल्याणमय गुणों के भंडार परमात्मा, पृथिव्यादि स्थानों में स्थित होकर भी उनके दोषों से रहित हैं।

अथस्यात्-"द्वे वावब्रह्मणोरूपेमूर्त्तंचामूर्त्तमेव च" इति प्रकृत्य समस्तं स्थूलसूक्ष्मरूपं प्रपंचंब्रह्मणो रूपत्वेन परामृश्य तत्सर्वं प्रतिषिध्य "तस्य ह वा एतस्य पुरुषस्यरूपं यथा महारजनं वासः" इत्यादिना आकारविशेषंचाभिधाय "अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादितिनेत्यन्यत् परमस्ति" इति सर्वं प्रकृतं ब्रह्मणः प्रकारमिति शब्देन परामृश्य तत्सर्वं प्रतिषिध्य सर्वविशेषाधिष्ठानं

सन् मात्रमेव ब्रह्म, विशेषास्त्वेवंविधं स्वस्वरूपमजानता ब्रह्मणा कल्पिता इति दर्शयति, अतः कथमुभयलिंगत्वं ब्रह्मण इति-अत्राह—

आपत्ति की जाती है कि-"ब्रह्म के मूर्त्त और अमूर्त्त दो रूप प्रसिद्ध हैं" इत्यादि भूमिका में, स्थूल सूक्ष्म सारे जगत को, ब्रह्म का रूप बतलाकर "उस परमात्मा का रूप हरिद्रारंजित वस्त्र के समान है" इत्यादि से आकार विशेष बतलाकर-"कहा गया कि-वह ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, इससे कोई उत्कृष्ट नहीं, इससे पृथक् कुछ और नहीं" इत्यादि से ब्रह्म के सारे प्रकारों को इति शब्द से बतलाकर, उन सबका प्रतिषेध कर यह दिखलाया गया है कि--समस्त विषयों का आश्रयभूत केवल सत् स्वरूप ब्रह्म ही है तथा सारी विशेषतायें अपने स्वरूप को न जानने वाले ब्रह्म से कल्पित हैं। इसलिए ब्रह्म की उभयलिंगता संभव नहीं है। इसका उत्तर देते हैं—

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततोब्रवीति च भूयः ।३।२।२१॥

नैतदुतपपद्यते-यद् ब्रह्मणः प्रकृतविशेषवत्त्वं "नेति नेति" इति प्रतिषिध्यत इति, तथासति भ्रांतजल्पितायमानत्वात् । न हि ब्रह्मणो विशेषणतया प्रमाणान्तराप्रज्ञातं सर्वं तद्विशेषणत्वेनोपदिश्य पुनस्तदेवानुन्मत्तः प्रतिषेधति । यद्यपि निर्दिश्यमानेषु केचन पदार्थाः प्रमाणान्तर प्रसिद्धाः, तथापि तेषां ब्रह्मणः प्रकारत्वमप्रज्ञातमेव, इतरेषां तु स्वरूपं ब्रह्मणः प्रकारत्वं च अज्ञातम्। अतस्तेषामनुवादासंभवादत्रैवोपदिश्यंते । अतस्तन्निषेधो नोपपद्यते । यस्मादेवं, तस्मात् प्रकृतैतावत्त्वं ब्रह्मणः प्रतिषेधतीदं वाक्यम् । ये ब्रह्मणोः विशेषाः प्रकृताः, तद् विशिष्टतया ब्रह्मणः प्रतीयमानेयत्ता "नेति नेति" इति प्रतिषिध्यते । "नेति नेति" नैवं नैवं उक्त प्रकारमात्र-विशिष्टं न भवति ब्रह्म, उक्त प्रकार विशिष्टतया ब्रह्मण इयत्ता प्रकृता, साऽत्र इति शब्देन परामृश्यत इत्यर्थः ।

ऐसा नहीं हो सकता-"नेति नेति" श्रुति से तो ब्रह्म की वास्तविक विशेषता का निषेध किया गया है। यदि उक्त तात्पर्य मानेंगे तो शास्त्रों

की भ्रांतजल्पता होगी। जिन विशेषणों से ब्रह्म की विशेषता बतलाई गई, उनके अतिरिक्त किन्हीं अन्य प्रामाणों से तो उनकी विशेषता ज्ञात होती नहीं, विशेषता बतलाकर उसी का निषेध करना तो पागलों का ही कार्य हो सकता है। यद्यपि निर्दिष्ट विशिष्टताओं में, कुछ अन्य प्रमाणों में भी प्रसिद्ध हैं तथापि अन्य वाक्यों से ब्रह्म की प्रकारता ज्ञात नहीं होती। और न अन्य पदार्थों के स्वरूप को ही, ब्रह्म के प्रकार रूप से बतलाया गया है। इसलिए "द्वेवाव ब्रह्मणो रूपं" इत्यादि वाक्य को, ब्रह्म की विशेषता बतलाने वाले वाक्यों का अनुवाद मात्र नहीं कहा जा सकता। यही मानना होगा कि–इस वाक्य में ब्रह्म की प्रकारता का विशेषोल्लेख है। "नेति नेति" से उसका निषेध नहीं हो सकता। जैसी इसकी विशेषता बतलाई गई है उस पर विचारने से तो यही ज्ञात होता है कि–"नेति नेति" वाक्य, परब्रह्म की इयत्ता का ही प्रतिषेध करता है। जो ब्रह्म की स्वाभाविक विशेषतायें हैं उससे ब्रह्म की जो विशिष्ट रूप से प्रतीत होने वाली इयत्ता है "नेति नेति" में उसी का प्रतिषेध किया गया है। अर्थात्–ब्रह्म जैसा विशिष्ट प्रकार का बतलाया गया है उतना मात्र ही नहीं है "नेति नेति" से उसी का प्रतिषेध किया है उक्त प्रकार से प्रस्तुत ब्रह्म की विशिष्ट इयत्ता को इति शब्द से बतलाया गया है।

यतश्च निषेधानंतरं ब्रह्मणो भूयो गुणजातं ब्रवीति, अतश्च प्रकृतविशेषणयोगित्वमात्रं प्रतिषेधति। ब्रवीति हि भूयो गुणजातं "न ह्येतस्मादितिनेत्यन्यत् परमस्त्यथनामधेयं सत्यस्यसत्यमिति प्राणा वै सत्यम् तेषामेव सत्यम्" इति। अयमर्थः इति नेति यद्ब्रह्म प्रतिपादितम् तस्मादेतस्मादन्यद्वस्तु परं नह्यस्ति, ब्रह्मणोऽन्यत स्वरूपतो गुणतश्चोत्कृष्टं नास्तीत्यर्थः। तस्य ब्रह्मणः सत्यस्य सत्यमिति नामधेयं। तस्य च निर्वचनं–"प्राणा वै सत्यम् तेषामेव सत्यम्" इति। प्राणशब्देन प्राणसाहचर्यात् जीवाः परामृश्यन्ते, तेतावत्सत्यम्, वियदादिवत्स्वरूपान्यथाभावरूप परिणामाभावात्-तेषामेव सत्यम्-तेभ्योऽप्येष परमपुरुषः सत्यम्। जीवानां कर्मानुगुण्येन ज्ञानसंकोचविकासौ विद्येते। परमपुरुषस्य त्वपहतपाप्म-

नस्तौ न विद्येते, अतस्तेभ्योऽप्येष सत्यम् । अतश्चैवं वाक्यशेषोदित-गुणजातयोगात् "नेति नेति" इति ब्रह्मणः सविशेषत्वं न प्रतिषिध्यते, अपितु पूर्वप्रकृतेयत्तामात्रम् । अत उभयलिंगमेव परंब्रह्म ।

निषेध के बाद भी, ब्रह्म के अधिक गुणों का वर्णन किया गया है जिससे निश्चित होता है कि—ब्रह्म की प्रस्तुत, विशिष्ट इयत्तामात्र का ही प्रतिषेध किया गया है । पुनः विशेष गुणों का वर्णन इस प्रकार का है—"नेति से जो ब्रह्म का निरूपण किया गया है उसका तात्पर्य है कि—उस ब्रह्म से कुछ अतिरिक्त भिन्न नहीं है, उस ब्रह्म का नाम सत्यों का सत्य है अर्थात् सत्यस्वरूप प्राणों में वही सत्य है "इत्यादि । इस वाक्य का तात्पर्य है कि "नेति नेति" से जो ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है, उससे कुछ परे नहीं है अर्थात् परमात्मा से कोई गुणों में उत्कृष्ट नहीं है । इसीलिए वह सत्यों का सत्य है । प्राण शब्द से प्राणों के सहचारी जीवों का उल्लेख है अर्थात् वे भी सत्य हैं । उनका आकाश आदि की तरह स्वरूप का अन्यथाभाव परिणाम नहीं होता इसलिए वे सब सत्य हैं. उनमें भी यह ब्रह्म सत्य हैं । इससे निश्चित होता है कि—"नेति नेति" ब्रह्म की सविशेषता का प्रतिषेध नहीं करता अपितु प्रस्तुत इयत्तामात्र का प्रतिषेधक है । इसलिए वह ब्रह्म दोनों प्रकार की विशेषता वाला सिद्ध होता है ।

ब्रह्मणः प्रमाणान्तरगोचरत्वेन तत्संबंधितया मूर्त्तामूर्त्तादि रूपानुवादेन तन्निषेधासंभवात् प्रकृतेयत्ताप्रतिषेध उक्तः, तदेव प्रमाणान्तरागोचरत्वं दृढयति ।

ब्रह्म जब अन्य किन्हीं प्रमाणों से ज्ञेय नहीं हैं तब उन्हें मूर्त्तअमूर्त्त बतलाकर प्रतिषेध करना भी संभव नहीं है, इसलिए उक्त प्रसंग में इयत्ता का प्रतिषेध ही निश्चित होता, इस बात को अन्य प्रमाणों से सिद्ध करते हैं ।

तदव्यक्तमाह हि ।३।२।२२।।

तत्—ब्रह्म प्रमाणान्तरेण न व्यज्यते आह हि शास्त्रं "न संदृशे

तिष्ठतिरूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्" न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा "इत्यादि।

वह ब्रह्म किन्हीं अन्य प्रमाणों से वाच्य नहीं है, जैसा कि–शास्त्र का वचन है–"इसका स्वरूप दृष्टि पथ पर आरूढ़ नहीं होता, कोई इसे इन नेत्रों से देख नहीं सकता "वह नेत्र और वाणी से ग्राह्य नहीं है" इत्यादि।

हेत्वन्तरं चाह-और कारण भी बतलाते हैं-

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।३।२।२३॥

अपि च संराधने–सम्यक् प्रीणने भक्तिरूपापन्ने निदिध्यासन एवास्य साक्षात्कारः। नान्यत्रेति श्रुतिस्मृतिभ्यामवगम्यते- "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्त्वः ततस्तु तं पश्यति निष्कलंध्यायमानः" इति श्रुतिः।

स्मृतिरपि–"नाहं वेदैर्नतपसा न दानेन न चेज्यया" भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन, ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप"। इति,

भक्तिरूपापन्नमेवोपासनं संराधनं तस्य प्रीणनमिति पूर्वमेवोक्तम अतो निदिध्यासनाय ब्रह्मस्वरूपमुपदिशत् "द्वे वाव ब्रह्मणः" इत्यादि शास्त्रं ब्रह्मणो मूर्त्तामूर्त्तरूपद्वयादिविशिष्टतां प्रागसिद्धां नानुवदितुं क्षमम्।

संराधन अर्थात् प्रेमाभक्ति रूप निदिध्यासन से ही साक्षात्कार होता है, अन्य उपायों से नहीं ऐसा श्रुति स्मृतियों से ही निश्चित होता है। जैसे कि–"यह परमात्मा, प्रवचन–बुद्धि या अधिक शास्त्राभ्यास से लभ्य नहीं है, जिसे वह स्वयं वरण करते हैं, उसे ही वह मिलते हैं, वे अपने को उसके समक्ष प्रकट कर देते हैं "पहिले ज्ञान प्रसाद द्वारा चित्त

शुद्ध होता है, बाद में ध्यान करते-करते उस अखंड स्वरूप का दर्शन होता है "इत्यादि श्रुति प्रमाण हैं।

स्मृति में भी जैसे—"मैं वेद-तप-दान-यज्ञ आदि किसी से भी दृष्ट नहीं हूँ एकमात्र अनन्य भक्ति से ही मुझे इस प्रकार देखा जा सकता है' एकमात्र भक्ति से ही मुझे देखा या समझा जा सकता।" इत्यादि

उक्त प्रकार की भक्तिरूपता को प्राप्त उपासना को ही संराधन कहते हैं। उस परमात्मा की प्रियता ही महत्व रखती है ऐसा हम प्रथम ही बतला चुके हैं। इस प्रकार के निदिध्यासन के लिए-ब्रह्म के स्वरूप का "द्वे वाव ब्रह्मणः" इत्यादि से उपदेश दिया गया है। यह शास्त्रवचन निदिध्यासन के लिए मूर्त्त अमूर्त्त दो रूपों का वर्णन करता है, इसे अनुवाद मात्र नहीं कह सकते।

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ।३।२।२४।।

इतश्च प्रकृतैतावत्त्वमेव प्रतिषेधति, न मूर्त्तामूर्त्तादिविशिष्टत्वम्, यतः साक्षात्कृतपरब्रह्मस्वरूपाणां वामदेवादीनां दर्शने प्रकाशादिवत्, ज्ञानानंदादिस्वरूपवन्मूर्त्तादिप्रपंचविशिष्टताया अपि ब्रह्मगुणत्वावैशेष्यं प्रतीयते "तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहंमनुरभवं, सूर्यश्च" इत्यादि। ब्रह्मस्वरूपभूतप्रकाशानंदादिश्च तेषां वामदेवादीनां संराधनात्मके कर्मण्यभ्यासादुपलभ्यते। तद्वदाभ्यस्तत्संराधनानां तेषां मूर्त्तामूर्तादिविशिष्टत्वमप्यविशेषेण प्रतीयत इत्यर्थः।

इसलिए भी इयत्ता का प्रतिषेध किया गया प्रतीत होता है कि-वामदेव आदि ऋषियों के साक्षात्कार में अनुभूत प्रकाशादि अर्थात् ज्ञान आनंद आदि स्वरूप की तरह, मूर्त्त अमूर्त्त आदि की विशिष्टता भी, जो कि ब्रह्म की गुणरूप है,उसकी कोई विशेषता नहीं प्रतीत होती-"वामदेव ने ब्रह्म का दर्शन कर विचार किया कि-मैं ही मनु हुआ था, एवं मैं ही सूर्य हुआ था। "इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि-ब्रह्म के स्वरूपभूत प्रकाश आनंद आदि, वामदेव आदि के साधनात्मक कर्म में, अभ्यास से ही प्राप्त

हुए। उसी प्रकार संराधन में अभ्यस्त उन लोगों के समक्ष मूर्त अमूर्त आदि जगतात्मभाव समानरूप से अनुभूत होता है।

उक्तं ब्रह्मण उभयलिंगत्वमुपसंहरति—

उक्त ब्रह्म की उभयलिंगता का उपसंहार करते हैं—

अतोऽनंतेन तथाहि लिंगम् ।३।२।२५॥

अतः, उक्तैर्हेतुभिर्ब्रह्मणः, अनंतेनकल्याणगुणगणेन विशिष्टत्वं सिद्धम्। तथाहि सत्युभयलिंगम् ब्रह्मोपपन्नं भवति।

ऊपर कहे गए हेतुओं से, ब्रह्म की अनंत कल्याणगुणों की विशिष्टता सिद्ध होती है और इसी से ब्रह्म की उभयलिंगता भी सिद्ध होती है।

६ अहिकुंडलाधिकरणः—

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ।३।२।२६॥

मूर्त्तामूर्त्तात्मकस्य अचित् प्रपंचस्यब्रह्मणोरूपत्वं "द्वे वावब्रह्मणो रूपे" इत्यादिनोपदिश्यते "अथात आदेशो नेति नेति" इति मूर्त्तामूर्त्ताचिद्वस्तुरूपतया ब्रह्मण इयत्ता प्रतिषिध्यते। "न ह्येतस्मादितिनेत्यन्यत्परमस्ति "इति ब्रह्मणोऽन्यदुत्कृष्टं नह्यस्तीति प्रतिपादितम्। तदुपपादनाय "अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" इति प्राणशब्दनिर्दिष्टेभ्यश्चेतनेभ्योऽप्येष सत्यमिति कदाचिदपि ज्ञानादि संकोचाभावादुक्तम्"। तथा—"प्रधानक्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः" "पतिं विश्वेश्वरस्यात्मेश्वरम् "नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इत्यादि श्रुतेश्चायमर्थोऽवगम्यते। तस्याचिद्वस्तुनो ब्रह्मरूपत्वप्रकार इदानीं चिन्त्यते, ब्रह्मणो निर्दोषत्वसिद्ध्यर्थम्—किमस्याचिद्वस्तुनो ब्रह्मरूपत्वमहिकुंडलन्यायेन, उत प्रभाप्रभावतोरिवैकजातियोगेन, उत जीवस्येव विशेषणविशेष्यतयांशांशिभावेन इति। इह स्थाप्यमानं विशेषणविशेष्यभावमंगीकृत्य

"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टांतानुपरोधात्" तदन्यत्वमारंभणशब्दादिभ्यः इत्यत्र सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुविशिष्टाद्ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद वस्तुविशिष्टस्योत्पत्तिरनन्यत्वं चोक्तम्।

मूर्त्त अमूर्त्त जगत् प्रपंच को, ब्रह्म का रूप "द्वे वाव ब्रह्मणो" में बतलाया गया है। "अथात आदेशो नेति नेति" श्रुति से मूर्त्त अमूर्त्त जड़वस्तुरूप ब्रह्म की इयत्ता का निषेध किया गया है। तथा-"नहि एतस्मात्" श्रुति से कहा गया है कि--उस ब्रह्म से उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है। उसके समर्थन के लिए "अथनामधेयं सत्यस्य सत्यमिति" इत्यादि श्रुति से प्राण शब्द वाच्य चेतन जीवों की अपेक्षा, परमात्मा की सत्यता का प्रतिपादन किया गया है। परमात्मा को परम सत्य इसलिए बतलाया गया है कि उसकी ज्ञान शक्ति का कभी संकोच नहीं होता। "प्रकृति पुरुष का भी वह ईश्वर और गुणाधिपति है "उस जगत के पति और आत्मा के स्वामी को" उस नित्यों के नित्य चेतनों के चेतन को" इत्यादि श्रुतियाँ भी उक्त तात्पर्य की बोधिका हैं। ब्रह्म की निर्दोषता सिद्ध करने के लिए यहाँ, उसी अचित् वस्तु की ब्रह्मरूपता के प्रकार का विचार करते हैं कि-इसकी ब्रह्मरूपता अहिकुंडल की तरह, प्रभा और प्रभावान की तरह एक जातीय है? अथवा-जीव की तरह विशेषण विशेष्यभूत अंशांशी भाववाली है? विशेषण विशेष्य भाव ही यहाँ स्थापित करना होगा, इस पक्ष को स्वीकार करके-प्रकृतिश्चप्रतिज्ञादृष्टांता -नुपरोधात्" और "तदन्यत्वमारम्मणशब्दादिभ्यः" इन दो सूत्रों में, सूक्ष्म चेतनअचेतन विशिष्ट ब्रह्म से, स्थूल चेतन अचेतन वस्तु विशेष की उत्पत्ति और अनन्यता का प्रतिपादन कर चुके हैं।

किं युक्तम्? अहिकुंडलवदिति, कुतः? उभयव्यपदेशात्-"ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इति तादात्म्यव्यपदेशात् "हंताहमिमास्तिस्रोदेवताः "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" इत्यादि भेदव्यपदेशाच्च अहेः कुंडलभाव-ऋजुभाववत् तस्यैव ब्रह्मणः संस्थान विशेष एवाचिद्वस्तूनि।

ऊपर का कौन सा पक्ष युक्तिपूर्ण है? इस पर विचारने से अहिकुंडल की तरह ही, ब्रह्म और मूर्त्त अमूर्त्त जगत का संबंध प्रतीत होता है। "यह सब कुछ ब्रह्म ही है" ऐसे तादात्म्यपरक अभेद के उल्लेख से तथा

"इन तीनों देवताओं में आत्मा रूप से प्रवेश करके" इत्यादि भेद के उल्लेख से, सर्प के कुंडलभाव और सीधेसपाट भाव की तरह सारी जड़ वस्तुएं, ब्रह्म की संस्थान विशेष रूप सिद्ध होती हैं।

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ।३।२।२७॥

वा शब्दः पक्षव्यावृत्यर्थः, ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्रूपेणावस्थाने भेदश्रुतयो ब्रह्मणोऽपरिणामित्ववादिन्योऽपि बाधिताभवेयुः, अतो यथा तेजस्त्वेन प्रभातदाश्रयोरपितादात्म्यम्, एवमचित्प्रपंचस्य ब्रह्मणोरूपत्वमित्यर्थः।

पूर्व पक्ष के सिद्धान्त का निवारक सूत्रस्थ वा शब्द है। स्वरूपतः ब्रह्म ही यदि अचेतन पदार्थों के रूप में स्थित माने जावेंगे तो भेद और अपरिणामिता की प्रतिपादिका श्रुतियाँ निरर्थक हो जावेंगी, इसलिए तेजस्वितारूप से, प्रभा और उसके आश्रय का जैसा तादात्म्य होता है, वैसी ही अचेतन प्रपंच की भी, ब्रह्मरूपता है।

पूर्ववद् वा ।३।२।२८॥

वा शब्दः पक्षद्वयव्यावृत्यर्थः। एकस्यैव द्रव्यस्यावस्था विशेषयोगे ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्द्रव्यरूपत्वात् उक्तदोषादनिर्मोक्षः। अथप्रभातदाश्रययोरिवाचिद्ब्रह्मणोर्बृंहत्वजातियोगमात्रम्, एवंतर्हि अश्वत्वगोत्वत् ब्रह्मापीश्वरे चिदचिद्वस्तुनोश्चानुवर्त्तमानं सामान्यमिति सकलश्रुतिस्मृतिव्यवहारविरोधः।

सूत्रस्थ वा शब्द उक्त दोनों पक्षों का निवारक है। यदि एक ही द्रव्य की अवस्था विशेष योगिता मानी जाय तो ब्रह्म स्वरूप की ही अचिद् वस्तु रूपता सिद्ध हो जावेगी, जिससे कि पूर्वोक्त दोष से छुटकारा नहीं मिल सकेगा। यदि प्रभा और उसके आश्रय की तरह, अचेतन और ब्रह्म में केवल, ब्रह्मत्व जातिमात्र का ही संबंध मानते हैं तो अश्वत्व और गोत्व आदि जातियों की तरह, ईश्वर एवं चेतन अचेतन वस्तु से अनुगत ब्रह्म भी एक सामान्य जाति मात्र रह जायगा, जो कि-सभी श्रुति-स्मृति शास्त्रीय मत के विरुद्ध है।
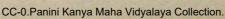
पूर्ववदेव "अंशोनानाव्यपदेशात्" प्रकाशादिवत्तुनैवंपर:" इति जीववत् पृथक् सिद्ध्यनर्हविशेषणत्वेनाचित्वस्तुनो ब्रह्मांशत्वम् विशिष्टवस्त्वेकदेशत्वेनाभेदव्यवहारोमुख्य:, विशेषणविशेष्ययो: स्वरूपस्वभावभेदेन भेदव्यवहारो मुख्य:, ब्रह्मणो निर्दोषत्वं च रक्षितम्। तदेवं प्रकाशजाति गुणशरीराणां मणिव्यक्तिगुण्यात्मन: -प्रत्यपृथक्सिद्धिलक्षणविशेषणतया यथांशत्वम्, तथेह जीवस्याचिद्-वस्तुनश्च ब्रह्म प्रत्यंशत्वम्।

इसलिए पूर्व मत के अनुसार "अंशोनानाव्यपदेशात्" प्रकाशादिवत्तु नैवं पर:" इन दो सूत्रों में जीव की जैसी ब्रह्मांशता बतलाई गई है वैसी ही यहाँ भी, ब्रह्म से भिन्न न कहलाने योग्य अचित् वस्तु की भी ब्रह्मांशता सिद्ध होती है। विशिष्ट वस्तु के एकदेशीय होने से, मुख्य रूप से अभेद व्यवहार होता है, तथा विशेषण विशेष्य में स्वरूप का भेद होने से, मुख्य रूप से भेद का व्यवहार होता है, इस प्रकार ब्रह्म की निर्दोषता सुरक्षित हो जाती है। इससे निश्चित होता है कि-जैसे-प्रकाश-ज्योति-गुण और शरीर जैसे मणि-व्यक्ति-और गुणी आत्मा को छोड़ कर अलग टिक नहीं सकते, यही उनकी अपृथक् सिद्ध विशेषता है, इसीसे वे, मणि आदि अंश हैं, वैसे ही, जीव और जड़ वस्तु की, ब्रह्मांशता है।

प्रतिषेधाच्च।३।२।२९॥

"स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमर: "नास्यजरयैतत् जीर्यति इत्यादिभि: ब्रह्मणोऽचिद्धर्मप्रतिषेधाच्च' विशेषणविशेष्यत्वेनैवांशांशिभाव इत्यर्थ:। अत: सूक्ष्मचिदचिद् वस्तुविशिष्टं कारण भूतं ब्रह्म, स्थूलचिदचिद्वस्तुविशिष्टं कार्यभूतं ब्रह्मेति, कारणात्कार्यस्यानन्यत्वम्। कारणभूतब्रह्मविज्ञानेन कार्यस्यज्ञाततेत्यादि सर्वमुपपन्नं, ब्रह्मणो निर्दोषत्वं च रक्षितम्। ब्रह्मणो निर्दोषत्वेन कल्याण-गुणाकरत्वेन। चोभयलिंगत्वमपि सिद्धम्।

"यह आत्मा महान् अज और जरा मरण रहित है" इसका शरीर जरा से जीर्ण नहीं होता "इत्यादि वाक्यों से, ब्रह्म के अचित् धर्मों का प्रतिषेध किया गया हैं, जिससे अचित् और ब्रह्म का विशेषण विशेष्य भावरूप अंशांशितभाव निश्चित होता है। सूक्ष्म चेतन अचेतन विशिष्ट ब्रह्म कारण स्वरूप है तथा स्थूल चेतन अचेतन विशिष्ट ब्रह्म कार्य स्वरूप है, इसलिए कारण से कार्य की अनन्यता है। कारण ब्रह्म के जान लेने से कार्य की जानकारी आदि सभी बातों का समाधान हो जाता है तथा निर्दोषता भी सुरक्षित हो जाती है इस प्रकार ब्रह्म की निर्दोषता और कल्याण गुणाकरता ये दोनों सिद्ध हो जाती है।

७ पराधिकरण:—

परमतः सेतून्मान्संबंधभेदव्यपदेशेभ्यः ।३।२।३०॥

इदानीमस्मात्परस्मात्जगन्निमितोपादानरूपपरमकारणात् परब्रह्मणः परमपि किंचित्तत्वमस्तीति कैश्चित् हेत्वाभासैराशंक्य निराक्रियते। अस्योपास्यस्य निर्दोषत्वानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणाकरत्वस्थेम्ने। तत्रेयमाशंका यदिदं परं ब्रह्मोभयलिंगं, एतस्मान्निखिलजगत्कारणात् परमपि किंचित्तत्वमस्ति। कथम्? "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः" इत्यस्यपरस्य सेतुव्यपदेशात्। सेतु शब्दस्य च लोके कूलान्तर प्राप्तिहेतौ प्रसिद्धेरितोऽन्यत्तदनेन प्राप्तव्यमस्तीति गम्यते। तथा—एतं सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्नंधो भवति" इति तरितव्यतया चास्याभिधीयते अतश्चान्यत्प्राप्यमस्ति। उन्मानव्यपदेशाच्च—उन्मितं परिमितम् इदं परंब्रह्म "चतुष्पाद ब्रह्म" षोडशकलम्" इत्युन्मानव्यपदेशात्। स चायमुन्मानव्यपदेशः तेन सेतुना प्राप्यस्यानुन्मितस्यास्तितां द्योतयति। तथा संबंधव्यपदेशश्च सेतु सेतुमतोः प्रापकत्वप्राप्यत्वलक्षणोदृश्यते "अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलं "अमृतस्यैष सेतुः" इति। अतश्च परात्परमस्ति।

भेदेन च परात्परं व्यपदिश्यते—"परात्परं पुरुषमुपैति" परात्परं यन्महतो महान्तम्" इति च। तथा—तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्" इति। अत एभ्यो हेतुभ्यः परस्माद् ब्रह्मणः परमपि किंचिदस्तीति गम्यत इति।

अब जगत के निमित्तोपादान परम कारण इस परब्रह्म से अतिरिक्त कोई तत्त्व अवश्य है, ऐसी हेत्वाभास की दृष्टि से शंका करके उसका निराकरण करते हुए, ब्रह्म के उपास्य रूप की निर्दोषता और अतिशय कल्याणगुणाकरता की सिद्धि करते हैं।

आशंका यह है कि—यदि यह ब्रह्म दोनों प्रकार का है, तो संपूर्ण जगत का कारण कोई और ही तत्त्व निश्चित होता है। "यह जो आत्मा है, वही सब लोकों का विधारक सेतु है" इत्यादि से किसी दूसरे की सेतुता का ही निर्देश प्रतीत होता है, क्योंकि—लोक में सेतु शब्द इस पार से उस पार तक पहुँचाने वाले, आधार रूप पुल के अर्थ में प्रयुक्त होता है, इसलिए कोई अन्य प्राप्तव्य ही प्रतीत होता है तथा—"इस सेतु को पार कर अन्धा भी अनन्धा हो जाता है" ऐसी पार करने वाली बात स्पष्ट कही गई है। उन्मान के व्यपदेश से भी यही बात निश्चित होती है उन्मित अर्थात् ब्रह्म परिमित है जैसा कि—"ब्रह्म चतुष्पद है" सोलह कला वाला है" इत्यादि उन्मान बोधक वाक्यों से ज्ञात होता है। ऐसा उन्मान का व्यपदेश सेतु द्वारा प्राप्य अनुन्मित के अस्तित्व का द्योतन करता है। इन वाक्यों में प्राप्य प्रापक तथा सेतु—सेतुमान का संबंध दिखलाया गया है। "जली हुई लकड़ी के समान अमृत के सेतु को" तथा "यह अमृत का सेतु है" इत्यादि से ज्ञात होता है कि—परब्रह्म से भी कोई पर है। पर से पर की भिन्नता भी—"पर की अपेक्षा भी पर को प्राप्त करता है "वह पर से भी पर और महान् से महान है" इत्यादि वाक्यों में बतलाई गई है। तथा—"उस पुरुष द्वारा ही सब परिपूर्ण है, जो कि—अतिशय परवर्त्ती, नीरूप, निरामय है" इत्यादि से भी, परब्रह्म से भी कोई पर है ऐसी प्रतीति होती है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—

इस शंका पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

सामान्यात्तु ।३।२।३१।।

तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, यत्तावदुक्तं सेतुव्यपदेशात् परात्परमस्तीति तन्नोपपद्यते । न ह्ययमत्र किंचित्प्राप्यं प्रति सेतु रुच्यते "एषां लोकानामसंभेदाय" इति सेतु सामान्येन सर्वलोका-संकरकरत्वश्रुतेः । सिनोतिवध्नातिस्वस्मिन् सर्वं चिदचिद् वस्तुजातं असंकीर्णमिति सेतुरुच्यते । "एतं सेतुं तीर्त्वा" इति तरतिश्च प्राप्तिवचनः । यथा "वेदान्तं तरति" इति ।

तु शब्द उक्त पक्ष का निवारक है । जो लोग यह कहते हैं कि–सेतु के उल्लेख से पर से भी किसी अन्य पर तत्त्व का बोध होता है, वह उनकी मिथ्या धारणा है । इस प्रसंग में किसी प्राप्य के लिए, सेतु का साधन रूप से उल्लेख नहीं किया गया है । "इस समस्त जगत के असंभेद (असांकर्य) के लिए" इत्यादि वाक्य में सेतु के समान परब्रह्म की भी, सांकर्य निवारकता बतलाई गई है । जो अपने में चेतन अचेतन समस्त को असंकीर्ण भाव से बन्धन करे उसे ही सेतु कहते हैं [षिधातु से सेतु शब्द बना है, यह धातु बंधन अर्थ का द्योतन करती है] "इस सेतु को पार करके "इत्यादि तॄ धातु प्राप्ति बोधक है, जैसे कि–"वेदांतं तरति" का अर्थ–"वेदांत को प्राप्त करता है" किया जाता है ।

बुद्ध्यर्थः पादवत् ।३।२।३२।।

योऽयं "चतुष्पाद ब्रह्म" षोडशकलम्" पादोऽस्यविश्वाभूतानि" इत्युन्मानव्यपदेशः स बुद्ध्यर्थः–उपासनार्थः । "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म "इत्यादिभिर्जगत्कारणस्य ब्रह्मणोऽपरिच्छिन्नत्वावगमात् स्वत उन्मितत्वासंभवात् । जगत्कारणत्वं हि तस्यैव श्रूयते । "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयति" इति । अतो यथा–"वाक्पादः प्राणः-पादः चक्षुः पादो मनः पादः" "इत्यादिना ब्रह्मणो वागादिपादव्यपदेश उपासनार्थः एवमयमपि ।

जो यह "चारपादवालाब्रह्म "षोडशकलावाला" इसके एक पाद में संपूर्ण विश्व है" इत्यादि में उन्मान का व्यपदेश है वह बुद्धि अर्थात् उपासना के लिए है। "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि से जगत के कारण ब्रह्म की अपरिच्छिन्नता प्रतीत होने से, उसका वास्तविक उन्मान संभव नहीं है। ब्रह्म की जगत कारणता का भी उक्त प्रसंग में स्पष्ट उल्लेख है- "उस ब्रह्म से आकाश हुआ "उसने कामना की अनेक होकर जन्म लूँ" इत्यादि। "वाणीरूपपाद, चक्षुरूपपाद, प्राणरूपपाद मनरूपपाद "इत्यादि में वाणी आदि को ब्रह्म का चरण कहा गया है, वह केवल उपासना के लिए है; यही उक्त उन्मान का भी तात्पर्य है।

स्वयमनुन्मितस्यकथमुपासनार्थतयाऽप्युन्मान संभवः? तत्राह—

जब वह स्वयं अनुन्मित है तो उपासना के लिए उनकी उन्मान कैसे संभव है ? इसका उत्तर देते हैं—

स्थान विशेषात् प्रकाशादिवत् ।३।२।३३॥

प्रतिपन्नवागादिस्थानविशेषरूपोपाधिभेदात्तत्संबंधितयोन्मितत्वानुसंधानं संभवति। यथा प्रकाशादेर्विततस्य वातायनघटादिस्थानभेदैः परिच्छिन्नानुसंधानसंभव इत्यर्थः।

जैसे कि-व्यापक प्रकाश, खिड़की घट आदि विभिन्न स्थानों में प्रविष्ट होकर, उन उन स्थानों वाला कहलाता है, उसकी उनमें खोज की जाती है, वैसे ही अनुन्मित विभु परमात्मा भी, वागादि इन्द्रियों में अनुस्यूत होने से, उन इन्द्रियों में खोजा जाता है।

उपपत्तेश्च ।३।२।३४॥

यदुक्तम्—"अमृतस्यैष सेतुः" इति प्राप्यप्रापकसंबंधव्यपदेशात् प्रापकात् परं प्राप्यमस्तीति, तन्न, प्राप्यस्यपरंपुरुषस्य स्वप्राप्तौ स्वस्यैवोपायत्वोपपत्तेः। "नायमात्माप्रवचनेनलभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमैवेषवृणुतेतेनलभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" इत्यनन्योपायत्वश्रवणात्।

जो यह कहा कि-"अमृतस्यैषसेतुः" श्रुति से प्राप्य प्रापक संबंध बतलाया गया है जिससे प्रापक सेतु भिन्न, किसी अन्य प्राप्य की प्रतीति होती है। सो बात नहीं है, प्राप्य परं पुरुष स्वयं ही, प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है, जैसा कि-"यह परमात्मा, प्रवचन-मेधा या विशेष शास्त्राभ्यास से लब्ध नहीं है, जिसे यह स्वयं वरण करता है, उसे ही प्राप्त होता है, उसके समक्ष स्वयं अपने को व्यक्त कर देता है।" इस वाक्य में परमात्मा को प्राप्ति का अनन्य उपाय बतलाया गया है।

तथाऽन्यप्रतिषेधात् ।३।२।३५।।

यत्पुनरुक्तं-"ततो यदुत्तरतरं" परात्परं पुरुषम् "अक्षरात्परतः परः" इत्यादि भेदव्यपदेशात् परात्परमस्तीति-तन्नोपपद्यते-तत्रैव ततोऽन्यस्य परस्य प्रतिषेधात्-"यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चिद्" इति। यस्मादपरं परं नास्ति किंचित्-न केनापि प्रकारेणपरमस्तीत्यर्थः। तथा-अन्यत्रापि "नह्येतस्मादितिनेत्यन्यत्परमस्ति "इति। इति नेति निर्दिष्टादेतस्माद् ब्रह्मणोऽन्यत्परं न ह्यस्तीत्यर्थः। तथा-"न तस्येशे कश्चन् तस्य नाममहद्यशः" इति। तत् हि जगदुपादानकारणतयाऽनन्तरमुक्तं -"सर्वे निमेषाजज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि "स आपः प्रदुधे उभे इमे" इत्यादिना। "अद्भ्यः संभूतो हिरण्यगर्भ इत्यष्टौ" इति च जगत् कारणं पुरुषमेनं प्रत्यभिज्ञापयति।

और जो यह कहा कि-"ततो यदुत्तरतरं" परात्परं पुरुषम् "अक्षरात् परतः परः" इत्यादि भेद परक वाक्यों से, परब्रह्म से पर किसी अन्य तत्त्व की प्रतीति होती है, सो यह कथन भी भ्रामक है, क्योंकि उसी प्रसंग में, परमात्मा से अन्य किसी श्रेष्ठ परतत्त्व का स्पष्ट निषेध किया गया है-"जिनसे श्रेष्ठ कोई दूसरा नहीं है तथा जिनसे सूक्ष्म और वृहत् भी कोई दूसरा नहीं है" इत्यादि, इसमें जिनसे श्रेष्ठ कोई दूसरा नहीं है का तात्पर्य है कि-किसी प्रकार श्रेष्ठ नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रसंग में

भी "जैसे-"न हि एतस्मादिति नेति अन्यत परमस्ति" कहा गया, जिसका तात्पर्य है कि—इस ब्रह्म की अपेक्षा, कुछ और श्रेष्ठ नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जैसे—"कोई भी उसका शासक नहीं है, उसका नाम ही महद्यश है" इत्यादि के बाद ही उसे जगत् का उपादान कारण बतलाया गया है—"उस पुरुष से ही समस्त काल और विद्युत उत्पन्न होते हैं "उस परमात्मा ने इन स्वर्ग और अंतरिक्ष दोनों से जल का दोहन किया "जल से हिरण्यगर्भ हुआ" इत्यादि। सभी श्रुतियाँ परं पुरुष के ही जगत का परं कारण बतलाती हैं।

"ततो यदुत्तरतरं" इति किमुच्यत इति चेत्? पूर्वत्र-"वेदाहमेतं-पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्, तमेव विदित्वाऽति-मृत्युमेतिनान्यः पन्था विद्यतेऽनाय" इति परस्यब्रह्मणो महापुरुषस्य वेदनमेवामृतत्वसाधनं, नान्योऽमृतत्वस्य पन्था इत्युपदिश्य तदुपपादनाय "यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् "वृक्ष इव स्तब्धोदिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेणसर्वम् "इति पुरुषस्य परत्वं, तद् व्यतिरिक्तस्य परत्वासंभवं-च प्रतिपाद्य—"ततोयदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियंति" इति पूर्वोक्तमर्थं हेतुतो निगमयति -यदुत्तरतरं पुरुषतत्त्वम्, तदेवारूपमनामयं यतः, ततो य एतत् पुरुषतत्त्वं विदुः, त एवामृता भवंति, अथेतरे दुःखमेवापियंति इति। अन्यथोपक्रमविरोधोऽनन्तरोक्ति विरोधश्च। "परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इति पूर्वत्र "अक्षरात् परतः परः" इति अक्षरात्-अव्याकृतात् यः परः, समष्टिपुरुषः तस्मात् परो योऽदृश्यत्वादिगुणकः सर्वज्ञः परमपुरुषः, स एवेहापि" परात्परः" इति समष्टिपुरुषात् परत्वेनोच्यते।

यदि कहो कि—"ततोयदुत्तरतरं" का क्या उत्तर दोगे? तो सुनो-उक्त प्रसंग के पूर्व में ही—"अंधकार से रहित आदित्य की तरह ज्योतिर्मय इस महापुरुष को मैं जानता हूँ, जीव उसे जानकर मृत्यु का अतिक्रमण

करता है, मोक्षधर्म में जाने के लिए इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है" इत्यादि में, महापुरुष परब्रह्म संबंधी वेदन को ही, अमृतत्व प्राप्ति का साधन रूप, अन्यतम मार्ग बतलाकर उसके समर्थन के लिए "जिसकी अपेक्षा उत्कृष्ट या अपकृष्ट कुछ और नहीं है तथा जिससे अतिसूक्ष्म या महान् भी कुछ और नहीं है वह वृक्ष की तरह स्तब्ध अकेला ही स्वर्ग में स्थित है, उस पुरुष से ही यह सारा जगत परिपूर्ण है" इस प्रकार पुरुष की परता और उससे भिन्न किसी अन्य की परता को असंभव बतलाकर "ततो यदुत्तरतरं" इत्यादि वाक्य में उसी पूर्वोक्त कथन के लिए पुनरुल्लेख करते हुए कहते हैं कि—"वह परब्रह्म परमात्मा आकार रहित और सब प्रकार के दोषों से रहित है, जो इस परब्रह्म परमात्मा को जानते हैं वे अमर हो-जाते हैं, इस रहस्य को न जानने वाले अन्य लोग दुःख कोही प्राप्त होते हैं" इत्यादि। उक्त प्रसंग की ऐसी संगति करने से उपक्रम से विरुद्धता होगी तथा परवर्ती वाक्य से भी विपरीतता होगी। "अक्षरात् परतः परः में" अर्थात् अव्याकृत प्रकृति से पर जो समष्टि पुरुष है, उससे भी पर या उत्कृष्ट अदृश्यता आदि गुणों से विशिष्ट सर्वज्ञ परंपुरुषं को ही "परात् परं "इत्यादि वाक्य में, परात् अर्थात् समष्टि पुरुष से पर अर्थात् श्रेष्ठ बतलाया गया है।

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ।३।२।३६॥

अनेन ब्रह्मणा सर्वंगतत्वम्-सर्वस्यजगतोव्याप्तत्वम्, आयाम-शब्दादिभ्यः-सर्वव्याप्तिवाचिशब्देभ्योऽवगम्यमानमस्मात्परं नास्तीत्य-वगमयति। आयामशब्दस्तावत् "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् "यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा, अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्यनारायणः स्थितः" नित्यं विभुं सर्वंगतं सुसूक्ष्मं, यद् भूतयोनिं परिपश्यंति धीराः "आदिशब्दात्" ब्रह्मैवेदं सर्वम्" आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यादयो गृह्यन्ते। अत इदं परं ब्रह्मैव सर्वास्मात्परम्।

सर्वव्यापकता के बोधक आयाम आदि शब्दों से ज्ञात होता है कि—सारा जगत् ब्रह्म से परिव्याप्त है। ऐसी सर्वगतत्व की प्रतीति ही, ब्रह्म से भिन्न अन्य वस्तु के अभाव का प्रतिपादन करती है। आयाम शब्द

का व्याख्यान जैसे-"सारा जगत उस पुरुष से ही पूर्ण है" इस जगत में जो कुछ भी दृष्ट श्रुत है, नारायण उन सभी में बाहर भीतर व्याप्त हैं 'धीरलोग-नित्य, विभु, सर्वगत, अतिसूक्ष्म, उस भूतयोनि को भलीभाँति देखते हैं।" इत्यादि "यह सब कुछ ब्रह्म है" यह सब कुछ आत्म्य है" इत्यादि वाक्य ही, सूत्रस्थ आदि पद से अभिप्रेत हैं। इस विवेचन से निश्चित होता है कि-परब्रह्म ही सबसे श्रेष्ठ हैं।

८ फलाधिकरणः—

फलमत उपपत्तेः।३।२।३७॥

उक्तमुपासिसिषोपजननार्थं जीवस्य सर्वावस्थासु सदोषत्वं, प्राप्यस्य च परं पुरुषस्य निर्दोषत्वं, कल्याणगुणाकरत्वं, सर्वस्मात् परत्वं च, अतः परमुपासनं विवक्षन्मुपासीनानां परस्मादेवास्मात् पुरुषात्तत्प्राप्तिरूपमपवर्गाख्यं फलमिति संप्रति ब्रूते।

उपासना में उत्साह बढ़ाने के लिए, जीवों की ।सदोषता और प्राप्य परं पुरुष की निर्दोषता-कल्याणगुणाकरता तथा सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है अब उपासना के प्रतिपादन के उद्देश्य से बतलाते हैं कि-उपासकों को परं पुरुष की कृपा से ही, ब्रह्म प्राप्ति रूप मोक्ष भी प्राप्त होता है।

तुल्यन्यायतया शास्त्रीयमैहिकामुष्मिकमपि फलम्, अतएव परस्मात् पुरुषात् भवतीति सामान्येन "फलमतः" इत्युच्यते। कुत एतत्? उपपत्तेः, स एवहि सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्महोदारो यागदानहोमादिभिरुपासनेनचाराधित ऐहिकामुष्मिक भोगजातं, स्वस्वरूपावाप्तिरूपमपवर्गं च दातुमीष्टे; नहि अचेतनं कर्म क्षणध्वंसिकालान्तर भाविफलसाधनं भवितुमर्हति।

शास्त्रीय ऐहिक और आमुमिष्क दोनों ही फल, परं पुरुष परमेश्वर से ही प्राप्त होते हैं, ऐसा "फलमत" शब्द से बतला रहे हैं। यह बात उपपत्तेः अर्थात् विवेचन से ही ज्ञात होती है। सर्वज्ञ,सर्वशक्ति निरतिशय,

उदार प्रकृति वे परमात्मा ही–दानयज्ञ आदि क्रियाओं और उपासना द्वारा आराधित होकर, ऐहिक और पारलौकिक अनेक प्रकार के भोगों और सारूप्य मुक्ति प्रदान करने में, समर्थ हैं। अचेतन क्षणध्वंसी कर्म, कभी भी कालान्तरभावी फल प्रदान करने में समर्थ नहीं हो सकता।

श्रुतत्वाच्च ।३।२।३८॥

"स वा एष महानज आत्माऽन्नादोवसुदानः" "एष एव हि आनंदयाति" इति भोगापवर्गरूपं फलमयमेव ददातीति हि श्रूयते।

"ऐसा यह महान् अजन्मा परमात्मा ही अन्न और धन का दाता है "यही सबको आनंदित करता है" इत्यादि श्रुतियों में भी परमात्मा को ही, भोग और अपवर्ग का दाता बतलाया गया है।

धर्मं जैमिनिरत एव ।३।२।३९॥

अत एव उपपत्तेः, शास्त्राच्च, यागदानहोमोपासनरूपधर्ममेव फलप्रदं जैमिनिराचार्यो मन्यते । लोके हि कृष्यादि कर्म, दानादिकं च कर्म, साक्षाद् वा, परम्परया वा स्वयमेवफल साधनं दृष्टम्, एवं वेदेऽपि यागदानहोमादीनां साक्षात्फलसाधनत्वाभावेऽपि परम्परया अपूर्वं द्वारेण फलसाधनत्वमुपपद्यते । तथा–"यजेत् स्वर्गकामः "इत्यादि शास्त्रमपि सिषाधयिषित स्वर्गस्यकर्त्तव्यतया यागाद्यभिदधदन्यथानुपपत्त्या अपूर्वंद्वारेण फलसाधनत्वमवगमयति।

आचार्य जैमिनि, पूर्वोक्त प्रकार की युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर, दान–यज्ञ और उपासना रूप धर्म-कर्म की ही फलप्रद मानते हैं। जगत में कृषि आदि और दान आदि कर्मों को ही, साक्षात् या परंपरा से स्वयं ही, फल साधन करते देखा जाता है। वेद में भी, यज्ञ दान होम आदि कर्म साक्षात् फल साधक न होते हुए भी, परम्परा या पुण्य रूप अपूर्व समुत्पादन द्वारा, फल साधक कहे गए हैं। "स्वर्ग की कामना से यज्ञ करना चाहिए" इत्यादि विधि परक शास्त्र वाक्य भी, स्वर्ग की कामना के लिए कर्त्तव्य रूप से किये जाने वाले यागादि कर्मों की अवहेलना नहोने पावे, इसलिए अपूर्व द्वारा ही फलसाधनता बतलाते हैं।

पूर्वं तु बादरायणो हेतु व्यपदेशात् ।३।२।४०।।

तु शब्दः पक्षव्यावृत्यर्थः, पूर्वोक्तं परंपुरुषस्यैव फलप्रदत्त्वं भगवान्बादरायणो मन्यते । कुतः? हेतुव्यपदेशात्-"यज्देवपूजायाम्" "इति देवताराधनभूतयागाद्याराध्यभूताग्निवाय्वादि देवतानामेव तत्तत्फलहेतुतया तस्मिन् तस्मिन्नपि वाक्ये व्यपदेशात् । "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामोवायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता वायुमेवस्वेनभागधेयो-नोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' इत्यादिषु कामिनः सिषाधयिषितफलसाधनत्व प्रकारोपदेशोऽपि विध्यपेक्षित एवेति नातत्परत्वशंकायुक्ता । एवमपेक्षितेऽपि फलसाधनत्वप्रकारे शब्दादेवावगते सति तत्परित्यागमश्रुतापूर्वादिपरिकल्पनं च प्रामाणिका न सहंते ।

इस सूत्र में तु शब्द पक्ष का निवारक है । पूर्वोक्त परं पुरुष की ही फल प्रदानता भगवान बादरायण को मान्य है । वे ऐसा, हेतु के उल्लेख के आधार पर मानते हैं । "यज्" धातु देव पूजा के अर्थ में प्रयोग की जाती है । देवता के आराधन रूप यागादि कर्मों के आराध्य, अग्नि वायु आदि देवताओं को ही, फलों के हेतु रूप से, वाक्यों में उल्लेख किया गया है । "वायु देवता को श्वेत बकरा की बलि प्रदान करो वायु क्षिप्रगामी देवता कहे गए हैं, वायु अपने भाग्य से ही दौड़ सकते हैं, वायु उसे ऐश्वर्य प्रदान करते हैं" इत्यादि में—फलाभिलाषी व्यक्ति की, अभीप्सित फल की साधना प्रणाली को बतलाने के लिए, विधि की अपेक्षा बतलाई गई है । इसमें इससे अतिरिक्त कोई और तात्पर्यार्थ की, कल्पना नहीं की जा सकती। इस प्रकार अपेक्षित फल साधनता के प्रकार की, शास्त्रावगति हो जाने के बाद भी उसको न मानना अथवा अश्रुत अपूर्व की कल्पना करना, विवेचकों को कदापि सह्य नहीं हो सकता ।

लिंगादयोऽपि देवताराधनभूतयागादेः प्रकृत्यर्थस्य कर्तृव्यापार साध्यतां व्युत्पत्तिसिद्धां शब्दानुशासनानुमतामभिदधति, नान्यद लौकिकमिति प्रागेवोक्तम् । तदेवं "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादि

शब्दात्वाय्वादीनां फलप्रदत्वमवगम्यते। वाय्वाद्यात्मना च परमपुरुषएवाराध्यतया फलप्रदायित्वेन चावतिष्ठत इति श्रूयते —"इष्टापूर्त्तं बहुधाजातं जायमानं विश्वं विभर्ति भुवनस्य नाभिः तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमा" इति। अन्तर्यामि ब्राह्मणे च "यो वायौ तिष्ठन् यस्यवायुः शरीरम्" योऽग्नौ तिष्ठन्" य आदित्ये तिष्ठन्" इत्यादि श्रूयते।

विधिलिंग के प्रत्यय और यज् आदि धातु के सहयोग से ही विधि परक वाक्यों का विवेचन किया जा सकता है। लिंग आदि भी, देवताराधन के साधन भूत याग आदि, यज् धातु के अर्थ की, शास्त्र सम्मत यौगिक अर्थ के अनुसार, कर्त्तृव्यापार संपादनीयता का ही समर्थन करते हैं। किसी अलौकिकता का प्रतिपादन नहीं करते, ऐसा कह भी चुके हैं। इसी प्रकार "वायु शीघ्रगामी देवता है" इत्यादि से वायु की फलप्रदानता प्रतीत होती है। वायु आदि के रूप से ही, परम् पुरुष आराध्य होकर-फलप्रदान करने के लिए उपस्थित होते हैं, ऐसा श्रुति प्रमाण है—"जगत के नाभिस्वरूप इष्टापूर्त्त आदि कर्म के फलस्वरूप, जाय और जायमान इस विश्व को धारण करते हैं, वही वायु अग्नि, वही सूर्य और चंद्र हैं। इसी प्रकार अन्तर्यामी ब्राह्मण में भी जैसे—"जो वायु में स्थित हैं वायु जिनका शरीर है "जो अग्नि में स्थित हैं" जो आदित्य में स्थित हैं" इत्यादि।

स्मर्यते च—"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेवविदधाम्यहम्" सा तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते, लभते च ततः कामान् मयैव विहितान हि तान्" इति "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च "इति। प्रभुः फलप्रदायीत्यर्थः। "देवान् देवयजोयान्ति मद्भक्तायान्ति मामपि" यान्तिमद्याजिनोऽपिमाम् "इति च।

स्मृति में भी इसी प्रकार—"जो जोभक्त श्रद्धापूर्वक जिस जिस मूर्त्ति की अर्चना करते हैं, मैं उन भक्तों को तदनुसार ही श्रद्धा प्रदान करता हूँ। वे लोग वैसी ही श्रद्धावाले होकर उन रूपों की आराधना का प्रयास करते हैं और मेरे द्वारा प्रदत्त अभीष्ट कामनायें प्राप्त करते हैं।

मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूं "प्रभु का तात्पर्य है फल प्रदायी। "देवताओं के उपासक देवताओं को और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं" "मेरे उपासक मुझे ही प्राप्त होते हैं।" इत्यादि।

लोके च कृष्यादिभिर्विचित्ररूपान् द्रव्यविशेषान् संपाद्यतैः राजानं भृत्य द्वारेण साक्षाद्वाऽर्चयन्ति, अर्चितश्च राजा तत्तदर्चनानुगुणं फलं प्रयच्छन् दृश्यते। वेदांतास्त्वतिपतितसकलेतरप्रमाण संभावनाभूमि निरस्तसमस्ताविद्यादिदोषगंधं स्वाभाविकानवधिकातिशयापरिमितोदारगुणसागरं पुरुषोत्तमं प्रतिपाद्य, तादाराधनरूपाणि च यागदानहोमात्मकानि, स्तुतिनमस्कारकीर्त्तनार्चनध्यानानि च तदाराधनानि, आराधितात्परस्मात्पुरुषाद् भोगापवर्गरूपं फलं च, वदंतीति सर्वं समंजसम्।

लोक में भी देखा जाता है कि—कृषि आदि द्वारा अनेक प्रकार के अन्नों का उत्पादन करके, स्वयं या भृत्य द्वारा उस अर्जित उत्पादन से राजा की अर्चना की जाती है, अर्चित होकर राजा अर्चना के अनुरूप फल प्रदान करते हैं। वेदांत शास्त्र जो कि—शब्द के अतिरिक्त किसी अन्य से ज्ञेय नहीं है, ऐसे अविद्यादि दोषों से शून्य स्वाभाविक सर्वातिशायी, निरवधि अपार कल्याणमय गुणों के सागर उन पुरुषोत्तम को ही—उनके आराधनात्मक याग—दान होम आदि क्रियाओं तथा—स्तुति नमस्कार कीर्त्तन, अर्चना, ध्यान रूप आराधना के अनुसार, भोग मोक्ष रूप फल प्रदाता बतलाते हैं। यही सुसंगत सिद्धान्त है।

तृतीय अध्याय द्वितीय पाद समाप्त

तृतीय अध्याय

तृतीय पाद

१ सर्व वेदांत प्रत्यधाधिकरणः—

सर्व वेदांत प्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ।३।३१।।

उक्त ब्रह्मोपासिसिषोपजननाय वक्तव्यं ब्रह्मणः फलदायित्वपर्यन्तम् इदानीं ब्रह्मोपासनानां गुणोपसंहार विकल्पनिर्णयाय विद्याभेद चिन्ताप्रस्तूयते । प्रथमं तावदेकस्या वैश्वानर विद्यादिकाया अनेक शाखासु श्रूयमाणायाः किमेक विद्यात्वम्, उत विद्याभेद इति । चिन्त्यते । अविशेष पुनः श्रवणस्य प्रकरणांतरस्य च भेदकत्वाच्छाखांतरे चोभयोरवर्जनीयत्वादविद्याभेद इति प्राप्तम् । अतएव "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत् शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्" इति शिरोव्रतवतामाथर्वणिकानामेव विद्योपदेश नियमुपपद्यते । विद्यैक्ये हि विद्यांगस्य शिरोव्रतस्यान्येषामपि शाखिनां प्राप्तेर्नियमो नोपपद्यते ।

ब्रह्मोपासना में अभीप्सा बढ़ाने के लिए, ब्रह्म की फलदातृता तक का वर्णन कर दिया गया। अब अनेक प्रकार की ब्रह्मोपासना संबंधी, गुण-संबंधी उपसंहार और विषय के निर्णय के लिए विद्या के भेदों पर विचार प्रस्तुत करते हैं। विभिन्न शाखाओं में वर्णित वैश्वानर आदि विद्यायें, एक ही हैं अथवा भिन्न इस संशय पर विचारने से ज्ञात होता है कि-विभिन्न प्रकरणों में एकही विद्या का जो एकसा ही वर्णन मिलता है, वह निश्चित ही किसी विशेष अभिप्राय से होगा, वैसे विद्या में भेद है। 'उसे ही ब्रह्मविद्या बतलानी चाहिए जो विधिवत शिरोव्रत का पालन करने वाला हो "इत्यादि में शिरोव्रत करने वाले आथर्वणिकों के लिए ही, विद्योपदेश का नियम बतलाया गया है। यदि विद्यायें एक होतीं तो

विद्याओं के अंगभूत शिरोव्रत का सभी विद्याओं में, सामान्य रूप से नियम कहा जाता, उक्त वाक्य तो विद्याविशेष के लिए उक्त व्रत के उपदेश का नियम बतलाता है। इससे विद्याओं में भेद है, ऐसा निश्चित होता है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्त उच्यते-सर्ववेदांतप्रत्ययमेकमुपासनामिति। कुतः ? चोदनाद्यविशेषात् चोदनातावत् "उपासीत्" "विद्यात्" इत्येवं जातीयको धात्वर्थं विशेष विधिः। आदिशब्देन "एकं वा संयोगरूपचोदनाख्या विशेषात्" इति कर्मकाण्डशाखान्तराधिकरण-सूत्रोक्ताः संयोगरूपाख्या गृह्यन्ते। एषां चोदनादीनामविशेषात् सैवेयं विद्येति शाखान्तरे प्रत्यभिज्ञायते तथाहि-छांदोग्यवाजसनेयकयोः "वैश्वानरमुपास्ते" इति चोदनातावदेकरूपा, वेद्यैकनिरूपणीय-स्वरूपस्य विदिपर्यायस्योपासेर्वेद्यभूतवैश्वानरैक्याद्रूपमप्यविशिष्टम्, आख्या च वैश्वानरविद्येत्यविशिष्टाः फलसंयोगोऽप्युभयत्रापि ब्रह्मप्राप्तिरूपोऽविशिष्टः। अतएभिः प्रत्यभिज्ञानात्शाखान्तरेऽपि विद्यैक्यम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि-सभी वेदांतों में एकही उपासना प्रतीत होती है। ऐसा प्रेरणादायक आदि वाक्यों के वर्णन से ज्ञात होता है। "उपासना करनी चाहिए "जानने से" इत्यादि क्रिया विशेष के बोधक विधि वाक्य ही प्रेरणादायक वाक्य हैं। आदि शब्द से यहाँ-"फल संयोग, रूप, विधि और नाम में कोई भेद नहीं है" इत्यादि कर्मकांडीय शाखान्तराधिकरण सूत्र में उल्लेख्य संयोग-स्वरूप-और नाम, अभिप्रेत हैं। इन प्रेरणा दायक वाक्यों और संयोग आदि के सामान्यवर्णन से, शाखान्तरों में वर्णित "यह वही विद्या है" ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है।

छांदोग्य और वाजसनेयक में-"वैश्वानर की उपासना करो" ऐसी एक ही प्रकार की प्रेरणा की गई है, दोनों में जो, वेद्य का स्वरूपनिरूपण किया गया है, उससे भी वेद्य तत्त्व की एकता प्रतीत होती है। समानार्थक उपासना में जब, वेद्य वैश्वानर एक ही तत्त्व है तो उसकी उपासना भी, एक ही रूप की होगी, नाम भी उसका वैश्वानर ही है, फल और संयोग

भी, दोनों स्थानों में ब्रह्म प्राप्तिरूप ही बतलाया गया है। इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञाओं से, शाखान्तरीय विद्या एक ही प्रतीत होती है।

यत्तूक्तमविशेषपुनः श्रवणात् प्रकरणान्तराच्च विधेयभेदान्न विद्यैक्यमिति-तदनुभाष्य परिहरति—

जो यह कहा कि-एक ही प्रकार का दो स्थलों पर पुनः उल्लेख किया गया है, इससे विद्या भेद की प्रतीति होती है, इसलिए विद्या की एकता नहीं है; उसे ही उपस्थित कर परिहार करते हैं—

भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ।३।३।२॥

अविशेष पुनः श्रुत्या प्रकरणान्तराच्च विधेयभेदान्न, विद्यैक्यमिति चेत्—एकस्यामपि विद्यायां प्रतिपत्तृभेदात्पुनः श्रुतिः प्रकरणान्तरं चोपपद्यते। यत्रह्येकस्मिन् प्रतिपत्तरि पुनः श्रुतिप्रकरणान्तरं च विद्यते, तत्रान्यथानुपपत्त्या विधेयभेदान् विद्याभेदः, प्रतिपत्तृभेदे तु तत्प्रतिपत्त्यर्थतया पुनः श्रुत्याद्युपपत्तेस्तत्र न विधेयान्तर संभवः।

यदि कहो कि—एक से पुनरुल्लेख और प्रकरण भेद से विधेय का भेद प्रतीत होता है, इसलिए विद्या एक नहीं है। तो एकही विद्या में, प्रतिपादन के भेद से, पुनरुल्लेख और प्रकरणान्तर का होना असंभव नहीं है। जहाँ श्रोता एक होते हुए भी, पुनरुल्लेख और प्रकरण भेद है, वहाँ उपदेष्टा के भेद होने से विधेय (विद्या) का भेद ही गया है। श्रोता के भेद में तो समझाने के लिए पुनरुल्लेख हो जाना स्वाभाविक ही है। विधेय में भेद होना संभव नहीं है।

यच्चोक्तं शिरोव्रतवतामाथर्वणिकानामेव विद्योपदेश नियम-दर्शनात् विद्याभेदः प्रतीयत इति तत्राह—

और जो यह कहा कि—शिरोव्रत करने वाले आथर्वणिकों के लिए ही विद्योपदेश का नियम किया गया है, इससे विद्या भेद प्रतीत होता है। इस पर कहते हैं—

स्वाध्यायस्य तथात्वे हि समाचारेऽधिकाराच्चसववच्च तन्नियमः ।३।३।३॥

नैतदस्ति-शिरोव्रतोपदेशनियमदर्शनं विद्याभेदं द्योतयति-इति शिरोव्रतस्य विद्यांगत्वाभावात् । स्वाध्यायस्यतथात्वे हि तन्नियमः स्वाध्यायस्य तथात्वसिद्ध्यर्थं, तज्जन्यसंस्कारभाक्त्वसिद्ध्यर्थं हि शिरोव्रतोपदेशनियमः, न विद्यायाः । कुत एतत्? "नैतदचीर्णव्रतोऽधीयीत् "इति तस्याध्ययन संयोगात् समाचारेऽधिकाराच्च-समाचाराख्येग्रन्थे-''इदमपिवेद व्रतेनव्याख्यातम्" इत्यतिदेशात्। "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यायां वदेत्" वेदविद्यामित्यर्थः । सववच्च तन्नियमः, यथाहि-सवहोमाः सप्तसूर्यादयः शतोदनपर्यन्ता आथर्वणिकैकाग्नि संबंधिनस्तत्रैव भवंति न त्रेताग्निषु ।

शिरोव्रत के आधार पर जो विद्या का भेद बतलाते हो वह भी निराधार है, शिरोव्रत की विद्यांगता का कहीं भी उल्लेख नहीं है । विद्या सिद्धि के लिए स्वाध्याय का वैसा प्रकार बतलाया गया है अर्थात् स्वाध्याय की तत्त्वार्थं सिद्धि के लिए शिरोव्रत संस्कार से संपन्न होना आवश्यक है, इसलिए शिरोव्रत की अनिवार्यता बतलाई गई है, विद्या के लिए नहीं । "व्रतानुष्ठान रहित व्यक्ति इसका अध्ययन न करे "इस श्रुति में शिरोव्रत के साथ अध्ययन का संयोग दिखलाया गया है तथा-सदाचार को बतलाने वाले ग्रन्थों में, सदाचार के अधिकार की बात का स्पष्ट उल्लेख है कि-"उन लोगों को ही इसविद्या का उपदेश दो" अर्थात् इस ब्रह्मविद्या का उपदेश दो । इससे भी उक्त मत पुष्ट होता है । जैसे कि-आथर्वणिक एकाग्नि संबंधी, सूर्य आदि शतोदन पर्यन्त सात, सवहोम उसी में संपन्न होते हैं, त्रेताग्नि संपूर्ण में नहीं होते वैसे ही इस शिरोव्रत का पालन अथर्ववेदाध्ययन के लिए ही आवश्यक है, संपूर्ण विद्या के लिए नहीं है ।

दर्शयति च ।३।३।४॥

दर्शयति च श्रुतिरूपासनस्यं सर्ववेदांत प्रत्ययत्वम्—तथाहि—

छांदोग्ये–"तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" इत्युक्त्वा–"किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यम्" इति प्रश्नपूर्वकं अपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टक-विशिष्टः परमात्मा तस्मिन्नुपास्य इत्युक्तम्। तैत्तरीयके तु छांदोग्यस्थं प्रतिनिर्देशमुपजीव्य "तत्रापि दहरं गगनं विशोकस्त-स्मिन्यदंतस्तदुपासितव्यम्" इति गुणाष्टक विशिष्टस्य परमात्मन उपासनमुच्यते, तदुभयत्र विद्यैकत्वेन गुणोपसंहारादेवोपद्यते।

स्वयं श्रुतिभी–उपासना की दृष्टि से, विभिन्न वेदांतों में उल्लेख्य विद्या की एकता बतलाती है। जैसा कि–"उसमें जो निहित है वही अन्वेषणीय है "ऐसा कहकर–"इसमें ऐसा क्या है जिसका अन्वेषण किया जाय' ऐसा प्रश्न करते हुए, निर्दोषता आदि आठगुणों वाले परमात्मा को उपास्य बतलाया गया है। तैत्तरीयक में इन्हीं छांदोग्योक्त गुणों का प्रतिनिर्देश किया गया है–"वहाँ जो दहराकाश है उसके अंदर निहित तत्व की उपासना-करनी चाहिए" इसमें भी आठगुणों वाले परमात्मा की ही उपासना बतलाई गई है इस प्रकार के गुणोपसंहार से, दोनों शाखाओं में एक ही विद्या का समर्थन प्रतीत होता है।

तदेवशाखान्तराधिकरणन्यायसिद्धं विद्यैक्यं स्थिरीकृत्य तत्प्रयोजनमाह–

इस प्रकार विभिन्न शाखाओं के अधिकरणों में उल्लेख्य विद्या की एकता का निर्णय करके उसका प्रयोजन बतलाते हैं–

उपसंहारोऽर्थाभेदात् विधिशेषवत्समाने च।३।३।५॥

एवं सर्ववेदांतेषु समाने सत्युपासने वेदांतांतराम्नातानां गुणानां वेदांतांतर उपसंहार कर्त्तव्यः, कुतः? विधिशेषवदर्थाभेदात्-यथै-कस्मिन्वेदांते श्रुतो वैश्वानरदहरादिविधिशेषो गुणस्तद्विद्यासंबंधात् तदुपकाररूपप्रयोजनसिद्धयर्थमनुष्ठीयते, तथा वेदांतांतरोदितोऽपि तद् विद्यासंबंधित्वेन तदुपकाराविशेषादुपसंहर्तव्य इत्यर्थः। च शब्दोऽवधारणे।

इस प्रकार जब सभी वेदांतों में एक ही उपासना है, तो विभिन्न वेदांतों में कहे गए उपास्य के गुणों का भी उपसंहार करना चाहिए। विधि विशेष की तरह अर्थ का भी, प्रयोजन से अभेद होता है। जैसे कि-एक वेदांत में श्रुत, वैश्वानरोपासना विधि के अनुरूप गुण, उसविद्या से संबद्ध होने के कारण उसके उपकार रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए, अनुष्ठित होते हैं, वैसे ही विभिन्न वेदांतों में कहे गए गुण भी, उसी विद्या के उपकारक हैं, ऐसा मान कर ही उनका उपसंहार करना चाहिए। सूत्रस्थ च शब्द, अवधारण अर्थं में प्रयुक्त है।

२ अन्यथात्वाधिकरणः—

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नविशेषात् ।३।३।६॥

एवं चोदनाद्य विशेषात् विद्यैकत्वं, एकत्वे च गुणोपसंहारः कर्त्तव्य इत्युक्तम् अतः परं काश्चन् विद्याअधिकृत्य प्रत्यभिज्ञाहेतुभूत-चोदनाद्यविशेषोऽस्ति नेति निरूप्यनिर्णीयते।

ऊपर प्रेरणा आदि की सामान्यता के आधार पर विद्यैकता और एकता में गुणोपसंहार कर्त्तव्यता का प्रतिपादन किया गया। इसके बाद अब कुछ विद्याओं के उदाहरण प्रस्तुत कर, प्रत्यभिज्ञा के हेतु प्रेरणा आदि की, सामान्यता, उनमें है या नहीं? इसका निरूपण कर, सिद्धान्त प्रस्तुत करेंगे।

अस्त्युद्गीथविद्या वाजिनां छंदोगानां च। वाजिनां तावत् —"द्वयाह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च" इत्यारभ्य—"तेह देवा ऊचुः हंतासुरान्यंज्ञ उद्गीथेनात्ययाम:" इत्युद्गीथेनासुरविध्वंसनं प्रतिज्ञायोद्गीथे वागादिमनः पर्यन्तदृष्टौ असुरैरभिभवमुक्त्वा "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः" इत्यादिना उद्गीथे प्राणदृष्ट्या असुरपराभवमुक्त्वा—"भवत्यात्मना परास्य द्विषन् भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद" इति शत्रुपराजयफलायोद्गीथे प्राणदृष्टिर्विहिता। एवं छंदोगानामपि—"देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे" इत्यारभ्य—"तद ह

देवा उद्गीथम।जह्नरनेनैनानभिहनिष्याम: "इत्युद्गीथेनासुरपराभवं प्रतिज्ञाय तद्वदेवोद्गीथे वागादिदृष्टौ दोषमभिधाय—"अथ ह य एवायं मुख्य: प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे" —इत्यादिना उद्गीथे प्राण दृष्ट्या असुरपराभवमुक्त्वा "यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसते एवं हैव स विध्वंसते य एवं विदि पापं कामयते" इति शत्रुपराभवाय उद्गीथे प्राणदृष्टिर्विहिता। वेदनविषयविधिप्रत्ययाश्रवणेऽपि फलसाधनत्व श्रवणात् वेदनविषयोविधि: कल्प्यते। उद्गीथ विद्याया: क्रत्वर्थत्वेन क्रतु सादगुण्यफलत्वेऽप्यार्थवादिकमपि फलं तदविरुद्धं ग्राह्यमेवेति देवताधिकरणे प्रतिपादितम्।

उद्गीथ विद्या वाजसनेयी और छांदोग्य दोनों में है। वाजसनेयी में जैसे—"प्रजापति के दो प्रकार के पुत्र थे देव और असुर "यहाँ से प्रारंभ करके—"उनमें से देवताओं ने कहा हम यज्ञ में उद्गीथ द्वारा असुरों का अतिक्रमण करेंगे" इत्यादि से असुरों के ध्वंस की प्रतिज्ञा दिखलाकर, वाक् से मन पर्यन्त प्राणों की उद्गीथ दृष्टि करने पर भी—असुरों ने, उन देवों को पराभूत कर दिया, ऐसा बतलाकर "फिर अपने निकटस्थ प्राण से कहा" इत्यादि में, उद्गीथ में प्राण दृष्टि से असुरों का पराभव बतलाकर "जो इस प्रकार जानता है, वह प्रजापति रूप से स्थित होता है, और उससे द्वेष करने वाले भ्रातृव्य का पराभव होता है" इस प्रकार शत्रु पराजय फलवाली उद्गीथ में प्राण दृष्टि दिखलाई गई है। इसी प्रकार छांदोग्य में भी—"देवता और असुर जब आपस में लड़ रहे थे "यहाँ से प्रारंभ करके-"उन देवताओं ने उद्गीथ को लक्ष्य बनाकर यज्ञ किया, इसके द्वारा हम इन्हे हरा देंगे" इस प्राकार उद्गीथ द्वारा असुरों के पराभव की प्रतिज्ञा दिखलाकर, पूर्व की तरह उद्गीथ में वागादि दोषों को दिखलाकर—"जो यह मुख्य प्राण है, उद्गीथ रूप से उसी की उपासना की" इत्यादि से उद्गीथ में, प्राण दृष्टि द्वारा असुरों का पराभव बतलाकर "खनित्र (छेनी) जैसे पत्थर से टक्कर खाकर टूट जाती है, ठीक उसी प्रकार जो उद्गीथस्थ पुरुष के संबंध में पापाचार करता है वह भी नष्ट हो जाता है" ऐसी शत्रु पराभवरूप फलसिद्धि के लिए उद्गीथ में प्राणदृष्टि का विधान किया गया। उद्गीथ

प्रकरण में उपासना विषयक विधि वाक्य के न होते हुए भी, उपासना की फलोत्पादकता कही गई है, जिससे उपासना विधि की स्वतः कल्पना हो जाती है। उद्गीथ विद्या यज्ञ की उपकारिका है, यज्ञोत्कर्ष करना ही उसका फल है, फिर भी जो अर्थवाद फल कहा गया है वह विरुद्ध नहीं है वह भी ग्राह्य है, ऐसा देवताधिकरण में बतला भी चुके हैं।

तत्र संशय्यते—किमत्र विद्यैक्यम्, उत नेति? किं युक्तं? विद्यैक्यमिति कुतः,? उभयत्रोद्गीथस्यैवाध्यस्तप्राणभावस्योपास्यत्व-श्रवणाच्चोदनाद्य विशेषात्। फलसंयोगस्तावच्छत्रु परिभवरूपो न विशिष्यते। रूपमप्यध्यस्त प्राणभावोद्गीथाख्योपास्यैक्यादि-विशिष्टम्। चोदना च विदिधात्वर्थंगताऽविशिष्टा। आख्या चोद्गीथविद्येत्यविशिष्टा! अत्र राद्धान्तिच्छायया परिचोद्य परिहरति। "अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्" इति।

अब संशय होता है कि—दो शाखाओं में वर्णित ये उद्गीथ विद्या एक है अथवा भिन्न है? विचारने पर ज्ञात होता है कि-एक है क्योंकि-दोनों शाखाओं में प्राणभाव आरोपण पूर्वक उद्गीथ को ही उपास्य बतलाया गया है, दोनों में—विधि आदि में भी एक्य है। शत्रु पराभव रूप फल संबंध में भी प्रथकता नहीं है। प्राणभाव से आरोपित उपास्य उद्गीथ में पृधकता न होने से विद्या में पृथकता नहीं है। विदि धातु का अर्थ भी दोनों जगह सामान्यतः वेदन ही है तथा दोनों जगह "उद्गीथ" नाम भी एकसा है। इस सिद्धान्त पर आपत्ति पूर्वक परिहार करते हैं— "अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्"

यदुक्तं विद्यैक्यमिति, तन्नोपपद्यते, रूपभेदात्, रूपान्यथात्वं शब्दादेव हि प्रतीयते। वाजसनेयकेहि—'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायत्" इत्युगानस्य कर्त्तरि प्राणदृष्ट्याऽसुरपराभवमुक्त्वा "य एवं वेद" इतिकर्त्तयेव प्राणदृष्टिरेवंशब्दादवगम्यते। छांदोग्ये—"अथह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे" इत्युद्गानस्य कर्म-

व्युद्गीथे प्राणदृष्ट्या असुर पराभवमुक्त्वा–"य एवं विदि पापं कामयते" इत्येवं शब्दात् कर्मण्येवोद्गीथे प्राणदृष्टिर्विहिता। अथ एकत्र कर्त्तरि प्राणदृष्टिशब्दादन्यत्र कर्मणि प्राणदृष्टिशब्दाच्च रूपान्यथात्वं स्पष्टम्। रूपान्यथात्वेच विधेय भेदे सति केवल चोदनाद्यविशेषोऽकिंचित्कर इति विद्याभेद इतिचेत्–तन्न अविशे–षात्–अविशेषेण हि उभयत्र उद्गीथ साधनकपरपरिभव उपक्रमे प्रतीयते। वाजसनेयके–"ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्याम" इत्युपक्रमे श्रूयते, छांदोग्येऽपि–"तद्ह देवा उद्गीथ माजह्रु रनेनैनानभिहनिष्याम." इति। अथ उपक्रमाविरोधाय–"तेभ्य एष प्राण उद्गायत्" इत्यभ्यस्त प्राणभाव उद्गीथ उद्गान कर्मभूत एव पाकादिष्वोदनादिवत् सौकर्यातिशयविवक्षया कर्त्तृत्वेनोच्यते, अन्यथो पक्रमगत उद्गीथ शब्दः कर्त्तरिलाक्षणिकः स्यात् अतोविद्यैक्यम्।

विद्या की जो एकता बतलाते हो, वह सिद्ध नहीं होती क्योंकि-दोनों स्वरूपगत में पार्थक्य है। स्वरूपगत पृथकता शब्दों से ही प्रतीत होती है। जैसे कि वाजसनेयी में—"अथ हेममासन्यं" इत्यादि,से उद्गाता कर्त्ता में प्राण दृष्टि से असुरों का पराभव बतलाकर–"यं एवंवेद" वाक्य कहा, इस वाक्य के एवं शब्द से प्राण दृष्टि से उद्गाता की ही प्रतीति होती है। छांदोग्य में—"अथ ह य एवायं" इत्यादि में उद्गाता के कर्मभूत उद्गीथ में प्राणद्ष्टि द्वारा असुरों का पराभव बतलाकर "य एवं विदि-पापं" इत्यादि में–एवं शब्द से कर्मभूत उद्गीथ में ही प्राण दृष्टि का निर्देश है। इस प्रकार एक जगह कर्त्ता में तथा दूसरी जगह कर्म में, प्राण दृष्टि का निर्देश है। जिससे विद्या का स्वरूपगत भेद स्पष्ट हो जाता है। स्वरूप भेद और विधेय भेद होने से तथा केवल विधि आदि के अविशेष और अकिंचित्कर होने से–विद्या भेद निश्चित होता है [विवाद] उक्त कथन युक्ति संगत नहीं है—क्योंकि–दोनों में कोई विशेष बात नहीं है, जिसके आधार पर भेद माना जा सके, दोनों ही जगह प्रारंभ में, उद्गीथ साधना का, शत्रु पराभवरूप फल बतलाया गया।

बृहदारण्यक के उपक्रम में जैसे—"ते ह देवा ऊचुः" इत्यादि तथा-छांयोग्य में-"तद्‌हदेवा" इत्यादि कहा गया तथा उपक्रम के अविरोध के लिए-"तेभ्य एष प्राण उगद्‌ायत्" इत्यादि में प्राणभाव का अध्यास दिखलाया गया उद्‌गीथ का उद्‌गान ही उसका कर्म होता है जैसे कि पके हुए भात को सुविधावश चावल कह देते हैं, वैसे ही-कहने की सरलता से, उद्‌गीथ का कर्त्तृत्व बतला दिया गया। उपक्रम में उल्लेख्य उद्‌गीथ शब्द कर्त्ता में लाक्षणिक है। इसलिए विद्या एक ही है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

इस पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ।३।३।७॥

नवेति पक्षं व्यावर्त्तयति, नचैतदस्ति, तद्विद्यैक्यमिति कुतः? प्रकरण भेदात् "ओमित्येतदक्षरं उद्‌गीथमुपासीत" इति प्रकृतं उद्‌गीथावयवभूतं प्रणवं प्रस्तुत्य "एतस्य वाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति" "देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे" इत्यारभ्य—"अथ ह य एवायं मुख्यः—प्राणस्तमुद्‌गीथमुपासांचक्रिरे" इत्युद्‌गीथावयवभूतप्रणव-विषयमुपासनं छंदोगा अधीयते, वाजिनस्तु तादृशप्राचीन प्रकरणा-भावात् हंतासुरान्यज्ञ उद्‌गीथेनात्ययाम" इति कृत्स्नमुद्‌गीथं प्रस्तुत्य "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्‌गाय" इत्यादिकृत्स्नोद्‌गीथ-विषयमधीयते अतः प्रकरणभेदेन विधेय भेदः, विधेयभेदे च रूपभेद इति न विद्यैक्यम्।

नवा शब्द उक्त पक्ष का व्यावर्त्तक है। विद्या में भेद नहीं है। विद्या एक है, क्योंकि दोनों में प्रकरण का भेद है। "ॐ इस उद्‌गीथाक्षर की उपासना करो" इत्यादि में प्रस्तावित उद्‌गीथ के अंग विशेष प्रणव का उल्लेख करके "इस अक्षर का उपव्याख्यान होता है" देवता और असुर जहाँ संग्राम करते थे" इत्यादि से प्रारंभ करके "इसके बाद जो मुख्य प्राण हैं, उसकी उद्‌गीथ रूप से उपासना की।" इत्यादि में उगद्गीथ

की अवयवरूप प्रणवोपासना छांदोग्य में बतलाई गई है। वाजसनेयी में उक्त प्रकार के प्राचीन प्रकरण का अभाव है इसलिए "हम लोग उद्‌गीथ असुरों का अतिक्रमण करेंगे" इत्यादि में समस्त उद्‌गीथोपासना का ही उपक्रम करके मुख्य प्राण के लिए कहा गया कि—"तुम हमारे लिए उद्‌गान करो" इत्यादि, इससे निश्चित होता है कि—इसमें संपूर्ण उद्‌गीथोपासना का ही निर्देश है प्रकरण में भेद होने से, विषय में भी भेद होता है तथा विषय भेद से स्वरूप भेद होता है। इसलिए विभिन्न प्रकरणों की उद्‌गीथ विद्या एक नहीं है।

किं च—"अथह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे" इति पूर्वप्रकृत उद्‌गीथावयवभूतः प्रणव एवाध्यस्त प्राणभावः छंदोगानामुपास्यः। वाजिनांतु कृत्स्नस्योद्‌गीथस्यकर्त्तोद्‌गाथा प्राणदृष्ट्योपास्य इति। "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्‌गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्‌गायत" इत्युद्‌गातरि प्राणाध्यासं निर्दिश्य "य एवं वेद" इत्युद्‌गातैवाध्यस्त प्राणभाव उपास्यो विधीयते। अतश्च रूपभेदः। न चोद्‌गातर्युपास्ये विहितं "उद्‌गीथेनाययाम" इत्याख्यायिकोपक्रमविरोधः शंकनीयः, उद्‌गातुरुपासने उद्‌गीत-स्योद्‌गानकर्मभूतस्यावश्यापेक्षितत्वात्तस्यापि परपरिभवाख्यं फलं प्रति हेतुत्वात्। अतोरूपभेदात् विद्याभेद इति चोदनाद्यविशेषेऽपि न विद्यैक्यम्। परोवरीयस्त्वादियत्—यथैकस्यामपि शाखायामु-द्‌गीथावयवभूते प्रणवे परमात्मदृष्टि विधानसाम्येऽपि हिरण्मय-पुरुषदृष्टिविधानात् परोवरीयस्त्वादि गुणविशिष्टदृष्टिविधान-मर्थान्तरभूतम्।

तथा—"इस मुख्य प्राण की उद्‌गीथ रूप से उपासना की" इत्यादि में, पूर्ण प्रस्तावित उद्‌गीथांश प्रणव में प्राणात्मभाव का आरोप किया गया है। वही छांदोग्य का उपास्य है। वृहदारण्यक में—संपूर्ण उद्‌गीथ का कर्त्ता उद्‌गाता ही प्राण रूप से उपास्य माना गया है। "इसके वाद निकटवर्ती मुखस्थ प्राण से कहा कि तुम हमारे लिए उद्‌गान

करो, उसने तथास्तु कहकर उनके लिए उद्गान किया" इत्यादि से, उद्गाता कर्त्ता में ही प्राण भाव का आरोप करके "जो इस प्रकार जानते हैं इत्यादि में-आरोपित प्राणस्वरूप उद्गाता को ही उपास्य बतलाया गया है। इस प्रकार भी उद्गाता में स्वरूपगत भेद है। उद्गाता के उपास्य रूप से विहित होने से, उसका कर्मभूत उद्गीथ भी अपेक्षित हो जाता है, जिससे शत्रु पराभवरूप फलसिद्ध में, उसकी भी कारणता हो जाती है। स्वरूप भेद से जब विद्या भेद हो जाता है तब विधि आदि की एकता होते हुए भी, विद्या का अभेद नहीं हो सकता—जैसे कि—छांदोग्य की एक ही शाखा में उद्गीथ प्रकरण के मध्य में उद्गीथांश रूप प्रणव के परमात्म दृष्टि से साम्य होते हुए भी, हिरण्मय पुरुष परक दृष्टि का विधान होने से, परोवरीय आदि गुणों से विशिष्ट दृष्टि का विधान, भिन्नता का द्योतक है।

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ।३।३।८॥

उद्गीथविद्येति संज्ञैक्यात् तत्–विद्यैक्यमुक्तं चेत्–तत् संज्ञैक्यंविधेयभेदेऽप्यस्त्येव, यथा अग्निहोत्रसंज्ञा नित्याग्निहोत्रे, कुंडपायिनामयनाग्निहोत्रे च, यथाचोद्गीथविद्येति छांदोग्ये प्रथम प्रपाठकोदितासुबह्वीषु विद्यासु ।

"उद्गीथ विद्या" ऐसी नाम की एकता है, ऐसा कथन भी संगत नहीं है, प्रायः विधेय के भेद में भी एक नाम होता है जैसे कि—नित्य अग्निहोत्र और कुण्डपायी अग्निहोत्र, दोनों ही अग्निहोत्र नाम वाले हैं। छांदोग्य के प्रथम प्रपाठक की अनेक विद्यायें, उद्गीथ नामवली हैं।

व्याप्तेश्च समंजसम् ३।३।९॥

छांदोग्ये प्रथमप्रपाठके उत्तरांस्वपिविद्यासूद्गीथावयवस्य प्रणवस्य प्रथमप्रस्तुतस्योपास्यत्वेन व्याप्तेश्च तन्मध्यगतस्य "तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुः" इत्युद्गीथशब्दस्य प्रणवविषयत्वमेव समंजसम्। अवयवे च समुदाय शब्दः पटोदग्धः" इत्यादिषु दृश्यते ।

अतश्चोद्गीथावयवभूतः प्रणव एवोद्गीथ शब्द निर्दिष्ट इति स एव प्राणदृष्ट्योपास्यश्छान्दोग्ये प्रतिपत्तव्यः। वाजसनेयके तु कृत्स्नोंद्गीथ विषय उद्गीथ शब्द इति कृत्स्नोद्गीथस्य कर्त्तोद्गाता प्राण दृष्ट्योपास्य इति विद्यानानात्वं सिद्धम्।

छाँदोग्य के प्रथम प्रपाठक में, प्रथमवर्णित–उद्गीथावयव प्रणव की उपासना, परवर्त्ती विद्याओं में भी अनुगत है इसलिए मध्यवर्त्ती—"देवताओं ने उस उद्गीथ का आहरण कर लिया" इत्यादि में उल्लेख्य "उद्गीथ" शब्द का प्रणवार्थं मानना ही संगत होगा। "जला-कपड़ा" इत्यादि उदाहरणों में जैसे—समुदाय वाचक शब्द का उसके अवयव में भी प्रयोग किया जाता है [अर्थात् कपड़े का ढेर जले या एक जले प्रयोग "पटो दग्धः" ही किया जाता है] वैसे ही—उद्गीथ के अंग प्रणव का भी, उद्गीथ शब्द से ही निर्देश किया गया है। उसे ही छांदोग्य में—प्राणदृष्टि से उपास्य कहा गया है। वृहदारण्यक में तो–संपूर्ण उद्गीथ का बोधक उद्गीथ शब्द है, संपूर्ण उद्गीथ के कर्त्ता उद्गाता को ही प्राणदृष्टि से उपास्य कहा गया है। इससे विद्या का भेद ही सिद्ध होता है।

सर्वाभेदाधिकरणः—

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ।३।३।१०॥

छांदोग्यवाजसनेयकयोः प्राणविद्या आम्नायते "योह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च हवै श्रेष्ठश्च भवति, प्राणोवाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च" इत्यादि तत्र ज्यैष्ठयश्रैष्ठयगुणकं प्राणमुपास्यं प्रतिपाद्य वाकचक्षुः श्रोत्रमनः सुवसिष्ठत्वप्रतिष्ठात्वसंपत्स्वायतनत्वाख्यान् गुणान् प्रतिपाद्य वागादीनां देहस्य च प्राणायत्तस्थितित्वेन तदायत्ततत्तत्कार्यत्वेन च प्राणस्य श्रैष्ठ्यं प्रतिपाद्य वागादि संबंधितया श्रुतान्वशिष्ठत्वादीन् गुणांश्च प्राणसंबंधितया प्रतिपादयति। एवं छांदोग्यवाजसनेयकयोर्ज्यैष्ठयश्रैष्ठयगुणको

वसिष्ठत्वादिगुणकश्च प्राण उपास्यः प्रतिपाद्यते । कौषीतिकिनां तु प्राणविद्यायां तथैव ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यगुणकः प्राण उपास्यः प्रतिपादितः, न पुनर्वसिष्ठत्वादयो वागादि संबंधिनो गुणः प्राण संबंधितया प्रतिपादिताः। तत्र संशयः, किमत्र विद्याभिद्यते, उतनेति ? किं युक्तम् ? भिद्यत इति । कुतः ? रूपभेदात् । यद्यप्युभयत्र प्राण एव ज्यैष्ठ्य श्रैष्ठ्यगुणक उपास्यः, तथाप्येकत्र वसिष्ठत्वादिभिरपि गुणेयु क्तः प्राणउपास्यः प्रतीयते, इतरत्र तु तद्विधुर इत्युपास्य रूपभेदाद्विद्याभेदः ।

छांदोग्य और बृहदारण्यक दोनों में प्राणविद्या का उपदेश है "जो लोग ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानते हैं, वे स्वयं ज्येष्ठ श्रेष्ठ हो जाते हैं, प्राण ही ज्येष्ठ है" इत्यादि । इसमें ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुण संपन्न प्राण की उपास्यता का प्रतिपादन करके-वाक्-चक्षु-श्रोत्र और मन को क्रम से वसिष्ठता, प्रतिष्ठता, समपद रूपता और आयतनता गुणों वाला बतलाया गया है । इसके बाद-वाक् आदि इंद्रियों और देह में स्थित विशेष कार्यों से अधीन प्राण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करके-वागादि संबंधी वसिष्ठता आदि गुणों का भी, प्राण संबंधी रूप से ही प्रतिपादन किया गया है । जैसी छांदोग्य वृहदारण्य में ज्येष्ठ श्रेष्ठ-वसिष्ठ आदि गुण विशिष्ट प्राण की उपास्यता बतलाई गई है, वैसी ही कौषीतकि प्राण विद्या में भी ज्येष्ठता श्रेष्ठता गुण विशिष्ट प्राण की उपास्यता बतलाई गई है, उसमें प्राण संबंधी वागादि इंद्रिय संपर्कित वसिष्ठता आदि गुणों का उल्लेख नहीं किया गया है । इस पर संशय होता है कि उक्त विद्या एक है या भिन्न ? कह सकते हैं कि-भिन्न, क्योंकि-रूप का स्पष्ट भेद है । यद्यपि दोनों जगह ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुण वाले प्राण को ही उपास्य कहा गया है, पर एक जगह वसिष्ठता आदि गुणों से युक्त प्राण की उपास्यता का उपदेश है, दूसरी जगह, उनगुणों से हीन प्राण उपास्य है । इस प्रकार रूप में भेद है । अतः विद्या भिन्न है ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते ब्रूमः—सर्वाभेदादन्यत्रेमे—नात्रविद्या भेदः, अन्यत्र कौषीतकिनां प्राण विद्यायामपि इमे—वसिष्ठत्वादयो

गुणा उपास्याः संति कुतः ? सर्वाभेदात्-प्रतिज्ञात प्राण ज्यैष्ठ्य-श्रैष्ठयोपपादनप्रकारस्य सर्वस्य तत्राप्यभेदात् । तथाहि-छांदोग्यवाजसनेयिनां प्राणविद्यायाम "एताहवै देवता अहं श्रेयसे व्यूदिरे "अहंश्रेयसे विवदमानाः" इति चोपक्रम्य वागाद्येकैकोपक्रमणे अन्येषां स प्राणानामिन्द्रियाणां शरीरस्य च स्थिति तत्तत्कार्यं चाविकलं प्रतिपाद्य प्राणोत्क्रमणं सर्वेषां विशरणमकार्यकरत्वं चाभिधाय सर्वेषां प्राणाधीनस्थितित्वतदधीनकार्यत्वाभ्यां प्राणस्य ज्यैष्ठयमुपपादितम् । एवमुपपादितं वागादिकार्यस्य प्राणाधीनत्वं-"अथ हैनंवागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वद् वसिष्ठोऽसि" इत्यादिना वागादिभिरनूद्यते ।

उक्त संशय पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि-विद्या का भेद नहीं है, कौषतकि में भी वसिष्ठता आदि गुणों का उपास्य रूप से उल्लेख है। प्राण के ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुणों के उपपादन से ही, उन सबकी अभिन्नता प्रतीत होती है। छांदोग्य और वृहदारण्यकीय प्राण विद्या में-"वे देवता (इंद्रियाँ) अपनी-अपनी प्रधानता बतलाने के लिए विवाद करने लगे। "अपनी-अपनी प्रतिष्ठा के लिए विवाद करते-करते" इत्यादि से प्रारंभ करके-वागादि आदि एक-एक इन्द्रियों का बहिर्गमन तथा प्राणयुक्त इंद्रियों का शरीर में अवस्थान एवं कार्यकारिता का प्रतिपादन किया गया और अंत में-प्राणों के उत्क्रमण से समस्त इन्द्रियों की शिथिलता और अकर्मण्यता का प्रतिपादन करके, प्राण की अधीनता में सबकी अवस्थिति और कार्यकारिता के कारण प्राण की ज्येष्ठता आदि का समर्थन किया गया है। इसी प्रकार वागादि इन्द्रियों की प्राणाधीनता का भी समर्थन करते हुए "वाक् ने कहा जो मेरी वसिष्ठता है वही तुम्हारी भी वसिष्ठता है।" इत्यादि में वागादि से अनूदित किया गया है।

कौषीतकिनां प्राणविद्यायामपि प्राणज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्य प्रतिपादनाय वागादिषु वसिष्ठात्वादयः प्रतिपादिताः । "अथ हैमा देवताः प्रजापतिपितरमेत्याब्रुवन् को वै न श्रेष्ठः" इत्यादिना

वागादि गतागुणा वागादयश्च देहश्च प्राणाधीना इति प्राणस्य ज्यैष्ठ्यमुपपादितम् । वागादिभिः स्वस्वगुणा वसिष्ठत्वादीनां प्राणाधीनत्वानुवादमात्रं तुनक्तम् । नैतावता रूपभेदः, वागादीनां वसिष्ठत्वादि गुणान्वितानां प्राणाधीनकार्यत्वोपपादनेनैव प्राणस्य वागादि वसिष्ठत्वादि गुणहेतुत्वस्य सिद्धत्वात् । तदेव हि प्राणस्य वसिष्ठत्वादि गुणयोगित्वं, यद्वागादिवसिष्ठत्वादि हेतुत्वम । अतोऽत्रापि वसिष्ठत्वादिगुणयोगात् प्राणो ज्येष्ठः प्रतिपन्न इति नास्ति विद्या भेदः ।

कौषीतकि प्राण विद्या में भी; प्राण की ज्येष्ठता श्रेष्ठता के प्रतिपादन के लिए, वागादि की वशिष्ठता आदि का प्रतिपादन किया गया है। "इन देवताओं ने प्रजापति के पास जाकर कहा—हममें कौन श्रेष्ठ है ?" इत्यादि में वाक् आदि के गुण, वागादि इन्द्रियों और शरीर इत्यादि सबको प्राणाधीन बतलाकर-प्राण की ज्येष्ठता का समर्थन किया गया है। वागादि की एक मात्र गुणों के कारण ही प्राणाधीनता नहीं बतलाई गई अपितु उनको स्वरूपतः भी अभिन्न कहा गया है, क्योंकि जब एक मात्र प्राण ही, इन्द्रियों की वसिष्ठता आदि का कारण है, तब वसिष्ठता आदि गुणों से संपन्न इन्द्रियों की कार्यकारिता स्वतः ही प्राणाधीन सिद्ध होती है। वस्तुतः प्राण की जो, वागादि इन्द्रियगत वसिष्ठता आदि गुण संपादकता है, वह उसकी अपनी ही, वसिष्ठता आदि गुण योगिता है। इस विवेचन से निश्चित होता है कि—कौषीतकि में भी वसिष्ठता आदि गुणों से संबंद्ध प्राण की ज्येष्ठता बतलाई गई है। इस प्रकार विद्या में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है।

४ आनंदाद्याधिकरणः—

प्राणविद्यांगविषयमन्यदपि निरूपणमनंतरमेव करिष्यते । यथा प्राणस्य वसिष्ठत्वाद्यनुसंधानेन विना ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यानुसंधानामुपपत्तेरनुक्तानामपि वसिष्ठत्वादीनां कौषीतकि प्राणविद्यायां प्राप्तिः तथा ब्रह्मस्वरूपानुसंधानं येर्गुणैर्विनानोपपद्यते, ते ब्रह्म-विद्यासु सर्वास्वप्यनुसंधेया इत्ययमर्थं प्रतिपाद्यते ।

प्राण विद्या के अन्य अंगों का भी प्रतिपादन करना होगा, जैसे कि प्राण की वसिष्ठता आदि के अनुसंधान के बिना ज्येष्ठता श्रेष्ठता आदि की प्रतीति नहीं होती इस बात को बतलाये बिना ही, वसिष्ठता आदि गुणों का, कौषीतकि प्राणविद्या में जो उल्लेख है तथा—बिना समस्त गुणों की जानकारी के ब्रह्म का स्वरूप ज्ञान संभव नहीं है, ब्रह्म विद्याओं में उन गुणों का अनुसंधान आवश्यक है। इत्यादि बातों का प्रतिपादन करते हैं।

आनंदादयः प्रधानस्य ।३।३।११।।

अत्रब्रह्मस्वरूपगुणानां सर्वासु परविद्यासूपसंहारोऽस्ति, नेति विचार्य्यते । अप्रकरणाधीतानामुपसंहारे प्रमाणाभावात् प्रकरण श्रुतानामेवोपसंहार इति ।

ब्रह्म के स्वरूपगत गुणों का सभी विद्याओं में उपसंहार है या नहीं इस पर विचार करते हैं। भिन्न प्रकरणों में कहे गये गुणों के उपसंहार का कोई प्रमाण नहीं मिलता, इसलिए ज्ञात होता है कि—प्रस्तुत प्रकरण में कहे गए गुणों का स्वतः में ही उपसंहार है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते ब्रूमः—आनंदादयः प्रधानस्य, अभेदादिति वर्त्तते प्रधानस्यगुणिनोब्रह्मणः सर्वेषूपासनेष्वभेदात् गुण्यपृथग्-भावाद्गुणानां सर्वत्रानंदादयस्तद्गुणा उपसंहर्त्तव्या।

उक्त कथन पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि—पूर्व सूत्र से "अभेदात्" पद की इस सूत्र में भी अनुवृत्ति है, जिससे अर्थ होता है कि—आनंदादि प्रधान गुणों वाले ब्रह्म का सभी उपासनाओं से अभेद संबंध होने से तथा—गुण और गुणी की अपृथक्ता होने से, आनंदादि गुणों का सभी विद्याओं में उपसंहार करना चाहिए।

एवं तर्हि—गुण्यपृथक्भावादेवानंदादिवत् प्रियशिरस्त्वादयोऽपि "तस्य प्रियमेवशिरः" इत्यादौ ब्रह्मगुणत्वेन श्रुताः सर्वत्र प्रसज्येरन्-नेत्याह—

(शंका) ऐसा मानने से तो–गुणी से अभिन्न आनंदादि की तरह आनंद के अंग प्रियशिर आदि जो कि–"तस्यप्रियमेवशिरः" इत्यादि में ब्रह्म के गुण रूप ही कहे गए हैं, उनका भी सब जगह उपसंहार करना होगा इसका निराकरण करते हैं :—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तरुपचयापचयौहि भेदे ।३।३।१२॥

ब्रह्मस्वरूपगुणानां प्राप्तावुच्यमानायां प्रियशिरस्त्वादीनामप्राप्तिः, तेषामब्रह्मगुणत्वात्, ब्रह्मणः पुरुषविधत्वरूपणमात्रान्तर्गतत्वात्प्रियशिरस्त्वादीनाम्। अन्यथा शिरः पक्षपुच्छाद्यवयव भेदेसति ब्रह्मणोऽप्युपचयापचयौ प्रसज्येयाताम्। तथाच सति–"सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि विरुध्यते ।

ब्रह्म के स्वरूप भूत गुणों की गणना करने में, प्रियशिरत्व आदि गुणों की गणना नहीं हो सकती, क्योंकि–वे ब्रह्म के गुण नहीं हैं अपितु वे प्रियशिरता आदि, ब्रह्म के अवतार रूप के निरूपण करने वाले अवान्तर गुण मात्र हैं। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो शिर–पक्ष–पुच्छ आदि अवयव भेद, ब्रह्म के उपचय अपचय के परिचायक देहगत विकार हो जावेंगे। जो कि–"सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि ब्रह्मस्वरूप के विरुद्ध बात होगी।

नन्वेवमेव ब्रह्मसंबंधिनामैश्वर्यगांभीर्यौदार्यकारुण्यादीनां गुणानामनंतानां गुण्यपृथक् स्थित्वमात्रेण तत्राश्रुतानामप्युपसंहारे सर्वे सर्वत्र प्रसज्येरन्, आनंत्यादुपसंहाराशक्तिश्च। तत्राह—

इस प्रकार तो ब्रह्म संबंधी, ऐश्वर्य–गांभीर्य–औदार्य–कारुण्य आदि अनंतगुणों की, गुणी से अपृथक्ता होने से, जहाँ गुणों का कथन नहीं है, वहाँ भी समस्त गुणों की उपस्थिति अनिवार्य हो जायेगी? ब्रह्म के अनंत गुणों का उपसंहार संभव भी नहीं है? इसका उत्तर देते हैं—

इतरेत्वर्थ सामान्यात् ।३।३।१३॥

तु शब्दश्चोद्यं व्यावर्त्तयति, इतरेतु आनंदादयः, अर्थसामान्यात् सर्वत्रानुवर्त्तन्ते। ये त्वर्थसमानाः, अर्थस्वरूपनिरूपणधर्मत्वेनार्थं

प्रतीत्यनुबंधिनः, तेऽर्थस्वरूपवत् सर्वत्रानुवर्त्तन्ते । ते च गुणाः सत्यज्ञानानंदामलत्वानंतानि । "यतो वा इमानि" इत्यादिना जगत्-कारणतयोपलक्षितं ब्रह्म "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" "आनंदो ब्रह्म" इत्यानंदादिभिर्हि स्वरूपतो निरूप्यते अत उपास्य ब्रह्म स्वरूपाव-गमाय सर्वासु विद्यास्वानंदादयोऽनुवर्त्तन्ते । ये तु निरूपित स्वरूपस्य ब्रह्मणः कारुण्यादयोगुणाः प्रतिपन्नाः तेषां गुण्यपृथक् स्थितत्वेऽपि प्रतीत्यनुबंधित्वाभावात्-ये यत्र श्रुताः ते तत्रोपसंहार्याः, इति निरवद्यम् ।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्त तर्क का समाधान करता है । आनंद आदि सामान्य अर्थ बोधक होने से सभी विद्याओं में अनुवृत्त हो सकते हैं, जो कि–गुणी के समानार्थक गुण हैं, अर्थात् जो अर्थ स्वरूप के निरूपक होने से एकमात्र अर्थ प्रतीति के कारण ही गुण वाच्य हैं, वे जिस गुणी की अर्थ प्रतीति कराते हैं, उस गुणी की तरह ही, समस्त विद्याओं में अनुवृत्त हो सकते हैं । वे गुण–सत्य–ज्ञान–आनंद अनंतता आदि ही हैं । "यतो वा इमानि" इत्यादि से, जगत् कारणरूप से उपलक्षित ब्रह्म ही "सत्यंज्ञान-मनंतं ब्रह्म" आनंदोब्रह्म" इत्यादि वाक्यों में आनंद आदि रूपवाले निरूपण किये गए हैं । उपास्य ब्रह्म स्वरूप की प्रतीति के लिए ही सभी विद्याओं में बार-बार अनुवर्त्तन कियागया है । उक्त प्रकार से निरूपित ब्रह्म के कारुण्य आदि प्रसिद्ध गुणों की गुणी से अपृथक् स्थिति होते हुए भी, उन गुणों से एकमात्र ब्रह्म की ही प्रतीति होती हो, अन्य की नहीं, ऐसा कोई अनुबंधन होने के कारण वे कारुण्य आदि गुण जहाँ कहे गए हैं, उनका वहीं उपसंहार होगा, अन्यत्र नहीं ।

यत्तूपचयापचयप्रसंगात् प्रियशिरस्त्वादयो ब्रह्मणः पुरुष विधत्वरूपणमात्रार्थाः न तु ब्रह्म गुणाः । तर्हि अतथारूपस्यब्रह्मण-स्तथात्वेन रूपणं किमर्थं क्रियते अतथाभूतस्य हि तथात्वरूपणे केनचित् प्रयोजनेन भवितव्यम्, यथा–"आत्मानं रथिनंविद्धि" इत्यर्दिनोपासकस्य तदुपकरणानां च रथिरथादित्वरूपणम्

उपासनोपकरणरूप शरीरेन्द्रियादिवशीकरणार्थं क्रियत इत्युक्तम्। नवेह तथाविधम् किंचित्प्रयोजनं दृश्यते। इति बलात् ब्रह्मगुणत्वं प्रियशिरस्त्वादीनामभ्युपेत्यम्। तत्राह–

जो यह कहा कि– ब्रह्म के अवतार की ही पक्षिरूप से कल्पना की गई है उसी के लिए प्रियशिरत्व आदि कल्पित है, वस्तुतः वे परमात्मा के गुण नहीं हैं। यदि ऐसा ही है तो, ब्रह्म के पक्षिरूप कल्पना का प्रयोजन क्या होगा ? असंभव वस्तु की संभवकल्पना का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। जैसे कि–"आत्मा को रथी जानो ःइत्यादि कल्पना में उपासक जीव और उसकी साधना के उपकरण इन्द्रिय आदि का, रथीरथ, आदि रूपों से जो निरूपण किया गया है, वह उपासना के साधनभूत शरीरेन्द्रियादि के वशीकरण के लिए है, वही उसका प्रयोजन है। इस प्रकार का कोई भी प्रयोजन, पक्षिरूप की कल्पना में तो दीखता नहीं, इसलिए अगत्या प्रिय शिरता आदि को परमात्मा का ही गुण मानना पड़ेगा। इसका उत्तर देते हैं।

आध्यानाय प्रयोजनाभावात्।३।३।१४॥

प्रयोजनान्तराभावात् आध्यानाय अयं रूपणोपदेशः क्रियते। आध्यानं अनुचिन्तनम्, उपासनमुच्यते। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यत्रोपदिष्टाध्यानरूपवेदन सिद्धये हि आनंदमयब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमानंदमयं ब्रह्म प्रियमोदादिरूपेण विभज्य शिराः पक्षादित्वेन रूपयित्वोपदिश्यते। यथाऽन्नमयः पुरुषः अयं देहः शिरः पक्षादिभिः "तस्येदमेवशिरः" इत्यादिना बुद्धावारोप्यते, यथा च प्राणमय मनोमयविज्ञानमयाः तस्य प्राण एव शिरः" इत्यादिना प्राणाद्यवयवैर्बुद्धावारोप्यन्ते, एवमेभ्योऽर्थान्तरभूतस्तदंतरात्मा आनंदमयोऽपि प्रियमोदादिभिरेकदेशैः शिरःप्रभृतित्वेन रूपितैराध्यानाय बुद्धावारोप्यते। एवमानंदमयोपलक्षणत्वात् प्रियशिरस्त्वादीनां न सर्वदाआनंदमय प्रतीतावनुवर्त्तन्ते।

उक्त कल्पना का कोई अन्य प्रयोजन नहीं है, केवल आध्यान के लिए ही उक्त कल्पना की गई है आध्यान अर्थात् अनुचिंतन, उपासना को कहते हैं। "ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त करता है" इसवाक्य में आध्यान रूप वेदन का उपदेश दिया गया है, उसकी सिद्धि के लिए ही, आनंदमय ब्रह्म का विवेचन, प्रियमोद आदि रूपों से विभक्त करके, शिर पंख आदि रूपों से किया गया है जैसे कि–पुरुष पदवाच्य, अन्नमय स्थूल देह को "यही उसका शिर है" इत्यादि से–शिरपक्षादियुक्त विशिष्ट रूप, से बुद्धि में आरोपित करने के लिए कल्पना की गई है तथा प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय इत्यादि को तस्य प्राणमयः शिरः" इत्यादि से प्राण आदि की बुद्धि में आरोपित करने के लिए कल्पना की गई वैसे ही-अन्नमय आदि से स्वतंत्र, उनके ही अंतरात्मा आनंदमय की, प्रियमोद आदि एक देशीय विशेषताओं की शिर आदि रूपों में आध्यान करने के लिए कल्पना की गई है। आनंदमय के उपलक्षण होने के कारण प्रियशिर आदि, सब जगह आनंदमय की ही प्रतीति कराते हों ऐसा नहीं है, यह ऊपर के विवेचन से निश्चित हो जाता है। वे तो एक मात्र उपासना के लिए ही हैं।

आत्मशब्दाच्च ।३।३।१५।।

"अन्योऽन्तर आत्माऽनंदमयः', इत्यात्मशब्देन निर्देशादात्मनश्च शिरःपक्षपुच्छासंभवात् प्रियशिरस्त्वादयस्तस्य सुखप्रतिपत्त्यर्थं रूपणमात्रमिति गम्यते ।

"इससे भिन्न अन्तस्थ आत्मा आनंदमय है" इत्यादि वाक्य में आनंदमय का आत्मा शब्द से निर्देश किया गया है, आत्मा में शिर-पंख पूंछ आदि संभव नहीं हैं, इसलिए उसकें प्रियशिरत्व आदि की कल्पना सुख प्राप्ति के लिए, रूपक मात्र ही प्रतीत होते हैं।

ननु 'अन्योऽन्तरं आत्माप्राणमयाः" अन्योऽन्तरआत्मा मनोमयः "इत्यात्मशब्दस्यनात्मस्वपि पूर्वं प्रयुक्तत्वात् "अन्योऽन्तरआत्मा आनंदमयः" इत्यात्मशब्दस्य परमात्मविषयत्वं कथं निश्चीयते? तत्राह—

(शंका) "इससे भिन्न अन्तरस्थ आत्मा प्राणमय है" इससे भिन्न अन्तरस्थ आत्मा मनोमय है" इत्यादि वाक्यों में आत्मा शब्द का प्रयोग अनात्म-प्राण, मन आदि के लिए भी किया गया है, फिर इन वाक्यों के परवर्ती "इससे भिन्न अन्तरस्थ आत्मा आनंदमय है" इस वाक्य में प्रयुक्त आत्मा शब्द को परमात्मा विषयक ही कैसे निश्चित किया जा सकता है? इसका उत्तर देते हैं—

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।३।३।१६॥

"अन्योऽन्तरआत्माऽनंदमयः इत्यत्रात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणम्, इतरवत्–यथेरत्र–"आत्मावाइदमेक एवाग्र आसीत् स ईक्षत् लोकान्नु सृजै" इत्यादिष्वात्मशब्देन परमात्मन् एव ग्रहणम् । तद्वत् । कुत एतत्? उत्तरात्–"सोऽकामयत्बहुस्यां प्रजायेय "इत्यानंदमयविषयात् उत्तराद्वाक्यात् ।

"इससे भिन्न अन्तरात्मा आनंदमय है" इस वाक्य में प्रयुक्त आत्म शब्द परमात्मावाची ही माना जायगा जैसे कि "सृष्टि से पूर्व एक मात्र आत्मा ही था। उसने इच्छा की कि–लोकों की सृष्टि करूं" इत्यादि अन्य वाक्यों में आत्मा शब्द परमात्मावाची ही है। उक्त आनंद-मय विषयक वाक्य के बाद के "उसने कामना की कि अनेक हो कर जन्म लूं" इत्यादि वाक्य से उस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है।

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ।३।३।१७॥

पूर्वत्र प्राणमयादिष्वनात्मशब्दान्वयदर्शनान्नोतरान्निश्चेतुं शक्यत् इति चेत्–स्यादवधारणात्–स्यादेव निश्चयः, कुतः? अवधारणात् पूर्वत्रापि–"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इति परमात्मन एव बुद्ध्याऽवधारितत्वात् अन्नमयादनन्तरे प्राणमये प्रथमं परमात्मबुद्धिरवतीर्णातदनंतरं च प्राणमयादनन्तरे मनोमये, ततोविज्ञानमये ततं आनंदमये प्रक्रान्ता परमात्मबुद्धिस्त-दन्तराभावादुत्तराच्च "सोऽकामयत्" इति वाक्यात् प्रतिष्ठितेत्युप-क्रमेऽप्यपरमात्मनिपरमात्मबुद्धया आत्मशब्दान्वयः, इति निरवद्यम् ।

यदि कहें कि–पूर्वोक्त प्राणमय आदि अनात्म शब्दों से संबद्ध आनंदमय को परवर्ती वाक्य से निश्चित नहीं किया जा सकता सो बात नहीं है, अवधारण से निश्चित किया जा सकता है। अन्नमय प्राणमय आदि अवधारण से पूर्व भी "इस आत्मा से आकाश हुआ" इस आत्मा में परमात्मा ही बुद्धि में सरलतापूर्वक समझा जा सके इसलिए अन्नमय से भिन्न प्राणमय को सर्वप्रथम परमात्मा बुद्धि से प्रस्तुत किया गया; उसके बाद प्राणमय से भिन्न मनोमय में और फिर आनंदमय में परमात्म बुद्धि की गई। इसके बाद अन्त में कुछ कथ्य ही नहीं है यही एकमात्र सिद्धान्त है इसलिए "उसने कामना की" इत्यादि वाक्य से-आत्म शब्द का परमात्मा अर्थ निश्चित हो जाने पर उपक्रम वाक्य में भी अपरमात्म (अन्नमय आदि) में परमात्म बुद्धि के लिए आत्म शब्द का संबंध दिखलाया गया है इसलिए उक्त मत निर्दोष है।

५ कार्याख्यानाधिकरणः

कार्याख्यानादपूर्वम् ।३।३।१८॥

पूर्वप्रस्तुत प्राणविद्याशेषभूतमिदानीं चिन्त्यते। छांदोग्यवाजसनेयकयोः ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च प्राणमुपास्यमुक्त्वा प्राणस्य वासस्त्वेनापोऽभिधीयंते। छांदोग्ये तावत्-"स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुः तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चादभिः परिदधति लम्भुकोहवासो भवत्यनग्नो भवति" इति। वाजसनेयके –"किं मे वास.? "इति प्राणेनपृष्ट्वा वागादय ऊचुः" आपो वास इति तद् विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा चाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते "तस्मादेवं विदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चानामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इति। तत्र संशयः, किं अत्राचमनं विधीयते उत अपां प्राणवासस्त्वानुसंधानमिति? "अशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेत् "इत्याचमने विधिप्रत्ययश्रवणात् "एतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इति वेदने विधिप्रत्ययाभावादनग्नता संकीर्तनस्य स्तुत्यर्थतयाऽन्वयोपपत्तेश्च भोजनांगस्याचमनस्य

स्मृत्याचार प्राप्तत्वेन विधि प्रत्ययबलात् प्राणविद्यांगमाचमनान्तरं विधीयते ।

पूर्वप्रस्तुत प्राणविद्या के अंगों पर यहाँ विचार करते हैं। छांदोग्य और बृहदारण्यक में ज्येष्ठ श्रेष्ठ प्राण की उपास्यना बतलाकर प्राण के वस्त्र के रूप से, जल का उल्लेख किया गया है। छांदोग्य में जैसे–"उस प्राण ने कहा कोई मेरा वस्त्र होगा? इन्द्रियों ने कहा "जल" होगा। इसीलिए भोजन करने वाले, भोजन के बाद जल द्वारा परिवेष्टन करते हैं, इसी से प्राण वस्त्र धारण करने वाला अनग्न रहता है "वृहदारण्यक में–"मेरा वस्त्र क्या है?" प्राण द्वारा ऐसा पूछने पर वागादि ने कहा-जल ही वस्त्र है। इसलिए शास्त्रमर्मज्ञ भोजन के पूर्व और पश्चात् आचमन करके अपने प्राण को अनग्न करते हैं।"

इस पर संशय होता है कि-उक्त प्रसंग में आचमन का विधान किया गया है, अथवा जल का, प्राण के वस्त्र रूप से अनुसंधान किया गया है? "भोजन के पूर्व और बाद में आचमन करना चाहिए" इस वाक्य में आचमन में विधि प्रत्यय के उल्लेख से, तथा "इसे अनग्न करते हैं" इत्यादि में उपासनापरक विधिप्रत्यय न होने से, एवं अनग्नता दिखलाने केलिए स्तुतिवाद की उपपत्ति से, और स्मृतिशास्त्र के भोजनांग रूप आचमन के सदाचार उपदेश से निश्चित होता है कि-प्राणविद्या के अंगभूत स्वतंत्र आचमन का ही विधान किया गया है।

सिद्धान्तः– इति प्राप्तेब्रूमः, आचमनीयानामपां प्राणस्य वासस्त्वानुसंधानमेवेह-अपूर्वम्-अप्राप्तं विधीयते, कार्याख्यानात् -अप्राप्ताख्यानात् अप्राख्यानेशब्दस्यार्थवत्वादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति –"किं मेवासः" "आपोवासः "अद्भिः परिदधति "एतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इत्युपक्रमोपसंहारयोर्वाक्यापां प्राणवासा दृष्टिपरत्वप्रतीतेराचमनस्य स्मृत्याचारप्राप्तत्वादाचमननूद्याचमनीयास्वप्सु प्राणवासस्त्वानुसंधानं विधीयते इति। अतएव छांदोग्ये –"तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः–परिदधति" इत्यद्भिः परिधानमेवोक्तम् नाचमनम्।

इस पर सिद्धान्त कहते हैं कि-प्राण के वस्त्ररूप के आचमनीय जल का विधान किया गया है। इसके पूर्व कहीं भी ऐसा विधान नहीं मिलता कहीं भी ऐसा आख्यान अर्थात् शब्दार्थ नहीं मिलता। कथन यह है कि- "मेरा वस्त्र क्या है? "जल वस्त्र है "जल को धारण करता है "इससे ही अनग्न करता है" इत्यादि उपक्रम और उपसंहार के वाक्यों में, जल में प्राण की वस्त्ररूप प्रतीति होने से ज्ञात होता है कि-स्मृति शास्त्र भी, सदाचार रूप आचमनीय जल का उल्लेख करके उस जल में प्राणवस्त्रता के चिन्तन का विधान करता है। "इसीलिए भोजन करने वाले भोजन के प्रथम और बाद में जल को धारण करते हैं इस छांदोग्य वाक्य में जल को केवल परिधान मात्र कहा गया है आचमन नहीं।

६ समानाधिकरणः-

समान एवं चाभेदात् ।३।३।१६।।

वाजसनेयके अग्निरहस्ये शांडिल्यविद्याऽम्नाता-"सत्यं-ब्रह्मे-त्युपासीत अथखलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः "इत्यारभ्य "स आत्मान-मुपासीत मनोमयप्राण शरीरं भारूपं सत्यसंकल्पमाकाशात्मानं" इति। तथा तस्मिन्नेव वृहदारण्यके पुनरपि शांडिल्यविद्याऽम्नायते" मनोमयोऽयंपुरुषोभाः सत्यं तस्मिन्नत्तर्हृदये यथा ब्रीहिर्वा यवो वा स एव सर्वस्यवशी सर्वस्ये शानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किं च" इति। तत्र संशयः किमत्र विद्या भिद्यते उत नेति? संयोगचोदनाख्यानामविशेषेऽपि वशित्वाद्युपास्यगुणभेदेन रूपभेदात् विद्याभेदः।

शुक्लयजुर्वेदीय वृहादरण्यक में अग्निरहस्य के प्रकरण में शांडिल्य विद्या का उपदेश है-"सत्यब्रह्म की उपासना करो, यह पुरुष (जीव) निश्चित ही क्रतुमय है "इत्यादि से प्रारंभ करके" मनोमय प्राणस्वरूप ज्योतिर्मय, सत्यसंकल्प आकाशात्मक उस आत्मा की उपासना करो। "उसी वृहदारण्यक में पुनः शाण्डिल्य विद्या का उपदेश इस प्रकार है"अंतः -करण में ज्योति और सत्यस्वरूप मनोमय पुरुष (जीव) स्थित है जैसे कि -ब्रीहि या यव होते हैं,, वैसे ही वह है, वही सर्वज्ञ-वशी-सर्वेश्वर-सर्वाधिपति

तथा सारे विश्व का प्रशासक है" इत्यादि, अब संशय होता है कि-यहाँ विद्या में भेद है या नहीं? फल संयोग, विधिवाक्य और नाम विषयक पृथक्ता न होते हुए भी उपास्यगत वशित्व आदि गुणों का भेद होने से, विद्या भिन्न ही प्रतीत होती है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते-समान एवमिति। यथाऽग्नि-रहस्ये मनोमयप्राणशरीरभारूपसत्यसंकल्पत्वगुणगणः श्रुतः, एवं वृहदारण्यकेऽपि मनोमयत्वादिके समाने सत्यधिकस्य वशित्वादेश्च सत्यसंकल्पत्वगुणाभेदान्न रूपभेदः, अतो विद्यैक्यम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं-जैसे कि अग्निरहस्य में मनोमय प्राणशरीर भारूप सत्यसंकल्पता आदि गुणों का उल्लेख है, वैसे ही वृहदारण्यक में भी मनोमयता आदि तो समान हैं ही, वशित्व आदि गुण, सत्यसंकल्पता आदि गुणों की अपेक्षा, समानरूप से अधिक ही हैं। उनमें कोई भेद न होने से रूपभेद नहीं है, इसलिए विद्या एक ही है।

७ संबंधाधिकरणः—

संबंधादेवमन्यत्रापि।३।३।२०॥

वृहदारण्यके श्रूयते "सत्यं ब्रह्म "इत्युपक्रम्य" तद् यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मंडले पुरुषो यश्चाऽयं दक्षिणेऽक्षिन् "इत्युपक्रम्य-आदित्य मंडलेऽक्षिणि च सत्यस्य ब्रह्मणो व्याहृति शरीरत्वेनोपास्यत्वमुक्त्वा "तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम्" इति द्वे उपनिषदौ-रहस्यनामनी उपासन शेषतयाऽम्नायेते, ते किं यथा श्रुतस्थानविशेषनियतत्वेन व्यवस्थिते, उतोभयत्रोभे अनियमेनेति संशये सत्यस्यव्याहृति शरीरस्यैवोपास्यस्य ब्रह्मणो द्वयोः स्थानयोः संबंधात् उपास्यैक्येन रूपाभेदात् संयोगाद्यभेदाच्च विद्यैक्यादनियमेनेति प्राप्तम्। तदिमुच्यते—"संबंधादेवमन्यत्रापि" इति यथा मनोमयत्वादि गुणविशिष्टस्यैकत्वादुपास्यैक्येन रूपाभेदात् विद्यैक्याद्गुणोपसंहारः,

एवमन्यत्राक्ष्यादित्यसंबंधिनो ब्रह्मणः सत्यस्यैकत्वेन विद्यैक्यादुभयो-रुभयत्रोपसंहारः ।

बृहदारण्यक में "सत्यंब्रह्म "इत्यादि उपक्रम करके-" जो यह सत्य है वही प्रसिद्ध आदित्य है जो कि आदित्य मंडल और नेत्र में स्थित पुरुष है "इत्यादि में आदित्य मंडल और नेत्रों में, सत्यब्रह्म की व्याहृति को शरीर विशिष्ट रूप से उपास्य बतलाकर-"उसका उपनिषद् में अहः ऐसा अधिदैवत नाम है "उसका उपनिषद् में अहम् ऐसा अध्यात्म नाम है" इन दो रहस्यमयी उपनिषदों को, उपर्युक्त उपासना के अंगरूप में वर्णन किया गया है। इस पर संशय होता है कि-उक्त दोनों नामों में जिनका जहाँ उल्लेख है, वहीं वह व्यवहार्य हैं, अथवा उनका कोई नियम नहीं है ? इसलिए दोनों जगह व्यवहार होता है? व्याहृति शरीर विशिष्ट सत्य नामक उपास्य ब्रह्म के साथ दोनों ही जगह संबंध होने से, उपास्य की एकता प्रतीत होती है,विद्या की एकता से दोनों नामों का भी, दोनों जगह प्रयोग संबंध होगा। इस पर "संबंधादेवमन्यत्रापि" सूत्र, पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जैसे कि-मनोमयत्व आदि गुण विशिष्ट का, एक उपास्य होने से, रूप में अभेद तथा एक विद्या होने से गुणोपसंहार होता है। ऐसे ही भिन्न, भिन्न, नेत्र आदित्य संबंधी ब्रह्म के एक होने से, एक विद्या निश्चित होती है। विद्या एक होने से दोनों नामों का दोनों जगह उपसंहार होगा, यह भी निश्चित है।

सिद्धान्तः- एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

इस पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

न वा विशेषात् ।३।३।२१॥

न वैतदस्ति—यद्विद्यैक्यादुपसंहारः, इति । कुतः? विशेषात् उपास्यरूपविशेषात् । ब्रह्मण एकत्वेऽप्येकत्रादित्यमंडलस्थतया उपास्यत्वम्, इतरत्राक्ष्याधारतयोपास्यत्वमिति स्थानसंबंधित्व-भेदेन रूपभेदात् विद्याभेदः । नैवं शांडिल्यविद्यायाः उपास्यस्थानं भिद्यते, उभयत्रहृदयाधारत्वेनोपास्यत्वात । अतोऽव्यवस्थित इति ।

ऐसी बात नहीं है जैसा कि आप अनुमान कर रहे हैं कि-विद्या की एकता के आधार पर गुणोपसंहार होगा। उपास्य ब्रह्म की स्वरूपगत एकता होते हुए भी स्थान का भेद है, एक जगह आदित्य मंडल में उपास्य की स्थिति बतलाई गई है, दूसरी जगह नेत्रों में। इस प्रकार स्थान भेद से रूप भेद और विद्याभेद है। शांडिल्यविद्या में उपास्यस्थान का भेद नहीं है, दोनों जगह ही हृदयाधार उपासना का उपदेश है। इसलिए जो नाम जहाँ व्यवस्थित हैं, वहीं उसका व्यवहार होगा।

दर्शयति च ।३।३।२२॥

दर्शयति चाक्ष्याधारादित्याधारयोर्गुणानुपसंहारं--"तस्यैतस्य तदेवरूपं यदमुष्यरूपम्" इत्यादिना रूपाद्यतिदेशेन। स्वतो हि अप्राप्तावति देशेन प्राप्त्यपेक्षा।

"यह अक्षिपुरुष उसी रूप का है, जो पूर्ववर्त्ती आदित्यपुरुष का रूप था" इत्यादि में रूपादि के उल्लेख द्वारा श्रुति भी, नेत्राधार और आदित्याधार में गुणों का अनुपसंहार बतला रही है। जहां स्वतः विषयावगति नहीं होती वहाँ अतिदेश अपेक्षित होता है।

८ संभृत्याधिकरणः—

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ।३।३।२३॥

तैत्तरीयके नारायणीयानां खिलेषु च "ब्रह्म ज्येष्ठावीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान, ब्रह्मभूतानां प्रथमोऽतजज्ञे ते नहिति ब्रह्मणास्पर्धितुं कः" इति ब्रह्मणि ज्येष्ठानां वीर्याणां संभृतिः, द्युव्याप्तिश्चेत्यादिगुणजातमाम्नातम्। तेषामुपासनविशेष-मनारभ्याधीतानां गुणानां सर्वासु विद्यासूपसंहारे प्राप्त उच्यते---

तैत्तरीय और नारायणीय के खिल कांड में-"ब्रह्म ही सर्वोत्कृष्ट वीर्यों के रूप में संचित थे, तथा आदिभूतब्रह्म ही पहिले द्युलोक में व्याप्त थे, ब्रह्म ही सब भूतों में सर्वप्रथम जन्मे थे, इसलिए ब्रह्म के साथ स्पर्धा करने में कौन समर्थ है ?" इस प्रकार उत्कृष्ट वीर्यों का संचय और

द्युलोक व्याप्ति आदि गुणों का उल्लेख है, किसी उपासना विशेष का प्रसंग क्रम नहीं हैं, इसलिए सभी विद्याओं में उक्त गुणों का उपसंहार हो सकता है। इस पर कहते हैं—

सिद्धान्तः—"संभृतिद्यु व्याप्त्यपि" इति । संभृतिद्यु व्याप्तीति समाहार द्वन्द्वत्वादेकवद्भावः । संभृत्यादिकमनारभ्याधीतमपि अतएवस्थानभेदात् व्यवस्थाप्यम्, न सर्वत्रोपसंहर्त्तव्यम् । कथमनारभ्याधीतानां स्थानविशेष नियतत्वम्? स्व सामर्थ्यात् इति ब्रूमः। द्यु व्याप्तिस्तावद् हृदयाद्यल्पस्थानगोचरासु विद्यासु नोपसंहर्त्तुं शक्या, संभृत्यादयोऽपि तत् सहचारिणः तत्तुल्यदेशा इत्यल्पस्थानविषयासु विद्यास्वनुपसंहार्याः । शांडिल्यदहरादिविद्यास्वल्पस्थानविषयासु "ज्यायान् पृथिव्याः" यावान्वाऽयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदयाकाशः इत्यादयस्तत्रतत्राशक्योपसंहाराः मनोमयत्वापहतपाप्मत्वादि विशिष्टस्योपास्यस्य माहात्म्य प्रतिपादनपराः।

सिद्धान्तः—"संभृतिद्युव्याप्ति" पद में समाहार द्वन्द्व समास होने से एक वचन है। जिससे यह तात्पर्य होता है कि—संभृति आदि गुण, प्रकरण विषय नहीं है, इसलिए स्थान भेद के अनुसार उनकी व्यवस्था करनी होगी, सर्वत्र उपसंहार नहीं किया जा सकता। यदि कहें कि जो सर्वत्र उपसंहृत नहीं हो सकते वे स्थान विशेष में ही कैसे होंगे ? (उत्तर) वे अपनी सामर्थ्य से हो सकते हैं । द्युव्याप्ति हृदय आदि अति सूक्ष्म अलक्ष्य विद्याओं में तो उपसंहृत नहीं किये जा सकते। संभृति आदि भी, उनके सहचारी होने से, अति सूक्ष्म स्थानीय विद्याओं की तरह स्थानों में, उपसंहार्य नहीं हैं। शांडिल्य दहर आदि अल्प स्थानीय विद्याओं में— "पृथ्वी से श्रेष्ठ" बाह्याकाश के परिमाण की तरह हृदयाकाश का भी, परिमाण है" इत्यादि उपदेश यद्यपि अशक्य हैं, फिर भी उनका जो वहाँ उपसंहार बतलाया गया है, वह मनोयमता, निर्दोषता आदि गुणों से विशिष्ट उपास्य की महिमा का, प्रतिपादक है ।

९पुरुष विद्याधिकरणः—

पुरुष विद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात् ।३।३।२४।।

तैत्तरीयके पुरुषविद्याऽऽम्नायते "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यऽत्मायजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि र्वाहिः" इत्यादिका। छांदोग्येऽपि पुरुषविद्याऽऽम्नायते–"पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि" इत्यादिका। तत्र संशयः किमत्र विद्याभिद्यते उत न? इति। पुरुषविद्येति नाम्न्यैक्यात् पुरुषावयवेषु यज्ञावयव कल्पनसाम्येन रूपैक्यात् तैत्तरीयके फलसंयोगाश्रवणात्" प्रह षोडशं वर्षशतं जीवति" इति छांदोग्ये श्रुतस्यैव पुरुषविद्याफलत्वात् फलसंयोगस्याप्यविशेषात् विद्यैक्यम्।

कौषीतकि में पुरुष विद्या का उपदेश इस प्रकार दिया गया है–"ज्ञान संपन्न उस यज्ञ पुरुष का आत्मा ही यजमान है, श्रद्धा उनकी पत्नी है, काष्ठ उसका शरीर है कुश उसके लोम हैं"। छांदोग्य में पुरुष विद्या का उपदेश इस प्रकार है–"प्रसिद्ध पुरुष ही यज्ञ है उसकी चौबीस वर्ष की आयु है।" संशय होता है कि–ये दोनों विद्या एक हैं या भिन्न? पुरुष विद्या ऐसी नाम एकता से, पुरुष के अंगो में, यज्ञांगों की कल्पना से रूप एकता से, तैत्तरीय में विद्या के फल का उल्लेख न होने से तथा–छांदोग्योक्त–"जो सोलह सौ वर्ष जीवित रहता है" ऐसे फल निर्देश से विशेष भेद न होने से, विद्या–एक ही प्रतीत होती है।

सिद्धान्तः–इति प्राप्त उच्यते–उभयत्राम्नातयोर्विद्ययोः पुरुष विद्यात्वेऽपि विद्याभेदोऽस्त्येव कुतः? इतरेषामनाम्नानात् एकस्यां शाखायां आम्नातानां गुणानामन्यत्रानाम्नानात्। तथा हि—"यत्साय प्रातर्मध्यन्दिनं च तानि सवनानि" इत्यादयस्तैत्तरीयके आम्नाताः छांदोग्ये सवनत्वेन नाम्नायन्ते, त्रेधा विभक्तं पुरुषायुषं छांदोग्ये सवनत्वेनकल्प्यते छांदोग्ये श्रुतानां आशिशिषादीनां दीक्षादित्व कल्पनं तैत्तरीयके न कृतम् यजमान पत्न्यादि परिकल्पनं चान्यथा। अतो रूपमुभयत्र भिद्यते। तथा फलसंयोगोऽपि भिद्यते तैत्तरीयके हि पूर्वानुवाके–"ब्राह्मणेत्वामहस ओमित्यात्मानं युंजीत्" इति ब्रह्मविद्यामभिधाय तत्फलत्वेन "ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति"

इत्युक्त्वा "तस्यैवंविदुषः" इत्यादिना आम्नाता पुरुषविद्याऽस्यैव ब्रह्म विदुषो यज्ञत्वकल्पनमिति गम्यते।

उक्त संशय पर सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं–दोनों जगह कही गई विद्या में नामैक्य होते हुए भी, विद्या भेद है। एक शाखा के उल्लेख गुणों का दूसरी शाखा में उल्लेख न होने से ही उक्त मत स्थिर होता है। "जो सायं प्रातः और मध्याह्न कालिक है वही त्रिसवन है" इत्यादि तैत्तरीय का वचन है, छांदोग्य में सवन रूप का उल्लेख नहीं है, अपितु त्रेधा विभक्त पुरुष की आयु सवन रूप से कल्पित है। छांदोग्य में–भोजनेच्छा आदि की, दीक्षा रूप से कल्पना की गई है, जो कि तैत्तरीय में नहीं हैं; यजमान पत्नी आदि की कल्पना भी भिन्न प्रकार से की गई है, इस प्रकार दोनो के रूप में भेद है। इसी प्रकार फल संयोग में भी भेद है, तैत्तरीय के पूर्वानुवाक में–"ज्योतिर्मय ब्रह्म प्राप्ति के उद्देश्य से, ऊँकार से आत्मा को संयोजित करो" इत्यादि से ब्रह्म विद्या का उपदेश देकर फल बतलाते हैं–"ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करता है" तस्यैवं पुरुषः से ब्रह्म विद्या का उल्लेख करते हैं। इसी ब्रह्मविद्या के ज्ञाता की यज्ञरूप कल्पना प्रतीत होती है।

अतो ब्रह्मविद्यांगत्वाद् ब्रह्मप्राप्तिरेवात्र फलम्, "फलवत् सन्निधावफलं तदंगम्" इति न्यायात् तैत्तरीयकाम्नातापुरुषविद्या ब्रह्मविद्यांगमिति गम्यते। छांदोग्ये त्वायुः प्राप्तिफला पुरुषविद्येत्युक्तम्। अतो रूपसंयोगयोर्भेदाद्विद्याभेद इत्येकत्राम्नातानां गुणानामितरत्रानुपसंहारः।

इसलिए ब्रह्म विद्या के अंग होने से, ब्रह्म प्राप्ति ही इसका फल है ऐसा समझना चाहिए। "सफल क्रिया के सन्निधान में उक्त फल रहित क्रिया, उस सफल कार्य का ही अंग होती है" इस नियम से ज्ञात होता है कि–तैत्तरीय में पठित पुरुष विद्या ब्रह्म विद्या का ही अंग है। छांदोग्य में दीर्घ जीवन प्राप्ति को ही पुरुष विद्या का फल बतलाया गया है। इस प्रकार स्वरूप और फल संयोग भिन्न होने से, विद्या में भी भेद है; इसलिए एक स्थान के उल्लेख्य गुणों का दूसरी जगह उपसंहार नहीं हो सकता।

१० वेधाद्यधिकरणः—

वेधाद्यर्थभेदात् ।३।३।२५॥

आथर्वणिका उपनिषदारम्भे "शुक्रं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य" इत्यादीन्मंत्रानधीयते; सामगाश्च रहस्यब्राह्मणारम्भे—"देवः सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव" इत्याद्यामनंति, काठकास्तैत्तरीयकाश्च "शन्नोमित्रः शंवरुणः" इत्यादिकम्; शाट्यायनिनश्च "श्वेतोऽश्वो हरिनीलोऽसि" इत्यादिकम्; ऐतरेयिणस्तु महाव्रतब्राह्मणमधीयते "इंद्रोहवै वृत्रं हत्वा महानभवत्" इत्यादि; कौषितकिनोऽपि महाव्रतब्राह्ममेव "प्रजापतिर्वैसंवत्सरः तस्यैष आत्मा यन्महाव्रतम्" इति; वाजसनेयिनस्तु प्रवर्ग्यब्राह्मं "देवा हवै सत्रं निषेदुः" इत्यादि । तत्र संशयः किमुपनिषदारंभेष्वधीताः "शुक्रं प्रविध्य "शन्नोमित्रः" इत्यादयो मंत्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि विद्यांगं उत न ? इति; किं युक्तम्? विद्यांगमिति । कुतः ? सन्निधिसमाम्नानात् विद्यांगत्व प्रतीतेः । यद्यपि "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादिनां मंत्राणां प्रवर्ग्यादेश्च कर्मणः श्रुतिलिंगवाक्यैर्बलवद्भिर्यथायथं कर्मसु विनियोगोऽवगम्यते । तथापि—"शंन्नोमित्रः" सह नाववतु "इत्यादेर्मंत्रस्यान्यत्र विनियोगाभावात् विद्याधिकाराच्च विद्यांगत्वमवर्णनीयमिति सर्वासु विद्यासु इमे मंत्रा उपसंहर्तव्याः ।

आथर्वणिक उपनिषद के प्रारम्भ में—"शुक्र को वेधकर हृदय को वेधकर" इत्यादि मन्त्र का पाठ है, सामवेदीय रहस्य ब्राह्मण के प्रारम्भ में "हे प्रकाशमान सूर्यदेव, यज्ञ का प्रसव करो' इत्यादि पाठ है। तैत्तरीय काठक में—"सूर्य हमारा मंगल करें, वरुण हमारा कल्याण करें" एवं शाट्यायन शाखा में—"हे हरि ! तुम्हीं नील श्वेत अश्व हो" तथा ऐतरेय महाव्रत ब्राह्मण में "इन्द्रवृत्र को मारकर महान हो गये" और कोषीतकि महाव्रत ब्राह्मण में—"प्रजापति ही संवत्सर हैं", वही उसकी आत्मा है, जिसका नाम महाव्रत है इसी प्रकार वाजसनेय प्रवर्ग्यब्राह्मण

में--"देवता सत्र में निमग्न थे" इत्यादि पाठ मिलता है। अब संशय होता है कि–उपनिषदों के आरम्भ में पढ़े गये "शुक्रं प्रविध्य" शंन्नो मित्र:" इत्यादि मन्त्र और प्रवर्ग्य आदि कर्म-विद्यांग हैं या नहीं? कह सकते हैं, कि क्योंकि–विद्याओं के साथ ही इनका पाठ है। यद्यपि "शुक्र प्रविध्य" इत्यादि मंत्र और प्रवर्ग्य आदि कर्म-श्रुति-लिंग-वाक्य आदि पूर्व बलवान प्रमाणों के अनुसार यज्ञादि कर्मों में ही विनियोग प्रतीत होते हैं, फिर भी "शंन्नो मित्र:" सहनाववतु" इत्यादि मंत्रों का कहीं अन्यत्र विनियोग नहीं पाया जाता विद्याधिकार में ही इनका पाठ है इसलिए इनकी विद्यांगता अनिवार्य हो जाती है, सभी विद्याओं में इनका उपसंहार हो सकता है।

सिद्धान्त: - एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—वेदाद्यर्थभेदात्—"शुक्रं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य" ऋतं वदिष्यामि "सत्यं वदिष्यामि" ऋतमवादिषं सत्यमवादिषं 'तेजस्विनाऽवधीतमस्तु मा विद्विषावहै" इत्यादि-भिर्लिंगैरभिचाराध्ययनादिष्वेषां विनियोगावगमान्न विद्यांगत्वम्। एतदुक्तं भवति--यथा--"हृदयं प्रविध्य" इत्यादि मंत्रसामर्थ्यात् "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादीनामभिचारादिशेषत्वमवगम्यते, एवमेव "ऋतं वदिष्यामि" तेजस्विनामधीतमस्तु" इत्यादि मंत्र सामर्थ्यादेव स्वाध्याय शेषत्वम् "शंन्नोमित्र:" इत्यादि मन्त्राणामवगम्यते, अतो-न तेषां विद्यांगत्वम् इति, "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादीनां प्रवर्ग्यादि-ब्राह्मणानां चेह पाठो दिवाकीर्त्यत्वारण्येनुवाक्यत्वकृत:।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "वेदाद्यर्थ भेदात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। "शुक्रं प्रविध्य" ऋतंवदिष्यामि" सत्यंवदिष्यामि "तेजस्विनामवधीतं मस्तु मा विद्विजावहै" इत्यादि स्थलों में कहे गए अभिचार, अध्ययन आदि के लिंग से ज्ञात होता है कि इनका विनियोग अभिचार आदि में ही है ये विद्या के अंग नहीं हो सकते। कथन यह है कि "हृदयं प्रविध्य" इत्यादि मंत्र के सामर्थ्य से ही "शुकं प्रविध्य" इत्यादि की अभिचारादि में ही पूर्ति प्रतीत होती है इसी प्रकार "ऋतं वदिष्यामि" तेजस्विनामवधीत-मस्तु "इत्यादि मन्त्रों के सामर्थ्य से ही स्वाध्याय की पूर्ति "शंन्नो मित्र:"

इत्यादि मंत्रों में प्रतीत होती है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये विद्यांग नहीं हैं । "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादि मंत्र और प्रवर्ग्य आदिब्राह्मण का जो उल्लेख किया गया है, उसका उद्देश्य है कि दिन में इनका पाठ नहीं होता तथा जंगल में ही इनका पाठ होता है ।

११ हान्याधिकरण:

हानौतूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छंदः स्तुत्युपगानवत्तदुक्तम्
।३।३।२६।।

छंदोगा आमनंति "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चंद्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, धूत्वाशरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोक-मभिसंभवानि" इति, आथर्वणिकाश्च-"तदाविद्वान पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति" इति, शाट्यायनिनस्तु— "तस्यपुत्रा दायमुपयंति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषंतः पापकृत्याम्" इत्यादि । कौषीतकिनस्तु "तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयंति अप्रिया दुष्कृतम्" इति। एवं क्वचिद् पुण्यपापयोर्हानिः क्वचिदप्रियाप्रियेषु तत्प्राप्तिः क्वचिदुभयं च श्रुतम् । तदुभय-मेकैकविद्यायां श्रुतमपि सर्वविद्यांगमास्थेयम, सर्वब्रह्मविद्या-निष्ठस्यापि ब्रह्म प्राप्नुवतः पुण्यपापप्रहाणस्यावश्यम् भावित्वात् प्रहीणविषयत्वाच्चोपासनस्य । तच्चिंतनं च विधीयमानं सर्वविद्यांगं भवितुमर्हति ।

छांदोग्य में पाठ है कि "घोड़े के रोंयें की तरह पापों को झाड़कर राहु से छटे हुए चन्द्र की तरह निष्पाप निष्कर्म कृतार्थ आत्मा में निर्मल शरीर धारण कर ब्रह्लोक को प्राप्त करूँगा" इसी प्रकार आथर्वणिक में भी "वह विद्वान पाप-पुण्य को धोकर निरतिशय ब्रह्म की समता प्राप्त करता है" तथा शाट्यायन में भी ऐसे ही "उसके पुत्र संम्पत्ति पाते हैं, मित्र उसका पुण्य पाते हैं और शत्रु उसका पाप प्राप्त करते हैं

"कौषीतकि में भी जैसे—"तब ज्ञानी पुण्य पाप का परित्याग करते हैं उसके प्रिय को मित्रगण तथा अप्रिय को शत्रुगण प्राप्त करते हैं। "इस प्रकार कहीं पुण्य पाप की हानि, कहीं प्रिय अप्रिय की प्राप्ति, कहीं दोनों की प्राप्ति बतलाई गई है। विद्या विशेष में ही त्याग और ग्रहण का उल्लेख होते हुए भी सभी विद्याओं में प्रकारांतर से उन्हें स्वीकारा गया है, क्योंकि-सभी विद्याओं में निष्ठाप्राप्त पुरुष की ही ब्रह्म प्राप्ति बतलाई गई है, उसका पुण्य पाप से हीन होना अवश्यम्भावी है। विषयों की हीनता ही एक मात्र ब्रह्मप्राप्ति का उपाय है। उक्त वाक्यों में जो चिन्तन की शैली है. उससे ये सब विद्यांग ही हो सकते हैं।

तत्रेदं विचार्यंते—हानिचिन्तनमुपायनचिन्तनमुभयचिन्तनं च विकल्प्येरन्, उपसंह्रियेरन्वा ? किं युक्तम् ? विकल्प्येरन्निति। कुतः ? पृथगाम्नानसामर्थ्यात्। समुच्चये हि सर्वत्रोभयानुसंधानं स्यात्, तच्च कौषीतकि वाक्येनैव सिद्धमित्यन्यत्राम्नानमनर्थकमेव स्यात्। अतो अनेकत्राम्नानस्य विकल्प एव प्रयोजनम्। नचाध्येतृ-भेदेन परिहर्त्तु शक्यमनेकत्राम्नानम्, अविशेष पुनः श्रवणं हि अध्येतृभेद परिहार्यम्, अत्रतु हानिरेवद्वयोः शाखयोः उपायनमेव चैकस्याम्। न च विद्याभेदेन व्यवस्थापयितुं शक्यम् सर्वशेषभूत-मिदमनुसंधानमित्युक्तत्वात्।

इस पर विचार होता है कि-हानि के चिंतन, उपायन के चिन्तन और दोनों के चिन्तन, इनमें से एक का ही विकल्प होगा अथवा सबका उपसंहार होगा ? कह सकते हैं कि—विकल्प होगा क्योंकि अलग-अलग इनका उल्लेख है। विषय का चिन्तन यदि समुच्चय बोधक होता तो सभी जगह पापमोचन और उसका ग्रहण दोनों का ही उल्लेख होता, ऐसा होने से कौषीतकी वाक्य ही सिद्ध होगा अन्य पाठ विरुद्ध हो जावेंगे। इसलिए भिन्न-भिन्न पाठों के अनुसार विकल्प ही प्रयोजनीय प्रतीत होता है। अध्याता के भेद से इन सबका खंडन नहीं किया जा सकता, क्योंकि—अनेक उपनिषदों में भिन्न-भिन्न पाठ हैं। अविशेष एक ही प्रकार की पुनरुक्ति में, अध्येता भेद की बात संगत हो सकती है। यहाँ तो दो शाखाओं में हानि तथा एक शाखा में उपायन का वर्णन है। उक्त

चिन्तन को समस्त विद्याओं का अंग कहा गया है इसलिए इनमें विद्या भेद की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

सिद्धान्तः—अत्रेदमुच्यते--हानौतूपायनशब्दाशेषत्वात् इति। तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, हानाविति प्रदर्शनार्थम्, केवलायां हानौ केवले चोपायने श्रूयमाणे तयोरितरेतरसमुच्चयोऽवश्यंभावी, कुतः? उपायनशब्दशेषत्वात्--उपायनशब्दस्य हानिवाक्यशेषत्वात्। उपायनशब्द वाक्यस्य हि हानिवाक्यशेषत्वेमेवोन्वितम्, विदुषा त्यक्तयोः पुण्यपापयोः प्रवेशस्थानवाचित्वादुपायनवाक्यस्य। प्रदेशान्तराम्नातस्य वाक्यस्य प्रदेशान्तराम्नात शेषत्वे दृष्टांता उपन्यस्यते--कुशाच्छन्दः स्तुत्युपगानवदिति। कालापिनः "कुशा वानस्पत्याः "इत्यामनंति। शाट्यायिनां तु "औदुम्बर्यः कुशाः" इति वाक्यं सामान्येन वानस्पत्यत्वेनावगताः कुशाः औदुम्बर्य इति विशिषत्तद्वाक्य शेषतामापद्यते। तथा "देवासुराणांछंदोभिः इत्यादिना अविशेषेण देवासुराणां छन्दसां प्रसंगे" देवच्छंदासि पूर्वम् "इति वचनं क्रमविशेषं प्रतिपादयत्तद्वाक्य शेषतां गच्छति। तथा "हिरण्येन षोडशिनः स्योत्रमुपाकरोति" इत्यविशेषेण प्राप्ते "समया विषिते सूर्ये षोडशिनः स्त्रोमुपाकरोति" इति विशेष विषयं वाक्यं तद्वाक्यशेषतां भजते। तथा "ऋत्विज उपगायन्ति" इत्यविशेष प्राप्तस्य "नाध्वर्युरुपगायेत्" इति वाक्यमनध्वर्यु विषयतामवगयत्तद्वाक्यशेषत्वमृच्छति, एवं सामान्येनावगतमर्थं विशेषेव्यवस्थापयितुं क्षमस्य वाक्यस्य तच्छेषत्वमनभ्युपच्छद्भिस्त-योरर्थयोर्विकल्पा समाश्रयितव्यः, सच संभवंत्यां गतौन युज्यते, तदुक्तं पूर्वस्मिन् कांडे "अपितु वाक्य शेषस्यादन्याय्यत्वाद् विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्" इति। तदेवं केवलहानोपायनवाक्ययोरे-कवाक्यत्वात् केवलस्यहानस्य, केवलस्यचोपायनस्याभावाद् विकल्पो

नोपपद्यते । कौषतकीनां उभयाम्नानमविशेष पुनः श्रवणत्वेन प्रतिपतृभेदादविरुद्धम् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "हानौतूपायन" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। तु शब्द उक्त पक्ष का निवारक है। हानी पद तो केवल उदाहरण की प्रस्तुति का बोधक है। केवल हानि या केवल उपायन के उल्लेख से ही दोनों का परस्पर समुच्चय अवश्यम्भावी हो जाता है। हानिवाक्य के शेष होने पर, उपायन शब्द की स्वतः ही उपस्थिति हो जाती है। उपायन वाक्य की हानिवाक्य शेषता स्वाभाविक ही है, पुण्यपापहीन महात्मा के प्रवेश स्थान के वाची उपायन वाक्य की स्वतः प्रतीति हो जाती है (अर्थात् जब पाप पुण्य से छुटकारा मिल गया तब ब्रह्म ही एक मात्र उपायन (प्राप्ति) स्थल है, यह अवश्यम्भावी है, अतः उपायन वाक्य का उल्लेख हो या न हो, उसकी प्रतीत तो हो ही जायगी)।

एक स्थान में पठित वाक्य, अन्य स्थानीय वाक्य का शेष (अंगभूत) हो सकता है, इसे उपन्यस्त (विस्तृत रूप से) करते हैं। कलाप शाखा में प्रसंग है कि-"कुशवनस्पति है" शाट्यायन का प्रसंग है-"कुश औदुम्बर्य है।" कलाप वाक्य से कुश की वानस्पत्यता मात्र ज्ञात होती है। शाट्य से कुश की औदुम्बर्यता विशेष रूप से प्रतीत होती है इस प्रकार शाट्य वाक्य, कलाप वाक्य का विशेषज्ञ सिद्ध होता है। इसी प्रकार "देवता और छंदों से" इत्यादि वाक्य सामान्यतः देव असुरों के लिए छंदों के प्रयोग का उल्लेख करता है, जब कि-"देवता छंदों से सर्वप्रथम" वाक्य क्रमविशेष का प्रतिपादन करता है, जिससे वाक्य शेषता प्रतीत होती है। तथा "वह हिरण्य द्वारा षोडशी स्त्रोत का पाठ करता है।" इस सामान्यवर्णन से "सूर्योदय होने पर षोडशी स्तोत्र का पाठ करेगा" इत्यादि विशेष समय बोधक वाक्य, पूरक है। तथा-"ऋत्विज उपगान करते हैं" इस सामान्य वर्णन से" अध्वर्यु उपगान न करें" इत्यादि से अनध्वर्यु विषयता ज्ञात होती है जिससे इसकी वाक्यशेषता स्वतः सिद्ध हो जाती है। जो इस प्रकार, सामान्यतः अवगत विषय को विशेषार्थ निरूपण करने में समर्थ वाक्य को, सामान्य का शेषभूत (पूरक) नहीं मानते उनकी दृष्टि में तो दोनों वाक्यार्थों सें विकल्प हो सकता है,

किंतु संभव उपाय के होते हुए, ऐसा मानना उचित नहीं प्रतीत होता। पूर्व मीमांसा में वैसा भी कहा गया है–"वैध (विधि संबंधी) कर्म का विकल्प करना जहाँ उचित नहीं है, वहाँ (विभिन्न स्थानवर्त्ती) सामान्य-विशेषात्मक वाक्यों में, एक वाक्य अन्य का पूरक माना जायगा, अन्यथा विधि की संपूर्णता न हो सकेगी।" इसलिए–केवल हानि और उपायन वाक्यों में एकवाक्यता न होने से केवल हानि या केवल उपायन के अभाव होने से विकल्प नहीं हो सकता। कौषीतकी में दोनों के पाठ का सामान्य रूप से पुनः उल्लेख होने से श्रोताओं के भेद की प्रतीत होती है, जिससे विरुद्धता समाप्त हो जाती है।

१२. साम्परायाधिकरण :—

साम्पराये तर्त्तव्याभावात्तथा हि अन्ये।३।३।२७॥

सुकृतदुष्कृतयोर्हानमुपायनं च सर्वासु विद्यासु चिंतनीयं इत्युक्तम्। तद्हानं किं देहवियोग काले देहादुत्क्रान्तस्याध्वनि च, उत देहवियोगकाल एव? इति विशये उभयत्रेति युक्तम्, उभयथा श्रुतत्वात्, एवं हि कौषीतकिनः समामनंति–"स एतं देवयानं पंथानमापद्याग्निलोकं गच्छति" इत्युपक्रम्य "स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसाऽत्येति तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते" इति। इति वाक्ये अध्वनि सुकृतदुष्कृत हानिः प्रतीयते। ताण्डिनस्तु–"अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चंद्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, धूत्वाशरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्म लोकमभिसंभवानि" इति। अत्र तु देहवियोग काल इति प्रतीयते (शाट्यायनकेऽपि) "तस्यपुत्रादायमुपयंति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषंतः पापकृत्याम्" इति पुरुषु दायसंक्रांति समकालं सुकृतदुष्कृत संक्रमणं श्रूयमाणं देहवियोगकाल इति गम्यते। अतः सुकृतदुष्कृतयोरेकदेशो देहवियोगकाले हीयते, शेषस्त्व ध्वनि।

सुकृतदुष्कृत के हानोपायन की सभी विद्याओं में चिंतना करनी चाहिए यह बतला दिया गया । अब विचार होता है कि–वह ज्ञान (पुण्य पाप का त्याग) देह त्याग के समय होता है अथवा देह त्याग के वाद परलोक जाते समय) मार्ग में होता है? विचारने पर निश्चित होता है कि–दोनों ही स्थिति में हो सकता है, श्रुति में दोनों ही प्रकार का वर्णन मिलता है। कौषीतकी का वचन है कि–"वह इस देवयान मार्ग को प्राप्त कर अग्निलोक जाता है" ऐसा उपक्रम करके "वह विरजा नदी को प्राप्त कर उसे मनन द्वारा ही पार करता है जिससे पाप पुण्य को दूर कर देता है" इत्यादि वचन से ही मार्ग में ही, पाप पुण्य की हानि प्रतीत होती है। ताण्डीय शाखा के–"घोड़े के रोयों की तरह पाप को झाड़कर, राहु के मुख से छुटे हुए चंद्र की तरह, पाप से मुक्त हो जाता है।" इस शरीर का परित्याग कर पाप विमोचन पूर्वक शुद्ध निर्मल मति होकर ब्रह्म लोक प्राप्त करूंगा' इत्यादि वाक्य से, देह वियोग काल में ही हानि प्रतीत होती है। शाट्यायन के" उसके पुत्र धन पाते हैं, मित्र पुण्य पाते हैं, शत्रु पाप पाते हैं, इत्यादि वाक्य से–पुत्रों की दाय प्राप्ति मृत्यु के समय तथा पाप पुण्य हानि मृत्यु के बाद वतलाई गई है, जिससे देह वियोग काल की ही प्रतीति होती है। इन सबसे ज्ञात होता है कि–पाप पुण्य का एक अंश तो मृत्यु के समय ही छट जाता है, वाकी मार्ग में छटता है।

इति प्राप्त उच्यते-साम्परायें-इति । सांपरायं-देहादपक्रमण काले एव विदुषः सुकृतदुष्कृते निरवशेषं हीयते । कुतः ? तर्त्तव्याभावात्-विदुषोदेहवियोगात् पश्चात् सुकृतदुष्कृताभ्यां तरितव्य भोगाभावात् । विद्याफलभूतब्रह्मप्राप्ति व्यतिरेकेण हि सुकृतदुष्कृभ्यां भोक्तव्ये सुखदुःखे न विद्येते । तथाहि अन्ये-देहवियोगादूर्ध्वं ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्त सुखदुःखोपभोगाभावमधीयते" अशरीरं वा वसंतं न प्रियाप्रिये स्पृशतः "एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये" इति ।

उक्त मत पर– 'साम्यंराये" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। देह के छटते समय ही महात्मा के पुण्य पाप निःशेष हो जाते हैं। देह त्याग के

बाद पाप पुण्य उस ज्ञानी (भक्त) के लिए तारितव्य (पार करने योग्य) नहीं रहते, क्योंकि–उसके संपूर्ण भोगों की समाप्ति हो जाती है। उपासना के फलस्वरूप होने वाली ब्रह्म प्राप्ति से, पाप पुण्य से होने वाले भोक्तव्य सुख दुःख रहो नहीं जाते। जैसा कि–अन्य स्थलों में, देह वियोग के बाद ब्रह्म प्राप्ति के अतिरिक्त, सुख दुःख भोग का अभाव, बतलाया गया है– "अशरीरी हो जाने पर प्रिय अप्रिय उसे स्पर्श नहीं करते" उपासक इस शरीर से उठकर परं ज्योति के सकाश से आत्म ज्योति से संपन्न हो जाता है उसके वास्तविक मोक्ष में तभी तक का विलम्ब रहता है, जब तक शरीर से नहीं छुट जाता' इत्यादि।

छन्दत उभयाविरोधात् ।३।३।२८॥

एवमर्थस्वाभाव्यात् सुकृतदुष्कृत हानिकालेऽवधृते सत्युभयाविरोधेन-श्रुतेरर्थस्वभावस्य चाविरोधेन छंदतः, यथेष्टं पदानामन्वयो वर्णनीयः। कौषीतकीवाक्ये-"तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते" इति चरम श्रुतो वाक्यावयवः "एतं देवयानं पंथानमापद्य" इति प्रथम श्रुतावयवात् प्रागनुगमयितव्य इत्यर्थः।

इस प्रकार श्रुति के अर्थ की पर्यालोचना करने से सुकृतदुष्कृत हानि का समय निर्धारण हो गया। अब श्रुति और वस्तु की वास्तविकता में विरोध न हो, इस धारणा से, पद समूहों का संबंध निरूपण करते हैं। कौषीतकी वाक्य की–"तब पाप पुण्य को छोड़ता है" इस अंतिम विज्ञप्ति को "देवयान मार्ग को प्राप्त कर" इस प्रथम श्रुत वाक्य के अंग से, पहिले ले जाना होगा, तभी सही अन्वय होगा।

अत्र पूर्वपक्षी प्रत्यवतिष्ठते–इस पर पूर्व पक्षी आपत्ति करते हैं–

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधे ।३।३।२९॥

सुकृतदुष्कृतयोरेकदेशस्य देहवियोग काले हानिः, शेषस्य च पश्चादिति उभयथा कर्मक्षये सत्येव गतेरर्थवत्त्वम्-देवयानगतिश्रुतेरर्थवत्त्वमित्यर्थः। अन्यथा हि विरोधः,देह वियोगकाल एव सर्व

कर्मक्षये सूक्ष्म शरीरस्यापि विनाशः स्यात्, तथासति केवलस्यात्मनो गमनं नोपपद्यते । अत उत्क्रांति समये विदुषो निःशेष कर्मक्षयो-नोपपन्नः ।

पुण्य और पाप का एक अंश, देह त्याग के समय नष्ट माना जाय और अविशिष्ट अंश देवयान मार्ग में विनष्ट माना जाय तभी देवयान मार्ग गति की सार्थकता सिद्ध हो सकती है। अन्यथा विरोध होगा, देह त्याग के समय ही समस्त कर्मों का क्षय स्वीकारने से, सूक्ष्म शरीर का विनाश भी स्वीकारना होगा, सूक्ष्म शरीर के विनष्ट हो जाने पर निराधार आत्मा का गमन तो, संभव नहीं है। इससे अनुमान होता है कि-उपासक के, मृत्यु के समय ही समस्त कर्मों का क्षय नहीं होता ।

अत्रोत्तरम्—इसका उत्तर देते हैं—

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ।३।३।३०॥

उपपन्न एवोत्क्रांति कालेसर्वकर्मक्षयः, कथम्? तल्लक्षणा-र्थोपलब्धेः, क्षीणकर्मणोऽप्याविर्भूतस्वरूपस्य देहसंबंध लक्षणार्थोप-लब्धेः "परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः "स स्वराडभवति तस्य सर्वेषु कामचारो भवति" "स एकधा भवति त्रिधाभवति" इत्यादिषु देहसंबंधाख्योऽर्थो हि उपलभ्यते । अतः क्षीण कर्माणोऽपि सूक्ष्मशरीर मुक्तस्य देव यानेन गमनमुपपद्यते ।

शरीर छूटने के समय ही समस्त कर्मो का क्षय हो जाता है, ऐसा शास्त्र वाक्यों से ही ज्ञात होता है। क्षीण कर्म हो जाने के बाद भी आविर्भूत स्वरूप मुक्त जीवात्मा के स्वयं अपने तेजीय शरीर के सारे लक्षण विद्यमान रहते हैं ऐसा शास्त्र का मत है—"वह परं ज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप में व्यक्त हो जाता है" वह स्वच्छंद हो जाता है "उसकी सभी लोको में स्वच्छंद गति हो जाती हैं" इत्यादि वाक्यों में, देह सम्बध

का उल्लेख है। क्षीण कर्म हो जाने पर भी सूक्ष्म शरीर का देवयान गमन हो सकता है।

कथं सूक्ष्मशरीरमप्यारंभककर्म विनाशेऽवतिष्ठत इति चेत्? विद्यामाहात्म्यादिति ब्रूमः। विद्या हि स्वयं सूक्ष्म शरीरस्यानारम्भिकापि प्राकृत सुखदुःखोपभोगसाधनस्थूलशरीरस्य सर्वकर्मणां च निरवशेषक्षयेऽपि स्वफलभूत ब्रह्मप्राप्ति प्रदानाय देवयानेन पथैनं गमयितुं सूक्ष्मशरीरं स्थापयति। लोकवत्--यथा लोके सस्यादिसमृद्धयर्थमारब्धे तटाकादिके तद् हेतुषु तदिच्छादिषु विनष्टेष्वपि तदेव तटाकादिकमशिथिलं कुर्वन्तस्तत्र पानीयपानादि कुर्वन्ति, तद्वत्।

यदि कहें कि–कर्म ही तो सूक्ष्म शरीरोत्पत्ति के कारण होते हैं, यदि वे कर्म ही समाप्त हो जावेंगे तो सूक्ष्म शरीर रहेगा कैसे? उपासना की महिमा से ही सूक्ष्म शरीर रहता है। विद्या स्वयं सूक्ष्म शरीर की उत्पादिकता नहीं होती, किन्तु प्राकृत सुख दुःखोपभोग के साधन स्थूल शरीर के विनष्ट हो जाने पर, ब्रह्म प्राप्तिरूप अपने फल प्रदान की सहायता के लिए, देवयान में जाने वाले उपासक के सूक्ष्म शरीर की रक्षा करती है। जैसे कि–खेती की वृद्धि के उद्देश्य से, जलाशय बनाया जाता है, खेती के समाप्त हो जाने पर भी, भलीभाँति रक्षित वह जलाशय, पथिकों के पेय जल की पूर्ति करता है, वैसे ही यह सूक्ष्म शरीर होता है।

अथस्यात्–ज्ञानिनां साक्षात्कृतपरतत्त्वानां देहपातसमये कर्मणो निरवशेषक्षयात् देहपातादूर्ध्वं सूक्ष्मशरीरमात्रं गत्यर्थमनुवर्त्तते, सुखदुःखानुभवो न विद्यत-इति यदुक्तम्, सन्नोपपद्यते, वसिष्ठावान्तरतपः प्रभृतीनां साक्षात्कृत परतत्त्वानां देहपातादूर्ध्वं देहान्तरसंगमः, पुत्रजन्म विपर्ययादि निमित्त सुखदुःद्यनुभवश्च दृश्यते–इति–अतउत्तरं पठति।

शंका–ज्ञानी भक्तों द्वारा परतत्त्व का साक्षात् कर लेने पर देहपात के समय ही समस्त कर्मों के क्षीण हो जाने पर, देहपात के बाद गति के लिए केवल सूक्ष्म शरीर मात्र रहता है, सुख दुःख नहीं रहते, आपके इस मत को मान लेने से, गति हो नहीं सकती। वसिष्ठ अपान्तरतप आदि परतत्ववेत्ता महात्माओं का शरीरपात के बाद भी देहान्तर संयोग, पुत्र जन्म,–विपत्ति आदि के निमित्त, सुख दुःख आदि के अनुभवों का वर्णन मिलता है इसका उत्तर देते हैं–

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ।३।३।३१॥

नास्माभिः सर्वेषां ज्ञानिनां देहपात समये सुकृतदुष्कृतयोर्विनाश उक्तः, अपितु येषां ज्ञानिनां देहपातानन्तरमर्चिरादिका गतिः प्राप्ता, तेषां देहपातसमये सुकृतदुष्कृत हानिरुक्ता। वसिष्ठादीनां त्वाधिकारिकानां न देहपातानंतरमर्चिरादिगति प्राप्तिः, प्रारब्धस्याधिकारस्य असमाप्तत्वात्। तेषां कर्मविशेषेणाधिकारविशेषं प्राप्तानां यावदाधिकारसमाप्ति तदारम्भकं कर्म न क्षीयते। प्रारब्धस्य हि कर्मणोभोगादेवक्षयः। अत आधिकारिकाणां तदारम्भकं कर्म यावदधिकारमवतिष्ठते। अतस्तेषां न देहपातादनन्तरमर्चिरादिगति प्राप्तिः।

उक्त महात्माओं के देहपात के समय पापपुण्य के विनाश का उल्लेख नहीं मिलता, अपितु जिन ज्ञानियों की देहपात के बाद अर्चिरादि गति बतलाई गई है, उन्हीं के पापपुण्य हानि का उल्लेख किया गया है। वसिष्ठ आदि कर्माधिकारियों की देहपात के बाद अर्चिरादि गति नहीं हुई थी क्योंकि-उनके प्रारब्ध कर्म की परम्परा समाप्त नहीं हो पाई थी। उन्हें जो कर्मफल का विशेषाधिकार मिला था, उसके समाप्त होने तक उनके प्रारब्ध कर्म का क्षय नहीं हुआ। प्रारब्ध कर्म का क्षय तो भोग से ही समाप्त होता है। प्रायः लोगों के आधिकारिक प्रारब्ध कर्म अपने अधिकार की समाप्ति तक अपना सिलसिला चालू रखते हैं, इसलिए उन लोगों की, देहपात के बाद अर्चिरादि गति नहीं होती।

१३–अनियमाधिकरणः—

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ।३।३।३२ ॥

उपकोसलादिषु येषूपासनेष्वर्चिरादिगतिः श्रूयते, किं तन्निष्ठानामेव तया ब्रह्मप्राप्तिः, उत सर्वेषां ब्रह्मोपासननिष्ठानामिति संशये । इतरेष्वनाम्नात् 'येचेमेरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते" श्रद्धां सत्यमुपासते" इतीतरसकलब्रह्मविद्योपस्थापकत्वे प्रमाणाभावाच्च तन्निष्ठानामेव ।

उपकोसल आदि उपासनाओं में जो अर्चिरादि गति सुनी जाती है वह उसकोपल आदि के उपासकों की ही होती है अथवा उपासक मात्र की होती है इस पर विचारने से ज्ञात होता है कि–अन्य उपासकों का वर्णन नहीं मिलता, अपितु "जो अरण्य में श्रद्धारूप तप से इनकी उपासना करते हैं "जो श्रद्धा की सत्य रूप से उपासना करते हैं" इत्यादि वाक्यों में उपकोसल आदि विद्योपासकों की ही विशेषता वतलाई गई है, इसलिए उन उपासनाओं में निष्ठ व्यक्तियों की ही अर्चिरादि गति होती है ।

सिद्धान्तः–इति प्राप्तेऽभिधीयते-अनियमः, इति । सर्वेषां सर्वोपासननिष्ठानां तयैव गंतव्यत्वात् तन्निष्ठानामेवेति नियमो नास्ति । सर्वेषां तयैव हि गमने सति शब्दानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामविरोध, अन्यथा विरोध एवेत्यर्थः । श्रुतिस्तावत् छांदोग्यवाजसनेयकयोः,पंचाग्निविद्यायामर्चिरादि मार्गेण सर्व ब्रह्मोपासन निष्ठानां गमनमाह–"यएवमेतद् विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिषमभिसंभवंति" इति छांदोग्ये "य इत्थं विदुः" इति पंचाग्निविद्या निष्ठान् "ये चेमे" इत्यादिना श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मोपासीनांश्चोद्दिश्याचिंरादिकागतिरुपदिश्यते "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" सत्यंत्वेव विजिज्ञासितव्यम्" इति सत्यशब्दस्य ब्रह्मणि प्रसिद्धेः । तपः शब्दस्यापि तेनैकार्थ्यात् सत्यतपः शब्दाभ्यां ब्रह्मैवाभिधीयते । "श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मोपासनं चान्यत्र श्रुतं "सत्यंत्वेव

"विजिज्ञासितव्यम्" इत्युपक्रम्य "श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्यः" इति। स्मृतिरपि "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्, तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदोजनाः" इति सर्वेषां ब्रह्मविदामनेनैव मार्गेण गमगमित्याह एवं जातीयकाः श्रुतिस्मृतयो वह्वयः संति। एवं सर्व विद्यासाधारणी इयं गतिः प्राप्तैवोपकोसल विद्यादावनूद्यते।

उक्त कथन पर सिद्धान्त रूप से "अनियमः" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। सभी विद्याओं के उपासकों की एकमात्र अर्चिरादि गति ही है, एकमात्र उपकोसल आदि के उपासकों की ही उक्त गति होती हो ऐसा कोई नियम नहीं है। सभी की अर्चिरादि गति होती है, यह शास्त्र और अनुमान से निश्चित होता है। शास्त्र जैसे—छांदोग्य और वृहदारण्यक की पंचाग्नि विद्या में अर्चिरादि मार्ग से उपासक मात्र के गमन का उल्लेख है— "जो इस प्रकार इसे जानते हैं और जो अरण्य में श्रद्धारूप तप से इसकी उपासना करते हैं, वे अर्चिरादि मार्ग से गमन करते हैं" इत्यादि वृहदारण्यक में तथा—"जो इस प्रकार जानते हुए अरण्य में श्रद्धापूर्वक इसकी उपासना करते हैं वे अर्चिरादि गति प्राप्त करते हैं" इत्यादि छांदोग्य का वचन है। "य इत्थंविदुः" से, पंचाग्निविद्यानिष्ठों और "ये चेमे" से श्रद्धालु ब्रह्मोपासकों की अर्चिरादि गति बतलाई गई है। "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" "सत्यंत्वेव विजिज्ञासितव्यः" इत्यादि वाक्यों में "सत्य" शब्द ब्रह्म के लिए ही प्रसिद्ध है। तप और सत्य शब्द एकार्थक हैं। सत्य—तप—श्रद्धा इन तीनों से ब्रह्म ही अभिधेय हैं। श्रद्धापूर्वक ब्रह्मोपासना का "सत्यंत्वेव विजिज्ञासितव्यः" श्रद्धात्वेवविजिज्ञासितव्यः" इत्यादि में भी उल्लेख है। स्मृति में भी इसी प्रकार—"अग्नि, ज्योति, अह, शुक्लपक्ष और उत्तरायण, षण्मास के देवयान में गगन करने वाले सभी ब्रह्म लोक प्राप्त करते हैं" इत्यादि में सभी ब्रह्मोपासकों का उक्त मार्ग से गमन कहा गया है। ऐसी अनेक श्रुतिस्मृतियाँ हैं। इस प्रकार सभी विद्याओं के उपासकों के लिए इस असाधारण अर्चिरादि गति का उल्लेख है उपकोसल आदि विद्याओं में इसका अनुवाद मात्र मिलता है।

१४ अक्षरध्यधिकरणः—

अक्षरधियांत्ववरोधःसामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्।३।३।३३॥

बृहदारण्यके श्रूयते—"एतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदंति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवायव्नाकाशम-संगमरसमगंधमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणमसुखममात्र-मनंतरमबाह्यं न तदश्नाति किं च न एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौतिष्ठतः" इति । तथा आथर्वणे-अथपरा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमचक्षुश्रोत्र तदपाणि-पादम्" इति । तत्र संशयः, किमिमे अक्षरशब्दनिर्दिष्ट ब्रह्म संबधितया श्रुताः, अस्थूलत्वादयः प्रपंचप्रत्यनीकतास्वरूपाः सर्वासु ब्रह्मविद्यास्वनुसंधेयाः, उत यत्र श्रूयन्ते तत्रैव-इति । किं युक्तम्? यत्र श्रुतास्तत्रैवेति । कुतः? विद्यान्तरस्य रूपभूतानां गुणानां विद्यान्तरस्य रूपत्वे प्रमाणाभावात्, प्रतिषेधरूपाणामेषामानंदादिवत्स्वरूपावग-मोपायत्वाभावाच्च । आनंदादिभिरवगतस्वरूपे हि ब्रह्मणि स्थूलत्वादयः प्रपंचधर्माः प्रतिषिध्यंते निलंबनप्रतिषेधायोगात् ।

बृहदारण्यक में पाठ है कि—"हे गार्गि! ब्रह्मवादी इस अक्षर को, अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, छायारहित, अंधकार रहित, वायु और आकाश रहित, अनासक्त, रस—गंध नेत्र—कर्ण—मन—तेज —प्राण—सूर्य और चंद्र इस अक्षर के शासन में ही स्थित हैं। "तथा आथर्वण में पाठ है कि—"इसके बाद पराविद्या का उल्लेख है, जिससे उस अक्षर पुरुष की प्राप्ति होती है जो कि—अदृष्ट, अग्राह्य, गोत्र—वर्ण—नेत्र—कर्ण—हस्त-पाद रहित है।" यहाँ संशय होता है कि—अक्षर शब्द निर्दिष्ट ब्रह्म से संबंधित अस्थूलता आदि जगत् विलक्षण प्रपंचों की सभी ब्रह्मविद्याओं में चिन्तना की जायगी, अथवा जहाँ कहे गए हैं वहीं की जायगी? कह सकते हैं कि—जहाँ कहे गए हैं, केवल वहीं की जायगी।

ऐसा कहीं भी प्रमाण नहीं मिलता कि–एकविद्या के स्वरूप भूत गुणों की दूसरी विद्या, के गुणों के रूप में चिन्तना की जाय। तथा अस्थूलत्व आदि निषेधात्मक की, आनंद ज्ञान आदि की तरह, स्वरूपावगति न होने से, इनमें साधनता का भी अभाव है (अर्थात् इन्हें उपासना का आधार नहीं कहा जा सकता) आनंद आदि से अवगत होने वाले ब्रह्म स्थूलता आदि प्रपंच धर्मों का प्रतिषेध किया गया है इसलिए निरवलम्ब का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता [अर्थात् अस्थूलत्व आदि निर्गुणब्रह्म की उपसना के बोधक हैं, जैसे कि–आनंद आदि ब्रह्म की निर्गुण उपासना होती है, वैसे ही अक्षर की भी होती है, जिन विद्याओं में सगुणोपासना का विधान है, वहाँ इनकी चिन्तना कैसे संभव है?]

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-अक्षरधियांत्ववरोधः, इति। अक्षरब्रह्म संबंधिनामस्थूलत्वादिधियां सर्व ब्रह्मविद्यास्ववरोधः, संग्रहणमित्यर्थः। कुतः? सामान्यतद्भावाभ्यां। सर्वेषूपासनेषूपास्यस्याक्षरस्यब्रह्मः समानत्वादस्थूलत्वादीनां तत्स्वरूपप्रतीतौ भावाच्च। एतदुक्तं भवति-असाधारणाकारेण-ग्रहणं हि वस्तुनो ग्रहणम्। न च केवलमानन्दादि ब्रह्मणोऽसाधारण माकारमुपस्थापयति, प्रत्यगात्मन्यप्यानंदादेर्विद्यमानत्वात्। हेय प्रत्यनीको हि आनंदादि ब्रह्मणोऽसाधारणं रूपम्। प्रत्यगात्मस्तु स्वतो हेयविरहिणोऽपि हेयसंबंधयोग्यताऽस्ति, हेयप्रत्यनीकत्वं च चिदचिदात्मक प्रपंचधर्मभूतस्थूलत्वादि विपरीत रूपम्। अतोऽसाधारणाकारेण ब्रह्मणोऽनुसंदधताऽस्थूलत्वादिविशेषितज्ञानानंदाद्याकारं ब्रह्मानुसंधेयमिति अस्थूलत्वादीनांमानंदादिवद् ब्रह्मस्वरूप प्रतीत्यन्त-र्भावात् सर्वासु ब्रह्मविद्यासु तथैव ब्रह्मानुसंधेयमिति गुणानां प्रधानानुवर्त्तित्वे दृष्टांतमाह—औपसदवत्—इति। यथा जामदग्न्यचतूरात्र पुरोडाश्युपसद्गुणभूतः सामवेद पठितः "अग्निर्वै होत्रं वेतु:" इत्यादिको मंत्रः प्रधानानुवर्त्तितया याजुर्वैदिकेनोपांशु-

त्वेन प्रयुज्यते। तदुक्तं प्रथमे काण्डे"गुणमुख्य व्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेद संयोगः "इति।

उक्त मत पर सिद्धान्तरूप से "अक्षरधियांत्ववरोध:" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अक्षर ब्रह्म संबंधी अस्थूलत्व आदि चिन्तनों का सभी ब्रह्म विद्याओं में अवरोध अर्थात् संग्रहण होगा। सभी उपासनाओं के उपास्य अक्षर के ही समान हैं। अस्थूलत्व आदि उन सभी की प्रतीति करा सकते हैं। कथन यह है कि-किसी वस्तु के ग्रहण करने का तात्पर्य है, उसके विशेषाकार का ग्रहण करना। जीव में भी आनंद आदि की स्थिति है, इसलिए केवल ब्रह्म की ही, आनंद आदि असाधारण विशेषतायें नहीं कही जा सकतीं। हीनता से रहित आनंद आदि ही ब्रह्म के असाधारण रूप हैं। जीवात्मा वस्तुतः हीनता से रहित होते हुए भी हीनता से संबंधित होने के अयोग्य नहीं कहला सकता [अर्थात्-अनादि मायावश हीनता से संबद्ध है] जड़चेतनात्मक प्रपंचमयजगत् की स्थूलता आदि से विपरीत रूप ही, हेयप्रत्यनीकता हीनता राहित्य है। इस प्रकार के आसाधारण रूप से, जो ब्रह्म की चिन्तना करते हैं उन्हें अस्थूलत्व आदि रूपों से विशेषित आनंदादि रूप ब्रह्म की चिन्तना करनी ही होगी। आनंदादि की तरह अस्थूलत्व आदि भी, ब्रह्मस्वरूपोपलब्धि के अन्तर्गत आ जाते हैं, इसलिए सभी ब्रह्म विद्याओं में, उसी प्रकार इनकी भी चिन्तना की जावेगी। गुणी, गुण का अनुवर्त्ती होता है, इसका दृष्टांत उपस्थित करते हैं-जमदग्नि द्वारा अनुष्ठित चतुरात्र नामक याग में जैसे पुरोडाश के संस्कारक औपसद् का अनुवर्त्तन होता है "अग्निर्वैहोत्रंवेतु" इत्यादि मंत्र, सामवेदोक्त होते हुए भी, यज्ञांग होने के कारण, यजुर्वेद में उपांशु रूप से उच्चारित है। पूर्व मीमांसा में कहा भी गया है-जहाँ गुण और गुणी का विरोध उपस्थित हो, वहाँ गुणी के साथ ही वैदिक मंत्र और क्रियाओं का संबंध होता है, क्योंकि-गुणों के लिए ही गुणों की योजना होती है।"

नन्वेवं सर्वासुब्रह्मविद्यासु ब्रह्मणएव गुणित्वादगुणानां च प्रधानानुवर्त्तित्वात् "सर्वकर्मासर्वगंधः सर्वरसः" इत्यादेर्गुणजातस्य प्रतिविद्यं व्यवस्थितस्याप्यव्यवस्थास्यात्-तत्राह-

ब्रह्म ही जब सब विद्याओं का गुणी है और सारे गुण उसके अनुवर्त्ती हैं, "तब सर्वकर्मा, सर्वगंध, सर्वरस" इत्यादि गुणों की जो प्रत्येक विद्याओं में चिन्तन की व्यवस्था की गई है, वह तो अव्यवस्थित हो जायेगी। इसका उत्तर देते हैं—

इयदामननात् ।३।३।३४॥

आमननं-आभिमुख्येनमननं—अनुचिन्तनम्। आमननाद् हेतोरियदेव गुणजातं सर्वत्रानुसंधेयत्वेन प्राप्तम्, यदस्थूलत्वादि विशेषितमानंदादिकम्। येन गुणजातेन विना ब्रह्मस्वरूपस्येतरव्यावृत्तस्यानुसंधानं न संभवति, तदेव सर्वत्रानुवर्त्तनीयम्, तच्चेयदेवेत्यर्थः। इतरे तु सर्वकर्मत्वादयः प्रधानानुवर्त्तिनोऽपि चिन्तनीयत्वेन प्रतिविद्यंव्यवस्थिताः।

आभिमुख्य मनन अर्थात् अनुचिन्तन को आमनन कहते हैं आमनन के हेतु—अस्थूलता आदि सहित आनंदादि गुणों की सर्वत्र, चिन्तना बतलाई गई है। जिन गुणों के बिना ब्रह्म के स्वरूप का चिन्तन संभव नहीं है केवल वे ही गुण, सर्वत्र अनुवृत्त होते हैं, और ग्रहण किये जा सकते हैं, ये गुण अस्थूलता आदि ही हैं। अन्य जो सर्वकर्मा आदि गुण हैं, वे गुणी के अनुवर्त्ती होते हुए भी, प्रत्येक विद्याओं में, पृथक् रूप से चिन्त्य बतलाए गए हैं।

१५ अन्तरत्वाधिकरणः—

अन्तराभूतग्रामवत् स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत्। ३।३।३५॥

वृहदारण्यके उषस्तप्रश्न एवमाम्नायते "यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः तन्मे व्याचक्ष्व" इति। तस्य प्रतिवचनं "यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापनिति स त आत्मा" इत्यादि। अतुष्टेन तेन पुनः पृष्ट आह—"न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेःश्रोतारं श्रृणुयाः न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः न विज्ञाते

विज्ञातारं विजानीया एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तम्" इति। तथा तदनन्तरं कहोल प्रश्ने चैवमाम्नायते—"यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः तन्मेव्याचक्ष्व" इति। प्रतिवचनं च—"योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति एवं हैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च" "इत्यादि "अतोऽन्यदार्त्तम्" इत्यन्तम्।

वृहदारण्यक में—उषस्त द्वारा ऐसा प्रश्न किया गया कि "जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तर्यामी आत्मा है मुझे उनका स्वरूप बतलाओ" इसका उसे उत्तर मिला कि—"जो प्राणों के प्राण, जो सर्वान्तरात्मा, अपानों के अपान हैं, वही आत्मा।" इस उत्तर से असंतुष्ट पृष्टा के पुनः प्रश्न करने पर उत्तर दिया गया कि—"जो तुम दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते, मति के मंता को, मनन नहीं कर सकते। विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते, तुम्हारा यह आत्मा सर्वान्तर है इससे भिन्न सब कुछ आर्त्त (नाशवान) है।" इसके बाद कहोल द्वारा भी इसी प्रकार का प्रश्न किया गया—"जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तर-आत्मा है, उसकी व्याख्या करो।" उत्तर मिला कि-"जो, भूख प्यास, शोक, मोह जरा और मृत्यु से परे है, उस आत्मा को ही जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा और वित्तैषणा" इत्यादि से लेकर—"इससे भिन्न सब आर्त्त है" यहाँ तक उक्त तत्त्व की व्याख्या की गई।

तत्र संशय्यते—किमनयोर्विद्याभेदोऽस्ति, नेति? किं युक्तम् भेद इति, कुतः? रूपभेदात्। प्रतिवचनभेदात् रूपं भिद्यते। प्रश्नस्यैक रूप्येऽपि प्रतिवचन प्रकारो हिं भेदेनोपलभ्यते। पूर्वत्रप्राणादीनां कर्त्ता सर्वान्तरात्मत्वेनोच्यते परत्राशनायापिपासादि रहितः। अतः पूर्वत्र प्राणिता देहेन्द्रियबुद्धिमनप्राणव्यतिरिक्तः प्रत्यगात्मोच्यते। परत्र तु तदतिरिक्तोऽशनायापिपासादिरहितः परमात्मा। अतोरूपं भिद्यते। भूतग्रामवतश्च प्रत्यगात्मनस्तस्य भूतग्रामस्य सर्वस्यान्तरत्वेन सर्वान्तरत्वमप्युपपन्नम्। यद्यपि प्रत्यगात्मनः सर्वान्तरत्वं भूतग्राम-

मात्रापेक्षत्वे नापेक्षिकम् तथापि तदेव ग्राह्यम्, अन्यथा मुख्यान्तरात्मपरिग्रहलोभात्—परमात्म स्वीकारे प्रतिवचन भेदो नोपपद्यते। प्रतिवचनं हि पूर्वत्र प्रत्यगात्म विषयम्, परमात्मनः प्राणितृत्वापानितृत्वाद्यसंभवात्। परं च परमात्मविषयं अशनायापिपासाद्यतीत्वात्।

इस पर संशय होता है कि–उक्त प्रसंग में विद्याभेद है या नहीं? कह सकते हैं कि–भेद है, क्योंकि–दोनों में जो उत्तर दिया गया है वह भिन्न है इसलिए दोनों के रूप में भेद है। एक ही प्रकार का प्रश्न है पर उत्तर भिन्न है। पहिले में प्राण आदि के कर्त्ता को सर्वान्तर्यामी कहा गया है, दूसरे में भूखप्यास रहित को सर्वान्तर्यामी कहा गया है। समस्त भूतों में व्याप्त जीवात्मा, भूतों के अन्दर व्याप्त होने के कारण सर्वान्तरयामी है। यद्यपि जीवात्मा की सर्वान्तर्यामिता, सभी भौतिक तत्वों में नहीं होती, कुछेक में होने के कारण ही उसे सर्वान्तर्यामी कहा जा सकता है। मुख्यान्तर्यामी परमात्मा को ही यदि, पूर्व उत्तर में भी, सर्वान्तर्यामी मान लेंगे तो भेदात्मक उत्तरों की संगति न होगी। पहिले उत्तर का विषय जीवात्मा संबंधी ही है। प्राण अपान से संबंधित, परमात्मा नहीं हो सकते। दूसरा उत्तर परमात्म विषयक है, क्योंकि उसमें भूख-प्यास आदि से रहित विशेषताओं का उल्लेख है।

तदिदमाशंकते–अन्तराभूतग्रामवत् स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति इति चेत्? अन्तरा सर्वान्तरत्वेन प्रथम प्रतिवचनं भूतग्रामवत् स्वात्मनः, भूतग्रामवान्, तदन्तरः स्वात्मा, प्रत्यगात्मा सर्वान्तर इत्युच्यत इत्यर्थः। अन्यथा–"यः प्राणेन प्राणिति" योऽशनाया पिपासाद्यतीतः" इति प्रतिवचन भेदानुपपत्तिरितिचेत्—

उक्त मत पर शंका करते हैं कि–भूत समुदायों की तरह अपने आत्मा से भिन्न कोई तत्व अन्तर्यामी है, ऐसी भेद प्रतीति "अन्तराभूत् ग्रामवत्" इस सूत्र से होती है? इसका यह तात्पर्य नहीं है अपितु अन्तरा अर्थात् सर्वान्तर रूप से भूतग्रामवत–अपना भूतसमुदाय युक्त आत्मा ही उन भूतसमुदायों का अन्तर्यामी आत्मा है अर्थात् जीवात्मा ही सर्वान्तर्यामी

आत्मा है इत्यादि तात्पर्य है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो–"प्राणों का प्राण" और "जो भूख प्यासादि से रहित है" इन विभिन्न उत्तरों का समाधान नहीं होगा।

सिद्धान्त–प्रश्नोत्तरं–नेति। न विद्याभेद इत्यर्थः। उभयत्र पर विषयत्वात् प्रश्नप्रतिवचनयोः। तथाहि–"यत्साक्षादपरोक्षाद्-ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" इति प्रश्नस्तावद् परमात्मविषय एव, ब्रह्मशब्दस्य परमात्मा साधारणत्वेऽपि प्रत्यगात्मन्यपि कदाचिदुप-चरित प्रयोगदर्शनात्तद्व्यावृत्यापरमात्मप्रतिपत्त्यर्थं–"सत्साक्षाद्-ब्रह्म" इति विशेषणं क्रियते। अपरोक्षत्वमपि सर्वदेश सर्वकाल संबंधित्वं "सत्यं ज्ञानमनंत ब्रह्म" इत्यनन्तत्वेनावगतस्य परमात्मन एवोपपद्यते। सर्वान्तरत्वमपि–"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या-अन्तरः" इत्यारभ्य "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः" इति सर्वान्तर्यामिणः परमात्मन एव संभवति। प्रतिवचनमपि तथैव परमात्मविषयम्। "यः प्राणेन प्राणिति" इति निरुपाधिकं प्राणनस्य कर्त्तृत्वं परमात्मन एव। प्रत्यगात्मनः सुषुप्तौ प्राणनं-प्रति कर्त्तृत्वाभावात् एवमजानतोषत्वेन प्राणने कर्तृत्वम। अमुक्तं मन्वानेन प्रत्यगात्मनोऽपि साधारणंत्व प्रतिवचनस्य मत्वा अतुष्टेन पुनः पृष्ठस्तंप्रति प्रत्यगात्मनो व्यावृतं निरुपाधिकत्वेन प्राणस्य कर्त्तारं परमात्मानमाह–"न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः" इत्यादिना। इन्द्रियाधीनानां दर्शनश्रवणमननविज्ञानानांकर्त्तारं प्रत्यगात्मानं प्राणनस्य कर्त्तृत्वेनोक्त इति न मन्वीथाः, तस्य सुषुप्तिमूर्छादौ प्राणनादेरकर्त्तृत्वात्। "को ह्येवान्यात कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनंदोनस्यात्" इति सर्वं प्राणि प्राणन हेतुत्वं हि परमात्मन एवान्यत्र श्रुतम्। अतः पूर्वंप्रश्न प्रतिवचने परमात्मविषये। एवमुत्तरे अपि, अशनायाद्यतीतत्वस्य परमात्मासाधारणत्वात्।

उभयत्र–"अतोऽन्यदार्त्तम्" इत्युपसंहारश्चैकरूपः। प्रश्नप्रतिवचनावृत्तिस्तु कृत्स्नप्राणिप्राणन हेतोः परस्यब्रह्मणोऽशनायाद्यतीतत्व प्रतिपादनाय।

सिद्धान्तः—उक्त मत का उत्तर नकारात्मक है, अर्थात् विद्याभेद नहीं है। दोनों जगह प्रश्नोत्तर परमात्म विषयक ही हैं। जैसे कि–"जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तरात्मा है" इत्यादि प्रश्न परमात्म विषयक ही है। ब्रह्म शब्द सामान्यतः परमात्मवाची है, कभी-कभी गौण रूप से इसका प्रयोग जीवात्मा के लिए भी किया गया है। उक्त प्रसंग में परमात्मवाची ही है क्योंकि–प्रश्न में "साक्षात् ब्रह्म" ऐसा विशेषण दिया गया है। अपरोक्षता भी सर्वदेश, सर्वकाल संबंधी "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि विशेषताओं वाले अनंत परमात्मा में ही संगत हो सकती है। सर्वान्तरत्व भी–"जो पृथ्वी में स्थित सर्वान्तर्यामी है "जो आत्मा में स्थित सर्वान्तर्यामी है" इत्यादि में वर्णित, सर्वान्तर्यामी परमात्मा में ही संभव है। उत्तर भी परमात्म विषयक ही प्रतीत होता है। "जो प्राणों का प्राण" ऐसा आधिक्य प्रतिपादन प्राणकर्त्ता परमात्मा के लिए ही संभव है, क्योंकि-जीवात्मा का प्राण सुषुप्तावस्था में, कर्त्तृत्व शक्ति रहित निश्चेष्ट रहता है। इस रहस्य के अज्ञाता उषस्त द्वारा केवल प्राण के कर्त्तृत्व के अनुसार जीवात्मा को प्राणशब्दवाची मान कर, बार-बार आग्रहपूर्वक प्रश्न करने पर "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः" इत्यादि में, जीवात्मा से पृथक, प्राण के निरुपाधिक (सर्वकालीन) कर्त्ता परमात्मा का उपदेश दिया गया। इन्द्रियाधीन-दर्शन-श्रवण-मनन-विज्ञान आदि भावों के कर्त्ता जीव को, प्राण का कर्त्ता, नहीं माना जा सकता, क्योंकि–सुषुप्तिमूर्छा में जीवात्मा में, प्राणकर्त्तृत्व का अभाव रहता है" यदि यह आकाश-आनन्द न होता तो प्राणन और चेष्टा कौन कर सकता?" इस प्रकरणान्तरीय वाक्य में सभी प्राणियों के प्राणनकर्त्ता परमात्मा का उल्लेख है। इस प्रकार–पूर्व के प्रश्नोत्तरों के विवेचन से, परमात्म-विषयता स्पष्ट हो जाती है। बाद के प्रश्नोत्तरों में भी–भूखप्यासादि से रहित परमात्मा की असाधारणता दिखाई गई है। दोनों ही जगह "बाकी सब आर्त्त है" ऐसा एक सा उपसंहार किया गया है। प्रश्नोत्तरों की

पुनरावृत्ति-समस्त प्राणियों के प्राणनकर्त्ता परब्रह्म की, अनशनादि विशेषताओं के प्रतिपादन के लिए' की गई है ।

तत्र दृष्टान्तमाह उपदेशवदिति—यथा सद्विद्यायाम् "उत्तमादेशमप्राक्ष्यः" इति प्रक्रान्ते सदुपदेशे "भग[illegible]मे तद्-ब्रवीत्विति "भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु" इति प्रश्नस्य "एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वंतत्सत्यम्" इति प्रतिवचनस्य च भूयोभूय आवृत्तिः सतो ब्रह्मणः तत्तन्माहात्म्यविशेष प्रतिपादनाय दृश्यते तद्वत् । अत एकस्यैव सर्वान्तरभूतस्यब्रह्मणः कृत्स्नप्राणिप्राणन हेतुत्वाशनायाद्यतीतत्वप्रतिपादनेन रूपैक्याद् विद्यैक्यम् ।

सूत्रकार-उपदेशवत् कहकर इस विषय में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं कि जैसे—छांदोग्य के सद्विद्या के प्रकरण में—"तुम क्या उस उपदेश की जिज्ञासा करते हो ?" इत्यादि से ब्रह्मविद्या का उपक्रम करके— "पूजनीय ! आप मुझे उसे बतलाने की कृपा करें" हे भगवन् पुनः बतलाइए,' इत्यादि प्रश्न करने पर—"वह अत्यन्त अणु जगदात्मक और सत्य स्वरूप है" इत्यादि उत्तर में ब्रह्म और उसकी महिमा विशेष के प्रतिपादन के लिए पुनरावृत्ति की गई है, वैसे ही उक्त प्रसंग में भी है । समस्त प्राणियों के प्राणनकर्त्ता एक ही सर्वान्तर्यामी ब्रह्म के अशन आदि के प्रतिपादन के लिए ही पुनरावृत्ति की गई है, इसलिए दोनों विद्यायें एक हैं ऐसा सिद्ध होता है ।

अथ स्यात्—यद्युभये प्रश्नप्रतिवचने परब्रह्मविषये तथाऽपि विद्याभेदोऽवर्जनीयः, एकत्र सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वेनोपास्यम्, इतरत्राशनायाद्यतीतत्वेनेत्युपास्यगुणभेदेन रूपभेदात्, प्रष्टृभेदाच्च, पूर्वत्र उषस्तः प्रष्टा, उत्तरत्र कहोलः, इति । तत्राह—

यद्यपि दोनों प्रश्नोत्तर परब्रह्म विषयक हैं फिर भी, विद्या भेद अपरिहार्य है, क्योंकि—एक जगह ब्रह्म को, प्राणों के हेतु रूप में तथा दूसरी जगह अनशनादि विशेषताओं वाला कहा गया है, जिससे उपास्य के गुणों का स्पष्ट भेद प्रतीत होता है, इसलिए रूपभेद तो हो ही गया । प्रश्न-

कर्त्ता का भी भेद है, पहिले में उषस्त प्रश्नकर्त्ता है दूसरे में कहोल है। इसका उत्तर देते हैं :—

व्यतिहारो विंशिषंति हीतरवत् ।३।३।३६।।

नात्र विद्याभेदः प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामेकरूपार्थविषयाभ्यामेकेन च विधिपदेनैकवाक्यत्वप्रतीतेः। प्रश्नद्वयं तावत्सर्वान्तरात्मत्व विशिष्टब्रह्म विषयम्। द्वितीये प्रश्ने "यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" इत्येवकारश्च पूर्वत्रोषस्तेन पृष्टगुणविशिष्ट ब्रह्मविषयत्वं कहोल प्रश्नस्यावधारयति । प्रतिवचनं चोभयत्र "सत आत्मा सर्वान्तरः" इति सर्वान्तरात्मत्वविशिष्टब्रह्मविषय-मेकरूपमेव । विधिप्रत्ययश्चोत्तरत्रैव दृश्यते "तस्माद् ब्राह्मण पांडित्यं निर्विद्य बाल्यत्वेन तिष्ठासेत" इति । एवं सर्वान्तरात्मत्व-विशिष्टं ब्रह्मैक विषयत्वे द्वयोरवगते सत्येकस्मिन्नेव सर्वान्तरात्मत्व विशिष्टे ब्रह्मण्युपास्ये उषस्तकहोलयोरितरेतरबुद्धि व्यतिहारः कर्त्तव्यः । उषस्तस्य या सर्वान्तरात्मो ब्रह्मणः सर्वप्राणिप्राणन हेतुत्वविषया बुद्धिः, सा कहोलेनापि प्रष्ट्रा कार्या, या च कहोलस्य तस्यैव ब्रह्मणोऽशनायाधतीतत्वविषयाबुद्धिः सा उषस्तेनापि कार्या। एवं व्यतिहारे कृते उभाभ्यां सर्वान्तरस्य ब्रह्मणो जीव-व्यावृत्तिरवगता भवति। एतं सर्वान्तरात्मानं प्रत्यगात्मनो व्यावृत्त-मवगमयितुं सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वाशनायाद्यतीतत्व प्रतिपादनेन विंशिषंति हि याज्ञवल्क्यस्य प्रतिवचनानि । अतोब्रह्मणः सर्वान्तरात्मत्वमेवोपास्यगुणः । प्रणनहेतुत्वादयस्तु तस्योपपादकाः नोपास्याः ।

उक्त प्रसंग में विद्याभेद नहीं है। प्रश्नोत्तरों में एक ही प्रकार के विषय, एक ही प्रकार की विधि से, एकवाक्यता की प्रतीति होती है। दोनों ही प्रश्न सर्वान्तर्यामी ब्रह्म विषयक हैं। द्वितीय प्रश्न में "यदेवसाक्षाद-

परोक्षाद" इत्यादि स उषस्त द्वारा पूछी गई, गुणविशिष्ट ब्रह्म विषयता ही, कहोल के प्रश्न में अनुकृत है। दोनों जगह का उत्तर भी "स आत्मा सर्वान्तर:" सर्वान्तर्यामी विशिष्ट ब्रह्म विषयक, एक सा है। उपासना विधायक विधि प्रत्यय "ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति पांडित्य का त्याग कर बाल्य-भाव में स्थित होते है" इत्यादि दोनों के अंत में दृष्टिगत होता है। इस प्रकार-सर्वान्तर्यामी विशिष्ट ब्रह्मैकविषयता के, दोनों स्थानों पर निश्चित हो जाने पर-एकही सर्वान्तर्यामी विशिष्ट उपास्य ब्रह्म के विषय में, उषस्त और कहोल दोनों के चिन्तन को परस्पर विनियमित समझना चाहिए, अर्थात् उषस्ति की जो, सर्वान्तर्यामी ब्रह्म की समस्त प्राणियों से संबंधित प्राणहेतु विषयक बुद्धि है, वही कहोल द्वारा पृष्ट है; तथा कहोल की जो अनशन आदि विशिष्ट परमात्म संबंधी बुद्धि है, वही उषस्त द्वारा पृष्ट है। इस प्रकार पारस्परिक विनिमय करने पर सर्वान्तर्यामी ब्रह्म की, जीव से भिन्नता, स्पष्ट हो जाती है। सर्वान्तर्यामी परमात्मा की जीवात्मा से भिन्नता बतलाने के लिए ही, उक्त याज्ञवल्क्य वाक्य प्राणियों की प्राण धारण हेतुता और अनशन आदि का प्रतिपादन, विशेष रूप से ब्रह्म परक ही करता है। इससे सिद्ध होता है कि-ब्रह्म की सर्वान्तरात्मकता ही उपास्य गुण है, प्राणन आदि की हेतुता, उपपादक गुण हैं, उपास्य नहीं।

ननूपास्यगुणः सर्वान्तरात्मत्वमेव चेत्--प्राणनहेतुत्वस्य अशनायाद्यतीतत्वस्य च पृष्ट्रोः व्यतिहृत्यानुसंधानं किमर्थम्? तदुच्यते--सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वेन सर्वान्तरात्मनि जीवाद्व्यावृत्ते ब्रह्मण्युषस्तेनावगते सति कहोलेन जीवस्य सर्वात्मना असंभावितेन स्वभावविशेषेण सर्वान्तरात्मव्यावृत्तोऽनुसंधेय इतिकृत्वा पुनः प्रश्नः कृतः। याज्ञवल्क्योऽपि तदभिप्रायमभिज्ञाय प्रत्यगात्मनोऽसंभावितमशनायादिप्रत्यनीकत्वमुक्तवान्। अतश्चोपास्यस्य व्यावृत्तिप्रतीतिसिद्धयर्थमुभाभ्यां परस्परबुद्धिव्यतिहारः कर्त्तव्यः। इतरवत्--यथेतरत्र सद्विद्यायां भूयोभूयः प्रश्नैः प्रतिवचनैश्चतदेव सद्ब्रह्मव्यवच्छिद्यते, न पुनः पूर्वं प्रतिपन्नाद् गुणान्तरविशिष्ट-

तयोपास्यं, प्रतिपाद्यते, तद्वत् ।

यदि कहें कि–यदि सर्वान्तरात्मकता ही उपास्य गुण है तो, प्राणनहेतुता और अनशन आदि गुणों के अनुसंधान का प्रश्न करने का क्या प्रयोजन था ? इस पर कथन यह है कि–उषस्त ने जाना कि, समस्त प्राणियों के प्राणाधार के कारण होने से ही, सर्वान्तरात्मा, जीव से विलक्षण ब्रह्मस्वरूप है। ऐसा ही कहोल ने भी माना कि–जीव में जो नितान्त असंभव हैं, ऐसे विशिष्ट गुणों से युक्त सर्वान्तरात्मा का चिन्तन करना चाहिए। इसीलिए उन्होंने पुनः प्रश्न किया और याज्ञवल्क्य ने भी–उनका अभिप्राय समझकर, जीवात्मा से असंभाव्य अनशन आदि की गुणातीतता का उपदेश दिया। उपास्य की, जीव से विलक्षणता सिद्ध करने के लिए, उषस्त और कहोल के पारस्परिक बुद्धि व्यवहार का विनिमय करना चाहिए। जैसे कि सद्विद्या में बार-बार प्रश्नोत्तरों से. उसी एक सद्ब्रह्म की विशेषता सिद्ध की गई है, पूर्व प्रतिपन्न गुणों से किसी अन्य विशिष्ट गुणों वाले उपास्य का प्रतिपादन नहीं किया गया है, वैसे ही उक्त प्रसंग में सर्वान्तरात्मा की विशेषता सिद्ध की गई है।

तत्रापि प्रश्नप्रतिवचदभेदे सति कथमैक्यमवगम्यत इति चेत्--तत्राह--

यदि कहें कि वहाँ सद्विद्या में भी प्रश्न प्रतिवचन में ही जब भेद है तो एकता कैसी जानी जाय–उसका उत्तर देते हैं :—

सैव हि सत्यादयः ।३।३।३७।।

सैव हि सच्छब्दाभिहिता परमकारणभूतापरा देवतैव "सेयं देवतैक्षत" तेजः परस्यां देवतायाम्" इति प्रकृता "तया सोम्य मधु मधुकृतोनिस्तिष्ठंति" इत्यादिषु पर्यायेषु सर्वेषूपपद्यते। यतः "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा" इति प्रथमपर्यायोदिताः सत्यादयः सर्वेषु पर्यायेषूपपाद्योपसंह्रियंते ।

"उसी परा देवता ने इच्छा की" तेज परा देवता में लीन हुआ "इत्यादि स्थलों में जिस परा देवता परब्रह्म का वर्णन किया गया है, उसी को "हे सौम्य ! मधुकर जैसे मधु में चिपकते है" इत्यादि वाक्यों में

प्रतिपादन किया गया है। "यह सब कुछ तदात्मक सत्य है वही आत्मा है" इत्यादि में जिस सत्यादि संपन्न उपास्य का उपदेश दिया गया है, परवर्त्ती सभी उपदेशों में, उसी का संग्रह किया गया है।

केचित्तु—"व्यतिहारो विशिषंति हीतरवत्" सैवहि सत्यादयः इति सूत्रद्वयमधिकरणद्वयंवर्णयंति । तत्र पूर्वेण "त्वंवाऽहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्" इति वाक्ये जीवपरयोर्व्यतिहारानुसंधानं प्रतिपाद्यत इत्युच्यत इत्याहुः तत् "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् "तत्त्वमसि" इत्यवगतसर्वात्मभावविषयत्वादस्य वाक्यस्य नात्र प्रतिपादनीयमपूर्वमस्तीत्यनादरणीयम् । तत्तुवक्ष्यते—"आत्मेतितूपगच्छंति ग्राहयंति च" इति । न च सर्वात्मत्वानुसंधानातिरेकेण परस्मिन् ब्रह्मणि जीवत्वानुसंधानम्, जीवे च परब्रह्मत्वानुसंधानम्, तथ्यं संभवति ।

कुछ लोग "व्यतिहारो विशिंषंति हीतरवत्" सैव हि सत्यादयः इन दो सूत्रों को पृथक् अधिकरण रूप से वर्णन करते हैं। प्रथमसूत्र में:—हे भगवन्! तुम मैं हूँ और मैं तुम हो; जो मैं हूँ सो यह है, जो यह है सो मैं हूं" इस वाक्य को प्रस्तुत कर, जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु—"यह सब कुछ ब्रह्म स्वरूप है" यह सब आत्म्य है 'वह तू है" इत्यादि से जो सर्वात्मभाव निश्चित किया जा चुका वही, 'तुम मैं हूँ" इत्यादि वाक्य का प्रतिपाद्य षिषय है। इसमें कोई नवीन अर्थ योजना करना ठीक नहीं है। उक्त प्रकार की व्याख्या आदरणीय भी नहीं है। "आत्मेति तूपगच्छंति ग्राहयंति च" सूत्र में—इस पर विशेष कहेंगे। सर्वात्मकतानुसंघान के बहाने, परब्रह्म में जीवत्व का अनुसंधान तथा जीव में, परब्रह्मत्व का अनुसंधान करना भी सही नहीं है।

उत्तरेण च सूत्रेण "स यो ह वै तन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यंब्रह्म" इत्यादि वाक्य प्रतिपादितस्य सत्योपासनस्य "तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मंडले पुरुषो यश्चायं

दक्षिणेऽस्मिन्" इत्यादि वाक्य प्रतिपादितोपासनस्य चैक्यं प्रतिपाद्यत इति, तदप्ययुक्तं उत्तरवाक्ये, अक्ष्यादित्यस्थानभेदेन विद्याभेदस्य पूर्वमेव । "न वा विशेषात्" इत्यनेन प्रतिपादितत्वात् ।

द्वितीय सूत्र में—"जो उस प्रथमजात अतीव रमणीय सत्य ब्रह्म को जानते हैं" इत्यादि वाक्य की सत्यब्रह्मोपासना और "जो सत्य है वही आदित्य हैं, जो इस आदित्य मंडल का पुरुष है, वही दक्षिणनेत्रस्थ पुरुष है" इत्यादि वाक्य प्रतिपादित उपासना की एकता का प्रतिपादन करते हैं वह भी असंगत बात है। दूसरे वाक्य में नेत्र और आदित्य में स्थान भेद होने से विद्या भेद है, ऐसा "न वा विशेषात्" सूत्र में बतला चुके हैं ।

न च द्वयोरनयोर्व्याहृत्यादि शरीरकत्वेन रूपवतोः 'हन्तिपाप्मानं जहाति च य एवं वेद' इति पृथक्संयोगचोदनावतोर्द्वयोरुपासनयोः "स यो ह वै तन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमान् लोकान्" इति संयोग रूपादिमत्तया निरपेक्षेण पूर्वेणैकैनोपासने नाभेदः संभवति।

उक्त दोनों उपासनाओं की व्याहृति आदि शरीर के रूप से भी कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि—'जो इस प्रकार जानता है वह पापों को नष्ट करता और छोड़ता है" इत्यादि । पृथक संयोग और विधि वाली दोनों उपासनाओं का "जो उस प्रथम जात अतीव रमणीय सत्य ब्रह्म को जानते हैं वह इस समस्त लोक को जीतते हैं" इत्यादि में पृथक् फलोल्लेख होने से, पर वाक्य, पूर्व वाक्य से पूर्ण रूप से भिन्न हो जाता है, इसलिए दोनों वाक्यो में एक उपासना नहीं हो सकती ।

न च "हंति पाप्मानं जहाति" इति । फलाधिकारत्वम्, प्रमाणाभावात् । पूर्वेणैकविद्यात्वंप्रमाणमिति चेत्, न, इतरेतराश्रयत्वात् । एकविद्यात्वे निश्चिते पूर्वफलस्यैव प्रधानफलत्वे निश्चिते सति संयोग भेदाभावात् पूर्वेण विद्यैक्यमिति इतरेतराश्रयत्वमित्येवमादिभि र्यथोक्त प्रकारमेव सूत्रद्वयम् ।

"हंतिपाप्मानं जहाति" को उपासना का गौण फल भी नहीं कह सकते. इसको गौण मानने का कोई प्रमाण नहीं मिलता । यदि कहें कि पूर्व और पर विद्या की एकता ही उसका प्रमाण है सो ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय दोष होगा । अर्थात् दोनों को एकविद्या मानने से पूर्व फल की प्रधानता पर के दोनों फलों की गौणता सिद्धि होगी । ऐसा होने से, फल संयोग के भेद का अभाव हो जावेगा, जिससे कि दोनों विद्याओं की एकता घटित होती है । इत्यादि असंगतियों से उक्त दो प्रकरणों की बात मान्य नहीं है । जो प्रकार हमने प्रस्तुत किया है वही समीचीन है ।

१६ कामाद्यधिकरणः—

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ।३।३।३८॥

छांदोग्ये श्रूयते—"अथ यदिदमस्मिम् ब्रह्मपुरे दहरं पुंडरीकं, वेश्म दहरोऽस्मिन्नंतर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" इत्यादि वाजसनेयके च "स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः" इत्यादि । तत्र संशयः, किमनयोर्विद्याभेदः, उतनेति ? किं युक्तम् ? भेद, इति कुतः ? रूपभेदात् । अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टकविशिष्टं आकाशः छांदोग्ये उपास्यः प्रतीयते । वाजसनेयके त्वाकाशे शयानो वशित्वादिगुणविशिष्ट उपास्यः प्रतीयते, अतो-रूपभेदात् विद्याभेदः ।

छांदोग्य में पाठ है कि-"इस ब्रह्मपुर शरीर के अन्दर जो दहर पुंडरीक गृह है, उसके अन्तस्थ आकाश में जो तत्व है वही अन्वेष्टव्य है" इत्यादि । वाजसनेयी में भी इसी प्रकार-"यही वह महान अज आत्मा जो कि प्राणों के मध्य में विज्ञानमय हृदय के मध्य में जो आकाश है, उसमें निवास करता है, वह सर्व नियामक और सर्वाधिपति है" इत्यादि यहाँ संशय होता है कि-इन दोनों विद्याओं में भेद है कि-अभेद ? कह सकते है कि-भेद है क्योंकि-दोनों में स्वरूपगत भेद है । छांदोग्य में आठ

गुणों वाले विशिष्ट ब्रह्म को उपास्य बतलाया गया है तथा वाजसनेयी में आकाश में शयन करने वाले वशित्व आदि गुण विशिष्ट ब्रह्म को उपास्य बतलाया गया है इस प्रकार दोनों में स्वरूपगत भेद है इसलिए दोनों विद्यायें भिन्न हैं।

सिद्धांतः—इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—न भेद इति । कुतः ? रूपाभेदात्—इतरत्रतत्र च कामाद्येव हि रूपम्—वाजसनेयके छांदोग्ये च सत्यकामादिविशिष्टमेव ब्रह्मोपास्यमित्यर्थः । कुत एतदवगम्यते ? आयतनादिभ्यः, हृदयायतनत्वसेतुत्वविधारणत्वादिभिस्तावदुभयत्र सैव विद्येतिप्रत्यभिज्ञायते । वशित्वादयश्च वाजसनेयके श्रुताः छांदोग्ये श्रुतस्य गुणाष्टकान्यतमभूतस्य सत्यसंकल्पत्वस्य विशेषा एवेति सत्यसंकल्पत्व सहचारिणां सत्यकामत्वादीनामपहतपाप्मत्वपर्यन्तानां सद्भावमवगमयंति, अतो रूपं न भिद्यते।

सिद्धांत बतलाते हैं कि–भेद नहीं है; रूप के अभेद से यह बात स्पष्ट होती है; जैसे–अन्यत्र काम आदि गुणों से संपन्न को उपास्य कहा गया है, वैसे ही वाजसनेयी और छांदोग्य में, सत्यकामादि विशिष्ट को ही उपास्य कहा गया है। आयतन आदि के वर्णन से ही यह बात निश्चित होती है। हृदायतनत्व, सेतुत्व, विधारणत्व आदि रूप से जिसके चिन्तन का विधान किया गया है, उसे ही, इन दोनों स्थलों पर भी उपास्य कहा गया है। यहाँ वही विद्या निश्चित होती है। वशित्व आदि विशेषतायें वाजसनेय में बतलाई गई हैं और सत्यसंकल्पता आदि विशेषतायें छांदोग्य में बतलाई गई हैं। सत्यसंकल्प से लेकर सत्यकामता निष्पापता पर्यन्त सभी विशेषतायें, सत् का अस्तित्व बतलाने वाली विशेषतायें हैं, इसलिए स्वरूप में भेद नहीं है।

संयोगोऽपि 'परं ज्योति संपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" "अभयं वै ब्रह्म भवति" इति ब्रह्मप्राप्ति रूपो न भिद्यते । आकाश शब्दः छांदोग्ये परमात्मविषय इति "दहर उत्तरेभ्यः"

इत्यत्र निर्णीतम् । वाजसनेयके त्वाकाशे शयानस्य वशित्वादि-श्रवणात्तस्य तस्य शयानस्य परमात्मत्वे सति तदाधाराभिधायिन आकाशशब्दस्य "तस्यान्ते सुषिरंसूक्ष्मम्" इति हृदयान्तर्गतस्य सुषिरशब्द वाच्यस्याकाशस्याभिधायकत्वमवगम्यते अतो विद्यैक्यम् ।

"परं ज्योति को प्राप्त कर अपने रूप से निष्पन्न हो जाता है" निर्भय ब्रह्म हो जाता है" इत्यादि ब्रह्म प्राप्ति रूप, फल संयोग में भी दोनों की अभिन्नता है । छांदोग्य में, आकाश शब्द परमात्म स्वरूप माना गया है, "दहर उत्तरेभ्यः" सूत्र में इसका निर्णय किया जा चुका है। वाजसनेयक में तो, आकाश में शयन करने वाले की वशित्व आदि विशेषताओं का भी उल्लेख है । "तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मम्" में उल्लेख्य "सुषिर" शब्द आकाशवाची ही निश्चित होता है, इसलिए विद्या एक है।

अथ स्यात्-यदुक्तं वाजसनेयके वशित्वादिभिः सह सत्काम-त्वादि सद्भावोऽवगम्यते इति, तन्नोपपद्यते, वशित्वादीनामेव तत्र परमार्थतः सद्भावाभावात्, तदभावश्च "मनसैवानुदृष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" "एकधैवानुदृष्टव्यं एतदप्रमेयं ध्रुवम्" इति प्रकृतेन वाक्येन "स एष नेतिनेत्यात्मा" इत्युत्तरेण चोपास्यस्य ब्रह्मणो निर्विशेषत्व प्रतीतेरव-गम्यते, अतो वशित्वादयोऽपि स्थूलत्वाणुत्ववन्निषेध्या इति प्रतीयंते, अत एव छांदोग्येऽपि सत्यकामत्वादयो न ब्रह्मणः पारमार्थिका गुणा उच्यंते, अतोऽपारमार्थिकत्वादेवंजातीयकानां गुणानां मोक्षार्थेषूपा-सनेषु लोप इति-तत्राह—

आपत्ति की जाती है की-वाजसनेयक में जो वशिता आदि गुणों के साथ सत्यकामता आदि गुणों की प्रतीति बतलाई, वह संभव नहीं है । क्योंकि-वहाँ वशिता आदि का परमार्थिक भाव नहीं है । "मन से ही उसे जानना चाहिए, जगत् में कोई भिन्नता नहीं है, जो भिन्नता देखता है वह मृत्यु के बाद मृत्यु प्राप्त करता है" अप्रमेय और ध्रुव इस ब्रह्म को एक ही समझो ' इस पारमार्थिक वाक्य से" वही यह आत्मा नेति नेति कहा जाता है" इत्यादि परवर्त्ती वाक्य में, निर्विशेषता की प्रतीति होती

है। इसलिए वशिता आदि भी, स्थूलता अणुता आदि की तरह भिन्न ही प्रतीत होते हैं, अर्थात् इनका अभाव प्रतीत होता है। इससे निश्चित होता है कि-छांदोग्य में भी, सत्यकामता आदि ब्राह्म गुण, पारमार्थिक नहीं हैं। ऐसे अपारमार्थिक गुणों का, मोक्ष संबंधी उपासनाओं में कोई अस्तित्व नहीं है। इसका उत्तर देते हैं—

आदरादलोपः ।३।३।३९॥

ब्रह्मगुणत्वेन प्रमाणान्तरा प्राप्तानां गुणानामेषां सत्यकामत्वादीनां "तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः" एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेषभूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय" इत्यादिभिरनयोः श्रुत्योरन्यासु च मोक्षार्थोपासनोपास्यब्रह्मगुणत्वेन सादरमुपदेशादेषामलोपः, अपितूपसंहार एव कार्यः

ब्रह्म के गुण रूप से, इन सत्यकाम आदि गुणों की प्रतीति किन्हीं अन्य प्रमाणों से नहीं होती, अपितु-"उसमें जो अन्तस्थ है वही अन्वेषणीय है" यह आत्मा-निष्पाप, जरा-मृत्य-शोक-भूख-प्यास रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है "सबको वश में करने वाला सर्वेश्वर है" "यही सर्वेश्वर, भूताधिपतियों का पालक, लोकमर्यादा का रक्षक आधाररूप सेतु है" इत्यादि शास्त्रीय वचनों से ही प्रतीत्य हैं, इन्हें अन्य वाक्यों में भी, मोक्ष संबंधी उपासना के उपास्यगुणों के रूप में, सादर स्मरण किया गया है, इसलिए मोक्षार्थ में इनके अस्तित्व को न स्वीकारना अज्ञान ही है। अपितु मोक्ष के लिए इनका उपसंहार करना चाहिए।

छांदोग्ये तावत्-"तद् य इहात्मानमनुविद्यव्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान् तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति सत्यकामत्वादि गुणविशिष्टस्य ब्रह्मणोवेदनमभिधाय "अथ ह इहात्मानमनुविद्यव्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति"

इत्यवेदननिन्दा क्रियमाणा गुणविशिष्टवेदनस्यादरं दर्शयति। तथा वाजसनेयके-"सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपालः" इति भूयोभूय ऐश्वर्योपदेशाद् गुणेष्वादरः प्रतीयते। एवमन्यत्रापि। न च मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वत्सलतरं शास्त्रं प्रतारकवदपारमार्थिकान्निरसनीयान् गुणान् प्रमाणान्तरा प्रतिपन्नानादरेणोपदिश्य संसारचक्र परिवर्त्तनेन पूर्वमेव बभ्रम्यमाणान् मुमुक्षून् भूयोऽपि भ्रमयितुमलम्।

छांदोग्य में "जो इनकी आत्मरूपता और सत्यकामादि विशेषताओं को जानकर प्रयाण करता है, वह सभी लोकों में यथेच्छ विहार कर सकता है" ऐसे सत्यकामता आदि विशेषताओं वाले परब्रह्म की वेद्यता बतलाकर "जो इस लोक में इनकी आत्मता और सत्यता आदि को न जानकर प्रयाण करता है, वह सभी लोक में यथेच्छ विचरण नहीं कर सकता" इत्यादि से न जानने वालों की अज्ञानता की निंदा करके, इन गुणों से विशिष्ट वेद्य के प्रति आदर प्रकाश किया गया है तथा वाजसनेय में-"सबको वश करने वाला सबका स्वामी है "यही सर्वेश्वर यही भूताधिपतियों का स्वामी भूतपाल है" इत्यादि वाक्यों से बार बार, उपास्य के ऐश्वर्य की प्रशंसा करते हुए आदर प्रकाश किया गया है। ऐसा ही अन्यत्र भी है। ऐसा तो हो नहीं सकता कि-हजारों माता पिताओं से भी अधिक वात्सल्य प्रकाश करने वाले शास्त्र प्रतारणा देने वाले शासक की तरह, अपारमार्थिक विरोध करने योग्य प्रमाणांतरों से सिद्ध गुणों का आदरपूर्वक उपदेश देकर, संसारचक्र में पहिले से ही भ्रमित मुमुक्षुओं को पुनः भ्रम में डाल दें।

"नेह नानास्ति किंचन" एकधैवानुद्रष्टव्यम्" इति तु सर्वस्य ब्रह्मकार्यत्वेन तदात्मकत्वादेकधाऽनुदर्शनं विधायाब्रह्मणात्मकत्वेन पूर्वसिद्धानानात्वदर्शनं निषेधयतीत्ययमर्थः प्रागेव प्रपंचितः। "स एष नेतिनेत्यात्मा" इत्यत्र नेति शब्देन प्रमाणांतर प्रतिपन्नं प्रपंचाकारं परामृश्य न तथाविधं ब्रह्मेति, सर्वात्मभूतस्य ब्रह्मणः

प्रपंचविलक्षणत्वं प्रतिपाद्यते, तदेव चानन्तरमुपपादयति–"अग्राह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यते असंगोनहि सज्यते अव्यथितो न व्यथते न रिष्यति" इति। प्रमाणान्तरग्राह्यविसजातीयत्वान्न विशीर्यते एवमुत्तरत्रानुसंधेयम्। छांदोग्येऽपि–'नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते एतसत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिताः" इति सर्वविसजातीयत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्य तस्मिन् सत्यकामत्वादयो विधीयंते।

"नेहनानास्ति "एकधैवानु" इत्यादि वाक्य, ब्रह्म के कार्य रूप सारे जगत को तदात्मक अद्वैत बतलाकर ब्रह्मात्मक न मानकर की जाने वाली भिन्नता का निषेध करते हैं, ऐसा पहिले ही बतला चुके हैं।"स एष नेतिनेत्यात्मा" वाक्य में इति शब्द से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से स्थूलसूक्ष्म जगत का उल्लेख करके, ब्रह्म वैसा नहीं है अपितु वह समस्त प्रपंचमय जगत का अन्तर्यामी होते हुए भी, जगत से विलक्षण है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। उसी की अनन्तता का समर्थन करते हुए कहते हैं कि–"ब्रह्म, ग्रहण न करने योग्य अग्राह्य, शीर्ण न होने योग्य अशीर्य, आसक्त न होने योग्य असंग, व्यथित न होने योग्य अव्यथित तथा च्युत न होने योग्य अच्युत है" इत्यादि वर्णन से ज्ञात होता है कि–शब्दातिरिक्त प्रमाणों से ज्ञेय वस्तुओं से, यह ब्रह्म, विसजातीय है, इसलिए ब्रह्म की जानकारी में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है, वह एकमात्र उसी से ज्ञेय है। जो सारे पदार्थ विसजातीय हैं, वे सब शीर्ण होते हैं, ब्रह्म शीर्ण नहीं होता। इसी प्रकार छांदोग्य में भी वर्णन मिलता है कि–"न यह जरा से जर्जर होता है, न मारने से मरता है, यही सत्स्वरूप ब्रह्म का नगर है, इसीमें सारी कामनायें निहित हैं" इसमें भी सारे जगत को ब्रह्म से विसजातीय बतलाकर उन्हीं में सत्यकामता आदि गुणों को निहित बतलाया गया है।

नन्वेमपि–"तद्य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति स यदि पितृलोक कामो भवति" इत्यादिना सत्यकामादिगुणविशिष्ट वेदनस्य, परविद्याफलं

च "परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इतीदमेव। अतः सत्यकामत्वादयो ब्रह्मप्रेप्सोर्नोपसंहार्याः इति। अत उत्तरं पठति—

(तर्क) ऐसा होते हुए भी-"तद्य इहात्मानमनुविद्य" इत्यादि वाक्य से-सत्यकामादि गुणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना के सांसारिक फलोल्लेख होने से इसे मुमुक्षुओं की सगुणोपासना भी नहीं कह सकते। और जो परा विद्या का फल है, वह "परंज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप को प्राप्त करता है" इत्यादि में स्पष्ट कहा गया है। इसलिए जो मुमुक्षु हैं, उनके लिए, सत्यकामादि गुणों का उपसंहार, उपासनार्थं करना ठीक नहीं। इसका उत्तर देते हैं—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ।३।३।४०॥

उपस्थितिः, उपस्थानम्, ब्रह्मोपसंपन्ने सर्वबंधविनिर्मुक्ते स्वेन रूपेणाभिनिष्पन्ने प्रत्यगात्मनि, अतएव-उपसंपत्तेरेवहेतोः सर्वेषु लोकेषु कामचार उच्यते "परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते, स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति तदेतच्चतुर्थे निपुणतरमुपपादयिष्यते। अतः सर्वेषु लोकेषु कामचारस्य मुक्तोपभोग्यफलत्वात्। मुमुक्षोः सत्यकामत्वादयो गुणा उपसंहार्याः।

उपस्थित का अर्थ है उपस्थापन (प्राप्ति) अर्थात् जो आत्म ब्रह्म संपन्न हैं, वह सब बंधनों से मुक्त अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त हैं। ऐसी ब्रह्म संपन्नता को प्राप्त व्यक्ति के लिए ही कामचार की बात कही गई है—"परंज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप को प्राप्त करता है, वह उत्तम पुरुष अपने समीपवर्त्ती स्थूल शरीर को भूलकर, भक्षण, स्त्रीरमण, अश्वादि गमन, ज्ञातिजनों के साथ परिभ्रमण, आदि करते हुए लोकों में यथेच्छ भ्रमण करता है" इस अवस्था का वर्णन चतुर्थ पाद में विशेष रूप से करेंगे। सभी लोकों की यथेच्छ प्राप्ति, मुक्त पुरुष का उपभोग्य फल ही

है इसलिए सत्यकामता आदि का, मुमुक्षुओं के लिए, उपास्यरूप से उपसंहार करना चाहिए।

तन्निर्धारणानियमः तदृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबंधः फलम् ।३।३।४१॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत्" इत्यादीनि कर्माङ्गाश्रयाण्युपासनानि कर्मांगभूतोद्गीथादिमुखेन जुहवादिमुखेन पर्णतादिवत् कर्मांगत्वेन निरुढानुष्ठानानीत्युद्गीथाद्युपासन संबंधिनो "यदेव विद्ययाकरोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति वर्त्तमान निर्देशस्य पर्णतादिसंबंध्यापापश्लोक श्रवणवत् प्रथक्फलत्वकल्पनायोगात् क्रतुषु नियमे नोपसंहार्याणि इति ।

यज्ञ कर्मांगजुहू जैसे पत्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है वैसे ही ऊँ" अक्षर की उद्गीथावयव के रूप में उपासना करनी चाहिए" इत्यादि में उद्गीथ को भी कर्मांग उपासना के रूप में विधान किया गया है, यह उपासना कर्मागं उपासना के रूप में ही प्रसिद्ध है। उद्गीथ उपासना के संबंध में "विद्या या उपासना के साथ जो कर्म किया जाता है वही प्रबल होता है" इत्यादि में जो वर्त्तमान कालिक क्रिया "करोति" का प्रयोग किया गया है, उससे ज्ञात होता है कि-जैसे-"पर्णमयी जुहू" में पापश्लोक (अमंगल-कथन) श्रवण के अभाव की पृथक् फलरूप से कल्पना की गई है, वैसी कल्पना उक्त प्रसंग में नहीं है। इसलिए इस संपूर्ण उपासना का यज्ञकार्य में उपसंहार करना चाहिए।

सिद्धान्तः—"एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—तन्निर्धारणानियमः" इति निर्धारणं निश्चयेन मनसोऽवस्थापनं, ध्यानमित्यर्थः। तन्निर्धारणानियमः, कर्मसूद्गीथाद्युपासनानामनियमः, कुतः? तदृष्टेः उपलभ्यते हि उपासनानुष्ठानानियमः"तेनोभौ कुरुतोपपश्चैतद्देवं वेद यश्च न वेद" इत्यविदुषोऽप्यनुष्ठानवचनात्। न चांगत्वे सत्युपासनस्यानुष्ठानानियम उपपद्यते। एवमुपासनस्यानंगत्वे निश्चिते सत्युपासनविधेः फलाकांक्षायां रात्रिसत्रन्यायेन वीर्यवत्तरत्वं

कर्मफलात् पृथग्भूतं फलमित्यवगम्यते। किमिदं वीर्यंवत्तरत्वं? कर्मफलस्यैवाप्रतिबंधः। प्रतिबध्यते हि कर्मफलं प्रबलकर्मान्तरफलेन तावन्तं कालम् तदभावोऽप्रतिबंधः। स हि अप्रतिबंधः कर्मफलात् स्वर्गादिलक्षणात् प्रथग्भूतमेवफलम्। तदिमुच्यते–पृथग्ध्यप्रतिबंधः फलमिति। अतः कर्मांगाश्रयाणामपि पृथग्फलत्वाद्गोदोहनादिवत् कर्मसूद्गीथाद्युपासनानामनियमेनोपसंहारः।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "तन्निर्धारणानियमः" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। निश्चित मनःस्थिति को निर्धारण अर्थात् ध्यान कहते हैं। यज्ञकर्मों में उद्गीथ आदि उपासना के कर्त्तव्य का कोई नियम नहीं है। ऐसा ही वर्णन मिलता है–"जो ऐसा जानते हैं और जो लोग नहीं जानते वे दोनों ही कर्म करते हैं" इत्यादि वाक्य में अज्ञाता के लिए भी कर्मानुष्ठान का नियम कहा गया है, इससे उपासना अनुष्ठान का कोई विशेष नियम समझ में नहीं आता। उपासना, यदि कर्मांग होती तो, किसी भी समय उसके अनुष्ठान का, अनियम न होता। उपासना की कर्मांगता अनिश्चित हो जाने पर उपासना विधि की फलाकांक्षा में "रात्रि -सत्रन्याय" के अनुसार यह निश्चित होता है कि–कर्मफल से अधिक प्रबल फलवाली उपासना होती है, यही उक्त वाक्य का तात्पर्य है। इसकी प्रबलता क्या है? कर्मफल का प्रतिबंध न होना। प्रबल कर्मों के फल से, सामान्य कर्मों का फल निश्चित काल तक प्रतिबंधित होता है, जब की प्रबल कर्मों का फल अप्रतिबंधित रहता है। यह अप्रतिबंध, कर्म से प्राप्त स्वर्गादि प्राप्तिरूपफल, से निराला ही फल है। इसीलिए इसे पृथक् अप्रतिबन्ध फल कहा गया। इसलिए उद्गीथ आदि उपासना कर्मांगाश्रित होते हुए भी फलश्रुति के अनुसार विशिष्ट फलवाली हैं, "गोदोहनन्याय" के अनुसार संपूर्ण कर्मों में उद्गीथ आदि उपासनाओं का उपसंहार करना चाहिए।

१८ प्रदानाधिकरणः–

प्रदानवदेव तदुक्तम्।३।३।४२॥

दहर विद्यायां "तद्य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्

कामान् "इति दहराकाशस्य परमात्मन उपासनमुक्त्वा "एतांश्च सत्यान् कामान्" इति गुणानामपि पृथगुपासनं विहितं तत्र संशयः, गुणचिन्तनेऽपि तद् गुणविशिष्टतया दहरस्यात्मनश्चितन मावर्त्तननीयम्, उत नेति? दहराकाशस्यैवापहतपाप्मत्वादीनां गुणित्वात्तस्य च सकृदेवानुसंधातुं शक्यत्वाद् गुणार्थन्तर्चितनं-नावर्त्तनीयम्।

दहर विद्या में –"जो इस लोक में इस आत्मा को और उसके सत्य-कामादि गुणों को जानकर" इत्यादि में दहराकाश परमात्मा की उपासना बतलाकर "सत्यान् कामान्"से इन गुणों कीभी उपासना का विधान किया गया है। यहाँ संशय होता है कि-गुणों के चिन्तन के समय, उन गुणों से विशिष्ट दहराकाश का चिन्तन भी आवश्यक है या नहीं'? दहराकाश परमात्मा ही जब निष्पापता आदिगुणों के आश्रय हैं, तो उनका एकबार चिन्तन करने से ही कार्य चल सकता है तो गुणों के साथ बार बार चिन्तन करना आवश्यक नहीं है।

सिद्धान्तः–इति प्राप्त उच्यते–"प्रदानवदेव" इति। प्रदानवदा-वर्त्तनीयमेवेत्यर्थः। यद्यपि दहराकाश एक एवापहतपाप्मत्वादि-गुणानां गुणी, स च प्रथमं चिन्तितः, तथाऽपि स्वरूपमात्रात् गुणविशिष्टाकारस्य भिन्नत्वात् "अपहतपमाप्मा विजरः" इत्यादिना गुणविशिष्टतया चोपास्यत्वेन विहितत्वात्पूर्वंस्वरूपेणानुसंहितस्या-पहतपाप्मत्वादि विशिष्टतयाऽनुसंधानार्थमावृत्तिः कर्त्तव्या–यथा–"इंद्रायराज्ञे पुरोडाशमेकादश कपालं निर्वपेत् "इंद्रायाधिराजा य" इंद्रायस्वराज्ञे" इतीन्द्रस्यैव राजत्वादिगुणविशिष्टत्वेऽपि तत्तद्गुण-संबंध्याकारस्य भिन्नत्वात्। प्रदानावृत्तिः क्रियते; तदुक्तं सांकर्षणे-–"नाना वा देवता प्रथक्त्वात्" इति।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "प्रदानवदेव" सूत्र प्रस्तुत करते हैं अर्थात् प्रदान विधि की तरह, बार बार चिन्तन कर्त्तव्य है। यद्यपि

दहराकाश ही एकमात्र निष्पापता आदि विशिष्ट गुणों के गुणी होने से प्रथम चिंतित होते हैं, फिर भी दहराकाश का जो स्वाभाविक रूप है गुणविशिष्ट रूप से वह निश्चित ही भिन्न है । "अपहतपाप्मा" इत्यादि वाक्य में—गुणविशिष्ट रूप से उनकी उपासना का विधान किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि—अविशेषित रूप से उपासित दहर का "निष्पाप" आदि विशिष्ट गुणों सहित पुनः चिंतन करना चाहिए । जैसे कि—" राजा इंद्र को ग्यारह पात्रों में पुरोडाश अर्पित करो "अधिराज इंद्र को "स्वराट्इन्द्र को" इत्यादि में राजगुण विशिष्ट इन्द्र को अधिराज, स्वाराज इत्यादि विशिष्ट गुणों से बार बार प्रदान करने की आवृत्ति की गई है, वैसे ही उक्त चिंतन की बार बार आवृत्ति का विधान है । पूर्वकांड के संकर्षण में कहा भी गया है—"विशेष विशेष आकृतियों की पृथक्ता से देवता की भी पृथक्ता होती है।"

१९-लिंगभूयस्त्वाधिकरणः—

लिंगभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ।३।३।४३॥

तैत्तरीया दहरविद्यानंतरमधीयते "सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वशंभुवम्, विश्वं नारायणं देवं अक्षरं परमं प्रभुम्" इत्यारभ्य —"सोऽक्षरः परमः स्वराट्" इत्यन्तम् । तत्र संशयः, किं पूर्वप्रकृत विद्यैकविद्यात्वेन तदुपास्य विशेषनिर्धारणमनेन क्रियते, उत सर्वं वेदांतोदित परविद्योपास्यविशेष निर्धारणमिति? किं युक्तम्? दहर-विद्योपास्यविशेष निर्धारणमिति । कुतः? प्रकरणात् । पूर्वस्मिन्ननु-वाके दहरविद्या हि प्रकृता-"दहरं विपाप्मं परवेशमभूतं यत्पुंडरीकं पुरमध्यसंस्थम्, तत्रापि दह्रं गगनं विशोकस्तस्मिन्यदन्तस्तदुपासि-तव्यम् ।" इति, अस्मिंश्चानुवाके—"पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्" इत्यादिना, हृदयपुंडरीकाभिधानमस्यनारायणा-नुवाकस्य दहरविद्योपास्यनिर्धारणार्थत्वमुपोद्वलयतीति ।

तैत्तरीयोपनिषद् में—दहरविद्या के बाद कहा गया है—"सहस्रशिर-

वाले विश्वदर्शी, विश्वकारण, विश्वात्मक, परंप्रभुनिर्विकार देव नारायण को" इत्यादि से प्रारंभ करके "वही निरतिशय प्रकाशमान अक्षर है" यहाँ तक। इस पर संशय होता है कि–पूर्वप्रस्तावित दहरविद्या के साथ, उसी से संबंधित, उपास्यगत कोई विशेष निर्धारित उपासना है अथवा सभी वेदांतों में कही गई परविद्या के उपास्य विशेष की उपासना का निर्धारण है? कह सकते हैं कि दहरविद्योपास्य का निर्धारिण है, ऐसा उसी प्रकरण में वर्णन है। इसके पूर्व के अनुवाक में दहरविद्या का ही वर्णन है। "निष्पाप दहर अर्थात् सूक्ष्म हृदय ही परमेश्वर का वासस्थान है। जो कि देह में पुण्डरीक नाम से प्रसिद्ध है, उसके मध्य में भी सूक्ष्म आकाश है उसमें जो स्थित है, उसी की उपासना करना चाहिए" इत्यादि इसी–अनुवाक में–"पद्मकोश की आकृतिवाला अधोमुख हृदय है" इत्यादि के उपास्य ही, नारायण अनुवाक में भी उपासनीय हैं।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे–लिंगभूयस्त्वात्–इति। अस्य निखिल परविद्योपास्यविशेषनिर्धारणार्थत्वे भूयांसि लिंगानि दृश्यंते, तथाहि परविद्यास्वक्षरशिवशम्भुपरब्रह्म परज्योतिः परतत्त्वपरमात्मादि शब्द निर्दिष्टमुपास्यं वस्त्विह तैरेव शब्दैरनूद्य तस्य नारायणत्वं विधीयते, भूयसीषु विद्यासु श्रुताननूद्य नारायणत्वविधानभूयस्त्वं नारायण एव सर्वविद्यासूपास्यमस्थूलत्वादिविशेषितानंदादिगुणकं परंब्रह्मेति विशेष निर्णये भूयः बहुतरं लिंग भवति। अत्र लिंग शब्दः चिह्नपर्यायः। चिह्नभूतं वाक्यं बहुतरमस्तीत्यर्थः। तद् हि प्रकरणाद् बलीयः। तदप्युक्तं प्रथमकांडे-"श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षणात्" इति। यत्तूक्तं–"पद्मकोषप्रतीकाशम्" इत्यादि वचनं दहरशेषत्वमस्योपोद्बलयति–इति। तत्र, बलीयसा प्रमाणेन सर्वविद्योपास्यनिर्धारणार्थत्वेऽवधूते सति दहरविद्यायामपि तस्यैव नारायणस्योपास्यत्वेन तद्वचनोपपत्तेः।

इस मत पर–"लिंगभूयस्त्वात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। समस्त पर-विद्या के उपास्य विशेष के निर्धारणता के द्योतक अनेक नाम प्रस्तुत

किए गए हैं, जैसे कि–परविद्याओं में, अक्षर–शिव–शम्भु–परब्रह्म परज्योति, परतत्त्व, परमात्मा आदि शब्दों से निर्दिष्ट उपास्य, यहाँ उन्हीं शब्दों से अनूदित नारायण रूप से उपास्य कहे गए हैं, परविद्या प्रतिपादन अनेक श्रुतियों में जिन गुणों का उल्लेख किया गया है, वे ही सब गुण, यहाँ नारायण के लिए पुनः कहे गए हैं, इससे ज्ञात होता है कि–सभी विद्याओं के उपास्य नारायण ही अस्थूलता आदि विशेषित आनंद गुण वाले परब्रह्म हैं। इसके निर्णय में अनेक "लिंग" हैं। लिंग शब्द चिह्न का पर्यायवाची है, अर्थात् उस चिह्न के अनेक वाक्य मिलते हैं। वाक्य प्रकरण से प्रबल हैं। पूर्वमीमांसा के प्रथम काण्ड में इसका नियम इस प्रकार बतलाया गया है–श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इन सभी कारणों के उपस्थित होने पर पूर्व की अपेक्षा पर कारणों से अर्थ करने से विलंब होता है इसलिए पूर्व से पर कारण निर्बल है।" जो यह कहा कि–"पद्मकोश प्रतीकाशं इत्यादि वचन दहरोपासना के शेष प्रकरण में आया है अतः उसी का बोधक है, सो बात भी नहीं हैं; बलवान लिंग प्रमाण द्वारा सर्वविद्योपास्यता के निर्णीत हो जाने पर यह समझना चाहिए कि–दहरविद्या में वही नारायण, पद्मकोश में उपास्य कहे गए हैं।

नच "सहस्रशीर्षं" इत्यादि द्वितीया निर्देशेन पूर्वानुवाकोदितोपासिना संबंध शंकनीयः "तस्मिन्यदंतस्तदुपासितव्यम्" इत्युपासितगतेन कृत्प्रत्ययेनोपास्यस्य कर्मणोऽभिहितत्वात् तदुपास्ये द्वितीयानुपपत्तेः। "विश्वमेवेदंपुरुषः "तत्त्वं नारायणः परः" इत्यादि प्रथमा निर्देशाच्च प्रथमार्थे द्वितीया वेदितव्या। "अन्तर्बहिश्चतत्सर्वं व्याप्यनारायणः स्थितः" तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः, सब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्" इति निर्देशैः सर्वस्मात् परोनारायण एव सर्वत्रोपास्य इति निर्णीयमानत्वाच्च प्रथमार्थे द्वितीयेति निश्चीयते।

सहस्रंशीर्षम् में किये गए द्वितीया विभक्ति के निर्देश के आधार पर पूर्वानुवाक वर्णित उपासना के संबंध की शंका भी नहीं की जा सकती

"तस्मिन्यदंतस्तदुपासितव्यम" इत्यादि वाक्य में जो उपासना में कृत् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है वह कर्मभूत उपास्य का बोधक है द्वितीया विभक्ति का नहीं। इसी प्रकार "सहस्रशीर्षम्" में कर्मपद में द्वितीया विभक्ति नहीं है अपितु प्रथमा स्थानीय द्वितीया है। जैसे कि–"विश्वमेवेदं पुरुषम् "तत्व नरायणः परः" इत्यादि में प्रथमा स्थानीय द्वितीया है। "नारायण ही सब वस्तुओं में बाहर भीतर व्याप्त हैं" उसकी ज्योति में परमात्मा स्थित हैं, वहीं ब्रह्मा-शिव-इंद्र-अक्षर परम और स्वप्रकाश है इत्यादि से सब जगह नारायण ही परम उपास्य के रूप में निश्चित होते हैं कि–उक्त पद में प्रथमा स्थानीय द्वितीया विभक्ति है।

२० पूर्वविकल्पाधिकरणः—

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् ।३।३।४४॥

वाजसनेयके अग्निरहस्ये मनश्चितादयोऽग्नयः श्रूयंते "मनश्चितोवाक्चितः प्राणचितः चक्षुश्चितः श्रोत्राचितः कर्मचितोऽग्निचितः"। तत्र संशयः किमेते मनश्चितादयः सांपादिकत्वेन विद्यारूपा अग्न्यः क्रियामय क्रत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपा आहोस्वित् विद्यामयक्रत्वनुप्रवेशेन विद्यारूपाएव ? इति विशये क्रियारूपत्वं तावदाह-पूर्वं विकल्पः इत्यादिना। चित्याग्नित्वेन संपादितानामेषां मनश्चितादीनां क्रत्वनुप्रवेशसाकांक्षाणां स्वदेशे क्रतुविध्यभावात् पूर्वत्र- "असद्वा इदमग्र आसीत्" इत्यादिनेष्ट कचितस्याग्नेः प्रकृतत्वात् तस्य च क्रियामयक्रत्वव्यभिचारित्वेन तत्र क्रतु सन्निधानात्तत्प्रकरण गृहीता मनश्चितादयस्तेनेष्टकचितेनाग्निना विकल्प्यमानाः क्रिया रूपा एवस्युः। विद्यारूपाणामपि क्रियामयक्रत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपत्वं मानसग्रहवदुपपद्यते। यथाद्वादशाहे अविवाक्ये दशमेऽहनि मानसग्रहस्य मनोनिष्पाद्यग्रहणा-

सादनस्तोत्रशस्त्रप्रत्याहरणभक्षणत्वेन विद्यारूपस्यापि क्रियामय क्रत्वंगतया क्रियारूपत्वं, तथेहापि ।

वाजसनेयक के अग्निरहस्य में मनश्चितादि अग्नियों का ऐसा वर्णन मिलता है–"मनश्चिद्-वाक्चिद्-प्राणचिद्-नेत्रचित्-श्रौतचित्-कर्मचित् और अग्निचित्" इत्यादि । इस पर संशय होता है कि-मनश्चिद् आदि, मानस संकल्प संपादित विद्यारूप अग्नियाँ, क्रियामय यज्ञ संबंधी क्रियायें हैं अथवा ज्ञानमय यज्ञ की अन्तर्भूत विद्या हैं ? इस पर कह सकते हैं कि-क्रियारूप ही हैं "पूर्व विकल्प" इत्यादि सूत्र में उक्त मत का ही प्रतिपादन किया गया है ।

चयन योग्य अग्निरूप से परिकल्पित मनश्चित् आदि यज्ञ विशेष में अंतर्भूत हैं ऐसी आशंका होती है, इनका यज्ञ प्रकरण में तो कोई यज्ञ विधि रूप से उल्लेख मिलता नहीं । प्रकरण के पूर्व के "यह सारा जगत असत् ही था" इत्यादि वाक्य में, इष्टचित् अग्नि का उल्लेख मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि–क्रियात्मक यज्ञ के साथ उस अग्नि का अव्यभिचारी (प्राकृत) संबंध है । इसलिये उक्त प्रसंग में भी क्रियामय यज्ञ का प्रसंग समझना चाहिये । इस प्रसंग में कही गई मनश्चित आदि भी यज्ञीय अग्नि के साथ प्रकरान्तर से कल्पित हैं, इसलिए क्रियारूप ही हैं । मानस अर्थात् चिन्तामय ग्रह की तरह मनश्चित् आदि ज्ञानात्मक होते हुए भी क्रियात्मक यज्ञ से संबद्ध होने से क्रिया रूप ही कही जावेंगी । जैसे कि-बारह दिन में पूर्ण होने वाले यज्ञ में दसवें दिन मानसग्रह (हवनीय द्रव्याधार पात्र विशेष मन) की कोई विधि (अर्थात मन को कैसे पात्र बनाया जाय) न होते हुए भी; मन से ही ग्रहण-उत्पादन स्तोत्र-शस्त्र (स्तोत्र विशेष प्रत्याहरण और भक्षण का विधान बतलाया गया है तथा विद्यारूप होते हुए भी इसे क्रियामय यज्ञ का अंग होने से क्रियारूप माना गया है, वैसे ही उक्त प्रसंग है ।

अतिदेशाच्च ।३।३।४५।।

इत्यश्चेष्टकचितेनाग्निना मनस्चितादीनां विकल्पः क्रियारूपत्वं चावगम्यते–"तेषामेकैकएव तावान् यावानसौ पूर्वः" इति पूर्व-

स्येष्टकचितस्याग्नेर्वीर्यं मनश्चितादिष्वतिदिष्यते, तेन तुल्यकार्यत्वाद् विकल्पः तश्चेष्टकचित्वत्तत्क्रतुनिर्वर्तनेन तदंगभूताः मनश्चितादयः क्रियामय क्रत्वनुप्रवेशेन, क्रियारूपा एवेति ।

इसलिए भी–इष्टकचित् आदि से–मनश्चित् आदि विकल्पों की क्रियारूपता ज्ञात होती है कि–"इन मनश्चित् आदि में एक एक का उतना ही परिमाण है जितना कि पूर्वोक्त अग्नि का परिमाण है" इत्यादि में–मनश्चित आदि अग्नियों में, पूर्वोक्त यज्ञांग अग्नि का वीर्य अर्थात् फलसाधन शक्ति, अतिदिष्ट है । जब दोनों का एक सा ही कार्य है तो, इनमें तदनुरूप विकल्प भी होगा । इष्टकचित् अग्नि जैसे यज्ञ निर्वाहक है मनश्चित् आदि भी उसी प्रकार यज्ञ निर्वाहक हैं । इसलिए ये क्रिया-रूपा ही है ।

एवं प्राप्ते प्रचक्षमहे–इस पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं–

विद्यैव तु निर्धारणाद्दर्शनाच्च ।३।३।४६॥

तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, यदुक्तं मनश्चित्तादयः क्रियामय क्रत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपा एवेति, नैतदस्ति । विद्यारूपाएवैते–विद्यारूपक्रत्वन्वयिन इत्यर्थः । कुतः ? निर्धारणाद् दर्शनाच्च निर्धारणं तावत–"ते है ते विद्याचित् एव विद्यया हैवैते एवंविद-श्चिता भवंति" इति । वाङ्मनश्चक्षुरादि व्यापाराणामिष्ट कादिवत् चयनानुपपत्तेर्मनसा संपादिताग्नित्वेन विद्यारूपत्वे सिद्धेऽपि "विद्याचित् एव" विद्यया हैवैते" इति चावधारणं विद्यामय क्रत्वन्वयेन विद्यारूपत्वज्ञापनार्थमिति निश्चीयते । दृश्यते चात्रै वैषां शेषी विद्यारूपः क्रतुः "ते मनसैवाधीयन्तमनसैवाचीयन्त-मनसैषु ग्रहा अग्रह्यन्त मनसास्तुवन्तु मनसाशंसन यत्किं च यज्ञे कर्म क्रियते, यत्किंच यज्ञीयं कर्म मनसैव तेषु मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमक्रियत" इति । इष्टकचित्तेष्वग्निषु यत् क्रियामयं यज्ञीयं

कर्मं क्रियते, तन्मनोनिर्वर्त्येषु मनश्चिताद्यग्निषु मनोमयमेवाक्रियतेति वचनात् क्रतुरपि विद्यामयोऽत्र प्रतीयते।

तु शब्द पक्ष का व्यावर्तक है। जो यह कहा कि–क्रियामय यज्ञ से संबद्ध होने से क्रियारूप हैं। सो ऐसा नहीं है ये विद्यारूप ही हैं अर्थात् विद्यामय यज्ञ से संबद्ध हैं। ऐसा ही शास्त्रों में उल्लेख है "ये अग्नियाँ विद्याचित् ही है क्योंकि ये ज्ञान संपन्न पुरुष से समाहृत हैं।" वाक्यमनचक्षु आदि की क्रियायें कभी यज्ञीय अग्नि की तरह चयन नहीं की जा सकती, इसलिए इन अग्नियों को मनःकल्पित मानस अग्नि के रूप में ही समझना चाहिए। इस प्रकार इनकी विद्यारूपता सिद्ध हो जाने पर भी पुनः "विद्याचित् एवं" विद्या हैवैते" इत्यादि से इनकी विद्यारूपता का अवधारण किया गया है। जो कि इनकी विद्यामय संबंधी होने की पुष्टिमात्र है। ऐसा ही श्रुतिवाक्यों में अग्नियों के अंगीरूप विद्यात्मक यज्ञ का उल्लेख भी मिलता है–"वे मन से ही अध्ययन करते हैं मन से ही चयन करते हैं मन के सहयोग से ही हवनीय द्रव्यों का संग्रह करते हैं मन से ही स्तव और मन से ही आशंसा करते हैं अधिक क्या यज्ञ में जो कुछ भी कर्त्तव्य हैं वे सब मनोमय चितात्मक मनश्चित् यज्ञ में मनोमय ही होते हैं" इत्यादि में स्पष्ट बतलाया गया कि–इष्टकचित् अग्निमय यज्ञों में जो भी क्रियायें की जाती हैं वो सब मन से संपाद्य मनश्चित् आदि अग्नियों में, मनोमय ही की जाती हैं। इससे सिद्ध होता है कि–यहाँ भी विद्यामय यज्ञ का ही प्रसंग है।

नन्वत्र विधिपदाश्रवणात् फलसंबंधाप्रतीतेश्चेष्टकचिताग्न्युपस्थापितक्रियामयक्रतुप्रकरणात् विद्यामयक्रत्वन्वयेन विद्यारूपतैषां वाध्यते–नेत्याह–

(तर्क) उक्त प्रसंग में कोई विधिवाची पद या स्वतंत्र फल का निर्देश नहीं है, इसलिए क्रियामय यज्ञ का ही प्रकरण समझ में आता है क्रिया के साथ इनका संबंध भी दिखलाया गया है जिससे विद्यारूपता बाधित हो जाती है। इस तर्क का निरसन करते हैं–

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ।३।३।४७॥

श्रुतिलिंगवाक्यानां प्रकरणाद्बलीयस्त्वेन श्रुत्याद्यवगतः क्रतुरेषां तदन्वयश्च दुर्बलेन प्रकरणेन बाधितुं न शक्यते । श्रुतिस्तावत् "तेहैते विद्याचित् एव" इति । तां विवृणोति—"विद्या हैवैते एवंविदश्चिता भवंति" इति । विद्यया विद्यामयेन क्रतुना संबद्धा मनश्चितादयश्चिता भवंतीत्यर्थः "तान् हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते" इति लिंगम् । वाक्यं च "एवं विदे चिन्वंति" इति । समभिव्याहारो वाक्यम् । एवं विदे विद्यामयक्रतुमते सर्वदा सर्वाणि भूतानि, चिन्वंतीत्यर्थः सर्वभूतकर्तृकं सर्वकालव्यापि चयनं मनसा संपादितं परिमितकर्तृकाल क्रियामयेष्टकचितकार्यद्वारेण क्रत्वनुवेप्रश संभवमलभमानं विद्यामय क्रत्वनुप्रवेशे लिंगं भवति ।

श्रुति लिंग वाक्य आदि प्रकरणों के बल से—श्रुत्यादि से ज्ञात यह कदापि बाधित नहीं हो सकता । श्रुति में जैसे—"ये सब विद्यामय ही हैं" इसका और भी विस्तार किया गया है जैसे—"इस प्रकार ज्ञान संपन्न व्यक्ति समस्त अग्नियों को ज्ञान द्वारा ही चयन करता है" अर्थात् ज्ञानमययज्ञ के साथ संबद्ध मनश्चित् आदि अग्नि, मानस चिन्तन द्वारा ही संपादित होती हैं । इसी अर्थ का बोधक लिंग भी है—"ऐसे ज्ञान संपन्न व्यक्ति के लिए ही समस्त भूतवर्ग सदा, समस्त अग्नियों का चयन करके सोते हैं ।" "एवं विदे चिन्वंति" वाक्य भी उक्त लिंग के अर्थ का ही ग्राहक है—अर्थात् ऐसे विद्या संपन्न व्यक्ति के लिए ही समस्त भूत समुदाय चयन करते हैं । पद समाप्ति को ही वाक्य कहते हैं । समस्त भूत समुदाय से मन ही मन किया गया अग्निचयन कभी क्रियामय यज्ञ में संभव नहीं है—क्योंकि जिसका कर्त्ता, काल और क्रिया सभी परिमित हैं ऐसा मनः, संपादित चयन, मनश्चित् आदि; विद्यामान यज्ञ का ही लिंग है ।

यच्चेदमुक्तं—विधिप्रत्ययाश्रवणात् फलसंबंधाप्रतीतेश्च क्रियामयात्क्रतोरन्यत्र विद्यामयः क्रतुर्नसंभवति-इति-तत्राह—

जो यह कहा कि–किसी प्रकार की विधि या प्रत्यय का उल्लेख नहीं मिलता और न फल विशेष का ही उल्लेख मिलता है इसलिए यह क्रियामय यज्ञ के अतिरिक्त–विद्यामय यज्ञ नहीं हो सकता। इसका उत्तर देते हैं–

अनुबंधादिभ्यः प्रज्ञांतर पृथकत्ववद्दृष्टश्चतदुक्तम् ।३।३।४८॥

इष्टकचितान्वयिनः क्रियामयात् क्रतोर्विद्यामयोऽयं क्रतुः पृथक्त्वेन अनुबंधादिभ्यः पृथक्त्वहेतुभ्योऽवगम्यते । अनुबंधाः यज्ञानुबंधिनो ग्रहस्तोत्रशास्त्रादयः "मनसैषु ग्रहा अग्रह्यन्त मनसास्तुवंत मनसाशंसन्" इत्यादिता प्रतिपादिताः। आदि शब्देन श्रुत्यादयः पूर्वोक्ता गृह्यन्ते। श्रुत्यादिभिः सानुबंधः विद्यामयक्रतुः पृथगवम्यत इत्यर्थः प्रज्ञांतर पृथकत्ववत–यथाप्रज्ञान्तरं दहरविद्यादि क्रियामयात् क्रतोः पृथग्भूतं श्रुत्यादिभिरवगम्यते, एवमयमपि । एवं चानुबंधादिभिः पृथग्भूते विद्यामये यज्ञेऽवगते सति विधिः परिकल्प्यते। दृष्टिश्चानुवाद सरूपेषु कल्प्यमानो विधिः। तदुक्तं– "वचनानित्वपूर्वत्वात्" इति । फलं च–"तेषामेकैक एव तावान् यावानसौ पूर्वः" इत्यतिदेशात् स्वक्रतुद्वारेण फलमित्यवगम्यते ।

इष्टकचित् क्रियात्मक यज्ञ से, यह विद्यामय यज्ञ पृथक् है, ऐसा–पृथक्ता के ज्ञापक अनुबंधादि से ज्ञात होता है। यज्ञ संबंधी ग्रह को अनुबंध कहते हैं जो कि–स्तोत्र शास्त्र आदि हैं। जैसे कि–"मन ही मन ग्रहों का ग्रहण करते हैं तथा–मन ही मन स्त्रोत्र तथा आशंसा करते हैं" इत्यादि सूत्र में–आदि से तात्पर्य श्रुति इत्यादि से है; अर्थात् अनुबंध युक्त श्रुति आदि से–इस विद्यामय यज्ञ की पृथक्ता ज्ञात होती है। जैसे कि–श्रुतिलिंग आदि प्रमाणों से' दहर आदि अन्य विद्यायें जैसे क्रियामय यज्ञसे पृथक प्रतीत होती हैं, वैसे ही यह भी है। अनुबंध आदि कारणों से विद्यामय यज्ञ की पृथक्ता सिद्ध हो जाने पर इस विषय में विधि कल्पना भी की जा सकती है। अनुवाद स्वरूप वाक्यों में विधि कल्पना देखी भी जाती है। ऐसा ही उल्लेख भी है–"अपूर्व या प्रमाणांतर प्रसिद्ध विषय के

ज्ञापक सामान्य वचन भी विधिरूप से कल्पित हो सकते हैं। "पूर्ववर्त्ती यज्ञ जिस परिमाण में फलदायक हैं उसी परिणाम में ये सब, एक एक फलदायक हैं" इत्यादि में पूर्वोक्त ऋतुफल के अतिदेश से ज्ञात होता है कि-इष्टकचित अग्नि से जो फल प्राप्त होता है मनश्चित् आदि से भी वही मिलता है।

यत्पुनरतिदेशेन तुल्यकार्यत्वावगमात् क्रियामय ऋत्वनुप्रवेशो अवगम्यत इत्युक्तम्। तत्राह-

और जो यह कहा है कि-अतिदेश से दोनों की तुल्यकारिता प्रतीत होने से मनश्चित् आदि भी क्रियामय यज्ञ संबद्ध ही ज्ञात होते हैं। इसका उत्तर देते हैं—

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ।३।३।४९।।

नावश्यमतिदेशादवान्तरव्यापारस्यापि तुल्यतया भवितव्यं येन क्रियामयक्रत्वनुप्रवेश एषां स्यात्, यस्मात्कस्माच्चित्सामान्य-मात्रादतिदेशोपलब्धेः। उपलभ्यते हि-"स एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन् मंडलेपुरुषः "इत्यादिषु संहतृत्वादिसामान्यमात्रादतिदेशः, नहि तत्र मंडलपुरुषस्य मृत्युवत्तल्लोकापत्तिः, तद्देशप्राप्तिरपि भवति, एवमिहापि मनश्चितादीनामिष्टकचिताग्निवद् भावातिदेशमात्रे-णेष्टकचिताग्निदेशरूप क्रियामयक्रत्वनुप्रवेशेनापि न भवितव्यम्। अत इष्टकचिताग्नेः स्वक्रतुद्वारेण फलमित्यतिदेशादवगम्यते।

अतिदेश के प्रधान कार्य में तुल्यता हो सकती है, उपकार्य में भी तुल्यता हो ऐसा कोई नियम नहीं है जिसके आधार पर मनश्चित् आदि को क्रियामय यज्ञ का अंग माना जा सके। किसी न किसी सामान्य सादृश्य में ही अतिदेश होता है। जैसे कि-"यह जो आदित्य मंडल में पुरुष है, यही वह मृत्यु है। "इसमें केवल संहारकर्त्तृत्व के सादृश्य के आधार पर अतिदेश है। मृत्यु का जो देश या काल है मंडल पुरुष उसे प्राप्त भी करे ऐसा कोई सादृश्य नहीं है। इसी प्रकार यहाँ भी मनश्चित्

आदि का इष्टकचित् से साधर्म्यं मात्र में ही अतिदेश है; इष्टकचित् अग्नि स्थानीय मनश्चिदादि भी हैं इसलिए क्रियामय यज्ञ में उनकी गणना की जाय ऐसा कोई सादृश्य नहीं है। इष्टकचित् अग्नि की यज्ञ क्रिया से जो फलावाप्ति होती है वही मनश्चिदादि विद्यामय क्रिया से भी सहज प्राप्त हो जाती है, यही उक्त अतिदेश का तात्पर्य है।

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबंधः ।३।३।५०॥

परेण च ब्राह्मणेनास्यापि मनश्चिताद्यभिधायिनः शब्दस्य तादविध्यं–तद्विधत्वं, विद्यामय प्रतिपादित्वमवगम्यते । परेण हि ब्राह्मणेन "अयंवावलोक एषोऽग्निश्चितस्तस्याप एव परिश्रिताः" इत्यादिना "स यो हैतदेवं वेद लोकं पृणानामेनं भूतमेतत्सर्वमभि-संपद्यते" इति पृथक्फलविद्यैव विधीयते, तथा वैश्वानर विद्यादौ च विद्यैव विधीयते । अतोऽग्निरहस्यस्य क्रियैकविषयत्वं नास्ति । एवं तर्हि विद्यामया मनश्चितादयो वृहदारण्यकेऽनुबद्धव्याः, किमर्थमिहानुबध्यंते, तत्रोच्यतेभूयस्त्वात्त्वनुबंधः, इति । मनश्चिता-दिषु संपादनीयानामग्न्यंगानां भूयस्त्वात्संन्निधाविहानुबंधः कृतः ।

परवर्त्ती ब्राह्मण वाक्य के, मनश्चिदादिबोधक शब्दों से विद्यामय यज्ञ की प्रतिपादकता ज्ञात होती है। जैसा कि-"यह लोक ही अग्निचित् है जल इसे परिवेष्टित किये हैं" जो इसको उक्त प्रकार से जानते हैं वे जागतिक वृत्तियों को प्राप्त करते हैं" इत्यादि से पृथक फल विद्या का विधान किया गया है। इसी प्रकार वैश्वानर आदि विद्याओं का भी पृथक निर्देश किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि–क्रियानुष्ठान ही अग्नि रहस्य का एकमात्र विषय नहीं है। आप कह सकते हैं कि–यदि ऐसा ही था तो बृहदारण्य में इसका उल्लेख होना चाहिए था, कर्मकाण्ड के प्रकरण में इसके उल्लेख का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर सूत्रकार "भूयस्त्वादनुबंधः" इस सूत्रांश से देते हैं अर्थात्–मनश्चिदादि अग्नियों में, यज्ञांग अग्नियाँ, अधिकांश में विद्यमान हैं, इसलिए इनका इस प्रकरण में उल्लेख है।

२१. शरीरेभावाधिकरणः—

एक आत्मनः शरीरे भावात् ।३।३।५१।।

सर्वासु परविद्यासूपास्योपासनस्वरूपवदुपासकस्वरूपस्यापि ज्ञातव्यत्वमुक्तं—"त्र्याणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च" इति वक्ष्यति चास्य प्रत्यगात्मनः परमात्मकत्वेवानुसंधानम् "आत्मेति तूपगच्छंति ग्राहयंति च" इति। किमयं प्रत्यगात्मा ज्ञाताकर्त्ताभोक्तेहामुत्र-संचारक्षमोऽनुसंधेयः, उत प्रजापतिवाक्योदितापहतपाप्मत्वादि-स्वरूपः ? किं युक्तम् ? ज्ञातृत्वाद्याकारमात्र इत्येके मन्यंते, कुतः ? अस्योपासकस्यात्मनः शरीरेभावात्, शरीरे वर्त्तमानस्य तादृशमेव-रूपम्, तावतैवानुसंधानेन तत्फलसिद्धयुपपत्तेश्च। नहि कर्मस्व-धिकृतानां स्वर्गादिफलार्थिनां ज्ञातृत्वाद्यतिरेकेण फलानुभवदशायां यादृशं रूपम्, तादृशं रूपं साधनानुष्ठानदशायामनुसंधातव्यम्, तावतैव साधनानुष्ठानतत्फलयोः सिद्धेरतिरिक्तानुसंधाने प्रयोजना-भावात्, तदविशेषादिहापि तथैव। ननुचात्र "यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषोभवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति विशेषवचनादपहतपाप्म-त्वाद्याकार एवानुसंधातव्य इत्यवगम्यते, मैवम् "तं यथायथोपासते" इत्युपास्यविषयत्वात्तस्य।

सभी परविद्याओं में उपास्य और उपासनाओं के स्वरूप की तरह उपासक के स्वरूप को भी ज्ञातव्य कहा गया है। "तीनों के स्वरूप के विस्तार का प्रश्न किया" इत्यादि से यही मत स्थिर होता है। "आत्मे-तितूपगच्छंति ग्राहयंतिच" सूत्र भी जीवात्मा में परमात्मभाव के चिन्तन का विधान बतलाता हैं। इस पर संशय होता है कि—यह जीवात्मा ही ज्ञाता कर्त्ता भोक्ता तथा इहलोक परलोक क्षम कहा गया है अथवा प्रजा-प्रति वाक्य में निष्पापता आदि गुणों वाला कहा गया है? इस पर एक का कथन है कि—ज्ञातृत्वादिविशिष्ट जीवात्मा ही यहाँ विवक्षित है,

क्योंकि–उपासक के शरीर में उसकी सत्ता रहती है, अर्थात् शरीर में उसका अपहतपाप्मता आदि गुणों से संपन्न रूप वर्तमान रहता है ज्ञातृत्व आदि धर्मों का चिन्तन और फलसिद्धि भी शरीर स्थिति में ही होता है। जो कर्मानुष्ठान के अधिकारी और स्वर्गफलाभिलाषी हैं, फलानुभवकाल में उनका जैसा स्वरूप अभिव्यक्त होता है, साधनानुष्ठान काल में वैसे ही स्वरूप का चिन्तन आवश्यक नहीं है। क्योंकि–चिन्तन द्वारा ही जब उनका साधनानुष्ठान और उसका फल संपन्न हो जाता है तो उसके अतिरिक्त चिन्तन का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता, वैसे ही उपासक की स्थित भी है कोई विशेष बात नहीं है ज्ञातृत्व आदि विशिष्ट जीवात्मा के स्वरूप का ही चिन्तन करना चाहिए। अब प्रश्न होता है कि–"साधक इस लोक में जैसी उपासना करता है, मरणोपरान्त वैसी ही अवस्था प्राप्त करता है" इत्यादि से तो यही ज्ञात होता है कि–निष्पापता आदि विशिष्ट आकार का ही चिंतन करना चाहिए; सो बात नहीं है, "उसे जैसे-जैसे भजते हैं" इत्यादि में उपास्य विषयक विज्ञप्ति है, उपासक विषयक नहीं।

सिद्धान्तः–एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे–इस मत पर सूत्रकार सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्नतूपलब्धिवत् ।३।३।५२।।

न त्वेतदस्ति–यत् ज्ञातृत्वाद्याकार एवानुसंधेय इति अस्यात्मनः संसारदशायाः मोक्षदशायां यो व्यतिरेकः, सोऽपहतपाप्मत्वादिकोऽनुसंधेयः, अस्य मोक्षदशायां यादृशं रूपं, तादृग्रूप एव उपासन वेलायामात्माऽनुसंधेय इत्यर्थः कुतः? तद्भावभावित्वात्तद्रूपापत्तेः। "यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" तं यथोयथोपासते तथैव भवति" इति यथोपासनमेव हि प्राप्तिः श्रूयते।

बात उक्त प्रकार की नहीं है अपितु ज्ञातृत्व आदि विशिष्ट आकार को ही चिन्त्य बतलाया गया है। इस जीव का संसार दशा और

मोक्ष दशा का जो भेद है वह अनुसंधेय निष्पापता आदि विशिष्ट आकार से ही है। अर्थात् इसका मोक्ष दशा का जैसा रूप है, वैसे ही रूप का उपासना के समय आत्मा में अनुसंधान करना चाहिए। उस रूप की प्राप्ति के लिए तद्भावभावित होना चाहिए। "पुरुष इस लोक में जैसा अनुष्ठान करता है मरणोपरान्त वैसा ही होता है "उसको जैसे-जैसे भजता है वैसा ही होता है" इन वाक्यों में उपासनानुसार ही फलावाप्ति बतलाई गई है।

न च परस्वरूपमात्रविषयमेवेदमिति वक्तुं शक्यते, प्रत्यगात्मनोऽप्युपास्यभूतपरब्रह्मशरीरतयोपास्यकोटिनिक्षिप्तत्वात्। अतः प्रजापतिवाक्योदितापहपाप्मत्वादिगुणकप्रत्यगात्मशरीरपरमात्मोपासनस्य तथारूपमेव प्राप्यमित्युक्तं भवति। अतएव "एवं क्रतुर्हामुंलोकं प्रेत्यभिसंभवितास्मि" इत्युच्यते। तस्मात् प्रत्यगात्मा प्राप्याकार एवानुसंधेयः।

ऐसा नहीं कह सकते कि यह वाक्य परमात्म विषयक ही है। जीवात्मा, उपास्य परमात्मा का शरीर ही तो है इसलिए उसे भी उपास्य श्रेणी के अंदर ही समझना चाहिए। कथन यह है कि--प्रजापतिवाक्य में उल्लेख्य निष्पापता आदि गुणों वाले जीवात्मा के शरीरी परमात्मा की उपासना का, वैसा (निष्पापता आदि गुणों वाला) ही रूप प्राप्य बतलाया गया है। इसीलिए "मैं यहाँ जैसा संकल्प वाला हूँ परलोक में वैसे ही रूप का होऊँगा" इत्यादि कहा गया। इस श्रुति से ज्ञात होता है कि-जीवात्मा का प्राप्य आकार ही अनुसंधेय है।

उपलब्धिवत्-यथा ब्रह्मोपलब्धिर्विहिता, यथावस्थितब्रह्मस्वरूपविषया, तथात्मोपलब्धिरपि यथावस्थितात्मस्वरूप विषयेत्यर्थः। कर्मस्वात्मस्वरूपानुसंधानं कर्मांगम्" यजेत् स्वर्गकाम इति कर्मानुष्ठानमेव हि फलाय चोद्यते। देहातिरिक्तज्ञातृत्वाद्याकारात्मावगतिः कालांतरभाविफलसाधनकर्माधिकारार्थेति तावन्मात्रमेव तत्रोपेक्षितमिति न किंचिदपहीनम्।

जैसे कि--ब्रह्मोपलब्धि, ब्रह्मस्वरूपविषया होने पर ही यथार्थ रूप से संभव है, वैसे ही आत्मोपलब्धि भी, आत्मस्वरूपविषया होने पर ही यथार्थ हो सकती है। कर्मानुष्ठान मैं. आत्मचिंतन कर्म का ही एक अंग है "स्वर्ग की कामना से यज्ञ करना चाहिए" इत्यादि में शुद्ध कर्मानुष्ठान ही फलोत्पादन में विहित है। देहातिरिक्त ज्ञातृत्वादिविशिष्ट आत्मा की जो अनुभूति होती है, वह कालान्तर में होने वाले, फल के उपाय स्वरूप कर्माधिकार की द्योतिका मात्र होती है, वहीं इसकी अपेक्षा रहती है

२२ अंगावबद्धाधिकरणः—

अंगावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ।३।३।५३॥

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" लोकेषुपंचविधंसामोपासीत" उक्थमुक्थमिति वै प्रजावदंति तदिदमेवोक्थम इयमेव पृथ्वी "अयंवाव लोक एषोऽग्निचितः" इत्येवमाद्याः क्रत्वंगाश्रया उपासना भवंति, ताः किं यासु शाखासु श्रूयंते, तास्वेव नियताः, उत सर्वासु शाखासूद्गीथादिषु संबध्यंत इति विचारः। सर्ववेदांत प्रत्ययत्वे स्थितेऽपि प्रतिवेदं स्वरभेदादुद्गीथादयो भिद्यंते इति तत्र तत्र व्यवतिष्ठेरन्निति युक्ता शंका किं युक्तम्? व्यवतिष्ठेरन्निति, कुतः? "उद्गीथमुपासीत" इति सामान्येनोद्गीथ संबंधितया श्रुतायास्तस्यामेवशाखायां स्वरविशेषयुक्तस्योद्गीथविशेषस्य सन्निधानात्तस्मिन्नेव विशेषे पर्यवसानं युक्तमिति एवमाद्यास्तास्वेव शाखासु व्यवतिष्ठेरन्निति।

"ओम इस अक्षर की उद्गीथ रूप से उपासना करो" "लोकों में पांच प्रकार के साम की उपासना करनी चाहिए" प्रजा जिसे उक्थ कहती है, वह उक्थ ही पृथ्वी है "यही लोक में 'अग्निचित् है" इत्यादि यज्ञांग उपासनायें हैं। प्रश्न होता है कि--ये जिन शाखाओं में कही गई हैं वहीं के लिए नियत है, अथवा सभी शाखाओं में उद्गीथ आदि में संबद्ध हैं? कह सकते हैं कि--जहाँ जहाँ वर्णन है वहीं नियत हैं। जैसे--"उद्गीथमुपासीत"

इत्यादि में सामान्यतः उद्गीथ संबंधी उपासना सुनी जाती है, किसी शाखा में स्वरविशेष युक्त उद्गीथ विशेष का उल्लेख मिलता है। इसलिए ऐसी ही अन्याम्य उपासनायें भी अपनी अपनी शाखाओं में ही विशेष उपयुक्त हैं। उपासना का उसी में पर्यवसान उपयुक्त है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—"अंगावबद्धास्तु" इति। तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, नहि उद्गीथाद्यंगावबद्धा उपासनास्तास्वेव शाखासुव्यवतिष्ठेन्, अपितु प्रतिवेदं संबध्येरन् सर्वासु शाखास्वित्यर्थः। हि शब्दो हेतौ। यस्माच्छ्रुत्यैवोद्गीथाद्यंगमात्रावबद्धा, तस्माद्यगोद्गीथादयः, तत्र सर्वत्र संबंध्येरन् यद्यपि स्वरभेदेनोद्गीथ व्यक्तयोभिद्यन्ते, तथापि सामान्येनोद्गीथ श्रुत्या सर्वाव्यक्तयः सन्निहिता इति न क्वचिद् व्यवस्थायां प्रमाणमस्ति। सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन च सर्वासु शाखासु क्रतुरेकः। अतः सर्वासु शाखास्वेकस्य क्रतोः सन्निधानात् क्रत्वंगभूतोद्गीथादयोऽपि सन्निहिता इति नैकस्य सन्निधिविशेषोऽस्तीति न व्यवस्था।

इस पर सूत्रकार सिद्धान्तरूप से "अंगावबद्धास्तु" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। तु शब्द शंका का समाधान करता है। उद्गीथ आदि उपासनायें केवल उन्हीं शाखाओं में ही युक्त नहीं हैं अपितु हर श्रुति से संबद्ध हैं अर्थात् सभी शाखाओं से सबद्ध हैं। जिन कारणों से श्रुति में इन्हे शाखामात्र से आबद्ध बतलाया गया है, उन्हीं कारणों से उद्गीथ को भी सभी शाखाओं से संबद्ध कहा गया है। यद्यपि स्वर भेद से प्रत्येक शाखा में उद्गीथ भिन्न भिन्न रूप से वर्णित है फिर भी सामान्य रूप से उद्गीथ नाम सभी शाखाओं में एक ही उपासना का वाचक है उपासना संबंधी व्यवस्था का कहीं कोई प्रमाण नहीं है। "सर्वशाखाप्रत्ययन्याय" से ज्ञात होता है कि—समस्त शाखों का यज्ञ एक है, सभी शाखाओं में एक ही यज्ञ के सानिध्य होने से, उसी यज्ञ की अंगरूप उद्गीथ आदि स्वतः ही वहाँ सन्निहित रहती हैं, इनकी शाखाओं में, कोई स्वतंत्र स्थिति तो रहती नहीं जिससे इनकी भिन्न व्यवस्था की जा सके।

मंत्रादिवद्वाऽविरोधः ।३।३।५४॥

वा शब्दश्चार्थे, आदिशब्देन, जातिगुणसंख्यासादृश्यक्रमद्रव्य कर्माणि गृह्यंते, यथा मंत्रादीनामेकैकशाखास्वाम्नातानामपि शेषिणः क्रतोः सर्वशाखास्वेकत्वेन यथायथं श्रुत्यादिभिः सर्वासु शाखासु विनियोगो न विरुध्यते तद्वदिहाप्यविरोधः ।

सूत्रस्थ वा शब्द च अर्थ में प्रयुक्त है। आदि शब्द, जाति-गुण-संख्या-सादृश्य-क्रम-द्रव्य और कर्म का ग्राहक है। मंत्र आदि का जैसे शाखा विशेष में पठित होते हुए भी, उनके अंगी, प्रधान यज्ञ के, सभी शाखाओं में एक होने से उनका सभी शाखाओं में विनियोग करना विरुद्ध नहीं होता; वैसे ही यहाँ भी उक्त यज्ञांग उपासनाओं का कोई विरोध नहीं होता।

२३—भूमज्यायस्त्वाधिकरणः—

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ।३।३।५५॥

"प्राचीनशाल औपमन्यवः" इत्यारभ्य वैश्वानरविद्या आम्नाता, तत्र वैश्वानरः परमात्मा त्रैलोक्यशरीर उपास्यः श्रुतः स्वर्लोकादित्यवाय्वाकाशाप्पृथिव्यवयवः, तत्र च द्यौमूर्धा, आदित्य श्चक्षुः, वायुः प्राणः, आकाशः संदेहः मध्यकाय इत्यर्थः, आपो वस्तिः, पृथ्वीपादावित्यवयवविशेषाः । तत्र संशयः, किमस्य त्रैलोक्य शरीरस्य व्यस्तस्योपासनं कर्त्तव्यम् उत व्यस्तस्य समस्तस्य च अथ समस्तस्यैवेति? किं युक्तम्? व्यस्तस्येति, कुतः? उपक्रमे व्यस्तोपासनो-पदेशात् । तथाहि उपदिश्यते औपमन्यवादयः किलोद्दालकषष्ठाः केकयमश्वपतिमुपसद्य "आत्मानमेवेमंवैश्वानरं संप्रत्यध्येषितमेव नो ब्रूहि" इति पप्रच्छुः । स च तेभ्यः प्रत्येकं स्वोपास्यान् द्युप्रभृतीनुक्त-वद्भ्यो मूर्धादिषु व्यस्तेषूपासनं तत्र तत्र फलं चोक्तवान् "अत्यन्नं

पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-मुपास्ते मूर्धात्वेष आत्मन इति एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरः" इत्यादिना। तेषुतेषूपासनेषूपास्यस्य वैश्वानरत्वं चाह। अतो व्यस्तस्योपासनं कर्त्तव्यम्।

"प्राचीनशाल" आदि में जो वैश्वानर उपासना का उपदेश है उसमें, वैश्वानर परमात्मा त्रैलोक्य शरीर वाला उपास्य कहा गया है। उसमें भी-द्युलोक-आदित्य-वायु-आकाश-पृथ्वी आदि अवयव रूप से बतलाए गए हैं, द्युलोक उनका मूर्धा, आदित्यनेत्र वायु प्राण, आकाश मध्य शरीर, जल कटि प्रदेश, पृथ्वी चरण स्थानीय है। इस पर संशय होता है कि-त्रैलोक्य शरीर वैश्वानर के प्रत्येक अंग की पृथक् पृथक् उपासना करनी चाहिए अथवा अवयव और संपूर्ण देह दोनों की करनी चाहिये या केवल समस्तदेह ही की करनी चाहिए? कह सकते हैं कि-अलग अलग अंगों की ही करनी चाहिए, उपक्रम में ऐसा ही उपदेश दिया गया है। उद्दालक को लेकर उपमन्यु आदि छः व्यक्ति कैकेया-धिपति राजा अश्वपति के यहाँ गए और जिज्ञासा की कि-"इस समय केवल आप ही वैश्वानर आत्मा के ज्ञाता हैं,हमें उसके स्वरुप का उपदेशकरिये" इसके बाद उन लोगों ने अपने अपने उपास्य द्युलोक आदि का उल्लेख किया तब अश्वपति ने उन सब को उन अंगों की उपासना और उसका फल का माहात्म्य बतलाया "वे उपासक, अन्न का भोग करते हैं, प्रियदर्शन करते हैं, उनके वंश में ब्रह्म तेज संपन्न व्यक्ति जन्म लेते हैं,जो ऐसी वैश्वा-नर की उपासना करते हैं' इत्यादि से उन उपासनाओं में उपास्य, वैश्वानरत्व की ही सिद्धि की। इससे स्पष्ट होता है कि-अलग अलग उपासना ही करनी चाहिए।

परत्र "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानर-मुपास्ते" इति। द्युप्रभृतिप्रदेशावच्छिन्नमात्रे वैश्वानरे उक्तस्य मूर्धाद्युपासनस्य समासेनोपसंहार इत्यवगंतव्यं अपर आह-एवमेव समस्तस्याप्युपासनं कार्यमिति, पृथक्फलनिर्देशात् "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु

सर्वेषु भूतेषु स्ववेंष्वात्मस्वन्नमत्ति" इति । न चैतावता वाक्यभेदः, यथा भूमविद्योपक्रमे नामाद्युपासनं तत्तत्फलंचाभिधाय "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति" इत्यादिना भूमविद्यामुपदिश्य "स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषुलोकेषु कामचारो भवति" इति तत्फलं च व्यपदिशति,तत्र भूमविद्यापरत्वेऽपि वाक्यस्य नामाद्यवान्तरोपासनं तत्तत्फलं चांगीक्रियते, तथा इहापीति ।

दूसरी जगह "जो प्रदेशमात्र इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है" इत्यादि में द्यु लोक आदि प्रदेश परिच्छिन्न वैश्वानर के संबंध में कही गई उपासना का संक्षेप में उपसंहार किया गया है दूसरा मत है कि-व्यष्टि की तरह समष्टि की भी उपासना करनी चाहिए। उसका पृथक् फल बतलाया गया है "जो व्यक्ति प्रादेश परिमित वैश्वानर की इस प्रकार उपासना करते हैं, वे सभी लोकों में सभी प्राणियों में, सभी भूतों में अन्न भोग करते हैं।" इत्यादि, समस्त और व्यस्त उपासना मानने पर वाक्य भेद की संभावना भी नहीं है। जैसे कि—भूमाविद्या के प्रकरण में नाम आदि की स्वतंत्र उपासना और उसका फल बतलाने के बाद "जो सत्य-वादी है वही अतिवादी है" इत्यादि से भूमाविद्या का उपदेश करके "वे स्वच्छंद हो जाते हैं, सभी जगह उनकी यथेच्छ गति हो जाती है" इत्यादि से भूमा का स्वतंत्र फल भी बतला दिया गया है। जैसे उसमें भूमा के आनुषंगिक नाम आदि की पृथक उपासना और फल का उल्लेख है, वैसे ही यहाँ इस वैश्वानर विद्या में भी है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—भूम्नः, विपुलस्य समस्तस्यैव ज्यायस्त्वं, प्रामाणिकत्वमित्यर्थः, एकवाक्यत्वावगतेः। तथाहि "प्राचीनशाल औपमन्यवः', इत्युपक्रम्य "उद्दालको ह वै भगवंतो अयमारुणिसंप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हंताभ्यागच्छाम" इति वैश्वानरात्मवुभुत्सयौपमन्यवादयः पंच महर्षयः तमुद्दालक-मुपेत्य तत्रवैश्वानरात्मवेदनमलभमानास्तेन च सहाश्वपतिं केकयं वैश्वानरात्मवेदिनमुपसंगम्य "आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यधेषि

तमेव नो ब्रूहि" इति पृष्ट्वा तत्सकाशात् परमात्मानं वैश्वानरं स्वर्लोकादिपृथिव्यन्तशरीरमुपास्यमवगम्य तत्फलं च सर्वलोक सर्वभूत सर्वात्मान्नभूतब्रह्मानुभवमवगतवन्त इत्युपसंहारतो वाक्यस्यैकत्वमवगम्यते । एवमैक्यवाक्यत्वेऽवगते सत्यवयवविशेषेषूपास्तिवचनं फलनिर्देशश्च समस्तोपासनैकदेशानुवादमात्रमिति निश्चीयते ।

भूमा का तात्पर्य विपुलता अर्थात् समस्त से है, ज्यायता का तात्पर्य प्रामाणिकता अर्थात समस्त प्रसंग की एक वाक्यता है । जैसा कि "प्राचीन शाल" इत्यादि से प्रारंभकर "हे भगवान् अरुण पुत्र उद्दालक ही इस वैश्वानर आत्मा को जानते हैं, हम उनके निकट ही गमन करें" इस प्रकार वे उपमन्यु आदि पाँचों ऋषि वैश्वानर विद्या की प्राप्ति की आशा से अरुणि के पास गए वहाँ भी वैश्वानर रहस्य को न पाकर उनके साथ महाश्वपति केकय के पास जाकर जिज्ञासा करते हैं कि— "इस समय वैश्वानर आत्मा को केवल आप ही जानते हैं, आप हमें उसका उपदेश दें" इसके बाद अश्वपति से स्वंग से पृथ्वी तक वैश्वानर शरीरी की उपास्यता समझ कर उसके फलस्वरूप, सर्वलोक, सर्वभूत सर्वात्मा का अन्न स्वरूप ब्रह्मानुभव भी किया । इस प्रकार समस्त प्रकरण की एकवाक्यता है । एकवाक्यता के निश्चित किये जाने पर ही प्रधान अंगी वैश्वानर के अवयवों का पृथक् उपदेश और फल निर्देश किया गया है जोकि—समस्त वैश्वानर उपासना के एकांश का पुनरुल्लेख मात्र ही निश्चित होता है ।

क्रतुवत—यथा—"वैश्वानरं द्वादश कपालं निर्वपेत पुत्रे जाते" इति विहितस्यैव क्रतोरेकदेशाः "यदष्टाकपालोभवति" इत्यादिभिरनूद्यंते, तथा समस्तोपासनमेव न्याय्यम् न व्यस्तोपासनम् ।

जैसे कि—"पुत्र के जन्म होने पर द्वादशकपालों में वैश्वानर यज्ञ करना चाहिए" इत्यादि में विहित यज्ञ विधिका "यदष्टाकपालो भवति" इत्यादि में—एकांश में अनुवाद मात्र ही किया गया है । वैसे ही उक्त

बात भी है। इसलिए समस्त उपासना ही न्याय्य है व्यस्त उपासना नहीं।

तथाहि दर्शतीयं श्रुतिः व्यस्तोपासने अनर्थं ब्रुवती–"मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्यः" इति "अन्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्यः" इत्यादिका। अत इदमप्यपास्तं यन्नामाद्युपासन साम्यमुक्तम्। तत्र हि नामाद्युपासनेष्वनर्थो न श्रुतः, नामाद्युपासनेभ्यो भूमोपासनस्यातिशयितफलत्वं श्रुतम् "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति" इति। तत एव तत्र भूमाविद्यापरत्वेऽपि वाक्यस्य नामाद्युपासनानां सफलानां विवक्षितत्त्वं, अन्यथाऽतिशयितफलत्वनिमित्तातिवादेन भूमविद्यास्तुत्यनुपपत्तेः, अतः समस्तोपासनमेव न्यायम्।

श्रुति भी व्यस्तोपासना की अनिष्टता बतलाती है—"यदि तुम मेरे निकट न आते तो तुम्हारा मस्तक गिर जाता" यदि तुम न आते तो अंधे हो जाते" इत्यादि। नाम आदि उपासना के साथ साम्य कहा गया है, यह कथन भी उक्त विवेचन से निरस्त हो जाता है वहाँ जो नाम आदि की उपासना कही गई है, उसका कोई अनिष्ट फल नहीं बतलाया गया है, नाम आदि उपासना के बजाय भूमा उपासना के फलाधिकार का उल्लेख मिलता है। जैसे की–"जो सत्य बोलते हैं वे अतिवादी हैं" भूमा विद्या के प्रतिपादक वाक्य से, नामादि की उपासना और उसका फल विवक्षित है। अन्यथा अतिशयित फल बतलाने वाला अतिवादी वाक्य भूमा विद्या का स्तुत्यवाक्य नहीं हो सकता। इसलिए समस्तोपासना ही न्याय है।

२४. शब्दादिभेदाधिकरणः—

नाना शब्दादिभेदात् ।३।३।५६॥

इह ब्रह्मविद्याः सर्वाः ब्रह्मप्राप्तेकरूपमोक्षैकफलाः सद्विद्या-

भूमविद्यादहरविद्योपकोसलविद्याशांडिल्यविद्यावैश्वानरविद्यानंदमय-विद्याक्षरविद्यादिकाएकशाखागताःशाखांतरगताश्चोदाहरणम्,अन्याः प्राणाद्येकविषयफलाश्च । किमत्र विद्यैक्यम् उत विद्याभेद इति संशय्यते ? अत्रैवासां परस्परभेदे समर्थिते सति एकस्या दहरविद्यादिकायाः सर्ववेदांतप्रत्ययन्यायः । किं युक्तम् विद्यैक्यमिति, कुतः ? वेद्यस्य ब्रह्मण एकत्वात्, वेद्यं हि विद्याया रूपम्, अतोरूपैक्यात् विद्यैक्यमिति ।

सद्विद्या–भूमाविद्या–दहरविद्या–उपकोसलविद्या–शांडिल्यविद्या–वैश्वानरविद्या–आनंदमयविद्या–अक्षरविद्या आदि सभी विद्याओं का एक-मात्र फल, ब्रह्म प्राप्ति रूप मोक्ष ही है। ये विद्यायें चाहे एक शाखागत हो या विभिन्न शाखागत हों, इस सूत्र में सभी पर विचार किया जायेगा। एक विषयक और एक फल वाली प्राण आदि पर भी विचार प्रस्तुत करेंगे। संशय करते हैं कि–ये विद्यायें एक हैं या भिन्न ? इनके परस्पर भेद का समर्थन होने से, दहर विद्या आदि प्रत्येक का सर्ववेदांत प्रत्यय ही न्याय्य है। कह सकते हैं कि–विद्यायें सब एक हैं, क्योंकि सबका उपास्य एक है, वेद्य ही तो विद्या का रूप होता है, इसलिए वेद्यैक्य होने से विद्यैक्य होगा।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते–नाना इति । नानाभूता विद्याः, कुतः ? शब्दादिभेदात्–आदिशब्देनाभ्याससंख्यागुणप्रक्रिया नामधेयानि गृह्यन्ते, शब्दान्तरादिभिरत्र विधेयभेदहेतवोऽनुबंध भेदाः दृश्यन्ते, यद्यपि वेदोपासीत्येत्यादयः शब्दाः प्रत्ययावृत्त्यभिधा-यिनः, प्रत्ययाश्च ब्रह्मैकविषयाः, तथापि तत्प्रकरणोदित जगदेक-कारणत्वापहतपाप्मत्वादिविशेषणविशिष्टब्रह्मविषयप्रत्ययावृत्त्यबोधिनः प्रत्ययावृत्तिरूपाः विद्यां भिन्दंति । ब्रह्मप्राप्तिरूपफलसंबंध्यु-पासनविशेषाभिधायीनि न निराकांक्षाणि वाक्यानि प्रति-प्रकरणंविलक्षणविद्याभिधायीनीति निश्चीयते । अस्मिन्नर्थे–

"शब्दान्तरे कर्म भेदः" इत्यादिभिः पूर्वकांडोदितैः सूत्रैः सिद्धेऽपि पुनरिह प्रतिपादनं वेदांतवाक्यानि अविधेयज्ञानपराणीति कुदृष्टि निरसनाय। अतो विद्याभेद इति स्थितम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "नाना" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं विद्यायें भिन्न हैं, इनमें नामों का ही भेद है सूत्र में आदि शब्द से अभ्यास-संख्या-गुण-प्रक्रिया-नाम आदि अभिधेय हैं। शब्द भेद आदि के कारण, उपास्य के भेद के ग्राहक, अनुबंध का भी भेद देखा जाता है। यद्यपि "वेद" उपासीत" आदि शब्द ज्ञानात्मक उपासना की पौनः पुन्यता के ही बोधक हैं। तथा-प्रत्यय भी ब्रह्म विषयक ही हैं, फिर भी विभिन्न प्रकरणों में कहे गए जगदेककारणता, निष्पापता आदि विशेषणों से विशिष्ट ब्रह्म विषयक, ज्ञानानुशीलन बोधक, ज्ञानवृत्ति स्वरूप वाक्य, विद्या में भेद कर देते हैं। ब्रह्म प्राप्ति रूप फल के संपादक, उपासना के बोधक, वाक्य प्रत्येक प्रकरण में, निराकांक्ष रूप से वर्णित हैं इसलिए प्रति प्रकरण में, एक विलक्षण विद्या की प्रतीति कराते हैं। यद्यपि कर्मकाण्ड के "शब्द से कर्म भेद होता है" इस सूत्र से उक्त विषय सिद्धान्त रूप से निर्णीत हो जाता है, फिर भी वेदांत वाक्यों में भिन्न विधि का विधान नहीं मिलता। इसलिए उक्त प्रसंग को उठाया गया, जिससे उक्त विषय में जो भ्रामक दृष्टिकोण है, वह ठीक हो जाय। इसलिये विद्याभेद ही निश्चित होता है।

२५. विकल्पाधिकरणः—

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ।३।३।५७।।

ब्रह्मप्राप्तिफलानां सद्विद्यादहरविद्यादीनां नानात्वमुक्तम्, इदानीमासांविद्यानामेकस्मिन् पुरुषे प्रयोजनवत्वेन समुच्चयोऽपि संभवति। उत प्रयोजनाभावाद् विकल्प एव? इति विशये किं युक्तम्? समुच्चयोऽपि संभवतोति, कुतः? एकफलानां भिन्नशास्त्रार्थानपि समुच्चयदर्शनात्। दृश्यते हि एकस्यैव स्वर्गादिः

साधनानामग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां तस्यैव स्वर्गस्य भूयस्त्वापेक्षयैकत्र पुरुषे समुच्चयः, एवमिहापि ब्रह्मानुभवभूयस्त्वापेक्षया समुच्चयोऽपि संभवतीति ।

ब्रह्म प्राप्ति रूप फलवाली सद्‌विद्यादहरविद्या आदि की भिन्नता बतला दी गई। अब संशय होता है कि-एक ही पुरुष के लिए, इन विद्याओं के अनुष्ठान का प्रयोजन है या नहीं ? यदि सब के अनुष्ठान का प्रयोजन नहीं है तो एक ही विद्या की साधना से कार्य चल जावेगा। कह सकते हैं कि-सभी उपासनाओं का अनुष्ठान आवश्यक है, क्योंकि-भिन्न शास्त्र वाक्यों में सभी उपासनाओं का एक ही फल बतलाया गया है। जैसे कि-एक ही स्वर्गादि फल के साधन अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि यज्ञों का अनुष्ठान, फल प्राप्ति के लिए करते देखा जाता है। वैसे ही ब्रह्मानुभूतिरूप फल की प्राप्ति के लिए सभी उपासनाओं का अनुष्ठान कर्त्तव्य हो सकता है।

सिद्धान्तः---एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-विकल्प एव-न समुच्चयः संभवतीति । कुतः ? अविशिष्टफलत्वात्-सर्वासां हि ब्रह्मविद्यानामनवधिकातिशयानंद ब्रह्मानुभवः फलमविशिष्ट श्रूयते "ब्रह्मविदाप्नोति परम् "स एको ब्रह्मण आनंदः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादिभ्यः। ब्रह्म हि स्वस्य परस्य च स्वयमनुभूयमानमनवाधिकातिशयानन्दं भवति । स च तादृशो ब्रह्मानुभव एकयाविद्ययाऽवाप्यते चेत्-किमन्ययेति न समुच्चय संभवः स्वर्गादि हि देशतः कालतःस्वरूपतश्च परिमितत्वेन तत्र देशाद्यपेक्षया भूयस्त्वसंभवात्तदर्थिनः समुच्चयः संभवति, इह तु तद्विपरीत स्वरूपे ब्रह्मणि तन्न संभवति। सर्वाश्च विद्याः ब्रह्मानुभवविरोध्यनादि कर्मविद्यानिरसन मुखेन ब्रह्मप्राप्तिफला इत्यविशिष्टफलत्वात् सर्वासां विकल्प एव ।

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि-किसी एक के ही अनुष्ठान का विधान है, सबके अनुष्ठान का नहीं। सभी उपासनाओं का एकसा ही फल होता है, अर्थात् सभी ब्रह्मविद्याओं का अत्यधिक आनंदब्रह्मानुभव रूप फल, सामान्य रूप से बतलाया गया है। "ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त करता है" वह ब्रह्मज्ञ और निष्काम श्रोत्रिय का आनंद है "दिव्यदर्शी पुरुष जब, सुवर्णवर्ण वाले जगत्कर्त्ता और वेद प्रसू पुरुष जगदीश्वर को देख लेता है, तब वह विद्वान् पुण्यपाप से छूटकर निर्दोष होकर, अनिर्वचनीय सर्वोत्तम ब्रह्म की समता प्राप्त करता है।" इत्यादि ब्रह्म स्वयं या दूसरे के द्वारा अनुभूत होने पर अतिशय आनंद प्रदान करता है। उसका वैसा अनुभव जब एक ही विद्या के अनुष्ठान से हो जाता है तो अनेक विद्याओं की उपासमा की आवश्यकता ही क्या है? इससे सिद्ध होता है कि—सभी की उपासना संभव नहीं है। स्वर्ग आदि तो देश काल स्वरूप से परिमित हैं, इसलिए देश कालादि की तरह उनमें वृद्धि ह्रास भी संभव हैं, इसलिए अनेक कर्मानुष्ठानों की आवश्यकता होती है, किन्तु अपरिमित ब्रह्म में तो वैसी संभावना नहीं है। जब सभी विद्यायें, ब्रह्मानुभूति के प्रतिबंधक अज्ञान का निवारण कर ब्रह्मप्राप्ति कराती हैं तो सभी की उपासना के अनुष्ठान का प्रयोजन ही क्या है? अपितु किसी एक के अनुष्ठान से ही फलावाप्ति हो जायगी।

ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तफलाविद्याः स्वर्गादिफलकर्मवद् यथेष्टं विकल्पेरन्, समुच्चीयेरन्वा, तासां परिमितफलत्वेन भूयस्त्वापेक्षाविभवात्। तदाह—

जो विद्यायें, ब्रह्मप्राप्ति से भिन्न काम्यफल की साधिका हैं, वह तो इच्छानुसार समुच्चय रूप से या वैकल्पिक रूप से अनुष्ठेय हो सकती हैं क्यों कि—उनका तो परिमित फल होता है, अतः उनमें बाहूल्य भी अपेक्षित हो सकता है? इसका उत्तर देते हैं—

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात्।३।३।५८॥

अपरिमित फलत्वाभावादित्यर्थः।

काम्य विद्याओं का अनुष्ठान, समुच्चय या विकल्प किसी भी प्रकार किया जा सकता है, क्यों कि इनके अनुष्ठान में अपरिमित फलता का अभाव रहता है। अर्थात् अधिक फल की इच्छा हो तो समुच्चयानुष्ठान करना चाहिए अन्यथा वैकल्पिक करना चाहिए।

२६. यथाश्रयभावाधिकरणः—

अंगेषु यथाश्रयभावः।३।३।५६॥

उद्गीथादिक्रत्वंगेष्वाश्रिताः "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" इत्यादिका विद्याः किमुद्गीथादिवत् क्रत्वर्थतया क्रतुषु नियमेनोपादेयाः, उतगोदोहनादिवत् पुरुषार्थतया यथाकाममिति विशये, नियमेनोपादेयाः, इति युक्तम्।

उद्गीथ आदि, यज्ञांगाश्रित अनेक विद्यायें हैं, संशय होता है कि—उद्गीथ की तरह, वो सब भी, यज्ञोपकारक रूप से प्रत्येक यज्ञ में ग्राह्य होंगी, अथवा गोदोहनन्याय की तरह, इच्छानुसार ग्राह्य होंगी? इस पर कहते हैं कि—सभी में ग्राह्य करना ही युक्ति संगत है।

ननु चासां पुरुषार्थत्वेनानियमः प्रतिपादितः 'तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबंधः फलम्" इत्यत्र। सत्यम्—तदेव दृढयितुं कैश्चिल्लिंगदर्शनैः युक्तया चाक्षिप्यते। तत्र हि—"तेनोभौ कुरुतः इत्यनियम दर्शनात् पृथक्फलत्वमुक्तम्, उपासनाश्रयभूतोद्गीथादिवदुपासनानामप्यंगतयोपादाननियमे बहवो हेतव उपलभ्यंते नहि अत्र "गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत"इत्यादिवदुपासना विधिवाक्येफलसंबंधः श्रूयते। "उद्गीथमुपासीत" इत्युद्गीथादिसंबंधितयैवोपासनं प्रतीयते।

जब "तन्निर्धारणानियमः" इत्यादि सूत्र में बतला चुके हैं कि—पुरुषार्थ साधन में, सभी विद्याओं का साधन नियमित नहीं है, तब उक्त बातें

कैसे संभव ? ऐसा संशय करना ठीक ही है, अब उसी बात को दृढ़ करने के लिए, विरुद्ध तर्क उपस्थित करके आक्षेप कर रहे हैं। उक्त सूत्रों में तो केवल "तेनोभौ कुरुत:" इस श्रुति की सहायता से, उपासना का अनियम बतलाते हुए, पृथक् फलता का निर्णय किया गया है। परन्तु इस प्रसंग में तो– उपासना की आश्रय उद्‌गीथ आदि की तरह जब, अन्य उपासनायें भी अंगमात्र ही हैं तब उनको ग्रहण करने में अनेक हेतु मिलते हैं। "पशुसमृद्धि की कामना से गोदोहन करके चरुपाक करना चाहिये" इत्यादि में जैसा काम्य पशु रूप फल विशेष का निर्देश है, वैसी यहाँ तो किसी विशेष फल के निर्देश की बात है नहीं। "उद्‌गीथमुपासीत्" इत्यादि में उद्‌गीथ संबंधी उपासना ही प्रतीत होती है।

"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरम्" इति वर्त्तमानोपदेशरूपवाक्यान्तराद हि फलसंबंधो ज्ञायते, स्ववाक्येनै वाव्यभिचरितक्रतुसंबंध्युदगीथादिसंबंधेन निर्ज्ञातक्रत्वंगभावस्य वाक्यांतरस्थवर्त्तमानफलसंबंधनिर्देशोऽर्थवादमात्रं स्यात् अपापश्लोक श्रवणादिवत्। अतो यथोद्‌गीथादय उपासनाश्रयाः क्रत्वंगतया प्रयोग विधिना नियमेनोपादीयन्ते, यथातदाश्रिताश्चोपासनास्तन्मुखेन क्रत्वंगभूता इति नियमेनोपादेया एव।

"श्रद्धा और विज्ञान के साथ जो विद्या का अनुष्ठान करता है वही प्रबलतम होता है" वर्त्तमानता मात्र के बोधक इस अन्य वाक्य से भी, उपासना की सफलता ज्ञात होती है, इसलिए उपासना विधायक वाक्य में, केवल यज्ञ संबंधी उल्लेख होने से ही उपासना की यज्ञांगता ज्ञात होती है, अन्य वाक्यों में जो वर्तमान कालीन फल संबंधी उल्लेख मिलता है, वह निश्चित ही, अपापश्लोक श्रवण की तरह अर्थवाद मात्र है। उद्‌-गीथ उपासना के आश्रय, उद्‌गीथ आदि जैसे–प्रयोग विधि के अनुसार नियमित यज्ञांग माने जाते हैं, वैसे ही, तदाश्रित उपासनायें भी नियमित रूप से यज्ञांग हैं।

शिष्टेश्च ।३।३।६०॥

शिष्टिः शासनं, विधानमित्यर्थः। "उद्‌गीथमुपासीत्"

इत्युद्गीथांगतयोपासनविधानाच्चोपादान नियमः । "गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्" इत्यादिवद्विधिवाक्येऽधिकारान्तराश्रवणादुद्गीथांग भाव एव हि विधेय इति गम्यते ।

शिष्टि अर्थात् शासन या विधान से भी उपासना के नियम की सिद्धि होती है । "उद्गीथमुपासीत्" श्रुति में उद्गीथांगरूप से उपासना का विधान बतलाया गया है । "पशु की कामना से गोदोहन द्वारा चरु प्रस्तुत करना चाहिए" इत्यादि में जैसे अन्य क्रिया के अधिकारी से संबंधित गोदोहनाधिकार कहा गया है, वैसा यहाँ तो है नहीं, इससे निश्चित होता है कि— उक्त उपासना, उद्गीथांग रूप से ही विधेय है ।

समाहारात् ।३।३।६१।।

"होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति" इत्युपासनस्य समाहार नियमो दृश्यते । दुरुद्गीथं वेदनविहीनमुद्गीथं । वेदनहानावन्येन समाधानं ब्रुवत्तस्य नियमेनोपादानं दर्शयति ।

"होतृ षदन से दुरुद्गीथ को परिपूर्ण करता है" इत्यादि श्रुति से उपासना के ग्रहण की आवश्यकता परिलक्षित होती है । दुरुद्गीथ का तात्पर्य है; उपासना विहीन उद्गीथ । उक्त श्रुति में उपासना के अभाव में, अन्य के द्वारा भी परिपूर्ण करने का उपदेश देकर, उस उपासना की अवश्यग्रहणीयता दिखलाई गई है ।

गुणसाधारण्य श्रुतेश्च ।३।३।६२।।

उपासनगुणस्य उपासनाश्रयस्य प्रणवस्य सोपासनस्य "तेनेयंत्रयी विद्या वर्त्तते, ओमित्याश्रवत्योमितिशंसत्योमित्युद्गायति" इति साधारण्यश्रुतेश्चोपासनसमाहारो गम्यते । "तेन" इति प्रकृतिपरामर्शात् सोपासन एव प्रणवः सर्वत्र संचरति । अत उपासनस्य प्रणवसहभाव नियमदर्शनाच्चोद्गीथाद्युपासनामुद्गीथादिवन्नियमेनोपादानम् ।

"उसके द्वारा ही ये वेद विद्या प्रवृत्त होती है, जो ॐ कहकर ही हो सुनता है, ॐ कहकर ही प्रशंसा करता है, ॐ कहकर ही उद्गान करता है" इत्यादि में—उपासना के आश्रय रूप प्रणव का समानाधिकरण्य दिखलाया गया है जिससे उपासना की अनुवृत्ति ज्ञात होती है। वाक्य के "तेन" पद से, प्रस्तावित विषय से संबद्ध उपासना के साथ प्रणव की सर्वत्र अनुवृत्ति ज्ञात होती है, केवल प्रणव की ही नहीं। प्रणव सहित उपासना साहचर्य के नियम से ज्ञात होता है कि—उद्गीथ आदि की तरह उपासना का भी हर जगह ग्रहण होगा।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते---

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ।३।३।६३॥

न चैतदस्ति, यदुद्गीथाद्युपासनानां क्रतुषूद्गीथादिवदुपादान नियमः, इति। कुतः ? तत्सहभावाश्रुतेः, उद्गीथांग भावाश्रुतेरित्यर्थः। अंग भावे हि सहभाव नियमो भवति। यद्यपि "उद्गीथमुपासीत" इत्यस्मिन् पद समुदायेऽधिकारान्तरं न प्रतीयते तथाऽपि तदनंतरमेव "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति विद्यायाः क्रतु वीर्यवत्तरत्वं प्रतिसाधनभावः प्रतिपाद्यते। तेन क्रतुफलात्पृथगभूत फलसाधनभूता विद्या "उद्गीथमुपासीत" इति कर्त्तव्यतया विधीयते। क्रतुफलात् पृथग्भूतफलसाधनतयाऽवगतस्योपासनस्य क्रत्वंगभूतोद्गीथांगतया विनियोगो नोपपद्यते। अथ उपासनस्याश्रयापेक्षायां सन्निहित उद्गीथ आश्रयमात्रं भवति।

यज्ञ में उद्गीथ आदि क्रिया का जैसा अवश्य ग्रहणीयता का नियम है, उद्गीथ आदि उपासना में भी, वैसा नियम नहीं है। ऐसी कोई सत् सहभाव वाली श्रुति नहीं मिलती, अर्थात्-उपासना भी,

उद्गीथ आदि की तरह यज्ञांग है, ऐसी कोई श्रुति नहीं मिलती। अंग भाव होने पर ही सहभाव का नियम होता है। यद्यपि "उद्गीथमुपासीत्' वाक्य में अन्य किसी का अधिकार प्रतीत नहीं होता, फिर भी इस वाक्य के बाद ही "विद्यापूर्वक जो कुछ किया जाता है, वही बलवत्तर होता हैं" इस वाक्य में, विद्या को, यज्ञ से अधिक बलवती रूप से प्रतिपादन किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि—उद्गीथमुपासीत्'' इत्यादि श्रुति में यज्ञ फल से विशेष अधिक फल साधन के लिए, विद्या की कर्त्तव्यता बतलाई गई है। यज्ञ फल से भिन्न ही साधक रूप से जब उपासना की प्रतीति होती है, तब उदगीथांग रूप से उस उपासना का प्रयोग कदापि संगत नहीं हो सकता। इससे ज्ञात होता है कि–उपासना मात्र, एक आश्रय की अपेक्षा करती है, उद्गीथ उपासना में भी एक आश्रय आवश्यक है। सन्निहित उद्गीथ ही उपासना मात्र का आश्रय स्थानीय सिद्ध होता है।

उद्गीथश्च क्रत्वंगभूत इति क्रतुप्रयुक्तोद्गीथाद्याश्रये उपासने क्रत्वाधिकारिण एव क्रतोवीर्यवत्तरत्वेच्छानिमित्तमिदमधिकारान्तरमिति न क्रतुषु तदुपादाननियमः। वीर्यवत्तरत्वं च क्रतुफलस्य प्रबलकर्मान्तरफलेनाप्रतिबंधं इत्युक्तम्। क्रतोरविलंबितफलत्वमित्यर्थः। पर्णतादीनां तु "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति'' इति विद्यायाः फलसाधनत्ववदपापश्लोक श्रवणादिफलं प्रतिसाक्षात्साधनभावो न श्रुत इति क्रत्वंगभूतजुह्वाद्यंगतया विनियोगाविरोधात्तदंगभूतानां फलांतरसाधनभावकल्पनानुपपत्तेस्तत्र फलश्रुतिरर्थवादमात्रं स्यात्।

उद्गीथ, यज्ञ का अंगरूप है, यज्ञ में जिसका अधिकार है उद्गीथ साधना में भी उसी का अधिकार है, किन्तु उद्गीथ आश्रित उपासना में, अधिकार का कोई नियम नहीं है। यज्ञ का अधिकारी पुरुष यदि चाहें कि, मेरा यज्ञ अधिक बलवत्तर हो ऐसी इच्छा करने पर ही वह उपासना का अधिकारी हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। उद्गीथ और उपासना दोनों का एक ही–अधिकारी नहीं हो सकता, ऐसी अधिकार की पृथकता

के आधार पर, उद्‌गीथ आदि की उपासना की अवश्यकर्त्तव्यता की व्यवस्था नहीं की जा सकती। अन्य किसी प्रवल कर्म फल के द्वारा, उपस्थित कर्मफल में बाधा न होना ही" प्रबलता है, अर्थात् अनुष्ठित यज्ञ फल की प्राप्ति में विलम्ब न होना ही प्रबलता है। यज्ञांग "जुहू" की पर्णमयता के साथ विद्या की समता नहीं की जा सकती क्योंकि-"यदेव विद्यया करोति", इत्यादि वाक्य से जैसी प्रबलता रूप पृथक् फलसाधनता बतलाई गई है, जुहू की पर्णमयता में वैसी, पापश्लोक श्रवणाभाव के फलस्वरूप कोई विशेषता नहीं कही गयी है। यज्ञांग जुहू की पर्णमयता के विनियोग में किसी प्रकार की बाधा न होने से, फलान्तर साधनता की कल्पना करना संभव नहीं है। इसलिए उक्त फल श्रुति को अर्थवाद मानना चाहिए।

दर्शनाच्च ।३।३।६४।।

दर्शयति च श्रुतिरुपासनोपादानानियमम् "एवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति" इति ब्रह्मणो वेदनेन सर्वेषां रक्षणं ब्रुवती। उद्गातृप्रभृतीनां वेदनस्यानियमे सत्येतदुपपद्यते। अनेन लिंगेन पूर्वोक्तानां समाहारादिलिंगानां प्रायिकत्वमवगम्यते। अतोऽनियम एवेति स्थितम्।

"ऐसा ज्ञान संपन्न ब्रह्मा ही, यज्ञ यजमान और समस्त होताओं की सब प्रकार से रक्षा करता है" इत्यादि श्रुति ब्रह्म ज्ञान से ही सब की रक्षा बतलाती है। इससे उद्‌गाता आदि के ज्ञान के अनियम की प्रतीति होती है, ऐसा मानने से ही उक्त प्रसंग की संगति हो सकती है। इस हेतु वाक्य से ज्ञात होता है कि—पहिले जो समाहार आदि हेतु बतलाए गए हैं, वे प्रायिक मात्र हैं आवश्यक नहीं हैं। इससे अनियम का सिद्धान्त स्थिर होता है।

तृतीय अध्याय तृतीय पाद समाप्त

तृतीय-अध्याय

चतुर्थ पाद

१ पुरुषार्थाधिकरणः-

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ।३।४।१॥

गुणोपसंहारानुपसंहारफला विद्यैक्यत्व नानात्व चिन्ताकृता । इदानीं विद्यातः पुरुषार्थः, उत विद्यांगकारकर्मणः इति चिन्त्यते । किं युक्तम्? अतः विद्यातः पुरुषार्थ, इति भगवान बादरायणो मन्यते, कुतः? शब्दात-दृश्यते हि औपनिषदः शब्दो विद्यातः पुरुषार्थं ब्रुवन "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात । तमेवं विद्वानमृतइह भवति । नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ।" यथा नद्यः स्यन्दमानः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय, तथाविद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इत्यादि ।

उपास्य गुणों का उपसंहार कैसे किया जा सकता है कैसे नहीं, इसके निरूपण के लिए तृतीय पाद में विद्या की एकता और भिन्नता के विषय में विचार किया गया । अब विचार किया जाता है कि-विद्या से पुरुषार्थ (मोक्ष) होता है अथवा विद्यांग कर्म से होता है ? विद्या से पुरुषार्थ होता है-ऐसा भगवान बादरायण का मत, शास्त्र के आधार पर है । उपनिषदों के वचन विद्या से पुरुषार्थ का उल्लेख करतेहैं-"ब्रह्मविद ही परमतत्त्व प्राप्त करते हैं" तम(अज्ञान)से अतीत आदित्यवर्णं (ज्योतिर्वर्ण) इस महान् पुरुष को मैं जानता हूँ, उसे जो जानता है वह इस लोक में अमृत हो जाता, है मुक्ति लाभ का और कोई उपाय नहीं है "बहती हुई नदियाँ जैसे नामरूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही विद्वान् पुरुष भी, नामरूप को छोड़कर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाते हैं" इत्यादि ।

अत्र पूर्वपक्षी प्रत्यवतिष्ठते

इस पर पूर्वपक्ष वाले उपस्थित होते हैं—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ।३।४।२।।

नैतदेवम्—यद्विद्यातः पुरुषार्थावाप्तिः शब्दावगम्यते—इति । न ह्येषः "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्"इत्यादि शब्दो वेदनात् पुरुषार्थावाप्तिमवगमयति, कर्मसु कर्तृभूतस्यात्मनो याथात्म्यवेदनप्रतिपादनपरत्वात् । अतः कर्त्तुः संस्कार द्वारेण विद्यायाः क्रतुशेषत्वात्तत्र फलश्रुतिः अर्थवादमात्रम्, यथाऽन्येषु द्रव्यादिषु—इति जैमिनिराचार्यो मन्यते तदुक्तं द्रव्यगुणसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ।"

शास्त्रों में जो विद्या से पुरुषार्थ प्राप्ति की बात कही गई है, वह उक्त प्रकार के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है जैसा आप समझ रहे हैं । "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि वचन उपासना से पुरुषार्थ प्राप्ति नहीं बतलाते अपितु, कर्म कर्त्ता द्वारा किए गए आत्मा के यथार्थ स्वरूप ज्ञान से-पुरुषार्थ प्राप्ति बतलाते हैं । कर्त्ता के संस्कार के द्वारा जब विद्या,यज्ञांग रूपहै तब विद्या साध्य मोक्ष प्राप्ति की प्रशंसा, केवल अर्थवाद मात्र है, जैसे कि—अन्यशास्त्रीय फल श्रुतियां अर्थवाद हैं । ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है ; वे कहते हैं कि—"यज्ञीयद्रव्यगुण और संस्कार रूप कर्मों के विषय में जो फल श्रुति है, वह परार्थ होने से अर्थवाद मात्र है"

ननु च कर्मसु कर्त्तुजीवादन्यो मुमुक्षुभिः प्राप्यतया वेदांतेषु वेद्य उपदिश्यत इति प्रागेवोपपादितम् "नेतरोऽनुपपत्तेः" भेदव्यपदेशाच्च "अनुपपत्तेस्तु न शारीरः" इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासंभवात्" इत्येवमादिभिः सूत्रैः, तदेव ब्रह्म तत्वमस्यादि सामानाधिकरण्येन जीवादनतिरिक्तमित्येतदपि "अधिकं तु भेदनिर्देशात्" इत्येवमादिभिर्निरस्तम् सामानाधिकरण्य निर्देशश्च "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्"

सर्वंखल्विथं ब्रह्म "इति चेतनाचेतन साधारण:" यः पृथिव्यां तिष्ठन् "य आत्मनितिष्ठन् इत्यादिनाऽवगततत्तदात्मतयाऽवस्थितिनिबंधन इति-"अवस्थितेरिति काशकृत्स्न:"इत्यादिभिरुपपादितं, तत्कथंकर्मसु कर्त्तुरात्मनो याथात्म्योपदेशपरा वेदांत शब्दा इति विद्यायाः कर्मांगत्वं प्रतिपाद्यते ?

(वाद) वेदांत शास्त्र, कर्त्ता जीव से पृथक् पदार्थ को ही, मुमुक्षुओं के लिए पुरुषार्थ बतलाते हैं, ऐसा 'नेतरोऽनुपपत्ते:" भेदव्यपदेशाच्च "अनुपपत्तेस्तु न शारीर:" इतरपरामर्शात्" इत्यादि सूत्रों में विवेचन हो चुका है। इसके बाद अभेद सूचक "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्य के अनुसार, ब्रह्म से जीव की अनतिरिक्तता या जीवस्वरूपता की संभावना का भी "अधिकन्तु भेद निर्देशात्" आदि सूत्रों में निराकरण हो चुका है। तथा "यह सब आत्म्य है" सब कुछ ब्रह्म है" इत्यादि से जड़चेतन की ब्रह्मता एवं "जो पृथ्वी में स्थित है "जो आत्मा में स्थित है" इत्यादि-से उन उन आकारों में आत्मरूप से अभेद बोधक स्थिति सामानाधिकरण्य के निर्देश के रूप में "अवस्थितेरिति काशकृत्स्न:" इत्यादि सूत्र में बतलाई गई। तब यहाँ-कर्मानुष्ठान के कर्त्ता जीव के यथार्थ स्वरूप के उपदेश में वेदांत वाक्यों का तात्पर्य बतलाते हुए, विद्या की कर्मांगता का कैसे प्रतिपादन करते हो ?

उच्यते-वेदांतवाक्येष्वेव विद्यायाः कर्म प्राधान्यंसूचयद्भिर्लिंगैः तदुपवृंहित सामानाधिकरण्यनिर्देशेन च वेदांतशब्दाः देहातिरिक्त जीव स्वरूपयाथात्म्योपदेशपरा इति बलादभ्युपगमनीयमिति पूर्वपक्षिणोऽभिप्रायः ।

इसका उत्तर पूर्वपक्षवाले देते हैं कि-वेदांत वाक्यों में ही विद्या की कर्म प्रधानता को बतलाने वाले लिंग (चिन्ह) हैं, जिनसे कर्म की अपेक्षा विद्या की प्रधानता सूचित होती है, तथा सामानाधिकरण्य के निर्देश से अनिच्छा होते हुए भी स्वीकारना पड़ता है कि-देहातिरिक्त जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप का वर्णन करना ही वेदांत वाक्यों का मुख्य तात्पर्य है।

ननु च कर्त्तृसंस्कारमुखेन विद्यायाः क्रत्वनुप्रवेशो न शक्यते वक्तुं लौकिकवैदिकसाधारणत्वेनाव्यभिचरित क्रतुसंबंधित्वात् ।

(वाद) यज्ञादि कर्त्ता जैसे वेदोक्त क्रिया का निर्वाह करता है वैसे ही व्यावहारिक क्रिया का भी निर्वाह करता है; यज्ञ के ही साथ उसका अव्यभिचारी संबंध नहीं रहता। इसलिए यह नहीं कह सकते कि कर्त्ता की संस्कार रूप विद्या, यज्ञांग है।

नैवम्—लौकिकस्य कर्मणः कर्त्तुर्देहादव्यतिरिक्तत्वेऽप्युपपत्तेर्देहातिरिक्तनित्यात्मस्वरूपस्य क्रतावेवोपयोगात्तत्स्वपप्रतिपादनमुखेन क्रत्वनुप्रवेशो न विरुध्यते। अतो विद्यायाः क्रतुशेषत्वान्नातः पुरुषार्थः।

(विवाद) उक्त आपत्ति भ्रामक है; जीवात्मा देह वाला होकर ही, लौकिक क्रिया का कर्त्ता हो सकता है किंतु आत्मा में जब तक नित्य बुद्धि नहीं होगी तब तक, उसकी पारलौकिक फलसाधक वेदोक्त क्रिया में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यज्ञादि क्रियाओं में-देह से भिन्न नित्य आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास होना आवश्यक है। इस प्रकार के विवेचन से, यज्ञान्तर्भावमाना जा सकता है। इससे यह निश्चित होता है कि-यज्ञांग होते हुए भी विद्या से पुरुषार्थ सिद्धि नहीं हो सकती।

कानिपुनस्तानिलिंगानि, यदुपबृंहितसामानाधिकरण्य निर्देशेन वेदांतशब्दा जीवस्वरूपपरा इति निर्णीयन्ते। तत्राह—

वे लिंग कौन से हैं, जिनसे वेदांत वाक्यों की जीवस्वरूप परकता अवधारित होती है? उसी का उत्तर देते हैं—

आचार दर्शनात् ।३।४।३॥

ब्रह्मविदांप्राधान्येन कर्मस्वेवाचारो दृश्यते अश्वपतिः केकयः किल आत्मवित्तमस्तद्विज्ञानायोपगतांस्तानृषीन् प्रत्याह—"यक्ष्यमाणो

ह वै भगवंतोऽहमस्मि" इति । तथा जनकादयो ब्रह्मविदग्रेसराः कर्मनिष्ठाः स्मृतिषु दृश्यंते "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः "इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः" इति । अतो ब्रह्मविदां कर्मप्रधानत्वदर्शनाद्विद्यायाः कर्त्तुस्वरूपवेदन रूपत्वेन कर्मांगत्वमेवेति न विद्यातः पुरुषार्थः ।

ब्रह्म वेत्ताओं के आचार में, कर्म की ही प्रधानता देखी जाती है, आत्म तत्त्वेच्छु ऋषियों से कहते हैं-"भगवन् ! मैं इस समय यज्ञानुष्ठान में संलग्न हूँ ।" इसी प्रकार ब्रह्म वेत्ताओं में अग्रगण्य जनक आदि को भी, स्मृतियों में कर्मनिष्ठ बतलाया गया है "जनक आदि ने कर्म से संसिद्धि प्राप्त की" ज्ञाननिष्ठ होते हुए भी उन्होने अनेक यज्ञ किए" इत्यादि । ब्रह्म वेत्ताओं में भी कर्म की स्वरूपानुभूति रूप विद्या, कर्मांग ही है. विद्या से पुरुषार्थ असंभव है ।

लिंगमिदं, प्राप्तिरुच्यतामित्यत्राह—

जो विद्या की कर्मांगता बतलावे वही लिंग है, अब उसके उपयुक्त प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

तच्छ्रुतेः ।३।४।४।।

श्रुतिरेव हि विद्यायाः कर्मांगत्वमाह—"यदेव विद्यया करोति श्रद्धोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति । नेयं श्रुतिः प्रकरणा-दुद्गीथमात्रविषयेतिव्यवस्थापयितुं शक्याः विद्यामात्र विषया हीयं श्रुतिः ।

श्रुति में ही विद्या की कर्मांगता दिखलाई गई है-"विद्या, श्रद्धा और ज्ञान के सहयोग से जो कर्म किया जाता है वही प्रबलतम होता है" उदगीथ प्रकरण में पठित होने से यह श्रुति केवल उद्गीथ से ही संबद्ध है, ऐसा नहीं कह सकते, प्रकरण से श्रुति अधिक बलवती होती है "यदेव विद्यया करोति" श्रुति विद्यामात्र की विषय है, केवल उद्गीथ की ही नहीं ।

समन्वारम्भणात् ।३।४।५॥

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इति विद्याकर्मणोः साहित्यं च दृश्यते । साहित्यं चोक्तेन न्यायेन विद्यायाः कर्मांगत्वे सत्येव भवति ।

"विद्या और कर्म व्यक्ति का अनुगमन करते हैं" इत्यादि श्रुति में विद्या और कर्म का साहचर्य दीखता है । इस साहचर्य के वर्णन से भी विद्या की कर्मांगता सिद्ध होती है ।

तद्वतो विधानात् ।३।४।६॥

विद्यावतः कर्म विधानात् विद्या कर्मांगत्वमित्यनगम्यते "आचार्यं कुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्यकुटुंबे शुचौदेशे" इत्यादौ। "वेदमधीत्य" इत्यध्ययनवतः कर्माणि विदधदर्थावबोधपर्यंन्ताध्ययनवत् एव विदधाति । अर्थावबोधपर्यंन्तं हि अध्ययनमिति स्थापितम् अतो ब्रह्मविद्याऽपि कर्मसु विनियुक्तेति न पृथक् फलायावकल्पते ।

"आचार्य कुल से विधि पूर्वक वेद पढ़कर–गुरु संबंधी कर्त्तव्य कर्मों को समाप्त कर पवित्र कुटुम्ब में प्रवेश करता है" इत्यादि में विद्या संपन्न व्यक्ति के लिए कर्म का विधान बतलाया गया है–जिससे विद्या की कर्मांगत सिद्ध होती है । "वेदमधीत्य" पद से वेदाध्ययन करने वाले के भी, कर्म का विधान वेदार्थावगति तक बतलाया गया है । अर्थावबोध तक ही अध्ययन कहा गया है, इसलिए ब्रह्म विद्या भी कर्म से अलग रहकर पृथक् फल की साधिका नहीं हो सकती ।

नियमात् ।३।४।७॥

इतश्च न विद्यातः पुरुषार्थः "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" इत्यात्मविदः पुरुषायुजस्य सर्वस्य कर्मसु नियमेन विनियोगात् कर्मण एव फलमित्यवगम्यते विद्या तु कर्मांगमिति ।

इसलिए भी विद्या से पुरुषार्थ संभव नहीं है कि–"कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने की आकांक्षा करते हैं" इत्यादि श्रुति आत्मज्ञ पुरुष की, आयुपर्यन्त नियमपूर्वक कर्मानुष्ठान में नियुक्ति बतलाती है। जिससे, कर्म से ही फलावाप्ति की प्रतीति होती है, विद्या से नहीं। विद्या तो कर्मागं मात्र है।

सिद्धांत—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्।३।४।८॥

तु शब्दात् पक्षो व्यावृत:, विद्यात एव पुरुषार्थ:, कुत: ? अधिकोपदेशात्—कर्मसु कर्त्तुर्जीवाद् हेयप्रत्यनीकानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणाकरत्वेनाधिकस्यार्थान्तरभूतस्य परस्य ब्रह्मणो वेद्यतयोपदेशात् भगवतो बादरायणस्य विद्यात: फलमित्येवमेव मतम्।

तु शब्द पूर्वपक्ष का व्यावर्त्तक है। विद्या से ही पुरुषार्थ सिद्धि होती है, अधिकता के उपदेश से ऐसा ही निश्चित होता है। कर्मानुष्ठान के कर्त्ता जीवात्मा से अधिक, स्वतंत्र–उत्तम, सीमा और संख्या से रहित, अति कल्याणमय गुणों के आकर परब्रह्म को ही वेद्य कहा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि–उनकी प्राप्ति उपासना से ही होती है, ऐसा भगवान बादरायण का मत है।

लिंगानि तिष्ठन्तु, वेद्यतयोपदेशस्तु तावत्कर्त्तु: प्रत्यगात्मनोऽधिकस्यैव। कथम् ?त द्दर्शनात्—प्रत्यगात्मन्यशुद्धे शुद्धेऽप्यसंभावनीयानंतगुणाकरस्य वेद्यस्य निरस्तनिखिलहेय गंधस्य स्वसंकल्पकृत जगदुदयविभवलयलीलस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्वाङ्मनसापरिच्छेद्यानन्दस्य जीवाधिपस्य कृत्स्नस्य प्रशासितु: परस्य ब्रह्मणो वेदनोपदेशवाक्येषु दर्शनात् "अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपास: सत्यकाम: सत्यसंकल्प: तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेये-

ति तत्तेजोऽसृजत" यः सर्वज्ञः सर्वविद् "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च "स एको ब्रह्मण आनंदः" यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह–आनंदं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधारणः "सकारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" "एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" भीषास्माद् वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः, भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पंचमः" इत्यादिषु । तस्माद् वेदनोपदेश शब्देषु कर्त्तुः प्रत्यगात्मनः स्वद्योतकल्पस्याविद्यादिहेयसंबंधयोगस्य गंधोऽपि नास्तीति परमपुरुषविषयाया विद्यायास्तत्प्राप्तिरूपममृतत्वं तत्र तत्र श्रूयमाणं फलमिति विद्यातः पुरुषार्थं इति सुष्ठूक्तम् ।

विद्या की कर्मांगता बतलाने वाले लिंगों की बात छोड़िये वेद्यरूप से जिसका उल्लेख है, वह जीवात्मा से अधिक ही है– जैसा कि—"वह निष्पाप, जरामृत्यु शोक भूख प्यास रहित, सत्य काम, सत्य संकल्प है" उसने इच्छा की बहुत होकर व्यक्त हो जाऊँ "उसने तेज की सृष्टि की" जो सर्वज्ञ और सर्वविद है "पर की ज्ञान-बल-क्रिया आदि स्वाभाविक शक्तियाँ सुनी जाती हैं" वह एक ब्रह्म का आनंद है" जहाँ से वाणी मन सहित होकर लौट आती है ऐसे आनंद ब्रह्म को जान कर साधक किसी से नहीं डरता "वही सर्वेश्वर भूताधिपति भूपाल सबका विधारक सेतु है "वह कारणों का भी कारण, स्वामियों का भी स्वामी है, उसका कोई जनक या स्वामी नहीं है" हे गार्गि ! इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चन्द्र स्थित हैं" इसी के भय से वायु चलता है। सूर्य अग्नि चन्द्र और पाँचवा मृत्यु दौड़ता है" इत्यादि से बद्धमुक्त जीवात्मा में असंभव, हीनता से रहित, संकल्प मात्र से सृष्टि स्थिति संहारात्मक लीलामय, सर्वज्ञता, सर्व शक्ति संपन्नता अवाङ्मनस गोचारता, असीम आनन्दरूपता सर्वशासकता, जीवाधिपत्य, आदि वेद्य परब्रह्म की बतलाई गई विशेषताओं से निश्चित होता है। उक्त उपासनोपदेशक वाक्यों में कर्त्ता के

स्वरूप जीवात्मा का, जो कि परमात्मा के समक्ष खद्योत-के तुल्य है, और अविद्या आदि दोषों वाला है, कहीं नाम भी नहीं है। परब्रह्म विषयक विद्या से, जो अनेक स्थानों में ब्रह्म प्राप्ति की बात कहीं गई है, वही विद्या का फल है, इसलिए विद्या से ही पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है, यही मानना युक्ति संगत है।

लिंगान्यपि निरस्यंते

लिंगों का भी निराकरण करते हैं।

तुल्यं तु दर्शनम् ।३।४।९॥

यदुक्तं ब्रह्मविदां कर्मानुष्ठानदर्शनाद् विद्या-कर्मांगमिति ,तत्र विद्यायाऽनंगत्वेऽपि तुल्यं दर्शनम्, ब्रह्मविदां कर्मानुष्ठानदर्शनमनैकांतिकमित्यर्थः, अननुष्ठानस्यापि दर्शनात् । दृश्यते हि ब्रह्मविदां कर्मत्यागः"ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे" इत्यादौ । अतोब्रह्मविदां कर्मत्याग दर्शनान्न विद्या कर्मांगम् । कथमिमुपपद्यते ब्रह्मविदांकर्मानुष्ठानमननुष्ठानंच ? फलाभिसंधिरहितस्य यज्ञादिकर्मणोब्रह्मविद्यांगत्वात्तथाविधस्य कर्मणोऽनुष्ठानदर्शनमुपपद्यते । वक्ष्यति च–सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इति। फलार्थस्य तस्यैव यज्ञादेः कर्मणो मोक्षैकफलब्रह्मविद्या-विरोधित्वस्तस्याननुष्ठानदर्शनमुपपन्नतरम् । विद्यायाः कर्मांगत्वे कर्मत्यागः कथमपि नोपपद्यते ।

जो यह कहा कि-ब्रह्मवेत्ताओं में कर्मानुष्ठान देखा जाता है, इसलिए विद्या कर्मांग है, यह बात भी असंगत है, विद्या की अनंगता में भी तुल्य आचार देखा जाता है, अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओं का जो कर्मानुष्ठान देखा जाता है वह अनैकान्तिक नहीं है, उनमें कर्मानुष्ठान का अभाव भी पाया जाता है "कावषेय ऋषि कहते हैं कि–"किसके लिए अध्ययन करें और किसके लिए यज्ञ करें" इत्यादि से–ब्रह्मवेत्ताओं का कर्म के प्रति उपेक्षा भाव निश्चित होने से विद्या कर्मांग नहीं है यह भी निश्चित हो

जाता है। प्रश्न होता है कि-ब्रह्मवेत्ताओं में कर्मानुष्ठान और कर्मत्याग दोनों कैसे संभव हैं? सो फलाकांक्षारहित यज्ञादि कर्म ब्रह्मविद्या के ही अंग हैं, इसलिए ब्रह्मवेत्ता कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होते देखे जाते हैं, ऐसा ही "सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत्" सूत्र में सूत्रकार ने सिद्ध किया है। यज्ञादि क्रियायें सकाम होने से ही मोक्षदायिनी ब्रह्मविद्याओं से विरुद्ध है इसीलिए उनका त्याग होता है, यदि विद्या को कर्मांग मानें तो कर्म का त्याग नहीं हो सकता।

यदुक्तं श्रुत्यैव विद्यायाः कर्मांगत्वमवगम्यते-तत्राह—जो यह कहा कि-श्रुति से ही विद्या की कर्मांगता ज्ञात होती है। उसका उत्तर देते हैं-

असार्वत्रिकी ।३।४।१०।।

न सर्वं विद्याविषयेयं श्रुतिः, अपितूद्गीथविद्याविषयैव "यदेव विद्यया करोति" इति यच्छब्दस्यानिर्धारित विशेषस्य "उद्गीथमुपासीत" इति प्रस्तुतोद्गीथविशेष निष्ठत्वात्। नहि यत्करोति तद् विद्ययेति सम्बध्यते, यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरमिति विद्यया क्रियमाणं यच्छब्देन निर्दिश्य तस्य हि वीर्यवत्तरत्वमुच्यते।

उक्त श्रुति-सभी विद्याओं से संबंधित नहीं है, अपितु उद्गीथ विद्या विषयक ही है "यदेव विद्यया करोति" में यत् शब्द अविशेष भाव से प्रयुक्त हुआ है-"उद्गीथमुपासीत्" इत्यादि में प्रस्तुत-उद्गीथ विशेष की निष्ठा निश्चित होती है। "यत्करोति" का अर्थ "वह विद्या के साथ करता है" ऐसा नहीं है, अपितु "विद्या के साथ जो करता है वही प्रबलतम होता है" इतना अर्थ है विद्या के साथ किये जाने वाले कर्म की ही यत् शब्द से निर्दिष्ट वीर्यवत्तरता कही गई है।

यच्चेदमुक्तं "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इति विद्याकर्मणोः साहित्यदर्शनाद्विद्या कर्मांगमिति-तत्राह-

और जो यह कहा कि-"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" वाक्य में

विद्या और कर्म का साहचर्य दिखलाया गया है इसलिए विद्या कर्मांग है। इसका निराकरण कहते हैं—

विभागः शतवत् ।३।४।११ ॥

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" यत्प्रोक्तेन न्यायेन विद्याकर्मणोर्भिन्नफलत्वाद् विद्यास्वस्मैफलाय समन्वारभते, कर्म च स्वस्मै फलायेति विभागो दृष्टव्यः। शतवत्—यथाक्षेत्ररत्नविक्रयिणं शतद्वयमन्वेतीत्युक्ते क्षेत्रार्थं शतं, रत्नार्थं शतमिति विभागः प्रतीयते तथेहापि।

"विद्या और कर्म उसका अनुगमन करते हैं" इत्यादि से उपरोक्त नियमानुसार विद्या और कर्म का भिन्न फल समझना चाहिए। विद्या अपने फल प्रदान के लिए अनुगमन करती है और कर्म अपने फल प्रदान के लिए ऐसा विभाग है। जैसे कि खेत और रत्न के लिए दो सौ मुद्रा ले जाने वाला एक सौ से रत्न और एक सौ से क्षेत्र खरीदता है; वैसी ही उक्त व्यवस्था भी है।

अध्ययनमात्रवतः ।३।४।१२॥

यदुक्तं विद्यावतः कर्मविद्यानादविद्याकर्मांगम्-इतिनैतद्युक्तम्, "वेदमधीत्य" इत्यध्ययनमात्रवतो विधानात्। न चाध्ययन विधिरेवार्थबोधे प्रवर्त्तयति आधानवदध्ययनस्याक्षरराशि ग्रहणमात्रे पर्यवसानात्। गृहीतस्य च स्वाध्यायस्य फलवत्कर्मावबोधित्वदर्शनात्तन्निर्णयफले तदर्थविचारे पुरुषः स्वयमेव प्रवर्त्तते ततः कर्मार्थी कर्मज्ञाने प्रवर्त्तते, मोक्षार्थी च ब्रह्मज्ञान इति न विद्या कर्मांगम्। यद्यप्यध्ययनविधिरेवार्थावबोधे प्रवर्त्तयति, तथापि न विद्या कर्मांगम् अर्थज्ञानादर्थान्तरत्वाद् विद्यायाः। यथा ज्योतिष्टोमादिकर्मस्वरूपविज्ञानात् फलसाधनभूतं कर्मानुष्ठानमर्थान्तरम्, तथाऽर्थज्ञानरूपात्ब्रह्मस्वरूप विज्ञानादर्थान्तरमेव ध्यानोपासनादि-

शब्दवाच्या पुरुषार्थसाधनभूता विद्येति न तस्याः कर्म संबंधगंधो विद्यते ।

जो यह कहा कि–विद्वान के लिए भी कर्म का विधान मिलता है, इसलिए विद्या कर्मांग है, यह भी असंगत बात है, "वेदमधीत्य" में केवल अध्ययन वाले व्यक्ति के लिए ही कर्म का विधान किया गया है। केवल विधिपूर्वक अध्ययन ही तो अर्थबोध करा नहीं सकता। अक्षर राशि के अभ्यास को ही वेदाध्ययन कहते हैं, अर्थात् वेदाध्ययन से, केवल गुरु के निकट रहकर वैदिक अक्षर की प्राप्ति की बात ही सामने आती है। अर्थज्ञान भी हो जाता हो ऐसी बात निश्चित नहीं होती। वेदाध्ययन से कर्म और उसके फल के निर्देश की जानकारी मात्र होती है, कर्म और कर्मफल के निर्णय के लिए तो वेदार्थ के विचार की आवश्यकता है, वेदार्थ विचार के बाद ही फलाकांक्षी कर्म में प्रवृत्त होते हैं और मुमुक्ष ब्रह्म ज्ञान में प्रवृत्त होते हैं। इससे स्पष्ट है कि–विद्या कर्मांग नहीं है। यद्यपि अध्ययन की विधि ही अर्थज्ञान की ओर प्रवृत्त करती है, फिर भी विद्या कर्म का अंग नहीं है, क्योंकि–अर्थज्ञान और विद्या नितान्त भिन्न वस्तुएँ हैं। जैसे कि–ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ के स्वरूप के ज्ञान से, फल का साधक कर्मानुष्ठान, नितान्त भिन्न है। वैसे ही ब्रह्म स्वरूप विषयक ज्ञानात्मक वेदार्थ की प्रतीति से, ध्यान-उपासना आदि शब्द वाच्य, पुरुषार्थ की साधनरूप विद्या, एकदम भिन्न वस्तु है। उसके साथ कर्म का किसी प्रकार का संबंध नहीं है।

नाविशेषात् ।३।४।१३॥

यच्चोक्तं–"कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यात्मविदं ज्ञानाद्व्यावर्त्य यावज्जीवं कर्मानुष्ठाने नियमयतीति, तन्नोपपद्यते, अविशेषात्-नहि अयं नियमः, फलसाधनभूतस्वतंत्रकर्मविषय इति विशेष हेतुरस्ति विद्यांगभूतकर्मविषयत्याऽप्युपपत्तेः। "कर्मणैव हि संसिद्धमास्थिता जनकादयः" इति च विदुषः त्वाप्रयाणादुपासनस्यानुवर्त्तमानत्वात्।

जो यह कहा कि-"कर्मों को करते हुए ही" यह श्रुति आत्मवेत्ता के लिए ज्ञान से पृथक् कर्मानुष्ठान का यावज्जीवन पालन करने का उपदेश देती है, यह वात भी असंगत है, उक्त श्रुति में, ऐसा कोई विशेष नियम नहीं वतलाया गया है, जैसा आप समझ रहे हैं। कर्म को, विद्या का अंग मानने पर भी उक्त वात वन सकती है। "जनकादि ने कर्म करते हुए सिद्धि प्राप्त की" इस वाक्य से तो, मरणपर्यन्त उपासनानुवर्ती कर्म की वात सिद्ध होती है।

एवमर्थस्वाभाव्येन चोद्यं परिहृत्य "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यस्य वाक्यस्यार्थमाह—

इस प्रकार उक्त वाक्य का विवेचन करके आपत्ति का समाधान किया गया, अव "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" वाक्य का अर्थ वतलाते हैं—

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ।३।४।१४।।

वा शब्दोऽवधारणार्थः "ईशावास्यमिदं सर्वम्" इति विद्याप्रकरणाद् विद्यास्तुतये सर्वदा कर्मानुष्ठानानुमतिरियम् विद्यामाहात्म्यात् सर्वदा कर्मकुर्वन्नपि न लिप्यते कर्मभिरिति हि विद्या स्तुता भवति। वाक्यशेषश्चैवमेवं दर्शयति "एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" इति। अतो न कर्मांग विद्या।

वा शब्द, अवधारण अर्थ में, प्रयुक्त है। "यह सब कुछ ईश्वर से व्याप्त है।" इत्यादि विद्या के प्रकरण से-विद्या की प्रशंसा के व्याज से, सदा कर्मानुष्ठान की अनुमति दी गई है। विद्या के माहात्म्य से सदा कर्म करते हुए भी, कर्मों से लिप्त नहीं होता, ऐसी विद्या की स्तुति की गई है। इसी प्रकरण के अंतिम वाक्य से उक्त बात स्पष्ट हो जाती है— "तुम मनुष्य होकर भी यदि इस प्रकार विद्या में स्थित रहोगे तो कोई भी कर्म तुम्हें लिप्त न कर सकेंगे।" इससे स्पष्ट है कि-विद्या कर्म का अंग नहीं है।

कामकारेण चैके ।३।४।१५।।

अपि चैवमेके शाखिनः कामकारेण ब्रह्मविद्यानिष्ठस्य

गार्हस्थ्य त्यागमधीयते "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोयमात्माऽयं लोकः" इति। विदुषो विरक्तस्य कामकारेण गार्हस्थ्यकर्मत्यागं ब्रुवदिदंवचनं ब्रह्मविद्यायाः कर्मानंगत्वं दर्शयति। यज्ञादिकर्मांगत्वे हि विद्यायाः विद्यानिष्ठस्य कामकारेण गार्हस्थ्यत्यागो न संभवति। अतो न विद्या कर्मांगम्।

किसी एक वेद की शाखा में ब्रह्मविद्यापरायण व्यक्ति के लिए ग्रहस्थ कर्मों के त्याग का भी उपदेश दिया गया है "मैं संतान से क्या प्राप्त करूँगा, इससे मेरे अभीष्ट लोक की प्राप्ति नहीं हो सकती" यह श्रुति विरक्त विद्वान के गार्हस्थ्य त्याग को बतलाकर यह सिद्ध करती है कि- ब्रह्मविद्या, कर्म का अंग नहीं हैं। विद्या यदि, यज्ञादि कर्म का अंग होती तो, विद्यापरायण व्यक्ति के लिए गार्हस्थ्य कर्मों के त्याग की बात न कही गई होती। इससे स्पष्ट है कि-विद्या, कर्म का अंग नहीं हैं।

उपमर्दं च।३।४।१६॥

पुण्यापुण्यरूपस्य समस्तसांसारिकदुःखमूलस्य कर्मणो ब्रह्मविद्ययोपमर्दं च प्रतिवेदांतमधीयते। "भिद्यते हृदय ग्रंथिश्छिद्यंते सर्वं संशयाः क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इत्यादिकम्। तद्विद्यायाः कर्मांगत्वे न संगच्छते।

पुण्य और पाप रूप समस्त सांसारिक दुःखों के मूल कर्म का विद्या से नाश हो जाता है, ऐसा प्रत्येक वेदांत. वाक्य का मत है। "परावर ब्रह्म दृष्टि हो जाने पर हृदयस्थ अविद्या ग्रंथि छिन्न हो जातीहै, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और कर्म राशियाँ क्षीण हो जाती हैं" इत्यादि। इसलिए विद्या की, कर्मांगत संगत नहीं होती।

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि।३।४।१७॥

ऊर्ध्वरेतस्स्वाश्रमेषु ब्रह्म विद्यादर्शनात् तेषु अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां यावज्जीवाधिकार श्रुतेः, श्रुतिविरुद्धानां स्मृतीनां चाप्रामाण्यात्। अत आह शब्दे हि-इति। वैदिक एव हि शब्दे ते

दृश्यंते—"त्रयोधर्मस्कन्धाः" ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजंति" इत्यादौ । यावज्जीव-श्रुतिस्त्वविरक्त विषया ।

ऊर्ध्वरेतस-ब्रह्मचर्य, वाणप्रस्थ, संन्यास आदि आश्रमों में भी ब्रह्मविद्या का चिन्तन विहित है, उनमें अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास आदि कर्मों का अनुष्ठान तो हो ही नहीं सकता, इससे भी स्पष्ट है कि–विद्या, कर्म का अंग नहीं है, यदि कहें कि–ऊर्ध्व रेतस आश्रम होते ही नहीं क्योंकि–"जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र यज्ञ करता है' इत्यादि से–अग्निहोत्र आदि की जीवन पर्यन्त कर्त्तव्यता निश्चित होती है इसलिए जो स्मृति वाक्य, ऊर्ध्वरेतस आश्रमों का विधान बतलाते हैं वे श्रुति विरुद्ध होने से अप्रामाणिक हैं। इस पर सूत्रकार "शब्दे हि" कहकर बतलाते हैं कि–वैदिक शब्दों में ही इन आश्रमों का उल्लेख है जैसे–"धर्म की तीन शाखायें हैं "जो जंगल में श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं" प्रव्राजक आत्म-लाभ के लोभ से ही प्रव्रजित होते हैं" इत्यादि। जीवन पर्यन्त कर्म का उपदेश देने वाली श्रुति, ग्रहस्थों के लिए है।

परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि ।३।४।१८।।

यदिदं "त्रयो धर्मस्कन्धाः इत्यादौ वैदिके शब्दे ऊर्ध्वरेतस आश्रमदृश्यंते, अतस्ते सन्त्येवेतिनैतद्युपपद्यते, यतः "त्रयो धर्म-स्कन्धाः" इत्यादिषु तेषामाश्रमाणां परामर्शमात्रं क्रियते-अनुवादमात्र-मित्यर्थः। कुत एतत ? अचोदनात्-अविधानादित्यर्थः। नहि अत्र विधिशब्दः श्रूयते, "त्रयोधर्मस्कन्धाः "इत्यादिना हि प्रकृतं प्रणवेन ब्रह्मोपासनं स्तूयते" ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इत्युपसंहारात्। अतोऽन्यार्थमनुवादमात्रमत्रक्रियते तेषामाश्रमाणाम्। "ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपास्यते" इति च देवयानविधिपरत्वात्तत्रापि नाश्रमान्तरविधि संभवः। अपि चापवदति हि श्रुतिमाश्रमांतरस् "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" इत्यादिका। अत ऊर्ध्व रेतस आश्रमा न संति इति जैमिनिराचार्यो मन्यते।

"त्रयोधर्मस्कन्धाः" इत्यादि वैदिक शब्दों में ऊर्ध्व रेतस आश्रमों का उल्लेख मिलता है, इसलिए उन आश्रमों का अस्तित्व है, ऐसा कहना भ्रामक हैं। इन वाक्यों में तो उन आश्रमों का परामर्श मात्र किया गया है, अर्थात् अनुवाद मात्र हैं। शास्त्र में इनकी विधि का उल्लेख न होने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। "त्रयो धर्मस्कन्धाः" में तो त्रैमात्रिक प्रणवब्रह्म की उपासना की स्तुति की गई है "ब्रह्मसंस्थव्यक्ति अमृतत्व प्राप्ति करता है" इस प्रसंग के उपसंहार परक वाक्य से यही बात ज्ञात होती है। इस वाक्य से आश्रमपरक अर्थ निकालना तो अनुवाद मात्र ही है। "जो श्रद्धा और तप से वन में उपासना करता है" यह वाक्य भी देवयान विधि परक है, इसमें भी आश्रमविधि का उल्लेख नहीं है। ग्रहस्थ के अतिरिक्त अन्य आश्रमों का स्पष्ट विरोध भी किया गया है "जो अग्नि त्याग करता है वह, देवताओं के वीर्य की हानि करता हैं" इत्यादि। इस विवेचन से निश्चित हो जाता हैं कि—ऊर्ध्वरेतस आश्रम नहीं हैं ऐसी जैमिनि आचार्य की मान्यता है।

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ।३।४।१९॥

ग्रहस्थाश्रमवदाश्रमान्तरमप्यनुष्ठेयं भगवान बादरायणो मन्यते। कुतः ? साम्यश्रुतेः, उपादेयतयाऽभिमतग्रहस्थाश्रम साम्यं हि तेषामप्याश्रमाणां श्रूयते। "त्रयोधर्मस्कन्धाः" इत्यारभ्य ब्रह्म-संस्थस्तुत्यर्थतया संकीर्त्तनं ग्रहस्थाश्रमस्येतरेषां च समानम्, अथ ग्रहस्थाश्रमस्यानुवादः प्राप्तौ सत्यामेव संभवतीति तस्य प्राप्ति-रवश्याभ्युपेत्येतिमतम्, तदितरेषामपि समानमन्यत्राभिनिवेशात्।

ग्रहस्थ की तरह अन्य आश्रम भी अनुष्ठेय हैं ऐसी भगवान बादरायण की मान्यता है। ग्रहस्थाश्रम की तरह उनकी भी उपादेयता का वर्णन मिलता है। "त्रयो धर्मस्कन्धाः" से प्रारंभ करके जो ब्रह्मसंस्थ की प्रशंसा की गई है, वह-ग्रहस्थ और उन आश्रमों में समान रूप से लागू होती हैं (अर्थात् ब्रह्मसंस्थ व्यक्ति चाहे ग्रहस्थ हो या उन आश्रमों का हो वह अमृतत्व प्राप्त करेगा) यदि कहें कि—ग्रहस्थाश्रम की प्रशंसा भी अनुवाद मात्र ही है, सो इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता, इसलिए उसे

तो अनुवाद मान नहीं सकते। [अर्थात् ग्रहस्थाश्रम में तो, उपासना-ब्रह्मसंस्थता और अमृतत्व प्राप्ति वैध है ही] ग्रहस्थाश्रम के समान अन्य आश्रमों में भी मानना न्याय संगत है।

न च ग्रार्हस्थ्य धर्म एव "यज्ञोऽध्ययनं दानं तपो ब्रह्मचर्यं इति सर्वैः शब्दैरभिधीयते, ब्रह्मचर्यंतपसोर्ग्रहस्थस्यैव संभवा-दितियुक्तम्, त्रयोधर्मस्कंधाः" इति त्रित्वेन संगृह्य "प्रथमो–द्वितीय-तृतीय" इति विभागवचनानुपपत्तेः। अतः "यज्ञोऽध्ययनं दानं" इति ग्रहस्थाश्रम उच्यते। अध्ययनशब्दो वेदाभ्यासपरः। तपः शब्देन वैखानसपारिव्राज्ययोर्ग्रहणम्, उभयोः तपः प्रधानत्वात्। तपः शब्दो हि कामक्लेशेरूढः, स च द्वयोरपि समानः। ब्रह्मचारि धर्म एव ब्रह्मचर्यं शब्देनाभिधीयते।

केवल ग्रहस्थाश्रम ही वैदिक है तथा "यज्ञ अध्ययन,दान, तप, और ब्रह्मचर्य" इत्यादि साधन केवल ग्रहस्थाश्रम के लिए ही विधेय हैं,ऐसा नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मचर्य और तप ग्रहस्थ के लिए भी विधेय हैं यह बात ठीक है किन्तु "त्रयो धर्मस्कन्धाः" वाक्य में जो तीन का उल्लेख किया गया है वह, उक्त साधनों में प्रारंभिक-प्रथम-द्वितीय-तृतीय के विभाग का बोधक है, इसके अनुसार प्रांरभिक तीन साधन यज्ञ–अध्ययन और दान, ग्रहस्थ आश्रम के अनुष्ठेय-विशेष साधन हैं। अध्ययन का तात्पर्य वेदाध्य-यन से है। "तप" साधन वाणप्रस्थी और सन्यासी के लिए बतलाया गया है क्योंकि-दोनों ही आश्रम तप प्रधान हैं। तप शब्द प्रायः काय क्लेश के लिए ही रूढ है जो कि–दोनों आश्रमों में समान रूप से विहित है। ब्रह्मचर्य शब्द, ब्रह्मचारी की साधना का बोधक है।

"ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इति परत्र श्रूयमाणो ब्रह्मसंस्थ शब्दो यौगिकः सर्वाश्रमसाधारणः, सर्वेषामाश्रमिणां ब्रह्मसंस्थासंभवात्। ब्रह्मणिसंस्था–संस्थितिः, ब्रह्मसंस्थत्वम्, तच्च सर्वेषां संभवत्येव। ब्रह्मनिष्ठा विकलाः केवलाः केवलाश्रमिणः, पुण्यश्लोकभाजः तेष्वेव ब्रह्मष्ठिोऽमृतत्वभाग्भवति। तदेतदविस्पष्टमुक्तं भगवता पराशरेण

–"प्राजापत्यं ब्राह्मणानां" इत्यारभ्य "ब्रह्मं संन्यासिनां स्मृतम्" "इत्यन्तेन वर्णानामाश्रमाणां च केवलानां ब्रह्मलोक प्राप्त्यंतं फलमभिधाय "एकांतिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये तेषां तत्परमं स्थानं यद्वै पश्यंति सूरयः" इति तेष्वेव ब्रह्मनिष्ठानां ब्रह्मप्राप्तिमभिदधता। अतो ग्रहस्थाश्रमतुल्याः, ऊर्ध्वरेतस आश्रमा अपि दृश्यन्त इति, तेऽप्यनुष्ठेयाः। "येचेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते" इति च अरण्ये इति तपः प्रधानाश्रमप्राप्त्यपेक्षत्वात् देवयान विधानस्य तत्रापि तत्प्राप्तिरंगीकरणीया।

"ब्रह्मसंस्थ व्यक्ति अमृतत्व प्राप्त करता है" इस अंतिम वाक्य में प्रयुक्त ब्रह्मसंस्थ शब्द यौगिक है, जो कि–सभी आश्रमों के लिए समान रूप से प्रयोग किया गया है। इसलिए सभी आश्रम में ब्रह्मसंस्थता संभव है। ब्रह्म विषयक संस्था अर्थात् सम्यक् स्थिति को ब्रह्मसंस्थता कहते हैं। जो ब्रह्म संस्थता से विहीन केवल आश्रम धर्म का पालन करने वाले हैं, वे सब स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करते हैं, उन्हीं में जो लोग ब्रह्मसंस्थ होते हैं वे अमृतत्वप्राप्त करते हैं, ऐसा भगवान पराशर ने स्पष्ट कहा है– "ब्राह्मणों को प्राजापत्य लोक मिलता है" से "संन्यासियों को ब्रह्म लोक मिलता है" इस वाक्य तक सभी वर्ण और आश्रमों की वर्णाश्रमानुसार पारलौकिक गति बतलाकर "जो लोग सदा ब्रह्म ध्यान में लीन रहते हैं, उन्हे परंपद प्राप्त होता है, उसे उपासक ही देख पाते हैं" इत्यादि से ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तियों की ब्रह्म प्राप्ति स्पष्ट बतलाई गई है। इससे ज्ञात होता है कि–ग्रहस्थ की ही तरह ऊर्ध्वरेतस आश्रम भी हैं, उनका भी पालन् करना चाहिए। "ये चेमेऽरण्ये" इत्यादि वाक्य में "अरण्ये" पद से वाणप्रस्थ और संन्यास आश्रम का निर्देश किया गया है। देवयान के विधान में यह वाक्य अनूदित होते हुए भी इसकी तद्विषयक विधि भी स्वीकारनी चाहिए, अनुवाद की सिद्धि में प्रमाणान्तर की अपेक्षा होती है।

परामर्शपक्षे विधानपक्षे च ग्रहस्थाश्रमतुल्यमेषामप्यनुष्ठेयत्व

मित्युपपाद्य विधिरेवायमाश्रमाणां सर्वेषां, नानुवाद इत्युपपादयितुं आह—

परामर्श और विधान के आधार पर ग्रहस्थाश्रम की तरह अन्य आश्रमों की अनुष्ठेयता बतलाकर,अब बतला रहे हैं कि सभी आश्रम वैध हैं अनुवाद मात्र नहीं है—

विधिर्वा धारणवत् ।३।४।२०॥

वा शब्दोऽवधारणार्थः। विधिरेवायमाश्रमाणां, धारणवत्-यथादिष्टाग्निहोत्रे "अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति" इत्यत्रानुवादसरूपादपि वाक्यादुपरिधारणस्याप्राप्तत्वाद्-विधिराश्रीयते, तदुक्तं शेषलक्षणे "विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्" इति, तथाऽत्राप्यप्राप्तत्वाद्विधिरेवाश्रयणीयः "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्, यदिवेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद् वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" इति जाबालानामा-श्रमविधिमसंतमिवकृत्वैतेष्वन्यपरेष्वपि वाक्येष्वाश्रमप्राप्तिरवश्या-श्रयणीत्येत्युपपादितम्। एवमाश्रमान्तरविधानाद्गुणश्रुतिर्यावज्जीव-श्रुतिपवादश्रुतिश्चाविरक्तविषया एवेति वेदितव्याः। अन्याश्च ब्रह्मविदः कर्मणामप्रयाणादवश्यकर्त्तव्यता विधायिन्यः श्रुतयः स्मृतयश्च स्वस्वाश्रमधर्मविषयः, अत ऊर्ध्वरेतस्सु च ब्रह्मविद्या विधानाद् विद्यातः पुरुषार्थ इति सिद्धम्।

वा शब्द अवधारणार्थक है। शास्त्र में सभी आश्रमों की विधि का उल्लेख है। जैसे कि–आदिष्ट अग्निहोत्र यज्ञ के अधस्तात समिधं' इत्यादि में ऊपर धारण' करने की बात अनुवादमात्र ही है, बिना विधि के, अनुवाद की बात नहीं बनती, इसलिए "धारयति" अनुवाद पद को विधि पद के रूप में "धारयेत" मानना पड़ेगा। जैसे कि–पूर्वमीमांसा के शेष लक्षण मेंकहा भी गया है– 'धारण क्रिया जब कहीं प्राप्त न हो तो धारणा में विधि की कल्पना करनी चाहिए" वैसे ही ऊर्ध्वरेतस आश्रमों

का स्पष्ट उल्लेख न मिलने से अनुवाद से ही विधि की ही कल्पना करनी होगी।

"ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृही होवे, गृही होकर बनी होवे, बनी होकर प्रव्रज्या ग्रहण करे, अथवा सामर्थ्य होने पर ब्रह्मचर्य से ही प्रव्रज्या ग्रहण करे, जहाँ भी वैराग्य का संचार हो वहीं से संन्यासी हो जावे" इस जाबालोपनिषद् में तो आश्रमों की विधि का स्पष्ट उल्लेख भी है। अन्य वाक्यों में भी जहाँ आश्रमों का वर्णन मिलता है, उसमें भी आश्रमों की अवश्य आश्रयता का उपपादन ही समझना चाहिए। इस प्रकार आश्रमों के सद्भाव के प्रमाणित हो जाने पर, ऋषि श्रुति, यावज्जीव श्रुति, अपवाद श्रुति आदि ग्रहस्थ विषयक ही हैं, ऐसा समझना चाहिए। और जो, श्रुति और स्मृति वाक्य, ब्रह्मवेत्ताओं के संबंध में आमरणकाल तक कर्त्तव्यता का विधान करते हैं, वह उन आश्रमों के धर्म के अनुसार विधान करते हैं। ऊर्ध्वरेतस आश्रमों में भी जो ब्रह्मविद्या का विधान किया गया है, उससे सिद्ध होता है कि–विद्या से पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।

२ स्तुतिमात्राधिकरणः—

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ।३।४।२१।।

इदमिदानीं चिन्त्यते "स एष रसानां रसतमः परमः पराध्यर्ोऽष्टमो यदुद्गीथः" इति एवं जातीयकानिवाक्यानिक्रत्ववयव भूनोद्गीथादिस्तुतिमात्रपराणि, आहोस्वित् उद्गीथादिषु रसतमादिदृष्टिविधानार्थानीति। अत्र प्रतिपादितमुपासनपरत्वमंगीकृत्योपासनस्य पुरुषार्थत्वेन क्रतुषूपादाननियम उक्तः। किं युक्तम्? स्तुतिमात्रपराणीति। कुतः? उदगीथाद्युपादानात्। क्रत्वंगभूतानि हि उदगीथादीन्युपादाय तेषां रसतमादित्वं प्रतिपादितम्। यथा जुह्वादीनां पृथिव्यादित्वं प्रतिपादयतो वचनस्य "इयमेव जुहूः स्वर्गो लोक आहवनीयः" इत्यादिकस्य तत्स्तुतिमात्रपरत्वं, तथेहापि। तदिदमाशंकते-स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेत्-इति।

उद्गीथाद्युपादानात्तत्स्तुतिमात्रमेवैषां वाक्यानां विवक्षितमिति चेत् ।

अब विचार करते हैं कि–"वह रसों का परमरस आठवाँ उद्गीथ नामक रस है" इस प्रकार के वाक्यों को यज्ञांग रूप उद्गीथ के स्तुतिपरक माना जाय अथवा उद्गीथ में रसतम दृष्टि का विधायक कहा जाय? पहिले तो–इसे उपासना परक, तथा उपासना के ही पुरुषार्थ साधक तथा यज्ञ में उपासना की आवश्यकर्त्तव्यता को अनियमित बतला चुके हैं, अब यह विचारना है कि युक्ति संगत क्या है? स्तुतिपरक ही कह सकते हैं, उद्गीथ आदि के उपादान से ऐसा ही समझ में आता है। यज्ञांग रूप उद्गीथ आदि के आधार पर उद्गीथ आदि संबंधी, रसतम आदि भावों का प्रतिपादन किया गया है। जैसेकि–यज्ञांगजुहू में आदि के प्रतिपादक "पृथिवी ही जुहू है जो कि स्वर्ग में आहवनीय है" वाक्य जुहू के ही बोधक हैं। इसपर शंका करते हैं कि–संपूर्ण स्तुति के लिए अवलंबन किया गया है अथवा अंश में ही किया गया है? इस पर कहते हैं कि–उद्गीथ आदि का उपादान होने से इन वाक्यों का स्तुतिमात्र ही विवक्षित है।

सिद्धान्तः-अत्रोत्तरं-ना पूर्वत्वात्-इति। न स्तुतिमात्रत्वमुपपद्यते, कुतः? अपूर्वत्वात्-अप्राप्तत्वात्। न हि उद्गीथादयो रसतमादितया प्रमाणान्तरेण प्रतिपन्नाः, येन तत्प्राशस्त्यबुद्धयुत्पत्त्यर्थं रसतमादित्वेनानूद्येरन्। न चोद्गीथादिविधिरत्र सन्निहितः येन "इयमेवजुहूः स्वर्गो लोक आहवनीयः" इत्यादिवत्तदेकवाक्यत्वेन ययाकयाचन विधया तत्स्तुतिपरत्वमाश्रीयेत। अतः क्रतुवीर्यवत्तरत्वादिफलसिद्ध्यर्थमुद्गीथादिषु रसतमादिदृष्टिविधानमेव न्याय्यम्।

सिद्धान्तः—यह वाक्य स्तुतिपरक मात्र नहीं है, ऐसा किसी भी श्रुति में प्रमाण भी नहीं मिलता। उद्गीथ आदि की रसतमता किन्हीं अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं है उसमें तो श्रुति ही प्रमाण है इसलिए रसमयता को केवल स्तुतिमात्र नहीं कहा जा सकता। "इयमेव जुहु" की तरह उद्गीथ आदि स्तुतिपरक नहीं है "इयमेव जुहू" इत्यादि में तो,

किसी प्रकार विधिसमानार्थक मानकर स्तुतिपरता की कल्पना की गई है। यज्ञ की प्रबलतम फलावाप्ति की फलश्रुति के आधार पर उद्गीथ आदि की रसमयता स्वीकारना ही न्याय संगत है।

भावशब्दाच्च ।३।४।२२॥

"उपासीत्" इत्यादि भावशब्दाच्च विधिपरत्वमेव न्याय्यम्। विधिप्रत्यय युक्तो हि क्रियाशब्दो विधेयमेव स्वार्थमवगमयति। तस्मादुपासनविधानार्था एताः श्रुतयः।

"उपासीत्" इत्यादि भावात्मक शब्दों के प्रयोग से उद्गीथादि को विधिपरक मानना ही उचित है, विधिप्रत्यययुक्त क्रिया बोधक शब्दों से-अनुष्ठेय विषय का वास्तविक अर्थ प्रतीत होता है। इससे यह निश्चित होता है कि-ये श्रुतियाँ विधानार्था हैं, केवल स्तुति मात्र नहीं।

३ पारिप्लवाधिकरणः---

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ।३।४।२३॥

"प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम" श्वेतकेतुर्हारुणेय आस "इत्येवमादीनि वेदान्तेष्वाख्यानानि किं पारिप्लव प्रयोगार्थानि उत विद्याविशेष प्रतिपादनार्थानीति चिन्तायाम् "आख्यानानिशंसन्ति" इत्याख्यानानां पारिप्लवे विनियोगान्न विद्या प्रधानत्वं न्याय्यम् इति चेत्--

दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन इन्द्र के प्रिय भवन में गया" श्वेततकेतु आरुणेय का" इत्यादि वेदांतों के आख्यान, क्या पारिप्लव प्रयोग हैं अथवा विद्या विशेष के प्रतिपादक हैं? इस विचार पर "आख्यायिकाओं का पाठ करो" इस विधि वाक्य के अनुसार तो, पारिप्लव प्रयोग ही प्रतीत होता है, विद्याविशेष मानना उचित नहीं है।

सिद्धान्तः--न सर्वाण्याख्यानि पारिप्लव प्रयोगे विनियोगमर्हन्ति, कुतः? विशेषितत्वात् विनियोगस्य। "आख्यानानिशंसन्ति" इत्युक्त्वा

तत्रैव "मनुर्वैवस्वतो राजा" इत्यादिना मन्वादीनामाख्यानानि विशेष्यन्ते, अतस्तेषामेव तत्र विनियोग इति उच्यते। तस्मान्न सर्वा वेदांतेष्वाख्यानश्रुतयः पारिप्लवप्रयोगार्थाः अपितु विद्या विध्यर्थाः।

सिद्धान्तः—सभी आख्यान, पारिप्लव प्रयोग वाले नहीं माने जाने, प्रयोग के लिए विशेष आख्यानों का ही उल्लेख मिलता है—"आख्यानों का पाठ करो" ऐसा विधान बतलाकर "सूर्यवंश में मनु नामक राजा हुए" इत्यादि में विशेष आख्यानों का उल्लेख किया गया है। इससे निश्चित होता है कि—वेदांतों के सभी आख्यान पारिप्लव प्रयोग के लिए नहीं हैं, अपितु विद्यार्थक भी हैं।

तथाचैकवाक्योपबंधात् ।३।४।२४॥

"आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" इत्यादिविधिनैकवाक्यतयोपबंधाच्चाख्यानानां विद्याविध्यर्थान्येव तानीति गम्यते, यथा—"सोऽरोदीत्" इत्येवमादेः कर्मविध्यर्थत्वम्, न पारिप्लवार्थत्वम्।

"आत्मा को देखना चाहिए" इत्यादि विधिपरक वाक्यों की एक वाक्यता से ज्ञात होता है कि—उनसे संबद्ध आख्यायिकायें, विद्या विधि की परिपोषक हैं, जैसे कि—"सोऽरोदीत्" इत्यादि कर्मविधि की पोषक हैं। इससे सिद्ध होता है कि—वेदांतों की आख्यायिकायें, पारिप्लवार्थक नहीं हैं।

४ अग्नींधनाद्याधिकरणः—

अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ।३।४।२५॥

स्तुतिप्रसंगादवांतरगसंतिविशेशणार्थंद्वयं चिन्तितम् विद्यावंत ऊर्ध्वरेतस आश्रमिणः संतीत्युक्तम् "ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि" इत्यादिभिः सूत्रैः। इदानीमूर्ध्वरेतसो यज्ञाद्यभावात्तदंगिका विद्या न संभवतीत्याशंक्याह—अतएव चाग्नीन्धानाद्यनपेक्षा—इति। यत

ऊर्ध्वं रेतस आश्रमिणो विद्यासंबंधित्वेन श्रुत्या परिगृह्यन्ते-"ब्रह्म-संस्थोऽमृतत्वमेति—"ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते" एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छंतः प्रव्रजन्तः "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरंति" इत्यादिकया अतएवोर्ध्वरेतस्सु विद्या अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा-अग्नींधनम्, अग्न्याधानम्, आधानपूर्वकाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मानपेक्षातेषु विद्या। केवल स्वाश्रमविहित कर्मापिक्षेत्यर्थः।

स्तुति के प्रसंग में दो आवश्यक बातों पर विचार प्रस्तुत करते हैं। "ऊर्ध्वरेतस्सु शब्दे हि" इत्यादि सूत्रों से ज्ञानी ऊर्ध्वरेतस आश्रम वालों का माहात्म्य बतलाया। उन आश्रम वालों का यज्ञादि कर्मों में अनधिकार है, यज्ञ की पोषिका विद्या में भी अनधिकार है? ऐसी शंका करके उसका समाधान करते हैं। "ब्रह्मसंस्थ अमृतत्व प्राप्त करते हैं "श्रद्धा और तप से अरण्य में उपासना करते हैं" आत्मलोक की प्राप्ति के लिए संन्यासी संन्यास ग्रहण करते हैं "जिसके लिए ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं" इत्यादि श्रुतियों से ज्ञात होता है कि-ऊर्ध्वरेतस आश्रमों का भी विद्या में अधिकार है, ऊर्ध्वरेतसों की विद्या अग्नि इंधन आदि सापेक्ष नहीं है। अग्नींधन का तात्पर्य है, अग्न्याधान, अर्थात् आधान-पूर्वक अग्निहोत्र दर्श पूर्णमास आदि कर्मों की विरक्त आश्रमवालों को अपेक्षा नहीं होती। केवल अपने आश्रम से विहित कर्मों की ही अपेक्षा होती है।

५ सर्वापेक्षाधिकरणः—

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्। ३।४।२६॥

यदि विद्या यज्ञाध्यनपेक्षैवामृतत्वं साधयति, तर्हि गृहस्थेष्वपि तदनपेक्षैव साधयितुमर्हति, यज्ञादि श्रुतिरपि "विविदिषंति" इति शब्दात् कर्मणो वेदनांगतां न प्रतिपादयतीति।

यदि विद्या, यज्ञादि के बिना ही अमृतत्व का साधन करती है तो गृहस्थों में भी बिना यज्ञादि के अमृतत्व साधन कर सकती है? यज्ञादि

की प्रतिपादिका कर्म को विद्या का अंग नहीं बतलाती ऐसा ही समझना चाहिए।

सिद्धान्तः-अतआह-सर्वापेक्षा-इति। अग्निहोत्रादिसर्वकर्मापेक्षैव विद्याकर्मवत्सु गृहस्थेषु, कुतः? यज्ञादिश्रुतेः। "तमेतं वेदानुवचनेन-ब्राह्मणा विविदिषंति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इत्यादिना याज्ञादयो हि विद्यांगत्वेन श्रूयंते। यज्ञादिना विविदिषंति वेदितु-मिच्छति, यज्ञादिभिर्वेदनं प्राप्तुमिच्छंतीत्यर्थः। यज्ञादीनां ज्ञान साधनत्वे सत्येव यज्ञादिभिः ज्ञानं प्राप्तुमिच्छंतीति व्यपदेश उपपद्यते, यथा असेर्हननसाधनत्वे सति असिना जिघांसतीति व्यपदेशः, अतो यज्ञादीनां, ज्ञानसाधनत्वमवगम्यते। ज्ञानं च वाक्यार्थज्ञानादर्थान्तर-भूतं ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं विशदतमप्रत्यक्षतापन्न स्मृतिरूपं निरतिशयप्रियमहरहरभ्यासाधेयातिशयमाप्रयाणादनुवर्त्तमानं मोक्ष-साधनमित्युक्तमस्माभिः पूर्वमेव, वक्ष्यति च "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इत्यादिना। एवं रूपं च ध्यानमहरहरनुष्ठीयमानैर्नित्यनिमित्त कर्मभिः परमपुरुषाराधनरूपैः परमपुरुषप्रसादद्वारेण जायत इति यज्ञादिना विविदिषंतीति शास्त्रेण प्रतिपाद्यते। अतः कर्मवत्सु गृहस्थेषु यज्ञादिनित्यनैमित्तिकसर्वकर्मापेक्षा विद्या। अश्ववत्-यथा गमन साधनभूतोऽश्वः स्वपरिकरबंधपरिकर्मापेक्षः, एवं मोक्षसाधन-भूताऽपि विद्या नित्यनैमित्तककर्मपरिकरापेक्षा। तदिदमाह स्वयमेव भगवान् "यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत, यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् "यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदंत-तम्, स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विदंति मानवः" इति।

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि-गृहस्थों के लिए विद्या, कर्मसापेक्ष है। कर्मयोगी गृहस्थों में, अग्निहोत्र आदि सर्व कर्म सापेक्ष विद्या का विधान है। ऐसा यज्ञादि प्रतिपादिका श्रुतियों से ही सिद्ध होता है। "ब्राह्मण, यज्ञ-दान-तप और अनासक्ति कर्म द्वारा इस आत्मा को

जानने की इच्छा करते हैं" इत्यादि श्रुति, यज्ञ आदि को विद्या का अंग बतलाती हैं। यज्ञादि से विविदिषा करते हैं का तात्पर्य है कि-यज्ञादि से विद्या प्राप्ति की इच्छा करते हैं। यज्ञादि सब ज्ञान के साधक हैं फिर भी यज्ञादि के सहयोग से ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, यही उक्त वाक्य का सही अर्थ है। जैसे कि खड्ग हिंसा का साधन हैं, फिर भी "खड्ग से मारता है" ऐसा प्रयोग किया जाता है जो कि क्रियात्मकता का बोधक है। इस प्रकार यज्ञादिकों की ज्ञान साधकता ज्ञात होती है। उक्त वाक्य में जिस ज्ञान का उल्लेख है वह शास्त्रीय ज्ञान से भिन्न वस्तु है जो कि- ध्यान उपासना आदि शब्द वाच्य, सर्वाधिक प्रिय सुस्पष्ट प्रत्यक्षभावापन्न स्मृति स्वरूप है। यह मृत्यु काल पर्यन्त निरंतर अहर्निश अभ्यास द्वारा उत्कृष्ट होकर मोक्ष साधन करता है, यह बात पहिले ही सूत्र में कही गई है। "आवृति सकृदुपदेशात्" में यही बात सूत्रकार भी कहते हैं परमपुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति के उपाय नित्य नैमित्तिक कर्म के, निरंतर अनुष्ठान से, परम पुरुषोत्तम के अनुग्रह के फलस्वरूप ही उक्त ज्ञान का उदय होता है, यही बात "विविदिषंति" इत्यादि से प्रतिपादित है कर्मयोगी गृहस्थों की उपासना निश्चित ही, यज्ञादि कर्म सापेक्ष है। जैसे कि-घोड़ा, गमन का साधन होते हुए भी, अन्यान्य गमनोपयोगी साधनों से सापेक्ष होता है, वैसे ही मोक्ष साधनभूत विद्या, नित्यनैमित्तक आदि सहायक कर्मों से सापेक्ष होती है। भगवान् स्वयं ही उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं-"यज्ञ-दान-तप और कर्म कभी परित्याज्य नहीं हैं, अनुष्ठेय हैं, यज्ञ-दान और तप ही उपासकों को पवित्र करते हैं सारे भूत जिससे उत्पन्न होते हैं, जिसमें यह सारा जगत व्याप्त है, मानव, अपने कर्त्तव्य कर्म से उसकी उपासना करके उसे प्राप्त करते हैं।"

५. शमदमाद्यधिकरणः—

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापितुतद्विधेः तदंगतया तेषामप्यवश्यानुष्ठेयत्वात् ३।४।२७॥

ग्रहस्थस्य शमदमादीन्यप्यनुष्ठेयानि उत न ? इति चिन्तायाम आन्तरवाह्यकरणव्यापाररूपत्वात् कर्मानुष्ठानस्य शमदमादीनां तद्विपरीत रूपत्वाच्चाननुष्ठेयानि।

ग्रहस्थ के लिए शमदम आदि साधन भी अनुष्ठेय हैं या नहीं? इस संशय पर विचारने पर समझ में आता है कि–कर्मानुष्ठान तो बाह्य और आभ्यंतर साधनों द्वारा साध्य हैं तथा शमदम आदि इसके विपरीत हैं, इसलिए ग्रहस्थों द्वारा वे साध्य नहीं है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते–यद्यपि गृहस्थः करणव्यापार-रूप कर्मसु प्रवृत्तः तथापि स विद्वान् शमदमाद्युपेतः स्यात् कुतः? तदंगतयातद्विधे त्रिद्यांगतया तेषां विधेः "तस्मादेवंविच्छांतो दांत उपरतस्तितिक्षुः समाहितोभूत्वाऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्" इति। विद्योत्पत्तेश्चित्तसमाधानरूपत्वेन दृष्टपरिकरत्वाच्छमादीनां, विद्यानिवृत्तये तेषां, शमदमादीनामप्यवश्यानुष्ठेयत्वाच्च तान्य-प्यनुष्ठेयानि। न च करणव्यापार तद् विपर्ययरूपत्वेनकर्मणां शमदमादीनां च परस्परविरोधः, भिन्नविषयत्वात् विहितेषु करण व्यापारः, अविहितेषु प्रयोजनशून्येषु च तदुपशम इति। न च करणव्यापाररूप कर्मसु वर्त्तमानस्य वासनावशाच्छमादीना-मुपादेयत्वसंभवः, विहितानां कर्मणां परमपुरुषाराधनतया तत्प्रसाद-द्वारेण निखिलविपरीतवासनोच्छेदहेतुत्वात् अतो गृहस्थस्य शम-दमादयोऽप्यनुष्ठेयाः।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं-यद्यपि गृहस्थ करणव्यापार रूप कर्मों में ही प्रवृत्त होते हैं फिर भी वे गृहस्थ साधक शमदम आदि साधन कर सकते हैं, विद्या के अंगरूप से उनकी विधि कही गई है–"ऐसे ज्ञानी पुरुष शांत-दांत-उपरति-तितिक्षु और समाहित होकर स्वतः ही आत्म-स्वरूप का दर्शन करते हैं।" ज्ञानोत्पत्ति अर्थात् चित्त समाधानात्मक ज्ञान साधन में, शमदम आदि की प्रत्यक्ष उपयोगिता देखी जाती है। विद्या की उत्पत्ति के लिए शमदम आदि के अनुष्ठान की आवश्यकता है, इसलिए भी उनका अनुष्ठान आवश्यक है। कर्म और शमदम आदि नितांत विप-रीत विषयक हैं इसलिए, करणव्यापार संपादित कर्म और उससे विपरीत रूप वाले शमदम आदि में परस्पर विरोध नहीं हो सकता। विहित विषयों में इंद्रियों के व्यापार को कर्मानुष्ठान तथा निष्प्रयोजन इन्द्रियों

के व्यापार की निवृत्ति को उपशम कहते हैं। ऐसा नहीं है कि--करण-व्यापार रूप कर्मों में लगे रहने के कारण वासनावश शमदम आदि का पालन किया जा सके सारे ही कर्म जब परमपुरुष परमात्मा के आराधन में ही नियुक्त रहते हैं तो उनकी कृपा से सारी ही विपरीत वासनाओं का उच्छेद हो जाता है' इसलिए गृहस्थ से भी शममद आदि अनुष्ठेय हैं।

७. सर्वान्नानुमत्याधिकरण:--

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।३।४।२८।।

वाजिनां छंदोगानां च प्राणविद्यायां "न हवा अस्यानन्नं दग्धंभवति नानन्नं परिगृहीतं भवति" न हवा एवं विदि किंचनानन्नं भवति" इति प्राणविद: सर्वान्नानुमति: संकीर्त्यंते' किमिमं प्राण-विद्या निष्ठस्य सर्वाशानुमति: सर्वदा, उत प्राणात्ययापत्ताविति विशयेविशेषादुपादानात् सर्वदा---

वाजसनेयी और छांदोग्य की प्राणविद्या में--"ये प्राणोपासक कुछ भी अभक्ष्य नहीं खाते" प्राणोपासकों के लिए अभक्ष्य नहीं है "इत्यादि में प्राणोपासकों के लिए सर्वभक्षता कही गई है वह सर्वकालिक विधि है या आपत्कालीन ? विचारने पर तो ऐसा लगता है कि--प्राणो-पासकों के लिए जो विशेष निर्देश किया गया है, उससे तो सार्वकालिक ही प्रतीत होती है।

सिद्धान्त:---इति प्राप्त उच्यते-प्राणात्यये-इति । च शब्दोऽवधा-रणे, प्राणात्ययापत्तावेव सर्वान्नाभ्यनुज्ञा, किं पुन: प्राणविद: । उषस्ति: किल चाक्रायणो ब्रह्मविदग्रसरो मटचीहतेषु दुर्भिक्ष-दूषितोंष्वभ्यग्रामे वसन्ननशनेन प्राणसंशयमापन्ने ब्रह्मविद्यानिष्पत्तये प्राणानामनवसादमाकांक्षमाण इभ्यंकुल्माषान् खादन्तं भिक्ष-माणस्तेन च उच्छिष्टेभ्योऽन्ये न विद्यन्त इति प्रत्युक्त: पुनरपि "एतेषां मे देहि" इत्युक्त्वा तेन चेभ्येनोच्छिष्टेभ्य आदाय दत्तान्

कुल्माषान् प्रतिगृह्यानुपानप्रतिग्रहमिभ्येनार्थितः "उच्छिष्टं वै मे पीतं स्यात्" इति वदन् चाक्रायणः किमेते कुल्माषा अनुच्छिष्टा इति इभ्येन पर्यनुयुक्तः "न वा अजीविष्यमिमानखादन कामो म उदपानम्" इति कुल्माषा खादने स्वस्यप्राणसंशयापत्तेस्तावन्मात्र-खादनेन धृतप्राणस्य स्वस्योच्छिष्टोदकपानं कामकारितं निषिद्धं स्यादित्युक्त्वा स्वखादितशेषं जायायै दत्वातया च रक्षितान् अपरेद्युः याजनेनार्जिजीषया जिगिमिषुः पुनरपि प्राणसंशयमापन्नः तानेवे-भ्योच्छिष्टान् स्वोच्छिष्टभूतान् पर्युषितांश्चखाद। अतोब्रह्मविदा-मपि प्राणसंशय एव सर्वान्नानुमतिदर्शनादत्राविशेषेण कीर्तितमपि प्राणविदः सर्वान्नीनत्वं प्राणात्ययापत्तावेवेति निश्चीयते।

सिद्धान्तः—प्राण की रक्षा के लिए आपत् धर्म के रूप में ही अभक्ष्य भक्षण की बात कही गई है। सूत्रस्थ वा शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है जिससे तात्पर्य होता है कि–प्राणान्तक आपत्ति के समय ही सब कुछ ग्रहण किया जाना चाहिए। ब्रह्मोपासक मात्र के लिए प्रणांतक आपत्ति आने पर सर्वभक्षता का उदाहरण मिलता है। केवल प्राणविद्योपासकों के लिए ही ऐसा विधान हो सो बात नहीं है।

ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ उषस्ति चाक्रायण वज्र दग्ध कुरुदेश के अकाल पीड़ित होने पर किसी महावतों के गाँव में जाकर बस गए, अनशन से जब उनकी संशयित दशा हो गई, जीवन का भी ठिकाना न रहा तब उन्होंने उर्द खाने वाले किसी महावत से अन्न की आंकाक्षा की, हस्तिपक ने कहा कि–मैं जो खा रहा हूँ उसके अतिरिक्त मेरे पास कुछ भी नहीं है, इस पर ऋषि ने वे झूठे उर्द ही मांग कर खाए, भोजन के बाद जब हस्तिपक उन्हें अपना झूठा जल देने लगा तब उन्होंने कहा कि मुझे झूठा पीने का पाप लगेगा। इस पर हस्तिपक ने पूछा कि–"क्या मेरे उर्द झूठे नहीं थे?" इस पर ऋषि ने कहा कि–यदि मैं उर्द न खाता तो जीवित न रह पाता, इसलिए उसमें दोष नहीं है, परन्तु जल तो मुझे अन्यत्र भी प्राप्त हो सकता है, इसलिए उसे ग्रहण करने पर मुझे दोष होगा।

इस प्रसंग में देखा जाता है कि– उर्द भोजन के अभाव में प्राण वियोग की संभावना थी, इसलिए जीवनोपयोगी उर्दों का भक्षण वैध ही रहा परन्तु यदि वह जल पीते तो उन्हें स्वेच्छाचारिता का दोष प्राप्त होता। उन्होंने अपने अर्धभुक्त उर्द स्त्री को दिये उसने उसमें से कुछ खाकर दूसरे दिन के लिए बचा लिये दूसरे दिन भी ऋषि ने उन अवशिष्ट उर्दों से अपने जीवन की रक्षा की। इस प्रसंग से निश्चित होता है कि–ब्रह्मवेत्ता भी प्राणरक्षा के लिए अभक्ष्य भक्षण कर सकते हैं। इसी प्रकार प्राणोपासक भी अभक्ष्य भक्षण कर सकते हैं। प्राणात्यय काल में ही अभक्ष्य भक्षण की वैधता सिद्ध होती है।

अबाधाच्च ।३।४।२९।।

"आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः" इति ब्रह्मविद्योत्पत्तावाहारशुद्धि विधानावाधादपि ब्रह्मविदां सर्वान्नीनत्वामापद्विषयमवगम्यते। एवं ब्रह्मविदामतिशयशक्तीनामपि सर्वान्नीनत्व स्यापद्विषत्वात् प्राणविदोऽल्पशक्तेः सर्वान्नानुमतिरायद्विषयैव।

"आहार शुद्धि से आत्म शुद्धि तथा आत्म शुद्धि से भगवत्स्मृति होती है।" इत्यादि श्रुति में, ब्रह्मविद्या की सिद्धि के लिए, आहार शुद्धि का महत्व बतलाया गया है, भगवच्चिंतन में बाधा न पड़े, इसलिए ब्रह्मवेत्ताओं को प्राणात्यय काल में सर्वभक्षण विहित है। प्राणोपासक तो अत्यल्प शक्तिशाली होते हैं उनके लिए तो उक्तकाल में सर्वभक्षण वैध ही है। आपत्तिकाल में ही अभक्ष्य भक्षण वैध है।

अपि स्मर्यंते ।३।४।३०।।

अपि च आपद्विषयमेव सर्वान्नीनत्वं ब्रह्मविदामन्येषां च स्मर्यंते–"प्राणसंशयमापन्नो योऽन्नमत्ति इतस्ततः, लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा" इति।

ब्रह्मवेत्ताओं के लिए, ऐसी आपतकालीन सर्वान्नभक्षणता स्मृति से भी विहित है जैसे–"जो जीवन के संशयित हो जाने पर इधर उधर

कहीं से भी प्राप्त कर अन्न खा लेता है, वह कमल के पत्र के समान पाप से लिप्त नहीं होता।"

शब्दश्चातोऽकामकारे ३।४।३१॥

यतो ब्रह्मविदामन्येषां च सर्वान्नीनत्वमापद्विषयमेव, अतएव सर्वेषामकामकारे शब्दः, कामकारस्य प्रतिबोधकः शब्दो वर्त्तते। अस्ति हि कठानां संहितायां कामकारस्य प्रतिषेधकः शब्द. तस्माद् ब्राह्मण सुरां न पिबति पाप्मना नोत्सृजा इति पाप्मना संस्पृष्टो न भवानीति मत्वा ब्राह्मणः सुरां न पिबतीत्यर्थः।

ब्रह्मवेत्ता के अतिरिक्त सभी को, आपतकाल में ही सर्वान्न भक्षण की आज्ञा दी गई है। कठ संहिता में स्वेच्छाचरण का स्पष्ट निषेध किया गया है—"मुझे पाप लगेगा ऐसा विचार कर ब्राह्मण सुरा पान नहीं करता।" इसका तात्पर्य है कि–मैं पाप से स्पृष्ट न होने पाऊँ, इसलिए ब्राह्मण सुरापान नहीं करता।

८. विहितत्वाधिकरणः—

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि।३।४।३२॥

यज्ञादि कर्मांगिकाब्रह्मविद्येत्युक्तम्, तानि च यज्ञादीनि कर्माण्यमुमुक्षुणा केवलाश्रमिणाऽप्यनुष्ठेयानि, उत न? इति चिन्तायां, विद्यांगानां सतां केवलाश्रमशेषत्वे नित्यानित्यसंयोग विरोधः प्रसंज्यत् इति यज्ञादीनां केवलाश्रमधर्मत्वं न संभवति।

यज्ञादि कर्म, ब्रह्मविद्या के अंग हैं यह बतलाया गया। अब विचारा जाता है कि जो लोग आश्रम धर्म का पालन करते हैं, यज्ञादि कर्म उनके लिए भी विहित है कि नहीं? इस पर विचार करने पर समझ में आता है कि जो लोग विद्योपासक नहीं हैं केवल आश्रम धर्म पालक हैं, वे यदि यज्ञादि कर्म करेंगे तो, नित्यानित्य संयोग रूपी विरोध की उपस्थिति होगी, इसलिए यज्ञादि कर्म केवल आश्रम पालकों के लिए नहीं हो सकते।

सिद्धान्तः–इति प्राप्त उच्यते–आश्रमकर्मापि-इति । आश्रमस्य कर्मापि भवति । केवलाश्रमिणापि अनुष्ठेयानीत्यर्थः । कुतः? "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादिना विहितत्वात् जीव निमित्ततया नित्यवत विहितत्वादित्यर्थः ।

उक्त संशय पर सिद्धान्त रूप से आश्रम कर्मापि सूत्र प्रस्तुत करते हैं, अर्थात् केवल आश्रम धर्म पालन करने वालों के लिए भी यज्ञादि कर्म अनुष्ठेय हैं । "जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करना चाहिए" इत्यादि में, जीवन की दैनिक चर्या की तरह यज्ञादि की नित्यता का विधान बतलाया गया है ।

तथा विद्यांगतया च "तमेतंवेदानुवचनेन" इत्यादिना विहितत्वाद्विद्याशेषतयाप्यनुष्ठेयानीत्याह—

इसी प्रकार विद्या प्रकरणीय "तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि श्रुति में यज्ञांगरूप विद्यानुष्ठान का भी विधान बतलाया गया है । यही बतलाते हैं—

सहकारित्वेन च ।३।४।३३।।

विद्योत्पत्तिद्वारेण विद्यासहकारितयाऽप्यनुष्ठेयानि । अग्निहोत्रादीनामिव जीवनाधिकारस्वर्गाधिकारवत् विनियोगपृथक्त्वेनोभयार्थत्वं न विरुध्यत इत्यर्थः ।

विद्योत्पादक, विद्या के सहकारी रूप से भी, यज्ञादि अनुष्ठेय हैं, जीवन पर्यन्त होने वाले, स्वर्गादि कामनाओं के प्रदाता, अग्निहोत्रादि की तरह–प्रयोग की पृथकता से–विद्या साधनता और आश्रम साधनता, दोनों ही कार्य अविरुद्ध रूप से हो सकते हैं ।

तद्वदेव कर्मान्तरत्वमपि नास्तीत्याह–

उसी प्रकार कर्मान्तरता भी न होगी यह बतलाते हैं—

सर्वथापि त एवोभयालिंगात् ।३।४।३४।।

सर्वथा—विद्यार्थत्वे, आश्रमार्थत्वेऽपि, त एव यज्ञादय इति

प्रतिपत्तव्यम्, न कर्मस्वरूपभेद इत्यर्थः। कुतः ? उभय लिंगात्—उभयत्रश्रुतौ यज्ञादि शब्दैः प्रत्यभिज्ञाप्य विनियोगात्। कर्मस्वरूप-भेदे प्रमाणाभावाच्च।

यज्ञादि क्रियायें चाहे विद्यांग हों या आश्रमांग हों, दोनों प्रकार से वह एक ही हैं, उनमें स्वरूपगत कोई भेद नहीं हैं। दोनों प्रकारों को श्रुतियों में यज्ञ ही कहा गया है, उनमें जो पृथकता है वह प्रयोग ही है। कर्म में स्वरूपगत कोई भेद हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता।

अनभिभवं च दर्शयति।३।४।३५॥

"धर्मेणपापमपनुदति" इत्यादिभिश्च तामेव यज्ञादि धर्मं निर्दिश्य तै विद्याया अनभिभवं—पापकर्मभिरुत्पत्तिप्रतिबंधभावं दर्शयति। अहरहरनुष्ठीयमानैर्हि यज्ञादिभिर्विशुद्धेऽन्तःकरणे प्रत्यहं प्रकृष्यमाणा विद्योत्पते। अतस्त एवोभयत्र यज्ञादयः।

"धर्म से पाप नष्ट होते हैं" इत्यादि में उन्हीं यज्ञादि धर्मों का उल्लेख करके, यह बतलाया गया है कि—पाप कर्मों से विद्योत्पत्ति में कोई बाधा नहीं होती। नित्य प्रति किये जाने वाले यज्ञानुष्ठानों से विशुद्ध अन्तःकरण में नित्य विद्योत्पत्ति होती है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि विद्या और आश्रम दोनों जगह, यज्ञादि कर्म एक हैं।

९ विधुराधिकरणः—

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः।३।४।३६॥

चतुर्णामाश्रमिणां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति, विद्यासहकारिण आश्रम धर्मा इति चोक्तम्। ये पुनराश्रमानन्तरा वर्त्तन्ते विधुरादयः तेषां ब्रह्मविद्यायामाधिकारोऽस्ति न वा ? इति विशये आश्रम धर्मेति कर्त्तव्यतारूपत्वाद्विद्यायाः अनाश्रमिणां चाश्रमधर्माभावान्ना-स्त्याधिकारः'

चारों आश्रम वालों का ब्रह्म विद्या में अधिकार है तथा आश्रम धर्म विद्या के सहकारी हैं, ऐसा निर्णय हो चुका। अब विचार करते हैं कि जो आश्रम रहित विधुर आदि हैं उन्हे ब्रह्म विद्या में अधिकार है या नहीं? इस पर विचारने पर मत होता है कि—आश्रम धर्म वालों के लिए ही विद्या को कर्त्तव्य रूप से बतलाया गया है, इसलिए आश्रम रहित के लिए विद्या का अभाव है अतएव वे उसके अधिकारी नहीं हैं।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—अन्तरा चापि तु—इति। तु शब्दः पक्षव्यावृत्यर्थः, च शब्दोऽवधारणे अन्तरा वर्त्तमानानाम्—अनाश्रमिणामपि विद्यायामधिकारोऽस्त्येव। कुतः ? यद्दृष्टेः—दृश्यते हि रैक्व भीष्मसंवर्त्तादीनां अनाश्रमिणामपि ब्रह्मविद्यानिष्ठत्वम् न चाश्रम धर्मैरेव विद्यानुग्रह इति शक्यं वक्तुम्। "यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन" इति दानादीनामाश्रमेषु अनैकान्तिकानामप्यनुग्राहकत्व दर्शनात्। यथोर्ध्वरेतस्सु विद्यानिष्ठत्वदर्शनादग्निहोत्रादिव्यतिरिक्तैरेव विद्यानुग्रह क्रियते, तथाऽनाश्रमिष्वपि विद्यादर्शनादाश्रमानियतैर्जपोपवासदानदेवताराधनादिभिर्विद्यानुग्रहः शक्यते कर्त्तुम्।

उक्त संशय पर सिद्धांत रूप से "अन्तरा चापि तु" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। तु शब्द पक्ष का व्यावर्त्तक है तथा च शब्द अवधारक है। जिससे निश्चित होता है कि—आश्रम रहित व्यक्तियों को भी ब्रह्म विद्या में अधिकार है, रैक्व, भीष्म, संवर्तक आदि आश्रम विहीन व्यक्तियों की ब्रह्म विद्या निष्ठता प्रसिद्ध है। आश्रम धर्म ही विद्या के उपकारक हैं ऐसा नहीं कह सकते। "यज्ञ दान तप और इन्द्रिय प्रत्याहार द्वारा" इत्यादि वाक्य में, आश्रम विशेष में, अनियत दान आदि धर्म से भी विद्या प्राप्ति की बात कही गई है। जैसे कि-ऊर्ध्वरेतस आश्रमों में अग्नि होत्र के बिना, केवल ध्यान आदि उपाय ही, विद्या निष्ठता के उपकारी साधन हैं वैसे ही, आश्रम रहित व्यक्ति भी जप उपवास दान देवताराधन आदि उपासना के उपकारी सामान्य साधनों से विद्या निष्ठ हो सकते हैं।

अपि स्मर्यते।३।४।३७॥

अपि च अनाश्रमिणामपि जपादिभिरेव विद्यानुग्रहः स्मर्यते—

"जप्येनापि च संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः, कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते" इति । संसिध्येत–जपानुग्रहीतया विद्यया सिद्धो भवतीत्यर्थः ।

विद्या निष्ठता के जपादि साधनों का, अनाश्रमियों के लिए, स्मृति, में भी उल्लेख है "ब्राह्मण केवल जप से ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है वह कुछ करे या न करे ससार उसे मैत्र कह कर ही पुकारेगा। "संसिध्येत्" का तात्पर्य है कि वह जपादि परिपोषित विद्या से सिद्धि प्राप्त करते हैं।

विशेषानुग्रहश्च ।३।४।३८॥

न केवलं न्यायस्मृतिभ्यां अयमर्थः साधनीयः, श्रूयतेचानाश्रम-नियतैर्धर्मविशेषैर्विद्यानुग्रहा "तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया आत्मानमन्विष्येत्" इति ।

न केवल युक्ति और स्मृति से ही उक्त मत पुष्ट होता है अपितु अनाश्रम नियत धर्म विशेष का श्रुति में स्पष्ट उल्लेख भी है "तप, ब्रह्म-चर्य, श्रद्धा और विद्या से आत्मानुसंधान करना चाहिए।

अतस्त्वितरज्यायो लिंगाच्च ।३।४।३९॥

तु शब्दोऽवधारणे, अतः, अनाश्रमित्वात् इतरत् आश्रमित्यमेव ज्याया, अनाश्रमित्वमापद्विषयम्, शक्तस्यत्वाश्रमित्वमेवोपादेय-मित्यर्थः । भूयोधर्मकाल्पधर्मकयोरतुल्यकार्यत्वात् । लिंगाच्च स्मृतेरित्यर्थः । स्मर्यते च शक्तं प्रत्याश्रमस्योपादेयत्वम्–"अनाश्रमी न तिष्ठेत् दनमेकमपि द्विजः" इत्यादिना । निवृत्तब्रह्मचर्यस्य मृतभार्यस्य च अविराग्ये सति दारालाभ आपत् ।

सूत्र में तु शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है । आश्रमिता ही श्रेष्ठ है, अनाश्रमी रहना तो आपत धर्म है। सामर्थ्यवान के लिए तो आश्रम धर्म ग्रहण करना ही उचित है। अधिक गुण संपन्न और अल्प गुण संपन्न में समान कार्य साधकता तो हो नहीं सकती यह स्वभाव सुलभ बात है।

ऐसा लिंग अर्थात् स्मृति का प्रमाण भी है "द्विज एक दिन भी आश्रम रहित होकर न रहे" इत्यादि जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य से निवृत्त हो गया हो अथवा जिसकी पत्नी का देहांत हो गया हो, उसे किसी भी प्रकार स्त्री की प्राप्ति न हो पावे तो वह उसका आपत काल ही हैं।

११ तद्भूताधिकरणः—

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः

।३।४।४०॥

नैष्ठिकवैखानसपरिव्राजकाश्रमेभ्यः प्रच्युतानामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽसि न ? इति चिन्तायां, विधुरादिवदनाश्रमैकान्तैदीनादिभिर्विद्यानुग्रह संभवादस्त्यधिकारः।

ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम से गिरे हुए पतित व्यक्ति को भी विद्या का अधिकार है या नहीं ? इस पर विचारने से ऐसा मत होता है कि जैसे अनाश्रमी विधुर आदि के लिए, दानादि सामान्य धर्मों से परिपुष्ट ब्रह्म विद्या की निष्ठा बतलाई गई हैं, वैसे ही इन लोगों की भी हो सकती है इसलिए इनका भी अधिकार है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—तद्भूतस्य तु नातद्भावः, इति। तु शब्दः पक्षव्यावृत्यर्थः, तद्भूतस्य—नैष्ठिकाद्याश्रमनिष्ठस्य, नासद्भावः, अतथाभावः, अनाश्रमित्वेनावस्थानं न संभवति, कुतः ? तद्रूपाभावेभ्यो नियमात्—तद्रूपाणि तेषां नैष्ठिकादीनां रूपाणि, वेषाः धर्मा इत्यर्थः, तेषामभावाः, तद् रूपाभावः, तेभ्यः शास्त्रै र्नियमात्। नैष्ठिकाद्याश्रमप्रविष्टान् स्वाश्रमधर्मनिवृत्तिभ्यो नियच्छन्ति हि शास्त्राणि "ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोत्यंतमात्मानमाचार्यकुलोऽवसादयन्" इति "अरण्यमियात्ततो न पुनरेयात्" इति 'संन्यस्याग्निं न पुनरावर्त्तयेत्" इति च। अतो विधुरादिवत नैष्ठिकादीनामनाश्रमित्वे नावस्थाना संभवान्न तानधिकरोति

ब्रह्मविद्या, जैमिनेरपि—इत्यविगानं दर्शयन्नुक्तं स्वाभिमतं दृढ़यति ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से उक्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं। सूत्रस्थ तु शब्द पक्ष का व्यावर्त्तक है। ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों में निष्ठ व्यक्तियों का अतद्‌भाव अर्थात् अनाश्रमी होना संभव नहीं है। उन आश्रम के रूपों को धारण करने के बाद उनके त्याग का कहीं भी विधान नहीं है। उनके रूप का तात्पर्य है उनका वेष अर्थात् धर्म का अभाव, उनके विहित शास्त्रीय नियमों के विरुद्ध है। ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों में निष्ठ हो जाने के बाद उनसे च्युत होने का शास्त्र में निषेध किया गया है। "आचार्य कुलवासी नैष्ठिक ब्रह्मचारी को सदा आचार्य कुल में ही वास करना चाहिए।—"अग्नि का त्याग कर उसे पुनः नहीं ग्रहण करना चाहिए।" अरण्य जाने के बाद पुनः नहीं लौटना चाहिए।" इत्यादि से ज्ञात होता है कि—जो आश्रम धर्म से च्युत हो जाते हैं, उन्हें विधुर आदि की तरह ब्रह्म विद्या में अधिकार नहीं है। जैमिनि की सम्मति के अनुसार सूत्रकार ने अपना भी ऐसा ही दृढ़ मत स्थिर किया है।

अथ स्यात्—नैष्ठिकादीनां ब्रह्मचर्यात् प्रच्युतानां प्रायश्चित्तात् अधिकारः संभवति, अस्ति च प्रायश्चित्तमधिकारलक्षणे निरूपितं—"अवकीर्णि पशुश्चतद्वत्" इति, अतः प्रच्युतब्रह्मचर्यस्य प्रायश्चित्त संभवात् कृतप्रायश्चित्तो ब्रह्मविद्यायामधिकरिष्यति—इति—तत्राह—

प्रश्न होता है कि—ब्रह्मचर्य से च्युत नैष्ठिक आश्रमों का प्रायश्चित्त भी तो हो सकता है, अधिकार लक्षण में उसके लिए प्रायश्चित्त का निरूपण करते हुए कहा भी गया है कि—"व्रतच्युत पशुयाग से शुद्ध होते हैं।" इस प्रकार प्रच्युत ब्रह्मचर्य से व्यक्ति के प्रायश्चित्त के बाद ब्रह्मविद्या का अधिकार हो सकता है। इसका उत्तर देते हैं—

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तद योगात् ।३।४।४१॥

अधिकारलक्षणोक्तमपि प्रायश्चित्तं नैष्ठिकादीनां तद्‌भ्रष्टानां न संभवति, कुतः? पतनानुमानात्तदयोगात्—नैष्ठिकादीनां प्रच्यु-

तानां पतनस्मृतेस्तस्य प्रायश्चित्तस्यासंभवात्–"आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः, प्रायश्चितं न पश्यामि येन शुध्येत् स आत्महा" इति। अतो अधिकारलक्षणोक्तं प्रायश्चित्तमितर ब्रह्मचारिविषयम्।

अधिकर लक्षण में जो प्रायश्चित्त का लक्षण है वह ब्रह्मचर्य विच्युत व्यक्तियों के लिए नहीं है, जो लोग नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आदि से भ्रष्ट हो जाते हैं वैसे पतितों का कोई प्रायश्चित्त नहीं है। उनके लिए प्रायश्चित्त की असंभावना बतलाई गई है "नैष्ठिक आश्रमों में आरूढ़ होने के बाद जो द्विज पतित हो जाता है उस आत्महत्यारे के लिए कोई प्रायश्चित्त दृष्टिगोचर नहीं होता जिससे कि वह शुद्ध हो सके।" इससे सिद्ध होता है कि जो अधिकार लक्षण में जिस प्रायश्चित्त का विधान है वह नैष्ठिक आश्रमों के लिए नहीं है।

उपपूर्वमपीत्येके भावमशनवत्तदुक्तम्।३।४।४२॥

नैष्ठिकादीनां ब्रह्मचर्यप्रच्यवनमुपपूर्वम्–उपपातकम्, महापातकेष्वपरिगणितत्वादिति तत्र प्रायश्चितस्य भावं विद्यमानतामप्येके आचार्या मन्यन्ते, अशनवत्–यथा मध्वदिनिषेधस्त प्रायश्चित्तं चोपकुर्वाणस्य नैष्ठिकादीनां च समानम्, तदुक्तं स्मृतिकारैः "उत्तरेषां चैतदविरोधि" इति गुरुकुलवासिनो यदुक्तं, तत्स्वाश्रमाविरोध्युत्तरेषामप्याश्रमिणां भवतीत्यर्थः तद्वदिहापि ब्रह्मचर्य प्रच्यवने प्रायश्चित्तसंभवाद् ब्रह्मविद्यायोग्यताप्यस्ति।

किसी आचार्य का मत है कि जो नैष्ठिक आदि का पतन है वह उपपातक है, उसकी महापातकों में गणना नहीं है इसलिए उनका प्रायश्चित्त हो सकता है। जैसा कि मधुपान का निषेध और उसका प्रायश्चित्त उपकुर्वाण और नैष्ठिक दोनों के लिए समान है, वैसे ही यहाँ भी प्रायश्चित्त संभव है। जैसा कि स्मृतिकार का मत भी है कि–"यदि विरोधी न हो तो बाद के आश्रमों में भी यही नियम लागू होगा" अर्थात् गुरुकुलवासी ब्रह्मचारी के लिए जो कहा गया यदि वह आश्रम के विरुद्ध न हो तो

परवर्ती वानप्रस्थ संन्यासी आदि नैष्ठिक में भी संभव है। इसलिए ब्रह्मचर्य से च्युत का प्रायश्चित्त संभव है और ब्रह्मविद्या में अधिकार भी हो सकता है।

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ।३।४।४३।।

तु शब्दो मतान्तरव्यावृत्त्यर्थः, उपपातकत्वे महापातकत्वेऽप्येते बहिर्भूता एव ब्रह्मविद्याधिकारिभ्यः ब्रह्मविद्यामनधिकृता इत्यर्थः। कुतः ? स्मृतेः पूर्वोक्तात्पतनस्मरणात्। यद्यपि कल्मषनिर्हरणाय केश्चिद्वचनैः प्रायश्चित्ताधिकारो विद्यते तथापि कर्माधिकारानुगुण शुद्धिहेतु प्रायश्चित्तं न संभवति "प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत् स आत्महा" इति स्मृतेरित्यर्थः। आचाराच्च-शिष्टा हि नैष्ठिकादीन् भ्रष्टान् कृतप्रायश्चित्तानपि वर्जयंति, तेभ्यो ब्रह्मविद्यादिकं नोपदिशन्ति, अतस्तेषां नास्ति ब्रह्मविद्यायामधिकारः।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्तमतान्तर का व्यावर्त्तक है। ब्रह्मचर्य स्खलन चाहे उपपातक हो या महापातक किन्तु स्खलित ब्रह्मचारी को ब्रह्मविद्या में अनधिकृत ही माना गया है। पूर्वोक्त स्मृति वाक्य में नैष्ठिक के पतन को जघन्य पातक ही माना है। यद्यपि पापों के प्रायश्चित्त के कुछ वचन प्रायश्चित्ताधिकार में मिलते हैं, फिर भी जिनसे सारा संसार कर्म के अधिकार की शिक्षा प्राप्त करता है उनकी शुद्धि के लिए कोई प्रायश्चित्त संभव नहीं है यही "प्रायश्चित्तं न पश्येत्" इत्यादि वाक्य का तात्पर्य है। पतित नैष्ठिकादिकों के प्रायश्चित्त का शिष्ट लोग भी विरोध करते हैं। उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं देते, इसलिए उन लोगों का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है।

११. स्वाम्यधिकरणः—

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ।३।४।४४।।

कर्मांगाश्रमाणि उद्गीथादि उपासनानि किं यजमान कर्तृकाणि उत ऋत्विककर्तृकाणि ? इति चिन्तायां—यजमान

कर्त्तृकाणि इति आत्रेयोमन्यते, कुतः ? फलश्रुतेः, वेदांतविहितेषु दहराद्युपासनेषु फलोपासनयोरेकाश्रयत्वदर्शनादिह च क्रतुफलाप्रतिबंधरूपस्योद्गीथोपासनफलस्य यजमानाश्रयत्वश्रवणादित्यर्थः। न च गोदोहनादिवदंगाश्रयत्वेन यजमानकर्त्तृकत्वासंभवः गोदोहनादिषु हि अध्वर्युकर्त्तृक प्रणयनाश्रयगोदोहनोपादनमन्येनाशक्यम्, इह तु उद्गातृकर्त्तृकेऽप्युद्गीथे तस्योद्गीथादेः रसतमत्वानुसंधानं यजमानेनैव कर्त्तुं शक्यत।

कर्मांगाश्रित उद्‌गीथ आदि उपासनायें, यजमानकर्तृक हैं अथवा ऋत्विक ? इस पर आत्रेय का मत है कि यजमानकर्त्तृक हैं ऐसी ही फलश्रुति भी है। वेदांत की दहरादि उपासनाओं में उपासक और फलभोक्ता एक ही व्यक्ति कहा गया है। वैसे ही फलावाप्ति यजमान के लिए कही गई है इससे ज्ञात होता है कि-उपासना भी यजमान द्वारा ही होनी चाहिए। यह नहीं कह सकते कि—यज्ञ के अंग गोदोहन आदि कर्म जैसे यजमान द्वारा संभव नहीं हैं वैसे ही कर्मांग उपासनायें भी संभव नहीं हैं। गोदोहन तो अध्वर्यु के लिए ही रुचपाक में विहित है, वह अन्य के द्वारा संभव नहीं है। किन्तु उद्‌गीथ आदि उपासनाओं में जो क्रियानुष्ठान होते हैं उनमें उद्‌गाता कर्त्ता होता है फिर भी उद्‌गीथ की रसतम रूप से होनेवाली उपासना तो यजमान से ही संपादित होती है।

सिद्धान्तः---इति प्राप्तेऽभिधीयते—

इस पर स्वसिद्धान्त बतलाते हैं—

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते।३।४।४५।।

आर्त्विज्यम्—ऋत्विजः कर्मोद्गीथाद्युपासनमित्यौडुलोमिराचार्योमन्यते, कुतः ? प्रयोजनाय ऋत्विक् परिक्रियते, फलसाधनभूतस्य सांगस्य क्रतोनुपादानायेत्यर्थः। कर्मविधिषु "ऋत्विजोवृणीते" ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति" इति ऋत्विक् कर्त्तृकत्व-

शास्त्रेण फलसाधनभूतं सांगं कर्म ऋत्विग्भिरनुष्ठेयमित्यवगम्यते, तदन्तर्गतानि कायिकानि मानसानि च कर्माणि ऋत्विक्कर्त्तृकाण्वेव, न च शक्त्यशक्तौ तस्य निबन्धनम्। यद्यपि उद्गीथाद्युपासनं पुरुषार्थः, तथापि क्रत्वधिकृताधिकारत्वात् क्रतोश्च सांगस्य ऋत्विक्कर्त्तृकत्वात् "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरम्" इति ऋत्विक्कर्त्तृक क्रियोपयोगित्वेन विद्यायास्तदककर्त्तृकत्व श्रवणात् ऋत्विक्कर्त्तृकान्येतानि दहरादिषूपासनेषु ऋत्विक्कर्त्तृ-कत्वाश्रवणात् "शास्त्रफलं प्रयोक्तरि" इति न्यायाच्च फलि-कर्त्तृकत्वमेव।

औडुलोमि आचार्य का मत है कि-उद्गीथ आदि उपासना ऋत्विक कर्त्तृक है। प्रयोजन सिद्धि के लिए यजमान ऋत्विक् को खरीद लेता है। अर्थात् फल सिद्धि के उपाय रूप कर्म के सांगोपांग संपादन के के लिए उसका वरण करता है। "ऋत्विक् का वरण करता है" "ऋत्विजों को दक्षिणा देता है" इत्यादि कर्मकांडोक्त वाक्यों से ज्ञात होता है कि-फलसाधक कर्म और संपूर्ण कर्मांग ऋत्विजों से ही अनुष्ठेय हैं। उन अनुष्ठानों के अंतर्गत जितने भी कायिक मानसिक कर्म हैं वे सभी ऋत्विक कर्त्तृक हैं, यजमान में उनके करने की शक्ति है या नहीं, इसका प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो एकमात्र ऋत्विजों का स्वायत्त कर्म है।

यद्यपि उद्गीथ आदि उपासनायें पुरुषार्थ साधक हैं फिर भी वह जब यज्ञाधिकार से अधिकृत है तो उन पर ऋत्विक का ही अधिकार माना जावेगा "विद्या से जो करता है वह प्रबलतम होता' है" इत्यादि में उपासना को यज्ञ की ही उपकारिणी कहा गया है, इसलिए उसका कर्त्ता ऋत्विक् ही निश्चित होता है। दहर आदि उपासनाओं में भी ऋत्विकोंका कर्त्तृत्व बतलाया गया है "शास्त्र का फल प्रयोक्ता में ही होता है" इत्यादि नियम से ज्ञात होता है कि-फलभागी ऋत्विक् ही उपासना का कर्त्ता है।

१२. सहकार्यन्त्यधिकरणः

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ।३।४।४६॥

"अस्माद् ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विद्यबाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं च पांडित्यं च निर्विद्याथ मुनिः" इत्यत्र बाल्य पांडित्यवन्मौनमपि विधीयते, उत अनूद्यत ? इति विशये मौनपांडित्यशब्दयोःज्ञानार्थत्वात् "पांडित्यं निर्विद्य" इति विहितमेव ज्ञानं "अथ मुनिः" इत्यनूद्यते, विधि शब्दो नह्यत्र श्रूयत इति ।

"ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति पांडित्य से व्युत्पन्न होकर बाल्य में अवस्थान करे और फिर पांडित्य और बाल्य दोनों से अधिगत होकर मुनि हो जाय" इत्यादि में बाल्य और पांडित्य का जैसा विधान है मुनि का भी वैसा ही विधान होगा या नहीं ? इस संशय पर मत होता है कि—मौन और पांडित्य दोनों ही शब्द ज्ञानार्थक हैं "पाडित्य निर्विद्य" में जो ज्ञान अर्थ विहित है "अथमुनिः" में उसी का अनुवाद मात्र कर दिया गया है विधि बोधक शब्द का प्रयोग नहीं है। इसलिए मौन की विधि नहीं है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते ब्रूमः, सहकार्यन्तरविधिः, इति। तद्वतः विद्यावतः, विध्यादिवत् विधीयते इति यज्ञादिः सर्वाश्रमधर्मः शमदमादिश्च विधिशब्देनोच्यते, आदिशब्देन श्रवणमनने गृह्येते, सहकार्यन्तरविधिरित्यत्रापि, विधीयत इति विधिः, सहकार्यन्तरं विधिश्चेति सहकार्यन्तरविधिः। एतदुक्तं भवति—यथा—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषंति यज्ञेन दानेन" इत्यादिना "शांतो दान्तः" इत्यादिना च सहकारी यज्ञादिः शमदमादिश्च विधीयते; यथा च "श्रोतव्यो मंतव्यः" इति श्रवणमननेचार्थं प्राप्ते विद्यासहकारित्वेन गृह्येते, तथा "तस्माद ब्राह्मणा पांडित्यं विधीयते इति ।

उक्त संशय पर सिद्धान्त रूप से "सहकार्यन्तर विधिः" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। विद्या संपन्न शास्त्रीय यज्ञादि विधि की तरह मौन भी विहित है। जो विहित हो उसे ही विधि कहते हैं इस व्युत्पत्ति के अनुसार सारे ही आश्रम धर्म और शम दम आदि साधन सभी विधि हैं। आदि शब्द से श्रवण और मनन भी ग्राह्य हैं। विधि शब्द का अर्थ है-विहित विधि का विषय। सहकार्यन्तरविधि का तात्पर्य है-जो विधि विहित हो। कहने का तात्पर्य यह है कि-जैसे "ब्रह्मनिष्ठ वेदविहित यज्ञ और दान द्वारा आत्मा को जानने की इच्छा करते हैं" इत्यादि और "शान्तो दान्तः" इत्यादि वाक्यों से सहकारी यज्ञ आदि क्रिया एवं शम दम आदि विहित हैं तथा "श्रोतव्यः मंतव्यः" इत्यादि से श्रवण और मनन का विधान बतलाया गया है वैसे ही-"तस्माद् ब्राह्मण पांडित्यं निर्विद्य" इत्यादि वाक्य से पांडित्य बाल्य और मौन तीनों को ही, विद्या के सहकारी रूप से विहित कहा गया है।

मौनं च पांडित्यादर्थान्तरमित्याह-पक्षेणेति। मुनिशब्दस्य पक्षेण प्रकृष्टमननशीले व्यासादौ प्रयोग दर्शनात् मौनंपांडित्यबाल्ययोर्द्वयोः तृतीयम्। यद्यपि "अथ मुनिः" इत्यत्र विधिप्रत्ययो न श्रूयते, तथापि मौनस्याप्राप्तत्वात् विधेयत्वमंगीकरणीयम्-अथ मुनिः स्यात्-इति। इदं च मौनं श्रवणप्रतिष्ठार्थान्मननादर्थान्तरमुपासनालंबनस्य पुनः पुनः संशीलनं तद्भावनारूपम्।

मौन और पांडित्य दोनों भिन्न स्वतंत्र पदार्थ हैं। मुनि शब्द का प्रकृष्ट मनन शील, व्यास आदि में विशेष प्रयोग देखा जाता है जिससे ज्ञात होता है कि मुनि, पांडित्य और बाल्य से भिन्न तीसरी वस्तु है। यद्यपि "अथ मुनिः" में विधि प्रत्यय का प्रयोग नहीं है, फिर भी अन्यत्र कहीं भी मौन विधि का प्रयोग न होने से इस वाक्यांश में ही विधि प्रत्यय की कल्पना करनी होगी। सुनी हुई वस्तु की धारण के लिए जिस मनन वृत्ति का विधान है, यह मौन उससे भिन्न स्वतंत्र वृत्ति है, यह उपासना के आलंबन की, चिन्ताप्रवाहात्मक उपास्य भावनारूप एक वृत्ति विशेष है।

तदेवं वाक्यार्थः, ब्राह्मणः विद्यावान् पांडित्यं निर्विद्य, उपास्यं ब्रह्मतत्त्वं परिशुद्धं परिपूर्णं च विदित्वा श्रवणमननाभ्यामप्राप्तं वेदनं प्रतिलभ्येत्यर्थः। तच्चभगवद्भक्तिकृतसत्त्वविवृद्धिकृतम्। यथोक्तं— "नाहंवेदैः "इत्यारभ्य "भक्त्यात्वनन्यया शक्यः ज्ञातुम्" इति। श्रुतिश्च—"यस्यदेवे पराभक्तिः" नायमात्मा प्रवचनेन" इत्यादिका। बाल्येन तिष्ठासेत्, बाल्यस्वरूपंचानन्तरमेव वक्ष्यते, बाल्यं च पांडित्यं च निर्विद्याथ मुनिः स्यात्-बाल्यपांडित्ये यथावदुपादाय परिशुद्धे परिपूर्णे ब्रह्मणि मननशीलोभवेत्, निदिध्यासनरूपविद्या प्राप्तये। एवमेव त्रितयोपादानेन लब्धविद्योभवतीत्याह "अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः" इति। अमौनं मौनेतर सहकारि कलापः, तं च मौनं च यथावदुपाददानो विद्याकाष्ठां तदेक निष्पाद्यां लभेतेत्यर्थः। "स ब्राह्मणः केन स्यात्" उक्तादुपायात् किमन्योऽप्युपायोऽस्तीतिपृष्टे "येन स्यात्तेनेदृश एव" इति येन मौन पर्यन्तेन ब्राह्मणः स्यादित्युक्तम् तेनैवेदृशः स्यात् न केनाप्यन्येनोपायेनेति परिहृतम्! अतः सर्वेष्वाश्रमेषु स्थितस्यविदुषोयज्ञादिस्वाश्रमधर्मवत् पांडित्यादिकं मौन तृतीयं विद्यायाः सहकार्यन्तरं विधीयते।

इस प्रकार उक्त वाक्य का अर्थ होगा कि— ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति विद्यावान, पांडित्य अर्थात् विद्या प्राप्तकर, उपासना द्वारा विशुद्ध परिपूर्ण, उपास्य ब्रह्म तत्व को जानकर, श्रवण और मनन से, अप्राप्त वेदन (उपासनात्मक ज्ञान) को प्राप्त करे, जो कि भगवद्भक्तिकृत् सत्व गुण से बढ़ाया गया है। जैसा कि—"नाहं वेदैः" से लेकर "भक्त्या त्वनन्याशक्यः ज्ञातुम्" तक गीता में और "यस्य देवे पराभक्ति" नायमात्मा प्रवचनेन" इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है।

"बाल्यंतिष्ठासेत्" में जो बाल्य का स्वरूप बतलाया गया है उसे आगे बतलावेंगे। "बाल्य ओर पांडित्य को अच्छी तरह जानकर मुनि होते हैं" इत्यादि का तात्पर्य है कि—बाल्य और पांडित्य के रूप में अभ्यस्त

होकर निदिध्यासन रूप विद्या की प्राप्ति के लिए परिशुद्ध परिपूर्ण ब्रह्म में मननशील होवे। इस प्रकार–बाल्य–पांडित्य और मौन के अनुशीलन से आत्मविद्या का ज्ञान होता है यही "अमौन और मौन दोनों से अधिगत होकर ब्रह्मनिष्ठ होते हैं" इत्यादि वाक्य में दिखलाया गया है। मौन के अतिरिक्त विद्या के सहकारी सभी साधन अमौन हैं। जो व्यक्ति मौन और अमौन को विधिपूर्वक ग्रहण करते हैं, वे भगवन्निष्ठात्मक विद्या की पराकाष्ठा को प्राप्त करते हैं। इसके बाद प्रश्न किया गया है कि–"वह ब्रह्मनिष्ठ इन उपायों के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय के भी आश्रित होता है या नहीं?" इसका उत्तर दिया गया कि–"येन स्यात् तेनेदृश एव" अर्थात् मौन तक जिन साधनों की सहायता से ब्रह्मनिष्ठ होता है वे ही हैं अन्य नहीं। इसलिए सभी आश्रमों में स्थित उपासकों को यज्ञादि आश्रम धर्मों की तरह, पांडित्य बाल्य मौन आदि विद्या के सहकारी साधनों का पालन करना चाहिए।

अथ स्यात् सर्वेष्वाश्रमेषु, स्थितानां विदुषः तत्तदाश्रमधर्मं सहकारिणी मौनतृतीय सचिवा विद्या ब्रह्मप्राप्ति साधनमुच्यते, कथं तर्हि छांदोग्ये–"अभिसमावृत्य कुटुंबे शुचौ देशे" इत्यारभ्य "स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्त्तते" इति यावदायुषं गार्हस्थ्यधर्मेण स्थितिदर्शनमुपपद्यते। अत आह—

प्रश्न होता है कि यदि सभी आश्रमों में स्थित उपासकों के लिए मौन आदि युक्त विद्या को ही ब्रह्म प्राप्ति का साधन कहा गया है तो छांदोग्य–में "विद्याध्ययन समाप्त कर पवित्र ग्रहस्थ आश्रम में–"तथा–"वह जीवन पर्यन्त ऐसा करते हुए ब्रह्म लोक की प्राप्ति करता है पुनः लौटकर नहीं आता" इत्यादि से जीवन पर्यन्त ग्रहस्थाश्रम में ही रहने का समर्थन क्यों किया गया है? इसी का उत्तर देते हैं—

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः।३।४।४७॥

तु शब्दश्चोद्यंव्यावर्त्तयति, कृत्स्नभावात्–कृत्स्नेषु भावात् कृत्स्नेष्वाश्रमेषु विद्यायाः सद्भावात् गृहिणोऽप्यस्तीति तेनोपसंहारः

तस्मात् सर्वाश्रमधर्मप्रदर्शनार्थो गृहिणोपसंहारः, इत्यभिप्रायः ।

तु शब्द उक्त शंका का व्यावर्त्तक है। सभी आश्रमों में विद्यानुशीलन का अधिकार है, ग्रहस्थ में भी है, इसलिए छांदोग्य में केवल ग्रहस्थ प्रकरण का उपसंहार किया गया है। सभी आश्रम धर्मों का प्रदर्शन करने के लिए ही ग्रहस्थ धर्म में उपसंहार किया गया है।

तथैतस्मिन्नपि वाक्ये "ब्राह्मणः पुत्रेषणायाश्च वित्तेषणायाश्च लोकेषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरति" इति पारिव्राज्यक्रांत धर्मं प्रतिपाद्य "तस्माद् ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विद्य" इत्यादिना पारिव्राज्यधर्मस्थितिहेतुक मौनतृतीय सहकारविधानं प्रदर्शनार्थं मित्याह—

उसी प्रकार इसी वाक्य में "ब्रह्मनिष्ठ पुत्रेषणा, वित्तेषणा, और लोकेषणा से उत्तीर्ण होकर भिक्षाटन करते हैं "इत्यादि पारिव्राजक धर्म का प्रतिपादन करके "तस्माद् ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विध" इत्यादि से पारिव्राजक धर्म के रक्षक मूलभूत मौन आदि सहकारी साधनों का प्रदर्शन किया गया है, ऐसा विवेचन करते हैं—

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ।३।४।४८॥

सर्वैषणाविनिर्मुक्तस्य भिक्षाचरणपूर्वक मौनोपदेशः सर्वेषां आश्रमधर्माणां प्रदर्शनार्थः, कुतः? एवं विधिमौनोपदेशवदितरेषामाश्रमिणां अपि "त्रयो धर्मस्कंधः" इत्यारभ्य "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इति ब्रह्मप्राप्त्युपदेशात्। उपपादितश्च पूर्वमेव ब्रह्मसंस्थ शब्दः सर्वाश्रमिसाधारण इति। अतः सुष्ठूक्तं—यज्ञादि सर्वाश्रम धर्मवन्मौन तृतीयः पांडित्यादिर्विद्या सहकारित्वेन विधीयते-इति ।

सभी एषणाओं से मुक्त, भिक्षाटन पूर्वक मौनोपदेश सभी आश्रमों के धर्मों के स्वरूप के प्रदर्शन के लिए है। ऐसे मौनोपदेश की तरह अन्य आश्रमवासियों के लिए "त्रयो धर्मस्कंधाः" से लेकर "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" तक ब्रह्म प्राप्ति का उपदेश दिया गया है। ब्रह्मसंस्थ, प्रायः सभी

आश्रमों के लिए प्रयोग होने वाला सामान्य शब्द है, ऐसा पहिले ही बतला चुके हैं। इसलिए यह कहना ठीक ही है कि–यज्ञादि सर्वाश्रम धर्मों की तरह मौन पांडित्य आदि विद्या सहकारी साधन भी विहित हैं।

१३. अनाविष्काराधिकरण:–

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ।३।४।४६॥

"तस्माद् ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्" इत्यत्र विदुषा बाल्यमुपादेयतयाश्रुतम्। बाल्यस्य भावः कर्म वा बाल्यम् बालभावस्य वयोवस्थाविशेषस्यानुपादेयत्वात् कर्मेवेह गृह्यते। तत्र किं बाल्यस्य कर्म कामचारादिकं सर्वं विदुषोपादेयम् उत् डम्भादि रहितत्वम् एव ? इति विशये विशेषाभावात् सर्वमुपादेयम्, नियम शास्त्राणि च विशेष विधानाऽनेन बाध्यंत इति।

"तस्माद् ब्राह्मणः" इत्यादि वाक्य में साधक के लिए बाल्य भाव की उपादेयता बतलाई गई है। बाल्य का भाव या कर्म ही बाल्यत्व है, अवस्था विशेष रूप जो बाल भाव है, उसका तो स्वेच्छा से पालन किया नहीं जा सकता, इसलिए बाल्य का अर्थ बाल्य कर्म ही समझा जायेगा। बालक की जो स्वेच्छाचारिता है वही साधक के लिए उपादेय है अथवा बालक की जो अहंकार शून्यता आदि है केवल वही उपादेय है ? इस पर विचारने पर मत होता है कि—उक्त वाक्य में कोई विशेषोल्लेख तो है नहीं इसलिए सभी भाव उपादेय हैं। स्वेच्छाचारिता के निवारक जो नियम शास्त्र हैं वे सभी इस विशेष विधि शास्त्र से बाधित हो ही जाते हैं।

सिद्धान्तः–एवं प्राप्तेऽभिधीयते–अनाविष्कुर्वन्निति। बालस्य यत् स्वभावानाविष्कार रूपं कर्म तदुपाददानो वर्त्तेत विद्वान्। कुतः ? अन्वयात्–तस्यैवान्वयात्। "बाल्येन तिष्ठासेत्" इत्यस्मिन् विधौ तस्यैव ह्यन्वय संभवः, इतरेषां विद्याविरोधित्वश्रवणात् "नाविरतो दुश्चरितान्नाशांतो ना समाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्" आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः" इत्यादिषु।

वालक जो स्वाभाविक अनाविष्कृत कर्म है, वही साधक के लिए उपादेय है। उसी की वाक्य के साथ संगति बैठ सकती है। "बाल्यं तिष्ठासेत्" में उक्त तात्पर्य ही निहित है, अन्य जो स्वेच्छाचारिता आदि हैं, उन सब को तो विद्या विरोधी कहा गया है "जो दुश्चरितों से अशांत नहीं होते, असमाहित नहीं होते, अशांत चित्त नहीं होते, वे ही प्रकृष्ट ज्ञान द्वारा परम पुरुष को प्राप्त करते हैं' आहार शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है" इत्यादि वाक्य में भी बालकोचित स्वेच्छाचारिता आदि कर्मों को विरोधी कहा गया है।

१४ ऐहिकाधिकरणः—

ऐहिकम्प्रस्तुत प्रतिबंधे तद्दर्शनात् ।३।४।५०॥

द्विविधा विद्या अभ्युदयफला, मुक्ति फला च। तत्राभ्युदयफला स्वसाधनभूतैः पुण्यकर्मानन्तरमेव उत्पद्यते, उत अनन्तरं कालान्तरे वेत्यनियमः ? इति संशयः। पूर्वक्तैः पुण्यकर्मभिः विद्वान जायते, यथोक्तं भगवता "चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन" इति। साधने निवृत्ते विलम्बहेत्वभावात् अनन्तरमेव।

विद्या दो प्रकार की है, एक अभ्युदय फल वाली दूसरी मुक्तिफल वाली। जो अभ्युदय फल वाली विद्या है, वह अपने साधन रूप पुण्य कर्मों द्वारा तत्काल ही फल प्रदान करती है, अथवा कालान्तर में ? इस पर विचारने से मत होता है कि—पूर्वकृत पुण्य कर्मों के प्रभाव से ही लोग विद्वान होते हैं जैसा कि—भगवान ने कहा भी है—"अर्जुन! सुकृत लोग मुझे चार प्रकार से भजते हैं" इत्यादि। कारण के रहते हुए कार्योत्पत्ति में विलम्ब हो यह वेतुकी सी बात है। इसलिए साधना के बाद ही फल मिलता है ऐसा ही मानना चाहिए।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—ऐहिकम्प्रस्तुत प्रतिबंधे—इति ऐहिकमभ्युदयफलमुपासनम्, अप्रस्तुत प्रतिबंधे—अप्रस्तुते प्रबलकर्मान्तरा प्रतिबंधे सत्यनन्तरं, प्रतिबंधे सति तदुत्तरकालमित्यनियमः

कुतः ? तद्दर्शनात्–दृश्यते हि प्रबलकर्मान्तरेण कर्मफल प्रतिबंधाभ्युपगमः श्रुतौ "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरम्" इत्युद्गीथविद्यायुक्तस्य कर्मणः फला प्रतिबंध श्रवणात् ।

उक्त संशय पर सिद्धांत रूप से "ऐहिकम्प्रस्तुत प्रतिवंधे" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् अन्य प्रवल प्रतिबन्धक कर्मों के न होने पर ही अभ्युदयजनक विद्या का फल इस शरीर से प्राप्त हो सकता है, प्रतिबंधक कर्मों के क्षय होने पर फलावाप्ति होती है, इस विषय में कोई निश्चित नियम है भी नहीं। देखा जाता है कि–अन्य प्रबल कर्म ही, फलावाप्ति में बाधक हो जाते हैं, तथा प्रबलतर साधन से प्रतिवन्धक कर्मों का नाश भी हो जाता है जैसा कि–"विद्या श्रद्धा और उपनिषद् द्वारा जो किया जाता है वही प्रबलतर होता है" इत्यादि श्रुति से सिद्ध है। इस वाक्य में उद्गीथ विद्यायुक्त कर्म को फल का अप्रतिबंधी कहा गया है।

१५ मुक्तिफलाधिकरणः–

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ।३।४।५१॥

मुक्तिफलस्याप्युपासनस्य स्वसाधन भूतैरतिशयित कर्मभिरुत्पत्तावेवमेव फलानियमः, तस्यापि पूर्ववत् प्रतिबंधाभाव प्रतिबंध समाप्तिरूपावस्थावगतेः, अत्रापितस्य हेतोः समानत्वादित्यर्थः।

सर्वेभ्यः कर्मभ्यो मुक्तिफलविद्या साधनस्य कर्मणः प्रबलत्वात् प्रतिबंधासंभव इत्याधिका शंका।

अत्रापि ब्रह्मविदपचाराणां पूर्वकृतानां प्रबलानां संभवात् प्रतिबंध संभव इति परिहारः, द्विरुक्तिरध्याय परिसमाप्तिं द्योतयति।

विद्या के साधन रूपी सर्वोत्कृष्ट कर्मों से विद्या की उत्पत्ति हो जाने पर भी उक्त प्रकार की ही अनियमित फल व्यवस्था है. इस स्थिति में भी प्रतिबन्धाभाव होने पर ही फलावाप्ति हो सकती है, प्रबलतम प्रतिबन्धक कर्म ही प्रतिबन्धी कर्मों को नष्ट कर फलोन्मुख कर सकता है इस पर विशेष शंका यह होती है कि फल की साधक-मुक्ति जिस कर्म से प्रकट होती है, वह कर्म अन्यान्य कर्मों से तो निश्चित ही प्रबलतम होता है, इसलिए अन्य कर्म उसके प्रतिबंधक हो सकते हैं ? उपासक का अपकारी कोई प्रबलतम प्राक्तन कर्म ही प्रतिबंधक होता है । सूत्र में की गई द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति की ओतक है ।

तृतीय अध्याय चतुर्थ पाद समाप्त

चतुर्थ–अध्याय

प्रथम पाद

१. आवृत्यधिकरणः--

आवृत्ति सकृदुपदेशात् ।४।१।१॥

तृतीय अध्याये साधनैः सह विद्या चिन्तिता । अथेदानीं विद्या स्वरूपविशोधनपूर्वकं विद्याफलं चित्यते ।

तीसरे अध्याय में साधनों के साथ विद्या पर विचार किया गया । अब विद्या के स्वरूप पर विमर्श करते हुए विद्या के फल पर विचार करते हैं ।

तत्र "ब्रह्मविदाप्नोति परम्"–तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति"–यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं "इत्यादि वेदांत वाक्येषु ब्रह्मप्राप्ति साधनतया विहितंवेदनं किं सकृत-कृतमेव शास्त्रार्थः उत असकृत् आवृत्तमिति ? संशयः, किं युक्तम् ? सकृतकृतमिति "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" इति वेदनमात्रस्यैव विधानात्, असकृदावृत्तौ प्रमाणाभावात् । न चावघातादिवद् वेदनस्य ब्रह्मापरोक्ष्यं प्रति दृष्टोपायत्वाद्यावत् कार्यमावृत्तिरिति शक्यं वक्तुम्, वेदनस्य दृष्टोपायत्वाभावात् । ज्योतिष्टोमादि कर्माणि, वेदांतविहितं च वेदनं परं पुरुषाराधनरूपम्, आराधि-ताच्च परमपुरुषात् धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थावाप्तिरिति हि "फलमत उपपत्तेः" इत्यत्र प्रतिपादितम् । अतोज्योतिष्टोमादिवद् यथाशब्दं सकृतकृतमेव शास्त्रार्थः ।

"ब्रह्मवेत्ता परमपद प्राप्त करता है" उसे जान कर मृत्यु का अतिक्रमण करता है "ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है" जब दृश्य रुक्मवर्ण को देखता है" इत्यादि वेदांत वाक्यों में ब्रह्म प्राप्ति के साधन रूप से जिस वेदन का विधान बतलाया गया है वह एक बार कर्त्तव्य है अथवा बार-बार ? ऐसा संशय होने पर विचार होता है कि—"ब्रह्म को जान ब्रह्म ही होता है" इस वाक्य में एक मात्र वेदन का विधान बतलाया गया है, इसलिए एक बार की जानकारी ही विहित है, बार-बार की आवृत्ति का प्रमाण नहीं मिलता। वेदन ऐसा कोई प्रत्यक्ष उपाय तो है नहीं जिससे कि—प्रत्यक्ष ब्रह्म में उसे बार-बार स्पर्श कराया जा सके, ब्रह्म और वेदन दोनों ही परोक्ष हैं जो एक बार ही संभव हैं। ज्योतिष्टोमादि यज्ञ और वेदांत विहित वेदन दोनों ही परंपुरुष के आराधनरूप उपाय हैं, इनसे परम पुरुष की आराधना करने पर धर्म-अर्थ काम मोक्ष आदि पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है, ऐसा "फलमत उपपत्तेः" में प्रतिपादन किया गया है। अतः ज्योतिष्टोम आदि की तरह वेदन भी एक शास्त्रीय साधन (शब्द) है जो कि एक बार ही कर्त्तव्य है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे-आवृत्तिरसकृत्-इति। असकृदावृत्तमेव वेदनं शास्त्रार्थः कुतः? उपदेशात्-ध्यानोपासनपर्यायेण वेदन-शब्देनोपदेशात्। तत्पर्यायत्वं च विद्युपास्तिध्यायतीनामेकस्मिन् विषये वेदनोपदेशपरवाक्येषु प्रयोगादवगम्यते। अथाहि—"मनो ब्रह्मेत्युपासीत" इत्युपासनोपक्रांतोऽर्थः "भाति च तपति च कीर्त्या यशसाब्रह्मवर्चसेन स एवं वेद" इति विदिनोपसंह्रियते। तथा "यस्तद् वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः" इत्युपक्रमे विदनोक्तं रैक्वस्य ज्ञानम् "अनुम एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से" इत्युपासिनोपसंह्रियते तथा "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि वाक्य समानार्थेषु वाक्येषु "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं तत ध्यायमानः" इत्यादिषु ध्यायतिना वेदनमभिधीयते ध्यानं च चिन्तनं, चिन्तनं च स्मृति

संततिरूपम्, न स्मृतिमात्रम्, उपास्तिरपि तदेकार्थः एकाग्र चित्तवृत्तिनैरन्तर्ये प्रयोगदर्शनात् तदुभयैकार्थ्यात् असकृदावृत्त सन्ततस्मृतिरिह ब्रह्मवेद "ब्रह्मैव भवति" ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैः इत्यादिषु वेदनादिशब्दैरभिधीयते, इति निश्चीयते ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं कि-वेदन पुनः पुनः आवृत्ति के अर्थ में ही प्रयुक्त है। शास्त्रों में ध्यान और उपासना आदि शब्दों के पर्याय रूप से वेदन शब्द का प्रयोग किया गया है। वेदनोपदेश परक वाक्यों में, प्रायः, वेदन ध्यान और उपासना आदि शब्द, एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं। जैसे कि-"मनोब्रह्मेत्युपासीत्" इत्यादि में जो उपासना शब्द से अभिधेय है वही "भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन एवं वेद" इत्यादि में वेदन शब्द से विधेय है। तथा-"यस्तद वेद" इत्यादि वेद शब्द से उल्लेख्य रैक्व के ज्ञान का "अनुमएतां भगवो" में उपासना से उपसंहार किया गया है। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" वाक्य के समानार्थक "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" आदि वाक्यों में वेदन अर्थ में ध्यान शब्द का प्रयोग किया गया है। ध्यान और चिंतन समानार्थक हैं, प्रवाहमयी स्मृति को ही चिन्तन कहते हैं, केवल स्मृति को चिंतन नहीं कह सकते, उपासना शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। एकाग्रचित्तवृत्ति और निरन्तर दोनों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है इसलिए "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" "ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैः" इत्यादि में प्रयुक्त वेदन आदि शब्द निरन्तर स्मृतिरूप पुनः पुनः आवृत्ति अर्थ के ही ज्ञापक हैं ऐसा निश्चित होता है।

लिंगाच्च ।४।१।२॥

लिंगं, स्मृतिश्चायमर्थोऽवगम्यते । स्मर्यते हि मोक्ष साधनभूतं वेदनं स्मृति संततिरूपम् "तद्रूपप्रत्ययेचैका संततिश्चान्य निस्पृहा, तद्ध्यानं प्रथमैः षड्भिरगैर्निष्पाद्यते तथा" इति तस्माद सकृदावृत्तमेव वेदनं शास्त्रार्थः ।

लिंग का तात्पर्य है स्मृति। इसी अर्थ में स्मृति भी वेदन शब्द का प्रयोग करती है। मोक्ष की साधन रूप प्रवाहमयी स्मृति को ही स्मृति

शास्त्र में भी वेदन कहा गया है, जैसे कि—"तद्रूप प्रत्ययेचैका संतति-श्चान्य निस्पृहा तद्ध्यानं प्रथमैः षड्भिरंगै निष्पाद्यते तथा" इत्यादि। इसलिए वेदन शब्द का अर्थ सकृत आवृत्ति ही निश्चित होता है।

२ आत्मत्वोपासनाधिकरणः—

आत्मेति तूपगच्छंति ग्राहयंति च ।४।१।३॥

इदमिदानीं चिन्त्यते-किमुपास्यं ब्रह्मोपासितुरन्यत्वेनोपास्यम्, उतोपासितुरात्मत्वेन-इति। किं युक्तम्? अन्यत्वेनेति कुतः उपासितुः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरत्वाद् ब्रह्मणः अर्थान्तरत्वं च "अधिकं तु भेद निर्देशात् "अधिकोपदेशात् "नेतरोऽनुपपत्तेः" इत्यादिषूपपादितम्। यथावस्थितं च ब्रह्मोपास्यम्, अयथोपासने हि ब्रह्मप्राप्तिरप्ययथा-भूतास्यात्—"यथाक्रतुरस्मिन् लोके भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति न्यायात्। अतोऽन्यत्वेनोपास्यमिति।

अब विचारते हैं कि—उपास्य ब्रह्म की, उपासक से भिन्न मानकर उपासना की जानी चाहिए अथवा उपासक से अभिन्न मानकर? इस पर विचारने से मत होता है कि—भिन्न मानकर ही करनी चाहिए क्योंकि उपासक जीवात्मा की परमात्मा से स्वाभाविक भिन्नता है, "अधिकं तु भेद निर्देशात्" "अधिकोपदेशात्" "नेतरोऽनुपपत्तेः" इत्यादि सूत्रों में इन दोनों की भिन्नता का समर्थन भी किया जा चुका है। ब्रह्म की उपासना एक निश्चित वस्तु है यदि उपासना को निश्चित नहीं मानेंगे तो, ब्रह्म भी अनिश्चित हो जायेगा, ऐसा ही "जैसा इस लोक में आचरण करता है वैसा ही मृत्यु के बाद होता है" इस नियय से ज्ञात होता है। इसलिए भिन्न मानकर ही उपासना करनी चाहिए।

सिद्धान्तः-एवं प्राप्तेऽभिधीयते-आत्मेति तु-इति। तु शब्दोऽव-धारणे, उपासितुरात्मेत्येवोपास्यम्, उपासिता प्रत्यगात्मा स्वयं स्वशरीरस्य यथा आत्मा, तथा स्वात्मनोऽपि परं ब्रह्मात्मेत्येवोपासो-त्यर्थः। कुतः? एवं हि उपगच्छन्ति पूर्वे उपासितारः "त्वं वाअहमस्मि

भगवो देवते अहं वै त्वमसि" इति। उपासितुरर्थान्तरभूतं ब्रह्मोपासितारोऽहमिति कथनमप्युपगच्छंतीत्यत्राह-ग्राहयंति च-इति। इममर्थमविरुद्धमुपासितृ न ग्राहयंति शास्त्राणि-तान् प्रत्युपादयंतीत्यर्थः।

सिद्धान्त–उक्त मत पर सूत्रकार कहते हैं "आत्मेति तु" तु शब्द अवधारणार्थक है उपासक की आत्मा में ही उपास्य का चिन्तन करना चाहिए। उपासक जीवात्मा जैसे अपने शरीर का आत्मा है, वैसे ही उसका आत्मा, परमात्मा है जो कि उपास्य है। ऐसा ही "हे भगवोदेवते! तू ही मै हूँ और मैंही तुम हो" इत्यादि पूर्व उपासकों के भाव से ज्ञात होता है। उपासक से भिन्न परब्रह्म को उपासक, मैं हूँ ऐसा कैसे कह सकता है। इस पर सूत्रकार कहते हैं "ग्राहयंति च" अर्थात् उपासक का ही ऐसा भाव नहीं है अपितु इसी अर्थ का शास्त्र भी प्रतिपादन करते हैं।

"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमंतरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति तथा-"सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ऐतदात्म्यमिदं "सर्वम् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति" इति च सर्वस्यचिदचिद्वस्तुनस्तज्जातत्वात्तल्लत्वादनत्वात्तन्नियाम्यत्वाच्छरीरत्वाच्च सर्वस्यायमात्मा, अतः स आत्मा, अतो यथा प्रत्यगात्मनः स्वशरीरं प्रत्यात्मत्वात् "देवोऽहं मनुष्योऽहम्" इत्यनुसंधानं, तथा प्रत्यगात्मनोऽप्यात्मात्वात् परमात्मनः तस्याप्यहमित्येवानुसंधानं युक्तमिति।

"जो आत्मा में स्थिर है, जिसे आत्मा नहीं जानता आत्मा ही जिसका शरीर है जो कि आत्मा का संयमन करता है वही अमृत अन्तर्यामी आत्मा है" तथा "हे सोम्य! ये सारी प्रजा सन्मूला सदायतना और सत्प्रतिष्ठा है यह सारा जगत आत्म्य है" यह सब कुछ ब्रह्म है, उसी से उत्पन्न रक्षित और उसी में लीन है "इत्यादि वाक्यों में समस्त चिदचिद् वस्तु को उस परमात्मा से उत्पन्न रक्षित और उसी में लीन बतलाते हुए उसी से नियत और उसका शरीर स्थानीय दिखलाया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि यह परमात्मा सब की आत्मा है।

जैसे कि-जीवात्मा अपने शरीर का आत्मा होने के कारण "मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ" इत्यादि अनुभव करता है वैसे ही जीवात्मा अपने आत्मा परमात्मा में भी "तुम मैं हो" ऐसी अनुभूति करता है तो क्या असंगति है।

एवं शास्त्रैरुपपादितं सर्वबुद्धीनां ब्रह्मैकनिष्ठत्वेन सर्वशब्दानां ब्रह्मैकनिष्ठत्वमुपगच्छंतः "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते" इति व्यतिरेकेणोक्तवन्तः, एवं च "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद"—"अकृत्स्नो ह्येष आत्मेत्येवोपासीत्"—"सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" इत्यात्मत्वाननुसंधान निषेधः। "पृथगात्मानं प्रेरितारंच मत्वा" इति पृथक्त्वानुसंधानविधानं चाविरुद्धम् अहमिति स्वात्मतयाऽनुसंधानादन्यत्वानुसंधाननिषेधो रक्षितः, स्वशरीरात्मनोऽधिकत्वानु संधानवत् स्वात्मनोऽपि परमात्मनोऽधिकत्वानुसंधानात् पृथक्त्वानुसंधानविधानं च रक्षितम्। अधिकस्य ब्रह्मणः प्रत्यगात्मन आत्मत्वात्तस्य च ब्रह्मशरीरत्वात् निषेध-वाक्ये "अकृत्स्नो ह्येषः" इत्युक्तम्। अत उपासितुरात्मत्वेन ब्रह्मोपास्यमिति स्थितम्।

"हे भगवो देवते! तुम मैं हूँ, और मैं तुम हो" इत्यादि में जो व्यतिरेक भाव से अभिन्नता दिखलाई गई है, वह सभी बुद्धियों की ब्रह्मैकनिष्ठता और सभी शब्दों की ब्रह्मैकनिष्ठता परिलक्षित करती है तथा "जो देवता की भिन्न भाव से उपासना करते हुए यह विचारता है कि मैं भिन्न हूँ वह नहीं जानता" इत्यादि में आत्मत्व के अनुसंधान न करने का निषेध किया गया है। "आत्मा और प्रेरिता को पृथक मानकर" इत्यादि में जो पृथकता के अनुसंधान का विधान बतलाया गया है वह अविरुद्ध है। अहं से किये गये अपने आत्मा के अनुसंधान से अन्यत्व के अनुसंधान का निषेध हो जाता है तथा अपने शरीर से श्रेष्ठ अपने आत्मा के अनुसंधान की तरह अपने आत्मा से भी श्रेष्ठ परमात्मा के अनुसंधान के विधान से पृथकता के अनुसंधान की बात भी बन जाती है। परमात्मा जीवात्मा से श्रेष्ठ है तथा जीवात्मा उसका

शरीर है, यही बात "अकृत्स्नो ह्येष" इत्यादि निषेध वाक्य में बतलाई गई है। इससे सिद्ध होता है कि–उपासक के आत्मा के रूप में ही ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए।

३. प्रतीकाधिकरण:—

न प्रतीके न हि सः ।४।१।४।।

"मनो ब्रह्मेत्युपासीत्" स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते "इत्यादि प्रतीकोपासनेष्वप्यात्मत्वानुसंधानं कार्यम्, उत न ? इति चिन्तायां" मनो ब्रह्मेत्युपासीत्" इति ब्रह्मोपासनत्वसाम्याद्-ब्रह्मणश्चोपासितुरात्मत्वादात्मेत्येवोपासीतेति ।

"मन की ब्रह्मरूप से उपासना करनी चाहिए" इत्यादि में जो प्रतीकोपासना बतलाई गई हैं उनमें आत्मत्व का अनुसंधान करना चाहिए या नहीं? इस पर विचारने पर मत होता है कि–"मनोब्रह्मेत्युपासीत्" इत्यादि में ब्रह्मोपासनत्व का साम्य है इसलिए उपासक के आत्मा ब्रह्म की, मन में, आत्मा रूप से ही उपासना करनी चाहिए।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते–न प्रतीके–इति । प्रतीके-नात्मत्वानुसंधानं कार्यम्, न हि सः, न हि उपासितुरात्मा प्रतीकः । प्रतीकोपासनेषु प्रतीकएवोपास्यः, न ब्रह्म । ब्रह्म तु तत्र दृष्टिविशेषणमात्रम् प्रतीकोपासनं हि नाम अब्रह्मणि ब्रह्म दृष्ट्या-नुसंधानम्, तत्रोपास्यस्य प्रतीकस्योपासितुरात्मत्वाभावान्न तथाऽनुसंधेयम् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "न प्रतीके" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, कहते हैं कि– प्रतीक में आत्मत्व का अनुसंधान नहीं करना चाहिए, प्रतीक उपासक की आत्मा नहीं है। प्रतीकोपासना में प्रतीक ही उपास्य होता है ब्रह्म नहीं होता। उसमें तो ब्रह्मदृष्टि मात्र होती है अब्रह्म वस्तु में, ब्रह्म दृष्टि के अनुसंधान को ही प्रतीकोपासना कहते हैं। प्रतीक में आत्मत्व का अभाव है इसलिए उसमें उपासक के आत्मत्व का अनुसंधान नहीं करना चाहिए।

नन्वत्रापि ब्रह्मैवोपास्यम्, ब्रह्मणउपास्यत्वसंभवे मन आदीनामचेतनानामल्पशक्तीनां चोपास्यत्वाश्रवणस्यान्याय्यत्वात्। अतो मन आदि दृष्ट्या ब्रह्मैवोपास्यमिति–अत आह–

(तर्क) प्रतीकों में भी ब्रह्म ही उपास्य है यदि प्रतीकों को ब्रह्म मानकर उपासना नहीं करेंगे तो मन आदि अत्यल्प शक्तिवाले अचेतनों को उपास्य मानना असंगत होगा, इसलिए मन आदि दृष्टि से ब्रह्म को ही उपास्य समझना चाहिए। इस पर कहते हैं–

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ।४।१।५।।

मनआदिषु ब्रह्मदृष्टिरेव युक्ता, न ब्रह्मणि मन आदि दृष्टिः ब्रह्मणो मन आदिभ्य उत्कर्षात्, तेषां च विपर्ययात्। उत्कृष्टे हि राजनि भृत्यदृष्टिः प्रत्यवायकरी, भृत्ये तु राजदृष्टिरभ्युदयाय।

मन आदि प्रतीकों में ब्रह्म दृष्टि करना ही सुसंगत है ब्रह्म में मन आदि दृष्टि करना संगत नहीं है क्योंकि–ब्रह्म, मन आदि से उत्कृष्ट तत्त्व है, वह मन आदि से श्रेष्ठ व्यापक है। श्रेष्ठ राजा में भृत्य दृष्टि करना अपराध है, भृत्य में राज दृष्टि की जा सकती है वह भृत्य के उत्कर्ष की द्योतिका है।

४. आदित्यादिमत्यधिकरणः–

आदित्यादिमतयश्चांग उपपत्तेः ।४।१।६।।

"य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत" इत्यादिषु कर्मांगाश्रयेषु उपासनेषु संशयः, किमुद्गीथादौ कर्मांगे आदित्य दृष्टिः कर्त्तव्या उत आदित्यादिषु उद्गीथादि दृष्टिः ? इति। उत्कृष्ट दृष्टिर्निकृष्टे कर्त्तव्येति न्यायात् उद्गीथादीनां च फलसाधनभूत कर्मांगत्वेनाफलेभ्य आदित्यादिभ्यः उत्कृष्टत्वादादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिः।

"य एवासौ तपति" इत्यादि कर्मांगाश्रित उपासनाओं के कर्मांग उद्‌गीथ आदि में आदित्य दृष्टि करना चाहिए अथवा आदित्य आदि में उद्‌गीथ आदि दृष्टि करनी चाहिए ? निकृष्ट में उत्कृष्ट दृष्टि करना चाहिए, इस नियम के अनुसार और कर्मांग होने से फलसाधनभूत उद्‌गीथ आदि आदित्य आदि से उत्कृष्ट ही निश्चित होते हैं इसलिए उद्‌गीथ आदि दृष्टि ही समीचीन प्रतीत होती है

सिद्धान्तः---एवं प्राप्तेऽभिधीयते--आदित्यादिमतयश्चांगे-इति च शब्दोऽवधारणे, क्रत्वंगे उद्गीथादावादित्यादिदृष्टय एव कार्याः, कुतः उपपत्तेः, आदित्यादीनामेवोत्कृष्टत्वोपपत्तेः, आदित्यादि देवताराधन द्वारेण हि कर्मणामपि फलसाधनत्वम्, अतस्तद्दृष्टिरुद्गीथाद्यंगे ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "आदित्यादिमतय" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि-- क्रत्वंग उद्‌गीथ आदि में आदित्य आदि दृष्टि ही करना चाहिए, आदित्य आदि ही उत्कृष्ट, निश्चित होते हैं। आदित्य आदि देवताओं के आराधना के द्वारा ही कर्म की फल साधनता होती है, इसलिए उद्‌गीथ आदि अंगों में उनकी दृष्टि करना ही युक्ति युक्त है।

५. आसीनाधिकरणः--

आसीनः संभवात् ।४।१।७॥

मोक्षसाधनतया वेदांतशास्त्रैर्विहितं ज्ञानं ध्यानोपासनादि शब्दवाच्यमसकृदावृत्तं संततस्मृतिरूपमित्युक्तम्। तदनुतिष्ठन्नासीनः शयानः तिष्ठन् गच्छंश्च विशेषाभावादनियमेनानुतिष्ठेत् ।

मोक्ष साधक होने से, वेदांत शास्त्र विहित-ध्यान उपासना आदि शब्द वाच्य ज्ञान को निरन्तर स्मृति स्वरूप अभ्यास बतलाया गया है, जो कि उठते बैठते चलते फिरते सोते, बिना किसी नियम के ही हो सकता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—आसीनः, इति। आसीन उपासनमनुतिष्ठेत् कुतः ? संभवात् आसीनस्यैव हि एकाग्रचित्तता-संभवः, स्थितिगत्योः प्रयत्नसापेक्षत्वात्, शयनेन निद्रा संभवात्। पश्चार्धधारणप्रयत्ननिवृत्तये सापाश्रये आसीनः कुर्यात्।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं "आसीनः संभवात्" अर्थात् बैठकर ही उक्त प्रकार का अभ्यास संभव हो सकता है, बैठने पर ही चित्त की एकाग्रता हो सकती है, खड़े होकर या चलते-फिरते अभ्यास का होना तो, प्रयास करने पर ही संभव हो सकता है। सोते हुए करना निद्रा के कारण संभव नहीं है। बिना किसी प्रयास और चेष्टा के अभ्यास की सिद्धि तो बैठकर ही हो सकती है, इसलिए बैठकर ही अभ्यास करना चाहिए।

ध्यानाच्च ।४।१।८॥

"निदिध्यासितव्यः" इति ध्यानरूपत्वादुपासनस्य, एकाग्र-चित्तताऽवश्यम्भाविनी। ध्यानं हि विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहित-मेकचिन्तनमित्युक्तम्।

"निदिध्यासितव्यः" कहकर उपासना को ध्यान रूप बतलाया गया है, इसलिए ध्यान रूप उपासना में एकाग्रचित्तता अवश्य होनी चाहिए। ध्येय के अतिरिक्त किसी अन्य का स्मरण न होकर एकमात्र ध्येय का ही अखंड चिन्तन होना ही ध्यान कहलाता है।

अचलत्वं चापेक्ष्य ।४।१।९ ॥

निश्चलत्वं चापेक्ष्य पृथिव्यन्तरिक्षादिषु ध्यानवाचोयुक्तिर्दृश्यते, "ध्यायतीव पृथवी, ध्यायतीवांतरिक्षं, ध्यायतीव द्यौः, ध्यायन्ती-वापो, ध्यायन्तीव पर्वताः" इति। अतः पृथिवीपर्वतादिवदेकाग्र-चित्ततया निश्चलत्वमुपासकस्यासीनस्यैव संभवेत्।

ध्यान में निश्चलता अपेक्षित है यही बात "ध्यान करती सी पृथ्वी, ध्यान करता सा आकाश, ध्यान करता सा जल, ध्यान करते से

पर्वत" इत्यादि में दिखलाया गया है। पृथ्वी पर्वत आदि की तरह निश्चल होने पर ही उपासक में एकाग्रचित्तता संभव है जो कि बैठने पर ही हो सकती है।

स्मरंति च ।४।१।१०॥

स्मरंति चासीनस्यैव ध्यानं "शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्"–तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः, उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।" इति।

स्मृति में भी बैठकर ही ध्यान करने का विधान मिलता है—"पवित्र स्थान में न अति ऊँचे न अति नीचे कुश अजिन वस्त्र वाले स्थिर आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके आत्म शुद्धि के लिए चित्त और इन्द्रियों की चेष्टाओं का संयमन करना चाहिए" इत्यादि।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।४।१।११॥

एकाग्रतातिरिक्त देशकालविशेषाश्रवणादेकाग्रतानुकूलो योदेशः कालश्च, स एवोपासनस्य देशः कालश्च। "समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते" इति वचनमेकाग्रतैकान्तदेशमाह, न तु देशं नियच्छति "मनोऽनुकूले" इति वाक्यशेषात्।

मन की एकाग्रता के अनुकूल जो स्थान और समय हो वही उपासना का स्थान और समय है, किसी विशेष स्थान और समय का उल्लेख नहीं मिलता। "सम पवित्र कंकड़ों, बालू अग्नि आदि से रहित स्थान में" इत्यादि वाक्य में जो स्थान का निर्देश किया गया है वह एकाग्रता के अनुकूल स्थान का ही सूचक है किसी स्थानविशेष का निर्धारक नहीं है। उक्त वाक्य के अन्त में "मनोऽनुकूले" कह कर उक्त आशय को स्पष्ट कर दिया गया है।

६. आप्रयाणाधिकरणः—

आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम् ।४।१।१२॥

तदिदमपवर्गसाधनमुक्तलक्षणमुपासनमेकाह एव संपाद्यम्, उत आप्रयाणात्प्रत्यहमनुवर्त्तनीयम् ? इति विशये, एकस्मिन्नेवाहनि शास्त्रार्थस्य कृतत्वात्तावतैव परिसमापनीयम् ।

मोक्ष साधक यह उपासना एक दिन ही करना चाहिए या जीवन पर्यन्त करनी चाहिए ? इस संशय पर मत होता है कि एक बार ही शास्त्र के अर्थ के द्वारा समझ कर उपासना कर लेना चाहिए बार बार करने की क्या आवश्यकता है ?

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते–आप्रयाणात्–इति, आमरणादनुवर्त्तनीयम्, कुतः ? तत्रापि हि दृष्टम्, उपासनोद्योग प्रभृत्याप्रयाणान्मध्ये यः कालः तत्र सर्वत्रापि दृष्टमुपासनम्" स खल्वेवंवर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते ।" इति ।

उक्त मत पर सूत्रकार कहते हैं कि–मृत्युपर्यन्त उपासना करनी चाहिए, शास्त्रों में, साधना को जब से प्रारंभ करो तब से लेकर मृत्यु–पर्यन्त करो, ऐसा उल्लेख मिलता है "वह साधना का आश्रय लेकर जीवन व्यतीत कर ब्रह्मलोक की प्राप्ति करता है", इत्यादि ।

७. तदधिगमाधिकरणः

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौतद्व्यपदेशात् ।४।१।१३॥

एवं विद्या स्वरूपं विशोध्य विद्याफलं चिन्तयतुमारभते । ब्रह्मविद्या प्राप्तौ पुरुषस्योत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ श्रूयेते–"तद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यंते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यन्ते" तस्यैवाऽत्मा पदवित्तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेन" इत्युत्तराघाश्लेषः "तद्यथेषीकतूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं

हास्य सर्वं पाप्मानः प्रदूयन्ते" क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इति पूर्वाघविनाशः। एतावश्लेषविनाशौ विद्याफल-भूतावुपपद्येते नेति ? संशयः।

विद्या के स्वरूप पर विचार कर अब, विद्या के फल पर विचार प्रारंभ करते हैं। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होने पर उपासक के आगत और अतीत पापों का अस्पर्श और विनाश बतलाया गया है-"जिसे जानने वाले से पापों का वैसे ही श्लेष नहीं होता जैसे कि कमलपत्र से जल का संबंध नहीं होता" उस आत्म तत्त्व को जानने वाले के कर्म पाप से लिप्त नहीं होते" इत्यादि में आगत पापों का अश्लेष बतलाया गया है। "जैसे कि सींक का अगला भाग अग्नि में घुसाते ही भस्म हो जाता है वैसे ही उपासक के सारे पाप भस्म हो जाते हैं" उस परावर तत्त्व को जान लेने पर उपासक के सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं" इत्यादि में अतीत पापों के विनाश की बात आई है। इस पर संशय होता है कि-यह पापों का अश्लेष और विनाश विद्या के फल स्वरूप होता है या नहीं ?

किं युक्तम् ? नोपपद्येते इति, कुतः ? "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" इत्यादि शास्त्रविरोधात्। अश्लेषविनाश व्यपदेशस्तु मोक्षसाधनभूतविद्याविधायिवाक्यशेषगतः कथंचिद् विद्यास्तुति प्रतिपादनेनाप्युपपद्यते। न च विद्या पूर्वोत्तराघयोः प्रायश्चित्ततया विधीयते, येन प्रायश्चित्तेनाध विनाशउच्यते। विद्याहि "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" इति ब्रह्मप्राप्त्युपायतया विधीयते। अतो विद्यार्थवादोऽयमघविनाशा-श्लेषव्यपदेश इति।

उक्त संशय पर मत होता है कि-विद्या से अश्लेष विनाश नहीं हो सकता "बिना भोगे करोड़ों कल्पों में भी कर्म का क्षय नहीं हो सकता" इस शास्त्र वाक्य से ऐसा ही ज्ञात होता है। मोक्ष की साधन स्वरूप विद्या के विश्लेष वाक्यों के अंत में, पाप के अश्लेष विनाश की बात आई है, जो कि-विद्या की प्रशंसा के लिए कही गई प्रतीत होती है। आगत अतीत पापों का प्रायश्चित्त विद्या से होता है, ऐसा विधान बतलाया

गया हो, यह समझ में नहीं आता। विद्या को तो, ब्रह्म प्राप्ति के उपाय रूप से "ब्रह्मविदाप्नोतिपरं" इत्यादि वाक्यों में बतलाया गया है, इसलिए विद्या से होने वाले पापों के अश्लेष विनाश की बात को अर्थवाद मात्र मानना चाहिए।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते–तदधिगमे इति। विद्याप्राप्तौ पुरुषस्य विद्या माहात्म्यादुत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशावुपपद्येते, कुतः एवंविधं हि विद्यामाहात्म्यवगम्यते "एवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते" "एवं ह्यस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयंते" इत्यादि व्यपदेशात्।

उक्त मत पर सूत्रकार सिद्धान्त रूप से–"तदधिगमे" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं; वे कहते हैं कि–विद्या की प्राप्ति हो जाने पर उपासक के सारे पापों का संश्लेष समाप्त हो जाता है जो कि विद्या का ही माहात्म्य है। शास्त्रों में विद्या का ऐसा ही माहात्म्य वर्णन किया गया है- "ऐसा जानकर पाप कर्म से आश्लिष्ट नहीं होता" उसके सारे पाप भस्म हो जाते हैं" इत्यादि।

न च-"नाभुक्तं क्षीयते कर्म" इत्यनेन शास्त्रेणास्य विरोधः, भिन्नविषयत्वात्। तद् हि कर्मणां फलजननसामर्थ्यंद्रढिमविषयम्, एतत्तूत्पन्नाया विद्यायाः प्राक्कृतानां पाप्मनां फलजननशक्तिविनाश सामर्थ्यमुत्पस्यमानानां च फलजननशक्त्युत्पत्तिप्रतिबंधकरण सामर्थ्यं च प्रतिपादयतीति द्वयोर्विषयोर्भिद्यते। यथा अग्निजलयो रौष्ण्यतन्निवारणसामर्थ्यविषययोर्द्वयोः प्रमाणयोरपि विषयभेदात् प्रामाण्यम्, एवमत्रापीति न कश्चिद् विरोधः।

"बिना भोग के कर्मों का क्षय नहीं होता" इस शास्त्र वाक्य से उक्त वाक्य का विरोध भी नहीं होता, क्योंकि दोनों भिन्न विषयक वाक्य हैं। यह वाक्य, कर्मों की फलजनन शक्ति की महत्ता का द्योतक है तथा "पापभस्म हो जाते हैं" इत्यादि वाक्य, विद्या की उत्पत्ति होने पर, अतीत पापों की फलजनन शक्ति के विनाश तथा आगत पापों की फल-जनन शक्ति के प्रतिरोध की सामर्थ्य का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार दोनों वाक्य भिन्न विषयक हैं। जैसे कि अग्नि और जल की उष्णता और

शीतलता को प्रमाणित करने वाले, प्रमाणों के विषय में भेद होने से उदाहरणों में विभिन्नता होती है वैसे ही उक्त वाक्यों के विषय में भेद है, इसलिए इनमें परस्पर विरुद्धता का प्रश्न ही नहीं उठता।

अघस्याश्लेषकरणं-वैदिककर्मायोग्यतावासनाप्रत्यवायहेतु शक्त्युत्पत्ति प्रतिबंधकरणम्। अघानि हि कृतानि पुरुषस्य वैदिक कर्मायोग्यतां सजातीयकर्मान्तरारंभरुचिं च, प्रत्यवायं च कुर्वन्ति। अघस्य विनाशकरणं-उत्पन्नायास्तच्छक्तेर्विनाशकरणम्। शक्तिरपि परंपुरुषाप्रीतिरेव। तदेवं विद्या वेदितुर्वेद्यात् अर्थंप्रियत्वेन स्वयमपि निरतिशय प्रिया सती वेद्यभूतपरमपुरुषाराधनस्वरूपा पूर्वकृताघसंचयजनित परंपुरुषाप्रीतिं विनाशयति, सैव विद्या स्वोत्पत्त्युत्तरकालभाव्यघनिमित्तपरं पुरुषाप्रीत्युत्पत्तिं च प्रतिबध्नाति। तदिमश्लेषवचनं प्रामादिकविषयं मंतव्यम्। "नाविरतो दुश्चरितात्" इत्यादिभिः शास्त्रैराप्रयाणादहरुत्पद्यमानाया उत्तरोत्तरातिशयभागिन्याः विद्यायाः दुश्चरितविरतिनिष्पाद्यत्वावगमात्।

वैदिक कर्मों की ओर से मन को हटाने वाली वासना ही इतनी प्रबलतम शक्ति है जो कि पापों की ओर उन्मुख करती है, उसी के वशीभूत होकार मनुष्य पापों से आश्लिष्ट होते हैं। पापों से मनुष्य, वैदिक कर्मों के प्रति घृणा का भाव तथा पाप कर्मों के प्रति अभिरुचि एवं प्रमाद करने लगता है। ऐसा पाप के विनाश का तात्पर्य है, उस पाप से होने वाली शक्तिशाली प्रवृत्ति का विनाश होना। परमात्मा के प्रति होने वाली अनास्था ही पाप जन्य शक्तिशाली प्रवृत्ति है। ब्रह्म विद्या ऐसी शक्तिशाली बूटी है जो कि आनन्दमयी प्रणाली से परमात्मा के प्रति होने वाली अनास्था का निवारण करके जो कि अतीत पापों के फलस्वरूप होती है, आगत पापों से संभाव्य अनास्था का भी, संहार कर देती है। इस प्रकार विद्या का फल बतलाने वाला जो अश्लेषवचन है वह, प्रमाद के निवारण की बात बतला रहा है यही मानना चाहिए। "नाविरतो दुश्चरितात्" इत्यादि शास्त्र वचन से, जीवन पर्यन्त अनुष्ठित

विद्या के प्रभाव से उत्तरोत्तर दुश्चरितों से छुटकारा मिलता है, यही भाव दिखलाया गया है।

८ इतराधिकरण:—

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ।४।१।१४॥

उत्तरपूर्वाघयोर्विद्यया अश्लेषविनाशावुक्तौ, इतरस्यपुण्यस्यापि एवम्, उक्तेनन्यायेनाश्लेषविनाशौ विद्ययास्याताम्, विद्याफल विरोधित्व सामान्याद्व्यपदेशाच्च। भवति च व्यपदेशः, उभेसुकृत-दुष्कृते निर्दिश्य "सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्त्तन्ते" इति, "तत्सुकृतदुष्कृते-धुनुते" इति च। मुमुक्षोरनिष्टफलत्वात् सुकृतस्यापि पाप्मशब्देन व्यपदेशः। सुकृतस्यापि शास्त्रीयत्वात्तत्फलस्य केषांचिदिष्टदर्शनाच्च विद्याया अविरोध शंकां निवर्तयितुमतिदेशः।

ननु विदुषोऽपि सेतिकर्त्तव्यताकोपासननिर्वृत्तयेवृष्ट्यन्नादि फलानीष्टान्येव, कथं तेषां विरोधात् विनाश उच्यते? तत्राह "पाते तु" इति। शरीरपाते तु तेषां विनाशः, शरीरपातादूर्ध्वं तु विद्यानुगुणदृष्टफलानि सुकृतानि नश्यंति, इत्यर्थः।

आगत् और अतीत पापों के अश्लेष और विनाश की बात कह दी गई। ऐसी ही पुण्य की भी व्यवस्था है, उसी नियम से विद्या के द्वारा आगत अतीत पुण्यों का अश्लेष विनाश होता है शास्त्रों में पुण्य को भी मोक्ष का विरोधी बतलाया गया है। सुकृत और दुष्कृत दोनों का निर्देश करते हुए बतलाया गया कि— उसके सारे पाप विद्या से निवृत्त हो जाते हैं "वह सुकृत दुष्कृत दोनों का परित्याग कर देता है" इत्यादि। मुमुक्षु के लिए पुण्य भी अनिष्टकारी होते हैं, इसलिए उन्हें भी पाप शब्द से निर्देश किया गया है। शास्त्रीय पुण्य कर्मों का उत्तम फल होता है इसलिए किसी प्रकार वे विद्या के सहकारी हो सकते हैं, ऐसी शंका के निवारण के लिए "सुकृतदुष्कृतेधूनुते" ऐसा विशेष निर्देश करा गया है।

(शंका) उपासक के भी कर्त्तव्य रूप से अनुष्ठित पुण्य कर्म प्रतिफलित होते देखे जाते हैं और इष्ट से प्रतीत होते हैं, उन्हे विरोधी कैसे कह सकते हैं, यदि वह विरोधी है तो उनका विनाश कब होता है? इस पर सूत्रकार कहते हैं "पाते तु" अर्थात् शरीरपात हो जाने पर उनका विनाश हो जाता है, शरीरपात के बाद उन पुण्यों का विनाश होता है जो कि विद्या के अनुरूप प्रत्यक्ष फल देते हैं।

९ अनारब्धकार्याधिकरण:--

अनारब्ध कार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ४।१।१५॥

ब्रह्मविद्योत्पत्तेः पूर्वोत्तरभाविनोः सुकृतदुष्कृतयोरश्लेषविनाशावुक्तौ, ततः पूर्वभाविनोः सुकृतदुष्कृतयोः किमविशेषेण विनाशः, उतानारब्धकार्ययोरेव? इति विशये "सर्वेपाप्मानः प्रदूयंते" इति विद्याफलस्याविशेषश्रवणात् विद्योत्पत्त्युत्तरकालभाविन्याश्च शरीरस्थितेः कुलालचक्रभ्रमणादिवत् संस्कारवशादप्युपपत्तेरविशेषेण।

ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति से, आगत अतीत सुकृतदुष्कृतों का अश्लेष विनाश बतला दिया गया। अब संदेह होता है कि--सभी पापपुण्यों का अश्लेष विनाश होता है अथवा जिनका फल अभी प्रारंभ नहीं हो पाया है उन्हीं का होता है? इस पर मत होता है कि--"सभी पाप भस्म हो जाते हैं" इस वचन से ऐसा ही ज्ञात होता है कि--विद्या से सभी पापपुण्यों का विनाश हो जाता है, जैसे कि कुम्हार का चक्का चलता है तब सभी कुछ उसमें भ्रमित होता रहता है वैसे ही विद्योत्पत्ति के बाद होने वाले सभी आरब्ध अनारब्ध पुण्यपाप, विद्या संस्कार के वश विनष्ट हो कर कुम्हार निर्मित नूतन पात्र की तरह हो जाते हैं।

सिद्धान्तः---इति प्राप्ते उच्यते--अनारब्ध कार्ये एव तु पूर्वे--इति, विद्योत्पत्तेः पूर्वे सुकृतदुष्कृते अनारब्धकार्ये अप्रवृत्तफले एव विद्ययाविनश्यतः, कुतः? तदवधेः, "तस्यतावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथसंपत्स्ये" इति शरीरपातविलम्बावधिश्रुतेः न च

पुण्यकर्मजन्यभगवत्प्रीत्यप्रीतिव्यतिरेकेण शरीरस्थितिहेतुभूत संस्कारसद्भावे प्रमाणमस्ति ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत किया गया "अनारब्ध कार्ये एवतु पूर्वे" अर्थात् विद्या से उन्हीं का विनाश होता है जो कि-विद्योत्पत्ति के पूर्व के हैं जिन्य पुण्यपापों का फल अभी प्रांरभ नहीं हुआ है। जो कर्म फल दे रहे हैं उनके विनाश की अवधि बतलाई गयी है। "उनके विनाश में तभी तक की देर है जब तक इस शरीर से मुक्ति नहीं मिलती" इस शरीर पात विलम्बावधि बोधक श्रुति से उक्त बात निश्चित होती है। शरीर में विद्या संस्कार से समुत्पन्न संस्कारों को, पुण्य पाप जन्य भगवत् प्रीति अप्रीति के आधार पर प्रमाण नहीं माना जा सकता, इस विषय में तो शास्त्र ही प्रमाण है।

१०. अग्निहोत्राद्यधिकरणः-

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ।४।१।१६॥

"इतरस्याप्येवमसंश्लेषः" इति विद्याबलात सुकृतस्याप्य-संश्लेष उक्तः अग्निहोत्रादीनां नित्यनैमित्तिकानां स्वाश्रमधर्माणा-मपि सुकृतत्वसामान्येन तत्फलस्याश्लेषादनिच्छतोऽनुष्ठाने ।

"इतरस्याप्यसंश्लेषः" सूत्र से बतालाया गया कि-विद्या के प्रभाव से पुण्यों का भी असंश्लेष हो जाता है। यदि ऐसा ही है तो नित्य नैमित्तिक अग्नि होत्रादि आश्रमधर्म जो कि पुण्य कर्म ही हैं उनका भी असंश्लेष होगा, तो उसके अनुष्ठान में प्रवृत्ति ही क्यों होगी ?

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते-"अग्निहोत्रादि तु" इति । तु शब्दः सुकृतान्तरेभ्यो विशेषणार्थः, अग्निहोत्रादिआश्रमधर्माः फलाश्लेषासंभवादनुष्ठेया एव, तदसंभवश्च तत्कार्यार्थत्वात्तेषाम् विद्याख्य कार्यायैव हि विदुषोऽग्निहोत्राद्यनुष्ठानम् । कथमिदमवग-म्यते ? तद्दर्शनात्, दृश्यते हि-"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन" इत्यादिनाऽग्निहोत्रा-दीनां विद्यासाधनत्वम् । विद्यायाश्चाप्रयाणादभ्याससाधेयातिशयाया

अहरहरुत्पाद्यत्वात्तदुत्पत्त्यर्थमाश्रमकर्माण्यहरहरनुष्ठेयमेव अन्यथा-ऽश्रमकर्मलोपे दूषितान्तः करणस्य विद्योत्पत्तिरेव न स्यात् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से अग्निहोत्रादि तु इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् अग्निहोत्र आदि आश्रम कर्मों के फल का असंश्लेष नहीं होता इसलिए उनका अनुष्ठान करना चाहिए, उनका फल विद्या कार्य में सहयोगी ही होता है इसलिए विद्वान उपासक उनका अनुष्ठान करते हैं। 'यज्ञ दान तप द्वारा वे परमात्मा को जानने की इच्छा करते हैं इत्यादि वाक्यों में अग्निहोत्रादि को विद्या का साधक बतलाया गया है जीवन पर्यन्त किये जाने वाले विद्या के अभ्यास में, अग्निहोत्रादि कर्मों से उत्कर्ष ही होता है इसलिए आश्रम कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए यदि आश्रम कर्मों का लोप हो जायेगा तो उससे अन्तःकरण दूषित होगा, जिससे विद्योत्पत्ति हो ही नहीं सकेगी।

यदि अग्निहोत्रादि साधुकृत्या विद्योत्पत्यर्थाः, विद्योत्पत्तेः प्राचीनं च सुकृतं "यावत्संपातमुषित्वा" प्राप्यातं कर्मणः "इत्यनुभवेन विनष्टम्, भुक्तशिष्टं च प्रारब्धफलं "सुहृदः साधुकृत्याम्, इत्यस्य को विषयः ? तत्राहः—

(शंका) यदि अग्निहोत्रादि पुण्यकर्मों को विद्योत्पत्ति का सहायक मान लेंगे और अतीत पुण्यों को विद्या से विनष्ट मान लेंगे तथा प्रारब्ध फल को शरीरपात तक भोग्य मान लेंगे तो "पुण्य कर्म मित्र को मिलते हैं" इत्यादि वाक्य किन कर्मों के लिए कहा गया है ? इसका उत्तर देते हैं—

अतोऽन्यापि हि एकेषामुभयोः ।४।१।१७॥

अतः--अग्निहोत्रादि साधुकृत्यायाः विद्योत्पत्त्यर्थायाः अन्यापि विद्याधिगमात् पूर्वोत्तरयोरुभयोरपि पुण्यकर्मणोः प्रबलकर्म प्रतिबद्ध फला साधुकृत्याऽनन्तासंभवत्येव, तद्विषयमिदमेकेषांशाखिनां वचनं "तस्य पुत्रा दायमुपयंति सुहृदः साधुकृत्याम्" इति। विद्यया अश्लेषविनाश श्रुतिश्च तद्विषया।

अग्निहोत्रादि विद्योत्पत्ति के सहायक पुण्यकर्मों से भिन्न विद्या प्राप्ति के पहिले और बाद के पुण्य कर्मों के फल को भी बाध करने वाले कुछ ऐसे प्रबलतम फल दायक कर्म होते हैं जो कि विद्याभ्यास से अवरुद्ध नहीं होते. उन्हीं के लिए वेद की एक शाखा में कहा गया कि–"उस उपासक का दायभाग तो पुत्र प्राप्त करते हैं और पुण्य कार्य मित्र प्राप्त करते हैं। विद्या से अश्लेष विनाश को बतलाने वाली श्रुति तो उक्त विषयक ही है।

अनुष्ठितस्यापि कर्मणः फलप्रतिबंधसंभवं पूर्वोक्तं स्मारयति–

अनुष्ठित कर्मों की फलावरोध की बात का पुनः उल्लेख करते हैं–

यदेव विद्ययेति हि ।४।१।१८॥

"यदेव विद्याया करोति तदेव वीर्यवत्तरम्" इत्युद्गीथ विद्यायाः क्रतुफलाप्रतिबन्धफलत्ववचनेनानुष्ठितस्यापि कर्मणः फलप्रतिबंधः सूच्यते हि। अतो विदुषोऽनुष्ठितप्रतिबद्ध फलविषयं "सुहृदः साधुकृत्याम्" इति शाट्यायनकम् ।

"जो विद्या से किया जाता है वह प्रबलतम होता है" इस उद्गीथ विद्या के यज्ञफल की प्रबलता को बतलाने वाले वचन से अनुष्ठित कर्म की प्रबलता ज्ञात होती है। ऐसे प्रबलतम शुभ कर्मों की प्राप्ति की बात ही "सुहृदः साधुकृत्याम्" में कही गई है। अर्थात् उपासक विद्या के अभ्यास से मुक्त हो जाता है, पर जो अनुष्ठान करता है उसका पुण्य उसे जन्म के चक्र में नहीं डालता उसके (आश्रम धर्मों का) पुण्य सुहृदों को मिल जाता है।

११ इतरक्षपणाधिकरण :—

भोगेनत्वितरे क्षपयित्वाऽथ संपद्यते ।४।१।१९॥

ययोः पुण्यपापयोरश्लेषविनाशावुक्तौ, ताभ्यामितरे आरब्धकार्ये पुण्यपापे किं विद्यायोनिशरीरावसाने, उत तच्छरीरावसाने शरीरान्तरावसाने वा इत्यनियमः ? इति संशये "तस्यतावदेव चिरं

यावन्न विमोक्ष्ये" इति तच्छरीरविमोक्षावसानत्वश्रवणात्त-द्वसाने ।

जिन पुण्य पापों के अश्लेष विनाश की बात कही गई उनसे भिन्न जो प्रारब्ध पुण्य पाप हैं जो कि मुक्त होने पर ही छूटते हैं वे कब छूटते हैं ? क्या वे इस शरीर के समाप्त होने पर छूट जाते हैं जिससे विद्या प्राप्त की गई अथवा अन्य शरीर धारण करके भोगने पर छूटते हैं अथवा इसका कोई नियम नहीं है ? इस संशय पर मत होता है कि—"तस्यताव-देव चिरं" से तो ऐसा ज्ञात होता है कि— विद्या प्राप्त होने वाले शरीर से होने वाली उपासना के साथ साथ ही उनसे छुटकारा मिल जाता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—भोगेन तु इति । तु शब्दः पक्ष व्यावृत्यर्थः, इतरेप्रारब्धकार्ये पुण्यपापे स्वारब्धफलभोगेन क्षपयित्वा तत्फलभोगसमाप्त्यनंतरं ब्रह्म संपद्यते, ते च पुण्यपापे एकशरीरोपभोग्य फलेचेत् तच्छरीरावसाने संपद्यते, अनेकशरीर-भोग्यफले चेत् तदवसाने संपद्यते, भोगेनैव क्षपयितव्यत्वादारब्ध-फलयोः कर्मणोः । "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये" इति च भोगेन तयोः कर्मणोः विमोक्ष उच्यते, देहावधि नियमा-श्रवणात् ।

तदेवं ब्रह्मविद्यायाः प्रागनुष्ठितमभुक्तफलमनारब्धफलं पुण्यपापरूपं कर्मानादिकालसंचितमनंतं विद्यामाहात्म्याद् विनश्यति, विद्यारम्भोत्तरकालमनुष्ठितं च न श्लिष्यति, तत्र पुण्य रूपं सर्वविदुषः सुहृदो गृह्णन्ति, पापं च द्विषन्त इति निरवद्यम् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "भोगेन तु" सूत्र प्रस्तुत करते हैं सूत्र में तु शब्द पक्ष का व्यावर्त्तक है। इतर जो प्रारब्ध पुण्य पाप के फल हैं वह अपने प्रारंभ फल भोग की समाप्ति होने पर ही छूटते हैं

तभी मोक्ष होता है। वे पुण्य पाप यदि एक शरीर में भोगने योग्य होते हैं तो उस शरीर के साथ ही समाप्त हो जाते हैं और यदि अनेक शरीरों में भोगने योग्य होते हैं तो मुक्त होने पर अन्य शरीरों के अवसान पर छूटते हैं प्रारब्ध पुण्य पाप कर्मों के फल भोग की बात कही गई है, देह की अवधि का नियम तो बतलाया नहीं गया है।

इस प्रकार निश्चित होता है कि– ब्रह्मविद्या के प्रथम किये गये जो कर्म हैं जिनका कि फल आरंभ नहीं हुआ है वे, अनादि काल संचित पुण्य पाप कर्म, विद्या के प्रभाव से बिना फलोपभोग के ही नष्ट हो जाते हैं, तथा विद्या प्राप्ति के बाद होने वाले जो भावी पुण्य पाप कर्म हैं उनका फल ही उपासक से आश्लिष्ट नहीं होता अपितु विद्या प्राप्ति के बाद वह जो कुछ भी शुभ कर्म करता है उसका फल उसके मित्रों को तथा अशुभ कर्मों का फल उसके शत्रुओं को प्राप्त होता है।

चतुर्थ अध्याय प्रथम पाद समाप्त

चतुर्थ अध्याय

द्वितीय पाद

१ वागाधिकरणः—

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ।४।२।१॥

इदानीं विदुषो गतिप्रकारं चिन्तयितुमारभते। प्रथमं तावदुत्क्रांतिश्चिन्त्यते। तत्रेदमाम्नायते "अस्य सौम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्" इति। अत्र "वाङ्मनसि संपद्यते" इति वाचो मनसि संपत्तिश्रुतिः किं वाग्वृत्तिमात्रविषया, उत वाग्विषया? इति विशये वृत्तिमात्र विषयेति युक्तम् कुतः? मनसोवाक् प्रकृतित्वाभावात्तत्र वाक्स्वरूपसंपत्त्यसंभवात्। वागादिवृत्तीनां मनोऽधीनत्वेन वृत्तिसंपत्तिश्रुतिः कथंचिदुपपद्यत इति।

अब उपासक की गति के प्रकार का विचार प्रारंभ करते हैं पहिले उत्क्रांति पर विचारेंगे। श्रुति है कि–"हे सौम्य! इस उपासक के जाते समय वाणी मन से मन प्राण से, प्राण तेज से और तेज पर देवता से संलग्न होता है।" इसमें जो कहां गया कि"वाणी मन से संलग्न होती है" सो यह कथन वाणी की वृत्ति मात्र के लिए है या वाणी के लिए है? इस पर विचारने से तो ऐसा मत होता है कि वृत्तिमात्र के लिए ही है, क्योंकि मन में वाक् प्रकृति का अभाव है इसलिए वाणी का स्वरूप तो उसमें संलग्न हो नहीं सकता, वाणी आदि की वृत्तियाँ मन के अधीन रहती हैं; इसलिए, वृत्ति की संलग्नता की बात ही किसी प्रकार मानी जा सकती है।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते-वाङ्मनसि इति । वाक्स्वरूपमेव मनसि संपद्यते । कुतः? दर्शनात् दृश्यते हि वागिन्द्रिय उपरतेऽपि मनः प्रवृत्तिः । वृत्तिमात्र संपत्त्यापि तदुपपद्यत इति चेत् तत्राह-शब्दाच्चेति "वाङ् मनसि संपद्यते" इति वाक्स्वरूप संपत्तावेव हि शब्दः, न वृत्तिमात्रसंपत्तौ । नहि तदानीं वृत्त्युपरमे वागिन्द्रियं प्रमाणान्तरेणोपलभ्यते, येन वृत्तिमात्रमेव संपद्यत इत्युच्येत । यदुक्तं मनसो वाक् प्रकृतित्वाभावाद्वाचो मनसिसंपत्तिर्नोपपद्यत इति, तत् "वाङ्मनसि संपद्यते" इति वचनान्मनसा वाक् संयुज्यते न तु तत्र लीयत इति परिहर्त्तव्यम् ।

उक्त मत पर "वाङ् मनसि" सूत्र कहते हैं । अर्थात् वाणी का स्वरूप ही मन से संलग्न होता है । ऐसा देखा भी जाता है कि-वागिन्द्रिय के उपरत होने पर भी मन की प्रवृत्ति बनी रहती है । यदि कहें कि-वह तो वृत्तिमात्र की संलग्नता में भी रहती है? इस पर सूत्रकार कहते हैं "शब्दाच्च" अर्थात् शास्त्र का भी यही कथन है "वाङ्मनसि" में स्पष्ट रूप से वाणी के स्वरूप का उल्लेख किया गया है, वृत्ति की चर्चा भी नहीं है । यह नहीं कह सकते कि वृत्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं है पर वृत्ति का भाव निहित है; ऐसा तो तभी माना जा सकता है जबकि कहीं अन्यत्र भी वृत्तिमात्र के संलग्न होने की चर्चा आई हो, सभी जगह वाणी की संलग्नता का ही उल्लेख है । जो यह कहा कि मन में वाक् प्रकृतित्व का अभाव है इसलिए मन में वाणी की संलग्नता संभव नहीं है, सो "वाङ् मनसि संपद्यते" में वाणी का मन में संयोग मात्र ही बतलाया गया है, लीन होने की बात नहीं कही गई है ।

अतएवसर्वाण्यनु ।४।२।२॥

यतो वाचो मनसा संयोगमात्रं संपत्तिः, नतु लयः, अतएव वाचमनु सर्वेषामिन्द्रियाणां मनसि संपत्तिश्रुतिरुपपद्यते "तस्मादुपशान्ततेजा अपुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः "इति ।

जैसे कि वाणी का मन से संलग्न मात्र होना संपत्ति बतलाया गया, लय होना नहीं कहा गया, वैसे ही वाणी के पीछे सभी इन्द्रियों का मन में संलग्न होना श्रुति से ही ज्ञात होता है "इस प्रकार तेज के संलग्न हो जाने पर इन्द्रियों सहित सब के मन में संलग्न हो जाने पर" इत्यादि।

२ मनोऽधिकरणः—

तन्मनः प्राण उत्तरात् ।४।२।३॥

तत्-सर्वेन्द्रियसंयुक्तं मनः प्राणे संपद्यते-प्राणेन संयुज्यते, न मनोवृत्तिमात्रम्, कुतः? उत्तरात्-"मनः प्राणे" इति वाक्यात्।

फिर सभी इन्द्रियों से संसक्त वह मन प्राण में मिल जाता है। "मनः प्राणे" इस उत्तर वाक्य से ज्ञात होता है कि मन ही संसक्त होता है, मनोवृत्तिमात्र का ही संयोग नहीं होता।

अधिकाशंका तु—"अन्नमयं हि सोम्य मनः" इति वचनान्मनसोऽन्न प्रकृतित्वमवगम्यते, अन्नस्य च "ता अन्नमसृजंत" इत्यन्नमयत्वं सिद्धम् "आपोमयः प्राणः" इति चाप्प्रकृतित्वं प्राणस्यावगम्यते, अतो मनः प्राणे संपद्यत इत्यत्र प्राणशब्देनप्राणप्रकृतिभूता अपोनिर्दिश्य तासु मनः संपत्ति प्रतिपादने परम्परया स्वकारणे लय इति संम्पत्तिव चनमुपन्नं भवति—इति।

इस पर विशेष शंका होती है कि-"हे सोम्य! मन अन्नमय है" इस वचन से मन का अन्न प्रकृतित्व ज्ञात होता है "ता अन्नमसृजंत' से उनकी अन्नमयता सिद्ध होती है। इसी प्रकार" प्राण जलमय हैं इस वचन से प्राण का जल प्रकृतित्व ज्ञात होता है; जो मन की प्राण में संलग्नता बतलाई गई, उसमें प्राण शब्द से प्राण प्रकृति रूप जल का निर्देश करके उसमें मन की संलग्नता दिखालाई गई उससे तो परम्परा से अपने कारण में लय की बात ही संपत्ति द्वारा दिखलाई गई प्रतीत होता है।

परिहारस्तु—"अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः" इति मनः प्राणयोरन्नेनाद्भिश्चाप्यायनमुच्यते, न तत्प्रकृतित्वं, आहुः

कारिकत्वान्मनसः, आकाशविकारत्वाच्च प्राणस्य । प्राणशब्देन अपां लक्षणा च स्यात्–इति ।

समाधान–"हे सौम्य! मन अन्नमय और प्राण जलमय हैं" इत्यादि वाक्य में मन और प्राण का अन्न और जल से संसर्ग बतलाया गया है, अन्न और जल को उनकी प्रकृति नहीं कहा गया है, आहंकारिक होनें से मन का अन्नमय होना तथा आकाश के विकार से होने के कारण प्राण का जलमय होना कहा गया है। प्राण शब्द से जल में लक्षणा है, प्राण का अभिधार्थ जल नहीं है।

३ अध्यक्षाधिकरणः—

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ।४।२।४॥

यथा–"वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे" इतिवचनानुरोधेन मनः प्राणयोरेव वाङ् मनसयोः संपत्ति, तथा "प्राणस्तेजसि" इति वचनात् तेजस्येव प्राणः संपद्यते ।

जैसे कि-"वाङ्मनसि" इत्यादि से ज्ञात होता है कि मन और प्राण में वाणी और मन की संलग्नता है, वैसे ही "प्राणस्तेजसि" इत्यादि से ज्ञात होता है कि–प्राण की तेज से संलग्नता होती होगी।

सिद्धान्तः–इति प्राप्त उच्यते–"सोऽध्यक्षे" इति। स प्राणः, अध्यक्षे–कारणाधिपे–जीवे संपद्यते । कुतः ? तदुपगमादिभ्यः प्राणस्य जीवोपगमः तावच्छ्रूयते "एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायंति" इति । तथा जीवेन सह प्राणस्योत्क्रांति श्रूयते–"तमुत्क्रांत प्राणोऽनूत्क्रामति" इति । प्रतिष्ठा च जीवेन सह श्रूयते–"कस्मिन्नुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठते प्रतिष्ठास्यामि" इति। एवं जीवेन संयुज्य तेन सह तेजः संपत्तिरपि "प्राणस्तेजसि" इत्युच्यते, यथा यमुनायाः गंगया

संयुज्य सागरगमनेऽपि "यमुना सागरं गच्छति" इति वचो नं विरुध्यते तद्वत्।

उक्त कथन पर सिद्धान्त रूप से "सोऽध्यक्षे" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं कि वह प्राण, अध्यक्ष अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी जीव में संलग्न हो जाता है। प्राण का जीवोपगम बतलाया भी गया है– जब जीव की ऊर्ध्व श्वास चलने लगती है तो सारे प्राण इस आत्मा के अभिमुख होकर इसके साथ जाते हैं। तथा प्राण के साथ जीव की उत्क्रांति का भी वर्णन मिलता है "उसके उत्क्रमण करने पर प्राण भी उत्क्रमण करते हैं।" जीव के साथ प्राण की प्रतिष्ठा का भी वर्णन मिलता है "किसके निकलने पर मैं निकला हुआ सा हो जाऊँगा, तथा किसके रहने पर मैं स्थित रहूँगा (उसने ऐसा विचार किया) "इसी भाव के अनुसार जीव से संयुक्त प्राण की तेज से संपत्ति बतलाई गई है जैसे कि यमुना गंगा से संलग्न होकर सागर में जाती है, पर यह "यमुना सागर में जा रही है" यह कथन भी–असंगत नहीं वैसे ही, प्राण जा रहें हैं, बात भी है।

४ भूताधिकरण:–

भूतेषु तच्छ्रुतेः।४।२।५।।

"प्राणस्तेंजसि" इति जीवसंयुक्तस्य प्राणस्य तेजसि संपक्तिरुक्ता, सा संपत्तिः किं तेजोमात्रे, उत संहृतेषु सर्वेषु भूतेषु ? इति संशये तेजोमात्र श्रवणात्तेजसि।

"प्राणतेज में" इत्यादि में जीव संयुक्त प्राण की तेज में संपत्ति बतलाई गई है। अब प्रश्न होता है कि वह संपत्ति केवल तेज में ही होती है अथवा संयुक्त सभी भूतों में होती है ? तेज का ही नाम आता है, इससे तो केवल तेज में होने की बात ही समझ में आती है।

सिद्धान्तः–इति प्राप्त उच्यते–भूतेषु इति, भूतेषु संपद्यते, कुतः ? तच्छ्रुतेः "पृथिवीमयः, आपोमयः तेजोमयः" इति जीवस्य

संचरतः सर्वभूतमयत्वश्रुतेः ।

उक्त मत पर "भूतेषु" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं--भूतों में संपत्ति होती है, "पृथिवी मयः आपोमयः तेजोमयः" इत्यादि श्रुति में जीव की सर्वभूतमयता बतलाई गई है ।

ननु तेजः प्रभृतिष्वेकैकस्मिन् क्रमेण संपत्तावपि "पृथिवीमयः" इत्यादिका श्रुतिरुपपद्येते--अत आह--

लगता है "पृथिवीमयः" इत्यादि श्रुति, तेज आदि एक-एक की क्रमशः संपत्ति का वर्णन कर रही है । इसका उत्तर देते हैं--

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ।४।२।६॥

नैकस्मिन्, एकैकस्य कार्याक्षमत्वात् । दर्शयतो हि अक्षमत्वं श्रुतिस्मृती--"अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" इति नामरूपव्याकरण-योग्यत्वाय त्रिवृतकरणमुपदिश्यते ।" नानावीर्याः पृथग्भूतः ततस्ते संहतिं विना, नाशक्नुवन प्रजाः सृष्टुमसमागम्यकृत्स्नशः । समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयः, महदाद्याविशेषान्ता हि अंडमुत्पादयंति ते" इति । अतः "प्राणस्तेजसि" इति तेजः शब्देन भूतांतरसंसृष्टमेव तेजोऽभिधीयते । अतो भूतेष्वेव संपत्तिः ।

इन भूतों में अकेले कार्य करने की क्षमता नहीं है । इनकी अक्षमता श्रुति स्मृति में बतलाई गई है--"इस जीव में आत्मरूप से प्रविष्ट होकर नामरूप का विस्तार करूं ऐसा विचार करके उसने तीन-तीन का एक-एक यूथ बनाया ।" इसमें नामरूप के विस्तार की योग्यता के लिए त्रिवृत-करण का उल्लेख है । "विभिन्न शक्ति वाले वे बिना मिले, अलग-अलग रहकर समस्त सृष्टि की रचना करने में सक्षम नहीं हैं, वे परस्पर मिलकर एक दूसरे के आश्रय से महत आदि से लेकर अंड तक का उत्पादन करते हैं ।" इससे ज्ञात होता है कि--"प्राणस्तेजसि" में तेज

शब्द से, अन्य भूतों से संलग्न तेज ही अभिधेय है। इसलिए भूतों में ही जीव की संपत्ति होती है यही मानना चाहिए।

५ आसृत्युपक्रमाधिकरणः—

समानाचासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ।४।२।७॥

इयमुत्क्रान्तिः किं विद्वदविदुषोः समाना, उत अविदुष एव ? इति चिन्तायां, अविदुष एवेति प्राप्तम्, कुतः ? विदुषोऽत्रैवामृतत्व-वचनादुत्क्रान्त्यभावात्। विदुषो हि अत्रैवामृतत्वं श्रावयति—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्यहृदिस्थिताः, अथ मर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" इति।

ऊपर जिस उत्क्रान्ति की चर्चा आई है क्या ये उपासक अनुपासक दोनों की समान रूप से होती है अथवा अनुपासक की ही होती हैं ? इस पर विचारने से तो ऐसा ही ज्ञात होता है कि अनुपासक की ही होती है, उपासक तो इस लोक में ही मुक्त हो जाता है जैसा कि—"जब उपासना करते हुए इसकी हृदयस्थ समस्त कामनायें नष्ट हो जाती हैं तब यह मर्त्य इस लोक में ही मुक्त होकर ब्रह्म प्राप्ति कर लेता है" इस श्रुति से निश्चित होता है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—समानाचासृत्युपक्रमात् इति। विदुषोऽप्यसृत्युपक्रमादुत्क्रांतिः समाना। आसृत्युपक्रमात्-आगत्युपक्रमात्--नाडीप्रवेशात् प्रागित्यर्थः। विदुषो हि नाडीविशेषे-णोत्क्रम्य गतिः श्रूयते--"शतं-चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका,तयोर्धमापन्नमृतत्वमेति विष्वङ्न्या उत्क्रमणे भवंति" इति। एवं नाडीविशेषेण गतिश्रवणात् विदुषोऽप्युत्क्रांतिर-वर्जनीया। सा च नाडी प्रवेशात् प्रागविशेषा श्रवणात् समाना। तत्प्रवेशदशायां च विशेषः श्रूयते--"तेन प्रद्योतेनैषआत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः" इति। "शतं

चैका च हृदयस्य' इत्यनया श्रुत्यैकार्थ्यान्मूर्ध्नो निष्क्रमणं विद्वद्-विषयम्, इतरद्विद्वद् विषयम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि–असृति उत्क्रम अर्थात् नाडी प्रवेश के प्रथम तक उपासक अनुपासक दोनों की समान उत्क्रांति होती है। उपासक की नाडी विशेष से गति बतलाई गयी है—"हृदय से संसक्त एक सौ एक नाडियों में से एक मूर्धा की ओर जाती है उसके आश्रय से उपासक ऊपर की ओर जाकर उत्क्रमण करके अमृतत्व प्राप्त करता है।" इस नाडी विशेष की गति के वर्णन से, उपासक की उत्क्रान्ति तो निश्चित हो ही जाती है। इस नाडी के प्रवेश के प्रथम तो उपासक अनुपासक दोनों की समान रूप से उत्क्रांति प्रक्रिया चलती है। इस नाडी में प्रवेश काल का कुछ विशेष वर्णन मिलता है "उस नाडी में प्रवेश करके यह आत्मा नेत्र मूर्धा या किसी अन्य स्थान विशेष से निष्क्रमण करता है" "शतं चैका च हृदयस्य" इत्यादि से जिसके निष्क्रमण की चर्चा की गई है वह उपासक की ही है, उससे भिन्न जो निष्क्रमण की चर्चा मिलती है वह उपासक के अतिरिक्त सभी की है।

यदुक्तं–विदुषोऽत्रैवामृतत्वं श्राव्यते-इति, तत्रोच्यते अमृतत्वं चानुपोष्य–इति। च शब्दोऽवधारणे। अनुपोष्य शरीरेन्द्रियादि संबंधमदग्ध्वैव, यदमृतत्वम् उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशरूपं प्राप्यते, तदुच्यते "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" इत्यादिकया श्रुत्येत्यर्थः। "अत्र ब्रह्मसमश्नुते" इति च उपासनवेलायां यो ब्रह्मानुभवः, तद्विषय-मित्यभिप्रायः।

जो यह कहा कि–उपासक का इस लोक में ही मोक्ष का वर्णन मिलता है, उस पर सूत्रकार का कथन है "अमृतत्वं चानुपोष्य" अर्थात् शरीर इन्द्रिय आदि का संबंध नहीं छुटता इस स्थिति में भी तो अमृतत्व की बात है वह आगत और अतीत पापों के अश्लेष विनाश की ही बात है अर्थात् अश्लेष विनाश ही मुक्ति है "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" इत्यादि श्रुति से यही दिखलाया गया है "यहीं ब्रह्म प्राप्ति कर लेता है" का तात्पर्य

है कि उपासना के समय जो ब्रह्मानुभूति होती है, वही ऐहलौकिक ब्रह्म प्राप्ति है।

तदापीतेः संसार व्यपदेशात् ।४।२।८।।

अवश्यं च तत्–अमृतत्वमदग्धदेहसंबंधस्यैवेति विज्ञेयम्। कुतः ? आपीतेः संसारव्यपदेशात्–अपीतिः–अप्ययः–ब्रह्म प्राप्तिः। साचार्चिरादिनामार्गेण देशविशेषं गत्वेति वक्ष्यते। आतदवस्था-प्राप्तेः संसारः, देहसंबंधलक्षणो हि व्यपदिश्यते--"तस्यतावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये" इति "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, धूत्वाशरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्म-लोकमभिसंभवानि" इति च।

ऊपर जिस अमृतत्व प्राप्ति की चर्चा की गई है, निश्चित ही वह देह संबंध के बिना नष्ट हुए ही मिलती है अर्चिरादिमार्ग से जाने पर जिस देश विशेष की प्राप्ति होती है वही ब्रह्म प्राप्ति है, उस मार्ग में जाने के प्रथम तक देह संबंध रूप संसार का संबंध बना रहता है "उसकी ब्रह्म प्राप्ति में तभी तक का विलंब है जब तक प्रारब्ध भोग कर इस शरीर से नहीं छूट जाता" जैसे कि घोड़ा रोयों को झाड़कर चैतन्य हो जाता है वैसे ही उपासक पापों को झाड़ कर राहु से मुक्त चन्द्रमा के समान स्वच्छ होकर ब्रह्म लोक को प्राप्त करता है।" इत्यादि से उक्त बात निश्चित होती है।

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ।४।२।९।।

इतश्च विदुषोऽपि बंधो नात्र दग्धः यत्तत्सूक्ष्मं शरीरमनुवर्त्तते। कुत इदमवगम्यते ? प्रमाणतस्तथोपलब्धेः उपलभ्यते हि देवयानेन पथा गच्छतो विदुषः 'तं प्रतिब्रूयात्" "सत्यंब्रूयात्" इति चन्द्रमसा संवाद वचनेन शरीरसद्भावः। अतः सूक्ष्मशरीरमनुवर्त्तते। अतश्च बंधो न दग्धः।

उपासक के शरीर बंधन मुक्ति की बात तो इसलिए भी नहीं मानी जा सकती कि–स्थूल के छूटने पर सूक्ष्म शरीर तो साथ जाता ही है । देवयान मार्ग से जाते हुए उपासक से चंद्रमा से संवाद होता है ऐसा "तंप्रति ब्रूयात्" "सत्यं ब्रूयात्' इत्यादि वर्णनों से निश्चित होता है संवाद बिनाशरीर के होना संभव नहीं है, इसलिए शरीर का होना तो निश्चित ही है, वह सूक्ष्म शरीर ही है, इसलिए शरीर संबंध के छटने की बात सही नहीं है ।

नोपमर्देनात :।४।२।१०॥

अतः "यदासर्वेप्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः, अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते" इति वचनं न बन्धोपमर्देनामृतत्वं वदति ।

इसलिए "यदा सर्वे" इत्यादि में जिस अमृतत्व की चर्चा है वह शरीर संबंध रहित अमृत्व की नहीं है, यही मानना चाहिए ।

अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ।४।२।११।

अस्य सूक्ष्मशरीरस्य क्वचिद् विद्यमानत्वोपपत्तेर्विदुषः अक्रान्तमरणस्य मरणात् प्रागूष्मा स्थूलेशरीरे क्वचिदु उपलभ्यते । न च स्थूलस्यैव शरीरस्यायमूष्मा अन्यत्रानुपलब्धेः । ततश्चोष्मणः क्वचिदुपलब्धिर्विदुषः सूक्ष्मशरीरस्योत्क्रांति निबंधनेति गम्यते । तस्माद् विदुषोऽप्यासृत्युपक्रमात् समानोत्क्रांतिरिति सुष्ठूक्तम् ।

इस सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को जानना हो तो, कभी भी मरणासन्न व्यक्ति के मरण के पूर्व उसके स्थूल शरीर को छूकर ऊष्मा से जाना जा सकता है, वह ऊष्मा स्थूल शरीर की नहीं होती मरणोपरान्त स्थूल शरीर में वह नहीं होती। इस प्रकार की ऊष्मोपलब्धि से यह निर्णय होता है कि उपासक की जो उत्क्रान्ति होती है वह सूक्ष्म शरीर के आश्रित होती है । इसलिए जो यह कहा कि–नाडी विशेष में प्रवेश करने के पूर्व उत्क्रांति सभी की समान होती, यह ठीक ही है ।

पुनरपि विदुष उत्क्रांतिर्न संभवतीत्याशंक्य परिह्रियते—

उपासक की उत्क्रांति नहीं हो सकती, ऐसी पुनः आशंका कर के उसका परिहार करते हैं—

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् स्पष्टो हि एकेषाम् ।४।२।१२।।

यदुक्तं–विदुषोऽप्युत्क्रांति समानेति, तन्नोपपद्यते, विदुष उत्क्रांति प्रतिषेधात । तथाहि–"स एतास्तेजोमात्राः समभ्याद दानो हृदयमेवान्वपक्रमति" इत्युपक्रम्य "तेन प्रद्योतेनैषआत्मा निष्क्रामति तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति "इत्यविदुष उत्क्रांति प्रकारमभिधाय "अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते" इति देहान्तरपरिग्रहं चाभिधाय "प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययं तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे इति तु कामयमानः" इत्यविद्वद्विषयं परिसमाप्य "अथाकामयमानो योऽकामोनिष्काम आत्मकामः न तस्य प्राणा उत्क्रामंति ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति" इति विदुष उत्क्रांतिः प्रतिषिध्यते । तथा पूर्वत्र आर्त्तभाग प्रश्नेऽपि विदुष उत्क्रांति प्रतिषेधो दृश्यते–"अप-पुनर्मृत्युं जयति" इति विद्वांसं प्रस्तुत्य "याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते उदस्मात् प्राणाः क्रामंत्याहो न" इति पृष्टः "नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवलीयंते स उच्छ्वयत्याध्मातो मृतः शेते" इति अतोविद्वानिहैवामृतत्वं प्राप्नोति इति चेत् ।

जो यह कहा कि उपासक की उत्क्रांति सभी के समान होती है, वह कथन ठीक नहीं है, उपासक की उत्क्रांति का तो प्रतिषेध किया गया है । जैसा कि प्रसंग आता है कि– "वह इन प्राणों की तेजोमात्रा को अच्छी तरह ग्रहण करके हृदय में ही अनुत्क्रांत (अभिव्यक्त ज्ञानवान) होता है" यहाँ से प्रारंभ करके " उसके उत्क्रमण करने पर उसको साथ ही प्राण उत्क्रमण करते हैं ।" इत्यादि से अनुपासक की उत्क्रांति का

प्रकार बतलाकर-"दूसरे नवीन और कल्याणतर (अधिक सुन्दर) रूप की रचना करता है" इत्यादि से उसके देहान्तर परिग्रह को बतलाकर "इस लोक में यह जो कुछ करता है उस कर्म का फल प्राप्त कर उस लोक से कर्म करने के लिए पुनः इस लोक में आ जाता है कामना करने वाले पुरुष की ऐसी ही गति होती है" यहाँ तक अनुपासक के विषय में कहकर "जो आकाम निष्काम और आप्तकाम होता है उसको प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त होता है" इत्यादि से उपासक की उत्क्रांति का प्रतिषेध किया गया है। इसी प्रकार आर्त्तभाग के प्रश्न में भी उपासक की उत्क्रांति का प्रतिषेध मिलता है-" याज्ञवल्क्य ने कहा-पुनर्मृत्यु का पराजय होता है" इत्यादि से उपासक का प्रसंग प्रस्तुत करने पर आर्त्तभाग ने पूछा-याज्ञवल्क्य ! जिस समय यह मरता है उस समय उसको प्राणों का उत्क्रमण होता है या नहीं ?" याज्ञवल्क्य ने कहा "नहीं-नहीं वे यहाँ ही लीन हो जाते हैं वह वायु को खींच कर यहीं मृत होकर सोता है।" इत्यादि से ज्ञात होता है कि उपासक इस लोक में ही अमृतत्व प्राप्त करता है।

तन्न, शारीरात्--प्रत्यगात्मनः, प्राणानामुत्क्रांतिर्ह्यत्र प्रतिषिध्यते, न शरीरात् "न तस्य प्राणा उत्क्रामंति" इत्यत्र तच्छब्देन "अथाकामयमानः" इति प्रकृतः शारीर एव परामृश्यते नाश्रुतं शरीरम्। "तस्य" इति षष्ठ्या प्राणानां संबंधित्वेन शारीरो निर्दिष्टःन तूत्क्रान्त्यपादनत्वेन। उत्क्रान्त्यपादानं तु शरीरमेवेति चेत्, न--अपादानापेक्षायामश्रुताच्छरीरात्संबंधितया श्रुतस्यात्मन एव सन्निहितत्वेनापादानतयापि ग्राह्यत्वात्।

जैसी धारणा की गई बात वैसी नहीं है, उक्त प्रसंग में जीवात्मा के प्राणों के उत्क्रमण का निषेध किया गया है शरीर के अनुत्क्रमण की चर्चा नहीं है "न तस्य प्राणा उत्क्रामंति" इस वाक्य में तत् शब्द से "अथाकामायमानः" में कहे गये जीवात्मा का ही उल्लेख है शरीर का नहीं। "तस्य" इस षष्ठी पद से प्राणों का संबंध दिखलाया है जिससे जीवात्मा का ही निर्देश निश्चित होता है, यदि जीव के शरीर से अलग न होने की बात होती तो अपादान पंचमी का प्रयोग तो शरीर में होता,

शरीर शब्द तो इस वाक्य में लुप्त है (अर्थात् "नतस्य शरीरात् प्राणा उत्क्रामंति" के स्थान पर केवल न तस्य प्राणानुत्क्रामंति" कहा गया है) सो आपका यह कथन भी व्याकरण नियम के विरुद्ध है, यदि लुप्त शरीर शब्द के संबंध की बात होती तो शरीर शब्द से निकटस्थ तत् शब्द में भी अपादान का ही प्रयोग दिखलाई देता (अर्थात् "न तस्मात् शरीरात् प्राणात् उत्क्रामंति" ऐसा प्रयोग किया गया होता,) सो तो है नहीं ।

किं च प्राणानां जीवसंबंधितयैव प्रज्ञातानां तत्संबंधकथने प्रयोजनाभावात् संबंधमात्र वाचिन्या षष्ठ्या अपादानमेव विशेष इति निश्चीयते । यथा "नटस्य शृणोति" इति । न चात्र विवदितव्यं स्पष्टो हि एकेषां माध्यन्दिनानामाम्नाये शारीरो जीव एवापादानमिति--"योऽकामो निष्काम आप्तकामो आत्मकाम न तस्मात् प्राणा उत्क्रामंति" इति ।

(तर्क प्राणों का संबंध तो जीव से ही है इसलिए कोई प्रयोजन तो है नहीं कि जीव का पृथक् निर्देश किया जाता, संबंध मात्र को बतलाने के लिए ही षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है जो कि अपादान स्थानीय ही है, जैसे कि--"नटस्य शृणोति" इत्यादि में किया जाता है [उत्तर] यहाँ विशेष विवाद की आवश्यकता नहीं है. यहां तो माध्यन्दिन आम्नाय की एक शाखा में स्पष्ट रूप से जीव का ही अपादान प्रयोग किया गया है--"जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम है, उससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते ।"

शारीरात् प्राणानामुत्क्रांतिप्रसंगाभावात्तन्निषेधो नोपपद्यत इति चेत्, न "तस्य तावदेव चिरं" इति विदुषः शरीरवियोग काले ब्रह्मसंपत्ति वचनेन प्राणानामपि तस्मिन् काले शरीराद् विदुषो वियोगः प्रसज्यते, ततश्च देवयानेन पथा ब्रह्मसंपत्तिर्नोपपद्यत इति । "न तस्य प्राणा उत्क्रामंति" देवयानेन पथा ब्रह्मप्राप्तेः प्रागृजीवाद् विदुषोऽपि प्राणा न विश्लिष्यन्तीत्युच्यते । आर्तभाग प्रश्नोऽपि यदा

विद्वद्विषयः तदा अयमेव परिहारः, सत्वविद्वद्विषयः, तत्र प्रश्न प्रतिवचनयोः ब्रह्मविद्या प्रसंगादर्शनात्, तत्रहि ग्रहातिग्रहरूपेणेन्द्रियेन्द्रियार्थ स्वभावः, अपामग्न्यन्नत्वं, म्रियमाणस्य जीवस्य प्राण परित्यागः, मृतस्यनामवाच्यकीर्त्यनुवृत्तिः, तस्य च पुण्यपापानुगुणगतिप्राप्तिरित्येतेऽर्थाः प्रश्नपूर्वकं प्रत्युक्ताः । तत्र च "अपपुनर्मृत्युंजयति" इति अपामग्न्यन्नत्व ज्ञानादग्निजय एव मृत्युजय उच्यते । अतो नात्र विदुषः प्रसंगः अविदुषस्तु प्राणानुत्क्रान्तिवचनं-स्थूलदेहवत्प्राणा न मुंचंति अपि तु भूतसूक्ष्मवज्जीवं परिष्वज्य गच्छन्ति, इति प्रतिपादयतीति निरवद्यम् ।

(तर्क) यदि कहें कि–उक्त प्रसंग में जीव से प्राणों की उत्क्रांति का अभाव मान लेंगे तो, उसके निषेध का प्रश्न ही क्या है? (उत्तर) "तस्य तावदेव चिरम्" इत्यादि शरीर वियोग काल में उपासक की ब्रह्म संपत्ति बतलाने वाले वचन से ज्ञात होता है कि उपासक का उसी समय प्राणों से भी वियोग होता है, इसीलिए देवयान में ब्रह्मसंपत्ति नहीं होती । "न तस्य प्राणा उत्क्रामंति"–से भी यही बतलाते हैं कि देवयान मार्ग से जाते हुए उपासक जीव के प्राण भी, ब्रह्म प्राप्ति के पूर्व तक उससे नहीं छूटते । आर्त भाग के प्रश्न में भी यही बात कही गई है वहाँ उपासक जीव का प्रसंग ही नहीं है, वह तो अनुपासक जीव का विषय है, वहाँ प्रश्नोत्तरों में ब्रह्मविद्या को प्राप्त न करने वालों के विषय में उनकी इन्द्रियों और उनके स्वभाव की जलअग्नि अन्नरूपता, म्रियमाण जीव की प्राण परित्याग का प्रकार, मृत जीव का स्वाभाविक अनुवृत्ति का प्रकार, उसके अनुसार पुण्यपापानुरूपगति प्राप्ति इत्यादि का विवेचन किया गया है वहाँ जो "अपपुनर्मृत्युंजयति" कहा गया है वह तो ज्ञान से अग्निजय को ही मृत्युजय कहा गया है । इसलिए उसे उपासक जीव का प्रसंग समझना ही नहीं चाहिए । अनुपासक जीव के प्राणों की उत्क्रांति का जहाँ प्रसंग है, उसमें भी यही दिखलाया गया है कि–स्थूल शरीर की तरह प्राण, उसको एकाएक नहीं छोड़ देते अपितु सूक्ष्मरूप से संसक्त होकर उस जीव के साथ जाते हैं ।

स्मर्यते च ।४।२।१३॥

स्मर्यते च विदुषोऽपि मूर्धनाड्योत्क्रांतिः "ऊर्ध्वमेक स्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्यमंडलं, ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परांगतिम्" इति ।

उपासक की मूर्धा की नाडी से उत्क्रांति की बात स्मृति में भी कही गई है "ऊपर की एक नाडी में स्थित वह जीव, सूर्यमंडल का अतिक्रमण करते हुए ब्रह्म लोक को भी अतिक्रमण कर परं गति गोलोक की प्राप्ति करता है ।"

६ परसंपत्त्यधिकरणः

तानि परे तथाह्याह ।४।२।१४॥

सकरग्रामः, स प्राणः, करणाध्यक्षः प्रत्यगात्मा उत्क्रांति वेलायां तेजः प्रभृति भूतसूक्ष्मेषु संपद्यत इत्युक्तम्, सैषा संपत्ति-र्विदुषो न विद्यत इति आशंक्य परिहृतम्, तानि पुनर्जीवपरिष्वक्तानि भूतसूक्ष्माणि किं यथाकर्म यथाविद्यं च स्वकार्याय गच्छंति, उत परमात्मनि संपद्यन्ते? इति विशये मध्ये परमात्म संपत्तौ सुखदुःखो-पभोगरूपकार्यदर्शनात् तदुपभोगानुगुण्येन यथाकर्म यथाविद्यं च गच्छंति ।

इन्द्रिय प्राणों सहित इन्द्रियों का स्वामी जीवात्मा उत्क्रांति के समय तेज आदि सूक्ष्म भूतों से संसक्त रहता है यह बतलाया गया, ऐसी आसक्ति उपासक की नहीं होती ऐसी शंका करते हुए उसका समाधान भी किया गया । अब प्रश्न होता है कि—जीव की मुक्ति हो जाने पर वे सूक्ष्मभूत जीव के कर्मानुसार उसके साथ ही रहते हैं अथवा, परमात्मा में लीन हो जाते हैं? इस संशय पर विचारने से ज्ञात होता है कि वे परमात्मा में मिल नहीं सकते क्योंकि परमात्मा में सुखदुःख के उपभोग नहीं हैं, इसलिए वे जीव में संसक्त रहते हैं ।

इति प्राप्त उच्यते-तानि परे इति, तानि परस्मिन्नात्मनि संपद्यंते, कुत:? तथाह्याह श्रुति:"तेज: परस्यां देवतायाम्" इति। यथाह श्रुतिः तदनुगुणकार्यं कल्प्यमित्यर्थः। सुषुप्तिप्रलयोर्यथा परमात्मसपत्त्या सुखदु:खोपभोगायासविश्रम: तद्वद् इहापि।

उक्त मत पर सूत्रकार कहते हैं कि वे परमात्मा में संसक्त हो जाते हैं, "तेज परमात्मा में चला जाता है" इत्यादि श्रुति में इनकी परमात्मा में मिलने की बात स्पष्टत: कही गई है, इन भूतों के जो कर्मानुसार कार्य होते हैं, वे सृष्टि में ही होते हैं, यही श्रुति का तात्पर्य है। सुषुप्ति और मूर्छा में जैसे जीवात्मा, आत्मस्थ परमात्मा से संसक्त हो जाता है उस समय उसके सुखदु:खोपभोग के सारे क्रिया कलाप तटस्थ रहते हैं, वैसे ही मुक्तावस्था में भी जीवात्मा के परमात्मा में संसक्त रहते हैं [सृष्टिकाल में वे पुन: जीवात्मा के साथ अपने क्रिया कलाप के विस्तार के लिए सचेष्ट होते हैं]

७ अविभागाधिकरणः—

अविभागोवचनात्।४।१।१५

सेयं परमात्मनि संपत्तिः किं प्राकृतलयवत् कारणापत्तिरूपा, उत "वाङ् मनसि" इत्यादिवत् अविभागरूपा? इति चिन्तायाम्-परमात्मनः सर्वेषां योनिभूतत्वात् कारणापत्तिरूपा।

यह जो भूतों की परमात्मा में संलग्नता की बात कही गई वह किस प्रकार की है, क्या वह प्राकृतलय की तरह कारणापत्तिरूपा अर्थात् कारण में कार्य के मिलने की बात है अथवा "वाङ्मनसि" की तरह तद्रूप होकर चिपके रहने की बात है? इस पर विचारने से-परमात्मा सभी के कारण हैं इसलिए, कारण में कार्य के मिलने की बात, समझ में आती है।

सिद्धान्त:-इति प्राप्त उच्यते:-"अविभाग:" इति। अपृथग्भाव: पृथग्व्यवहारानर्ह संसर्ग इत्यर्थः। कुत:? वचनात् "तेज: परस्यां देवतायाम्" इत्यत्रापि "वाङ् मनसि संपद्यते" इत्यत: संपद्यत इति

वचनस्यानुषंगात्, तस्य च संसर्गविशेष वाचित्वात्, अनुषक्त स्याभिधानवैरूप्यप्रमाणाभावात, उत्क्रांतिवेलायां कारणापत्ति प्रयोजनाभावात् पुनस्तत्राव्यक्तादिसृष्ट्यवचनाच्च ।

उक्त मत पर सूत्रकार कहते हैं कि—इन सूक्ष्म भूतों का परमात्मा से जो सम्मेलन होता है वह इतना सूक्ष्म होता है कि—उसे पृथक् कहना कठिन है । "तेजः परस्यां देवतायाम्' इस वचन से ही उक्त बात समझ में आ जाती है । "वाङ्मनसि संपद्यते" में जो अनुषक्त होने की बात कही गई है, वह विशेष प्रकार के संसर्ग का ही बोध कराती है । परमात्मा में अनुषक्त, इन सूक्ष्म भूतों के नामभेद का तो, उल्लेख मिलता नहीं, और न उत्क्रांति के समय इनका कारण में लीन होने का कोई प्रयोजन ही समझ में आता है, तथा इन अव्यक्त आदि का उस अवस्था में सचेष्ट होकर संचालित होने का प्रमाण ही मिलता है, जिससे इन्हे भिन्न या अभिन्न कुछ कहा जा सके, इनकी तो एक विशेष प्रकार की अनिर्वचनीय अभिन्नता ही रहती है ।

२ तदोकोऽधिकरणः—

तदोकोऽग्रज्वलनं तत् प्रकाशितद्वारा विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ।४।२।१६॥

एवं गत्युपक्रमावधि विद्वदविदुषोः समानाकार उत्क्रांति प्रकार उक्तः, इदानीं विदुषो विशेष उच्यते, तत्रेदमाम्नायते—"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्न्या उत्क्रमणे भवन्ति" इति । अनया नाडीनां शताधिकया मूर्धन्यनाड्यैव विदुषो गमनं अन्याभिरेव चाविदुषो गमनमित्ययं नियम उपपद्यते, न ? इति संशयः किं युक्तम् ? नियमो नोपपद्यत इति, कुतः? नाडीनां भूयस्त्वादतिसूक्ष्मत्वाच्च दुर्विवेचतया पुरुषेणोपादातुमशक्यत्वात् । "तयोर्ध्वमापन्नमृतत्वमेति विष्वङ्न्या

उत्क्रमणे भवंति" इति यादृच्छिकोभुत्क्रांतिमनुवदतीति युक्तमिति ।

नाडी विशेष में प्रवेश करने के प्रथम तक उपासक और अनुपासक की समान उत्क्रांति दिखलाई गई, अब नाडी में प्रवेश करने के बाद उपासक की विशेष प्रकार की उत्क्रांति का वर्णन करते हैं। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया कि-"हृदय की एक सौ एक नाडियाँ हैं, उनमें से एक कपाल की ओर निकली है, उसके सहारे ऊपर के लोकों में जाकर अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है दूसरी एक सौ नाडियाँ मरण काल में अनेक प्रकार की योनियों में जाने की हेतु होती हैं" इत्यादि । सौ नाडियों से विशिष्ट मूर्धन्य सुषुम्ना नाडी से उपासक की उत्क्रांति तथा अन्य सौ नाडियों से अनुपासक की उत्क्रांति का नियम बतलाया गया है या नहीं? इस संशय पर मत होता है कि-नाडियाँ अनेक और अति सूक्ष्म हैं, उनकी जानकारी बहुत कठिन है जीव के द्वारा उनको ग्रहण करना अति कठिन है "तयोर्ध्वमापन्नमृतत्वमेति" इत्यादि में सामान्य उत्क्रांति का ही वर्णन है, यही मानना युक्ति युक्त है ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-शताधिकया इति । विद्वान् शताधिकया मूर्धन्ययैव नाड्योत्क्रामति । न चास्याः विदुषो दुर्विवेचत्वं, विद्वान् हि परं पुरुषाराधनभूतात्यर्थ प्रियविद्या सामर्थ्यात् विद्याशेषभूततयाऽत्मनोऽत्यर्थं प्रियगत्यनुस्मरणयोगाच्च प्रसन्नेन हार्देन परमपुरुषेणानुगृहीतो भवति, ततश्च तदोकः तस्य जीवस्य स्थानं हृदयं अग्रज्वलनं भवति, अग्रेज्वलनं प्रकाशनं यस्य, अग्रज्वलनम् । परमपुरुषप्रसादात् प्रकाशितद्वारो विद्वान् तां नाडीं विजानातीति, तया विदुषो गतिरुपपद्यते ।

उत मत पर सिद्धान्तरूप से "शताधिकया" आदि सूत्र प्रस्तुत करते हैं-कहते हैं कि-उपासक, सौ नाडियों से विशिष्ट मूर्धन्य नाडी से ही उत्क्रमण करता है। उपासक के लिए नाडियों की जानकारी कठिन नहीं होती। उपासक, परंपुरुष की आराधना रूप प्रिय ब्रह्मविद्या के

सामर्थ्य से, विद्या के फलस्वरूप होने वाली प्रिय इष्ट प्राप्ति को स्मरण कर अत्यंत प्रसन्न होता है, उसे परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है, इसलिए उसके हृदय का अग्रभाग (जो कि सुषुम्ना नाडी की ओर जाता है) प्रज्वलित अर्थात् प्रकाशित हो जाता है, प्रभु की कृपा से वह उपासक प्रकाशित मार्ग से नाडी के मार्ग की जानकारी कर लेता है, उसी मार्ग से उपासक की गति होती है।

६. रश्म्यनुसाराधिकरणः–

रश्म्यनुसारी ।४।२।१७।।

विदुषो हृदयाच्छताधिकया मूर्धन्यनाड्या निर्गतस्यादित्य रश्मीननुसृत्यादित्यमंडलगतिः श्रूयते "अथ यत्रैदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते" इति। तत्र रश्म्यनुसारेणेवेत्ययं गति नियमः संभवति न वा ? इति चिन्तायां, निशिमृतस्य विदुषो रश्म्यनुसारासंभवादनियमः । वचनन्तु पक्षपात विषयम् ।

हृदय से निसृत एक सौ एक नाडियों में सर्वश्रेष्ठ मूर्धन्य नाडी से निकलकर सूर्य की किरणों का अनुसरण कर सूर्य मंडल में जाने की बात उपासक के विषय में सुनी जाती है–"इस शरीर से उत्क्रमण कर, इन सूर्य की रश्मियों के ही सहारे ऊपर आक्रमित होता है", इस पर विचार होता है कि–क्या सूर्य रश्मियों के सहारे ही इस गति के होने का नियम है, अथवा कोई नियम नहीं है? मनन करने से तो ऐसा कोई नियम समझ में नहीं आता, क्योंकि जब उपासक की मृत्यु रात्रि में होती है तब क्या उसकी ऊर्ध्वगति नहीं होती ? यदि होती है तो कैसे होती है? उक्त वचन पक्ष विशेष के लिए प्रतीत होता है।

सिद्धान्तः-इति प्राप्त उच्यते-"रश्म्यनुसारी" इति, रश्म्यनुसार्येव विद्वानूर्ध्वं गच्छति, कुतः ? "अथैतैरेव रश्मिभिः" इत्यवधारणात् पाक्षिकत्वे ह्येवाकारोऽनर्थकः स्यात् । यदुक्तं निशिमृतस्य रश्म्यसंभवात् रश्मीननुसृत्य गमनं नोपपद्यत इति, तत्र, निश्यपि

सूर्यरश्म्यनुसारः संभवति, लक्ष्यते हि निश्यपि निदाघ समये ऊष्मोपलब्ध्या रश्मिसद्भावः, हेमन्तादौ तु हिमाभिवाद् दुर्दिन इवोष्मानुपलम्भः, श्रूयते च नाडी रश्मीनां सर्वदाऽन्योन्यान्वयः- "तद्यथामहापथ आतत उभौ लोकौ गच्छतीमं चामुं च आमुष्मादादित्यात्प्रतायंते त आसु नाडी सुसृप्ताः आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायंते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः" इति। तस्मान्निश्यपि रश्मि संभवान्निशि मृतानामपि विदुषां रश्म्यनुसारेणैव ब्रह्मप्राप्तिरस्त्येव।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि–रश्मियों के सहारे ही उपासक की ऊर्ध्व गति होती है। "उन्हीं रश्मियों के सहारे" इस अवधारक पद से यह बात निश्चित हो जाती है। यदि इस वाक्य को पक्ष विशेष के लिए मानेंगे तो वाक्यगत "एव" पद की व्यर्थता सिद्ध होगी। जो यह कहा कि-रात्रि में मृत उपासक का रात्रि में रश्मि न होने से, रश्म्यनुसार उर्ध्व गमन नहीं हो सकता; सो बात नहीं है, रात्रि में भी रश्म्यनुसार गमन संभव है; गर्मी के दिनों में रात्रि में ऊष्मा होती है जिससे सूर्यरश्मियों का सद्भाव निश्चित होता है, हेमन्त आदि में, हिम से आच्छादित होने के कारण, मेघाच्छादित दिन की तरह ऊष्मा की अनुपलब्धि रहती है। नाडी और रश्मियों का, एक दूसरे से संबंध होने का उल्लेख भी मिलता है। "जिस प्रकार कोई विस्तीर्ण महापथ इस (समीपवर्त्ती) और उस (दूरवर्त्ती) दो गावों को जाता है, वैसे ही सूर्य की किरणें, इस पुरुष और आदित्य मंडल, दोनों में प्रविष्ट हैं। जो निरन्तर उस आदित्य से निकलती हैं वो इन नाडियों में व्याप्त हैं, तथा जो इन नाडियों से निकलती हैं वो आदित्य में व्याप्त हैं।" इत्यादि। इसलिए, रात्रि में भी रश्मियों के सद्भाव के कारण, रात्रि में भी मृत उपासक की, रश्मि अनुसार ही ब्रह्म प्राप्ति होती है ऐसा मानना चाहिए।

१० निशाधिकरणः—

निशिनेति चेन्न संबंधस्ययावद्देहभावित्वात् दर्शयति च ।४।२।१९॥

इदमिदनानीं चिन्त्यते–विदुषो निशि मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिरस्ति,

नेति? यद्यपि निशायां सूर्यरश्मिसंभवाद्रश्म्यनुसारेण गतिर्निशाया-मपि संभवति, तथापि निशामरणस्य शास्त्रेषु गर्हितत्वात् परमपुरुषार्थ लक्षण ब्रह्मप्राप्तिर्निशामृतस्य न संभवति। शास्त्रेषु दिवामरणम् प्रशस्तम्, विपरीतं निशामरणम्-"दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च, मुमूर्षतां प्रशस्तानि विपरीतं तु गर्हितम्" इति। दिवामरणनिशामरणयोः प्रशस्तत्व विपरीतत्वे चोत्तमाधमगति हेतुत्वेन स्याताम्। अतो निशिमरणमधोगति हेतुत्वान्न ब्रह्म प्राप्तिरिति चेत्।

अब यह विचारते हैं कि-- रात्रि में मृत उपासक की ब्रह्म प्राप्ति होती है या नहीं ? यद्यपि रात्रि में भी सूर्य रश्मियों के रहने से, रश्मियों के सहारे रात्रि में भी ऊर्ध्व गमन होता है, फिर भी रात्रि मरण की शास्त्र में गर्हणा की गई है, इसलिए-रात्रि में मृत व्यक्ति की ब्रह्म प्राप्ति रूप मुक्ति नहीं हो सकती। शास्त्र में स्पष्ट रूप से दिवामरण को प्रशस्त तथा निशामरण को गर्हित कहा गया है-"दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण, मुमुक्षुओं के लिए प्रशस्त हैं, इससे विपरीत रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन, गर्हित है'' इत्यादि। दिवामरण और निशामरण के प्रशस्त और गर्हित होने की बात उत्तम और अधोगति के अधार पर ही कही गई है इसलिए रात्रि मरण में अधोगति होती है, इस आधार पर ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती, ऐसा समझ में आता है।

तन्न, विदुषः कर्मसंबंधस्य यावद्देहभावित्वात्। एतदुक्तं भवति--अनारब्धकार्याणामधोगति हेतुभूतानां कर्मणां विद्यासंबंधेनैव विनाशादुत्तरेषां चाश्लेषाद् प्रारब्ध कार्यस्य च चरमदेहावधित्वाद् बन्धहेत्वभावाद्विदुषो निशामृतस्यापि ब्रह्मप्राप्तिः सिद्धैव। दर्शयति च श्रुतिः "तस्यतावदेवं चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये" इति "दिवा च शुक्लपक्षश्च" इत्यादिवचनमविद्वद्विषयम्।

उक्त बात ठीक नहीं है, उपासक का कर्म संबंध तो शरीर के रहने तक ही रहता है। कथन यह है कि-अधोगति को देने वाले अनेकानेक जन्मों के संचित कर्मों का तथा भविष्य में फलित होने वाले कर्मों का तो विद्या के संबंध से ही विनाश और अश्लेष हो जाता है, प्रारब्ध कर्मों के फल का संबंध भी देह की समाप्ति तक ही रहता है, बंधन में डालने वाले कोई कर्म शेष तो रहते नहीं, इसलिए उपासक की रात्रि में मृत्यु होने पर भी, ब्रह्मप्राप्ति तो निश्चित ही है। श्रुति का कथन भी है कि-"उसकी मुक्ति में तभी तक का विलंब है, जब तक शरीर से नहीं छूट जाता।" "दिवा च शुक्लपक्षश्च" इत्यादि वचन तो अनुपासकों के लिए है।

११. दक्षिणायनाधिकरणः—

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ।४।२।१९।।

निशि मृतस्यापि विदुषो ब्रह्मप्राप्तौ यो हेतुरुक्तः, तत एव हेत दक्षिणेऽप्ययने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिः यनेसिद्धा ।

अधिका शंका तु "अथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महि-मानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं गच्छति" इति दक्षिणायेन मृतस्य चंद्रप्राप्ति श्रवणात् चन्द्रंप्राप्तानां च "तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथैत-मेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते" इति पुनरावृत्ति श्रवणात् भीष्मादीनां च ब्रह्मविद्यानिष्ठानां उत्तरायणप्रतीक्षा दर्शनाद् दक्षिणायने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिर्न संभवति इति ।

रात्रि में उपासक की ब्रह्म प्राप्ति में जो कारण बतलाया गया, उसी कारण के आधार पर दक्षिणायन में भी मृत उपासक की ब्रह्मप्राप्ति स्वभाव सिद्ध है।

इस पर विशेष शंका यह होती है कि-"जो लोग दक्षिणायन में मरते हैं वे पितरों की महिमा को प्राप्त होकर चन्द्रमा का सायुज्य प्राप्त करते हैं" इत्यादि में दक्षिणायन में मरने वाले को चन्द्र प्राप्ति बतलाई

गई है तथा चन्द्र प्राप्त जीव को, "वे जिस मार्ग से गए थे उसी मार्ग से पुनः लौट आते हैं" इत्यादि में पुनरावृत्ति बतलाई गई है तथा ब्रह्मविद्या-निष्ठ भीष्म आदि के उत्तरायण की प्रतीक्षा के उल्लेख से ऐसा लगता है कि दक्षिणायन में मृत व्यक्ति की ब्रह्म प्राप्ति संभव नहीं है।

परिहारस्तु—अविदुषां पितृयाणेन पथा चन्द्रं प्राप्तानामेव पुनरावृत्तिः, विदुषस्तु चंद्र प्राप्तस्यापि "तस्माद् ब्रह्मणो महिमान-माप्नोति" इति वाक्यशेषात्तस्य दक्षिणायन मृतस्य चन्द्रप्राप्तिः ब्रह्मप्रपित्सतो विश्रमहेतुमात्रमिति गम्यते, वाक्यशेषाभावेऽपि पूर्वोक्तादेव बंधहेत्वभावात् विदुषश्चन्द्रप्राप्तस्यापि ब्रह्मप्राप्तिर-निवार्या। भीष्मादीनां योगप्रभावात् स्वच्छंदमरणानां धर्म प्रवर्त्तनायोत्तरायण प्राशस्त्यप्रदर्शनार्थस्तथाविधाचारः।

उक्त संशय का परिहार यह है कि—पितृयान से जाकर चन्द्रमसी गति प्राप्ति करने वाले अनुपासक की ही पुनरावृत्ति होती है, उपासक की कभी चान्द्रमसी गति होती भी है तो, "वहाँ से वह ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करते हैं" इत्यादि वचन से ज्ञात होता है कि, दक्षिणायन में मृत उपासक की वह चंद्र प्राप्ति ब्रह्म मार्ग में जाते हुए विश्राम के लिए होती है। यदि यह वचन न भी हो तो भी उपासना के कारण उसमें बंधन के हेतु का तो अभाव रहता ही है, जिससे चन्द्र प्राप्त उपासक की ब्रह्म प्राप्ति अनिवार्य हो जाती है। भीष्मादि के उत्तरायण प्रतीक्षा की जो बात है, वह तो उत्तरायण की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए और धर्म प्रवर्त्तन के लिए, योग प्रभाव से स्वच्छंद मरण की बात है।

ननु च विदुषो मुमूर्षून् प्रति पुनरावृत्ति हेतुत्वेन कालविशेष विधिर्दृश्यते "यत्रकालेत्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभः। अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्, तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदोजनाः। धूमो रात्रिस्तथाकृष्णः षण्मासादक्षिणायनम्, तत्रचान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते। शुक्लकृष्णे गतीह्येते जगतः शाश्वते मते, एकया यात्यनावृत्तिमन्यया‌ऽवर्त्ततेपुनः" इति। तत्राह—

मुमुक्षु उपासकों के लिए तो पुनरावृत्ति के हेतु कालविशेष का वर्णन मिलता है? जैसे–"हे भरतर्षभ! जिस समय योगी की आवृत्ति और अनावृत्ति होती है, उसका नियम बतलाता हूँ, सुनो–अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण के छः महीने के दिनों में जाने वाले ब्रह्मविद ब्रह्म को प्राप्त करते हैं तथा धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष दक्षिणायन के छः महीनों में जाने वाले योगी चान्द्रमसी ज्योति को प्राप्त कर पुनः लौटते हैं इस प्रकार की शुक्ल और कृष्ण की गतियाँ, जगत में शाश्वत काल से चली आ रही हैं, जिनमें से एक में जाने पर आवृत्ति होती है। "इत्यादि, इसका समाधान करते हैं–

योगिनः प्रति स्मर्येते स्मार्त्ते चैते ।४।२।२०॥

नात्र मुमूर्षून प्रति मरण काल विशेषोपादानं स्मर्यंते अपितु योगिनः, योग निष्ठान् प्रति स्मार्त्ते-स्मृति विषयभूते स्मर्त्तव्ये देवयान पितृयानाख्ये गती स्मर्येते, योगांगतयाऽनुदिनं स्मर्त्तुम्। तथाहि उपसंहारः–"नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन् तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन" इति "अग्निर्ज्योती" "धूमो रात्रिः" इति च देवयान पितृयाणे प्रतिभिज्ञायेते उपक्रमे च "यत्र काले तु" इति काल शब्दः कालाभिमानिदेवतातिवाहिकपरः, अग्न्यादेः कालत्वासंभवात्। अतः "तेऽर्चिषमभिसंभवंति" इति विदितदेव-यानानुस्मृतिरत्र विद्यानिष्ठान्प्रति विधीयते, न मुमूर्षून् प्रति मरणकालविशेषः।

उक्त प्रसंग में मुमुक्षु उपासकों, के मरण काल विशेष का उल्लेख नहीं है, अपितु कर्म योग में संलग्न व्यक्तियों की गति का उल्लेख है। स्मृतियों में जो, देवयान पितृयान नामक गतियों का उल्लेख है वह, कर्म-योग के अंग विशेष रूप से सदैव ज्ञातव्य है। जैसा कि उक्त प्रसंग के उपसंहार में स्पष्ट कहा गया कि–"हे अर्जुन! उक्त दोनों गतियों को

जानकर कर्मयोगी कभी मोह में नहीं पड़ते, इसलिए तुम सदैव कर्मयोग में संलग्न रहो।" इत्यादि "अग्नि ज्योति" और "धूमो रात्रिः" इत्यादि से देवयान और पितृयान मार्ग का उल्लेख है। उपक्रम में जो "यत्र काल" कहा गया है, वहाँ काल शब्द कालाभिमानी देवता अतिवाहक का वाचक है, अग्नि इत्यादि में कालत्व नहीं हो सकता है। "तेर्चिषभमिसंभवंति" इत्यादि में, विद्या निष्ठों के लिए, देवयान मार्ग प्राप्ति का उल्लेख किया गया है। मुमुक्षुओं के मरण काल विशेष का प्रसंग नहीं है।

चतुर्थ अध्याय द्वितीय पाद समाप्त

चतुर्थ–अध्याय

तृतीय पाद

१ अर्चिराद्यधिकरण:

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ।४।३।१॥

विदुष उत्क्रान्तस्यनाडी विशेषेण हार्दानुग्रहात् गत्युपक्रम उक्तः । तस्य गच्छतो मार्ग इदानीं निर्णीयते । तत्र श्रुतिषु मार्ग प्रकारा- बहुधा आम्नायन्ते, छांदोग्ये तावत्–"यथा पुष्कर पलाश आपो नश्लिष्यंते एवमेवंविदि पापकर्म नश्लिष्यते" इत्युपक्रम्य ब्रह्मविद्यामुपदिश्याम्नायते "अथ यदु चैवस्मिन्नूच्छव्यं कुर्वति यदु च न अर्चिषमेवाभिसंभवंति अर्चिषोऽहरहः, आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाण-पक्षाद्यान् षड्दुंगेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्य-मादित्याच्चंद्रमसं चंद्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः, स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथः, एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इति । तथाऽत्रैवाष्टमे–"अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमा-क्रमते" इति । कौषीतकिनश्च देवयानमार्गमन्यथाऽधीयते "स एतं देवयानं पथानमापद्यग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुण-लोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापति लोकं स ब्रह्मलोकम्" इति । तथा वृहदारण्यके–य एवमेतद् विदुर्येचेमेऽरण्ये श्रद्धां सत्य-मुपासते तेऽर्चिषमभिसंभवंति अर्चिषोऽहरहः अपूर्यमाणपक्षमापूर्य-माणपक्षद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देव लोकादादित्यलोकं आदित्याद् वैद्युतं वैद्युतात् पुरुषोऽमानवः स एत्य

ब्रह्मलोकान् गमयति" इति । तत्रैव पुनरन्यथा "यदा वैपुरुषो-ऽस्मांल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खंतेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खंतेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा आडम्बरस्य खंतेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खम्" इत्यादि । तत्र संशयः किमर्चरादिरेक एव मार्ग आभिः श्रुतिभिः प्रतिपद्यत् इति. तेनैव ब्रह्म गच्छति विद्वान् उत् तस्मादन्येऽन्यत्रमार्गा इति तैर्वाऽनेन वेत्यनियमः ? इति । किं युक्तम् अनियम् इति, कुतः ? अनेकरूपत्वान्नैरपेक्ष्याच्चैति ।

हृदय की विशेष नाडी के सहारे उत्क्रांत उपासक की गति उपक्रम का वर्णन किया गया । अब उसके जाने वाले मार्ग के विषय का निर्णय करते हैं । श्रुतियों के मार्ग का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है जैसे कि– छांदोग्य में–"जैसे कि कमल का पत्ता जल से पृथक रहता है, वैसे ही उपासक पापकर्म से अनाश्लिष्ट रहता है " इस प्रकार उपक्रम करते हुए ब्रह्म विद्या का उपदेश देकर कहते हैं –"वे जो इस प्रकार जानते हैं, अर्चि अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, अर्चि अभिमानी देवताओं से दिवसाभिमानी देवताओं को दिवसाभिमानियों से शुक्ल पक्षाभिमानी देवताओं को, शुक्लपक्षाभिमानियों से जिन छः महीनों से सूर्य उत्तर की ओर जाता है, उन छः महीनों को, उन महीनों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को आदित्य से चन्द्रमा को, और चन्द्रमा से विद्युत को प्राप्त होते हैं वहाँ एक अमानव पुरुष है जो कि उन्हें ब्रह्म को प्राप्त करा देते हैं, यह देव मार्ग ब्रह्ममार्ग है इस पथ पर आरूढ़ हुए पुरुष इस मानव देह में लौटकर नहीं आते" इत्यादि तथा इसी के आठवें अध्याय में कहा गया कि–"इन्हीं रश्मियों से ऊपर आक-मित होते हैं,' इत्यादि । कौषीतकि में देवयान मार्ग का भिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है–"जो इस देवयान मार्ग में आरूढ़ होता है वह अग्नि लोक को जाता है, वह वायुलोक को जाता है, वह वरुणलोक को जाता

है, वह आदित्य लोक को जाता है, वह इन्द्रलोक को जाता है, वह प्रजापति लोक को जाता है, वह ब्रह्मलोक को जाता है। "इत्यादि तथा बृहदारण्यक में वर्णन मिलता है–"जो इस प्रकार इसे जानते हैं अथवा जीवन में श्रद्धा से सत्य ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे ज्योति के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, ज्योति के अभिमानी देवताओं से दिन के अभिमानी देवताओं को दिन के अभिमानी देवता से शुक्ल पक्षाभिमानी देवता को पक्षाभिमानी देवता से जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर की ओर रहता है उन छ. महीनों के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, षणमासाभिमानी देवताओं से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को, और आदित्य से विद्युत्संबंधी देवताओं को प्राप्त होते हैं उन वैद्युत देवों के पास एक अमानव पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकों में ले जाता है "इत्यादि उसी उपनिषद में पुन: भिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है–" जब पुरुष मर कर इस लोक से जाता है वह वायु को जाता है वहाँ वह वायु छिद्र-युक्त होकर मार्ग दे देता है जैसा कि रथ के पहिए का छिद्र होता है। उसके द्वारा वह ऊर्ध्व होकर चढ़ता है, वह सूर्य लोक में पहुँच जाता है, वहाँ सूर्य उसके लिए वैसा ही छिद्रउक्त मार्ग देता है, जैसा कि डम्बर का छिद्र होता है, उससे वह ऊपर की ओर चढ़ता है, वह चन्द्र लोक में पहुँच जाता है, वहाँ चन्द्रमा भी उसे छिद्र दे देता है जैसा कि दुदुंभी का छिद्र होता है, उसके द्वारा वह ऊपर की ओर चढ़ता है, वह अशोक और अहिम लोक में पहुँच जाता है उसमें सदा –" इत्यादि । इस पर संशय होता है कि– अर्चिरादि के एक ही मार्ग का इन श्रुतियों में प्रतिपादन किया गया है, जिससे कि उपासक ब्रह्म को प्राप्त करता है, अथवा भिन्न-भिन्न मार्गों का प्रतिपादन है ? अथवा इन भिन्न मार्गों में से किसी से भी जाने का अनियम दिखलाया गया है ? विचारने पर अनियम ही समझ में आता है क्योंकि अनेक मार्गों का उल्लेख कोई विशेष अपेक्षित मार्ग तो बतलाया नहीं गया है।

सिद्धान्त:–एवं प्राप्तेऽभिधीयते–अर्चिरादिना इति । अर्चिरादिरेक एवं मार्गः सर्वत्र प्रतिपाद्यते । अतोऽर्चिरादिनैव गच्छति । कुतः ? तत्प्रथितेः तस्यैव सर्वत्र प्रथितेः । प्रथितिः प्रसिद्धिः, तस्यैव सर्वत्र प्रत्यभिज्ञानात् स एव मार्गः सर्वत्र न्यूनाधिकभावेन प्रतिपाद्यत

इति विद्यागुणोपसंहारवदन्यत्रोक्तानामन्यत्रोपसंहारः क्रियते। छांदोग्ये तावदुपकोसलविद्यायां पंचाग्निविद्यायां चैकरूप एवाम्नायते, वाजसनेयके च पंचाग्निविद्यायां तथैवार्चिरादिः, अल्पान्तरमाम्नायते, अतस्तत्रापि स एवेति प्रतीयते। अन्यत्रापि सर्वत्राग्न्यादित्यादयः प्रत्यभिज्ञायन्ते।

उक्त संशय पर सिद्धान्त रूप से "अर्चिरादिना" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। एक ही अर्चिरादि मार्ग का सब जगह प्रतिपादन किया गया है। उपासक अर्चिरादि मार्ग से ही जाता है। उसी मार्ग से उसके जाने की सर्वत्र प्रसिद्धि है। उसी एक मार्ग का सर्वत्र न्यूनाधिक रूप से वर्णन किया गया है। विद्याओं के गुणोपसंहार की तरह इसका भी अन्यत्र जो उल्लेख है उसका अन्यत्र उपसंहार किया गया है। जैसे कि छांदोग्य की उपकोसल और पंचाग्नि विद्या के प्रसंग में उक्त मार्ग का एक-सा वर्णन किया गया है, वाजसनेयक की पचाग्नि विद्या में इस अर्चिरादि का कुछ थोड़े से अन्तर से वर्णन है, इसलिए वहाँ भीउसी का वर्णन प्रतीत होता है। अन्यत्र भी अग्नि आदित्य आदि की प्राप्ति प्रायः समान रूप से ही दिखलायी गई है।

२ वाय्वधिकरणः—

वायुमब्दादविशेष विशेषाभ्याम् ।४।३।२॥

अर्चिरादिनैव गच्छंति विद्वांस इत्युक्तम, तत्रार्चिरादिके मार्गे छंदोगाः मासादित्योरन्तराले संवत्सरमधीयेते—"मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्" इति। वाजसनेयिनस्तुतयोरेवान्तराले देवलोकं—"मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्" इति। उभयत्रापि मार्गस्यैकत्वादुभयत्रोपसंहार्यौ। तत मासादूर्ध्वमभिहितयोः संवत्सर प्रथितेः। प्रथितिः प्रसिद्धिः, तस्यैव सर्वत्र प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः देवलोकयोः पंचम्याभिहितस्य श्रौतक्रमस्य तुल्यत्वे हि—"अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षद्यान् षड्डुदंगेति मासांस्तान्"

इत्यधिककालानां न्यून कालेभ्य उत्तरोत्तरत्वेन निवेशदर्शनात् संवत्सरस्यैव मासादनंतरं बुद्धौ विपरिवृत्ते: संवत्सर एव मासादूर्ध्वं निवेशयितव्य इति तात ऊर्ध्वं देवलोक इति निश्चीयते ।

उपासक अर्चिरादि पथ से जाते हैं यह बतलाया गया । अर्चिरादि मार्ग के वर्णनों में कुछ भेद है उस पर विचार करते हैं जैसे कि–छांदोग्य में मास और आदित्य के बीच संवत्सर का वर्णन है–"मास से संवत्सर संवत्सर से आदित्य ।" वाजसनेयी में उन दोनों के बीच देवलोक का वर्णन है—"मासों से देवलोक देवलोक से आदित्य ।" मास से ऊपर जिन संवत्सर और देवलोक का पंचमी विभक्ति से उल्लेख किया गया है वह श्रौतक्रम के अनुसार ही है । "अर्चि अभिमानी से दिवसाभिमानी को, दिवसाभिमानी से शुक्लपक्षाभिमानी को दिवसाभिमानी से उत्तरायण के महीनों को, उत्तरायण के महीनों से संवत्सर को, संवत्सर से" इत्यादि में जो–समय के न्यूनाधिक क्रम का उत्तरोत्तर वर्णन किया गया है उससे, मास से बाद संवत्सर की स्थिति ही समीचीन प्रतीत होती है मास से संवत्सर में प्रवेश करने की बात ही बुद्धिगम्य होती है, उसके ऊपर देवलोक की स्थिति निश्चित होती है ।

अन्यत्र वाजसनेयिनः "यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथ चक्रस्य खंतेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति" इत्यादित्यात्पूर्वं वायुमधीयते । कौषीतकिनस्तु–"स ए देवयानं पंथानमापद्याग्नि लोकमागच्छति स वायुलोकम्"इत्यग्निलोकशब्द निर्दिष्टादर्चिषः परं वायुमधीयते । तत्र कौषीतकिनां पाठक्रमेणार्चिषः परत्वेन प्राप्तस्य वायोः वाजसनेयिनां "तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति" इत्यूर्ध्वशब्द निर्दिष्ट श्रौतक्रमेण पाठक्रमाद् बलीयसा आदित्यात्पूर्वंप्रवेशो निश्चीयते ।

दूसरी जगह वाजसनेयी में "यदावै पुरुषो" इत्यादि में आदित्य के पूर्व वायुलोक प्राप्ति की बात कही गई है । तथा कौषीतकि में–"स एतं देवयानं" इत्यादि में अग्निलोक शब्द से निर्दिष्ट अर्चि के बाद वायु-

लोक के वर्णन से वाजसनेयी का "तेन स ऊर्ध्वं" इत्यादि वर्णन श्रौतक्रम से निर्दिष्ट ऊर्ध्वं पद के पाठ के कारण श्रेष्ठ होता है, जिससे आदित्य से प्रथम वायुलोक में प्रविष्ट होना निश्चित होता है।

अत आदित्यात्पूर्वं संवत्सरादूर्ध्वं देवलोकोवायुश्चप्राप्तौ, तत्रेदं चिन्त्यते, किं देवलोकोवायुश्चार्थान्तरभूतौ यथेष्टक्रमेण विद्वान् अभिगच्छेत् उतानर्थान्तरत्वेन संवत्सरादूर्ध्वं देवलोकं संतं वायुमभिगच्छेत् ? किं युक्तम् ? भिन्नार्थत्वं प्रसिद्धेः। भिन्नार्थत्वेचोर्ध्वंशब्देन पंचम्या चोभयोः संवत्सरादित्यान्तराले श्रुतिक्रमेण प्राप्तत्वात् विशेषाभावाच्च यथेष्टम्।

इस प्रकार भिन्न प्रकरणों में संवत्सर के ऊपर आदित्य से प्रथम देवलोक और वायु का उल्लेख मिलता है। इस पर विचार होता है कि–देवलोक और वायु दोनों एक ही हैं जिनसे होकर उपासक जाता है अथवा संवत्सर से ऊपर देवलोक को पार कर वायु को जाता है ? वैसे दोनों की भिन्न अर्थों में ही प्रसिद्धि है, दोनों के लिए ही पंचमी का प्रयोग किया गया है, तथा दोनों की संवत्सर के ऊपर आदित्य के पहिले स्थिति बताई गई है इसलिए दोनों में किसी को भी माना जा सकता है, दोनों को भी माना जा सकता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते–वायुमब्दात् इति वायुं संवत्सरादूर्ध्वंमभिगच्छेत्। कुतः ? अविशेष, विशेषाभ्यां वायोरेव निर्दिष्टत्वात्। देवलोक शब्दो हि अविशेषेण, सामान्येन देवानां लोक इत्यनेन रूपेण वायुमभिधत्ते। "सवायुमागच्छति तस्मै स तत्र" इति वायुशब्दो विशेषेण वायुमभिधत्ते। अतो देवलोक वायुशब्दाभ्यां अविशेष विशेषाभ्यां वायुरेवाभिधीयत इति संवत्सरादूर्ध्वं वायुमेवाभिगच्छेत्। कौषीतकिना वायुलोक शब्दश्चाग्निलोकशब्दवत् वायुश्चासौ लोकश्चेति व्युत्पत्या वायुमेवाभिधत्ते। वायुश्चदेवानामावासभूत इत्यन्यत्र श्रूयते–"योऽयं पवत एष देवानां ग्रहाः" इति।

उक्त चिन्तन पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि–संवत्सर से ऊपर वायु को ही जाते हैं। देवलोक और वायु का अविशेष और विशेष रूप से वर्णन किया गया है, विशेषता वायु का ही निर्देश है। देवलोक शब्द अविशेष है, देवताओं का लोक इस व्युत्पत्ति के अनुसार वायु का ही देवलोक के रूप में वर्णन किया गया है। "स वायुमागच्छति" इत्यादि में वायु शब्द का विशेषोल्लेख है, इसलिए वायु की बात ही ठीक है। देवलोक और वायु शब्दों के अविशेष और विशेषरूप से उल्लेख होने से संवत्सर से ऊपर वायु की स्थिति ही निश्चित होती है। कौषीतकि में जिस वायु का उल्लेख है, वह अग्नि लोक की तरह वायु लोक का ही है। वायु को देवताओं का आवास स्थान कहा भी गया है–"जो यह वायु है वह देवताओं का आवास स्थ ान है" इत्यादि।

३ वरुणाधिकरण:—

तटितोऽधिवरुण: संबंधात् ।४।३।३।।

कौषीतकिनां "स एतं देवयानं पंथानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं, स वरुणलोकं, स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं, स प्रजापतिलोकं, स ब्रह्मलोकम्" इत्याग्निलोक शब्दस्यार्चिः पर्यायत्वेन प्राथम्यविगीतम्। वायोश्च संवत्सरादूर्ध्वं निवेश उक्त:। आदित्यस्याप्यत्र प्राप्त पाठक्रमबाधेन "देवलोकादादित्यमादित्याद्-वैद्युतम्" इति वाजसनेयकोक्त श्रुतिक्रमादेवलोक शब्दाभिहिताद्-वायोरुपरि निवेश: सिद्ध:। इदानीं वरुणेन्द्रादिषु चिन्ता। किमेते वरुणादयो यथापाठं वायोरूर्ध्वं निवेशयितव्या:, आहोस्वित् विद्युतोऽधीति विशये अर्चि: प्रभृतिषु सर्वेषु "अर्चिषोऽह:" इत्यादि श्रुतिक्रमोपरोधाद् विद्युत: परस्ताच्च "तत्पुरुषोऽमानव: स एवान् ब्रह्म गमयति" इति विद्युतपुरुषस्य ब्रह्मगमयितृत्व श्रवणात् सर्वत्रावकाशाभावेना प्राप्तौ च उपदेशा वैयर्थ्यायावश्यं कस्यचिद्

बाध्यत्वे पाठक्रमानुरोधेन वायोरनन्तरं वरुणो निवेशयितव्यः वाय्वादित्ययोः क्रमस्य बाधितत्वेनेन्द्रप्रजापती अपि हि अत्रैव निवेशयितव्यौ ।

कौषीतकी में वर्णन आता है—"वह इस देवपथ पर आरूढ़ होकर अग्निलोक पहुँचता है, फिर वह क्रमशः वरुणलोक, आदित्य लोक, इन्द्र लोक, प्रजापति लोक, होकर ब्रह्मलोक पहुँचता है" इत्यादि । इसमें अग्निलोक शब्द अर्चि का पर्यायवाची है इसलिए उसका सर्वप्रथम वर्णन किया गया है । पहिले वायु का संवत्सर से ऊपर निवेश बतलाया गया है । "देवलोकात् आदित्यम आदित्याद् वैद्युतम्" इत्यादि वाजसनेयी श्रुति क्रम से भी, देवलोक शब्द वाची वायु के ऊपर सूर्य लोक का निवेश निश्चित होता है जब कि उक्त कौषीतकि वाक्य में आदित्य का पाठ्य क्रम भी बदला है इस वाक्य में वरुण इन्द्र आदि का विशेषोल्लेख है इस पर विचारना यह है कि इन वरुण इन्द्रादि को पाठ्यक्रम के अनुसार वायु के ऊपर निविष्ट किया जाय अथवा विद्युत लोक के नीचे ? समझ में तो यही आता है कि--"अर्चिषोहः" में जो क्रम दिया गया है उसके अनुसार तो विद्युत के बाद ही इनका निवेश होना चाहिए "तत्पुरुषोऽमानवः" इत्यादि में जिस अमानवीय विद्युत पुरुष की ब्रह्मलोक तक पहुँचाने की चर्चा आई है उससे तो विद्युत से प्रथम किसी के होने का अवसर ही नहीं है, साथ ही ऐसा न मानने पर उपदेश भी व्यर्थ सिद्ध होता है, इसलिए पाठक्रमानुसार वायु के बाद ही वरुण को प्रवेश करना चाहिए' तथा वायु और आदित्य के क्रम में बाधा न हो इसलिए इन्द्र और प्रजापति को भी यहीं प्रविष्ट करना चाहिए ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—"तरितोऽधिवरुणः" इति । वरुणः तावद् विद्युत् उपरिष्टात् निवेशयितव्यः । कुतः ? संबंधात्-मेघोदरवर्त्तित्वात् विद्युतो वरुणेन संबंधो लोक वेदयोःप्रसिद्धः । एतदुक्तं भवति—वरुणादीनामुपदेशावैयर्थ्यायक्वचिन्निवेशयितव्यत्वे सति पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वाद् विद्युतोऽधिवरुणो निवेशयितव्यः, ततश्चामानवस्य गमयितृत्वं व्यवधानसहमित्यवगम्यते ।

तस्य च व्यवधानसहत्वात् इन्द्रादेश्चोपदिष्टस्यावश्यनिवेशयितव्यस्य वरुणादुपर्युपदिष्टत्वादागन्तूनामंते निवेशयितव्यत्वाच्च वरुणादुपरीन्द्रादिर्निवेशयितव्य इति ।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि–वरुण को विद्युत के नीचे निविष्ट करना चाहिए, क्योंकि लोक और वेद में, मेघ के उदर में व्याप्त होने से, विद्युत का वरुण के साथ, प्रसिद्ध संबंध है। कथन यह है कि–वरुण आदि का जो देवयान पथ में उल्लेख किया गया है वह व्यर्थ न होने पावे, उन्हे कहीं तो स्थान देना ही होगा, इसलिए पाठक्रमसे अर्थक्रम बलवान होता है इस सिद्धान्त के अनुसार वरुण को विद्युत के नीचे निविष्ट करना चाहिए तभी अमानव पुरूष के ले जाने की बात व्यवधान के साथ बन सकेगी। उसका जो व्यवधान है उसी में इन्द्र आदि का निवेश किया जाना चाहिए। वरूण से ऊपर उन सबका उल्लेख किया गया है इसलिए वरुण से ऊपर ही इन्द्र आदि का निवेश होना चाहिए।

४. आतिवाहिकाधिकरणः—

आतिवाहिकास्तल्लिंगात् ।४।३।४॥

इदमिदानीं चिन्त्यते, किमर्चिरादयोः मार्गचिन्हभूतः उत भोगभूमयः, अथवा विदुषां ब्रह्म प्रेप्सितामतिवोढारः ? इति किं तावद् युक्तम् ? मार्ग चिन्हभृता इति, कुतः ? उपदेशस्य तथा विधत्वात्, दृश्यते हि लोके ग्रामादीनप्रति गंतृणामेवंविधो दैशिकैरुपदेशः–"इतोनिष्क्रम्यामुकं वृक्षं अमुकां नदीं अमुकं च पर्वतपाश्वं गत्वाऽमुकं ग्रामंगच्छ" इति ।

अथवा भोगभूमयएताः स्युः, काल विशेषतया–प्रसिद्धानामहरादीनां मार्गह्लित्वानुपपत्तेरन्यस्य च मार्गचिह्नभूतस्यैतेषामनिधायकत्वात् । भोगभूमित्वं च "एत एव लोका यदहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सराः" इत्यहरादीनां लोकत्ववचनादुपपद्यते ।

अतएव च कौषीतकिनः "अग्निलोकमागच्छति" इत्यादिना लोकशब्दानुविधानेनार्चिरादीन् पठन्तीति ।

अब यह विचारते हैं कि-यह अर्चिरादि केवल मार्ग के चिह्नमात्र हैं अथवा भोगभूमियाँ हैं अथवा उपासक को ब्रह्म की ओर ले जाने वाले दूत हैं ? मार्ग के चिह्न हो सकते हैं, ऐसा देखा जाता है कि-गाँव की ओर जाने वाले पथिक को प्रायः बतलाया जाता है कि-"यहाँ से निकल कर अमुक वृक्ष पड़ेगा तब आपको एक नदी दीखेगी उससे पर्वत के किनारे किनारे जाकर वो गाँव पड़ेगा" वैसे ही ब्रह्मलोक की ओर जाने वाले उपासक के लिए ये अर्चिरादि परिचायक चिह्नमात्र ही हैं ।

अथवा भोगभूमि भी हो सकती हैं। कालविशेष रूप से प्रसिद्ध दिनमास आदि मार्ग के चिह्न नहीं हो सकते, मार्ग- के चिह्नरूप से इनका उल्लेख भी नहीं मिलता भोग्य भूमि के रूप में तो इनका वर्णन आता भी है-"ये रात्रि दिन, मास, ऋतुएं और संवत्सर सब लोक हैं" इत्यादि । इसी प्रकार कौषीतकी में भी-"अग्निलोक में पचहुँता है" इत्यादि से अर्चिरादि को लोक रूप से बतलाया गया है। इसलिए ये सब लोक भोग्य भूमि ही हैं ।

सिद्धान्तः--एवं प्राप्ते ब्रूमः--"आतिवाहिका" इति । विदुषा-मतिवाहे परंपुरुषेण नियुक्ताः, आतिवाहिकाः देवताविशेषा एते अर्चिरादयः । कुतः ? तल्लिगात्--अतिवहन लिंगात् । अतिवहनं हि गन्तॄणां गमयितृत्वम् । गमयितृत्वं च--"तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति" इत्युपसंहारे श्रूयमाणं पूर्वेषामप्यविशेष श्रुतानां स एव संबंध इति गमयति । वदंति चार्चिरादयः शब्दाः, अर्चिराद्यात्मभूतानभिमानिदेवताविशेषान् । "तं पृथिव्यब्रवीत्" इतिवत् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से-"आतिवाहिका" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं, उपासक को ले जाने वाले, परंपुरुष की ओरसे नियुक्त, आति-वाहिक देवताविशेषों को ही अर्चिरादि नाम से बतलाया गया है। अतिवहन का चिह्न भी इनमें पाया जाता है। जाने वाले को लें जानें

के सामर्थ्य को अतिवहन कहते हैं। जैसा कि—"वह अमानव पुरुष इन्हे ब्रह्म की ओर पहुँचाता है "इत्यादि उपसंहार के वाक्य से ज्ञात होता है। अर्चिरादि शब्द, अर्चिरादि के आत्मभूत अभिमानी देवता विशेष के परिचायक हैं। जैसे कि—"उससे पृथ्वी बोली" इत्यादि।

यद्येवं "तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति" इति वैद्युतस्यैव पुरुषस्य ब्रह्मगमयितृत्व श्रुतेर्विद्युतः परेषां वरुणादीनां कथमातिवाहिकत्वेनान्वय इत्यत्राह—

"वह अमानव पुरुष इन्हें ब्रह्म की ओर पहुँचाता है" में तो केवल, वैद्युत पुरुष को ही ब्रह्म की ओर ले जाने की बात आती है, फिर विद्युत से भिन्न वरुणादि का आतिवाहिक के रूप से समन्वय कैसे संभव है?

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ।४।३।५।।

ततः विद्युत उपरि, वैद्युतेन—अमानवेनैवातिवाहिकेन विदुषामाब्रह्मप्राप्तेर्गमनम्। कुतः? तच्छ्रुतेः "स एनान् ब्रह्म गमयति" इति तस्यैव गमयितृत्वश्रुतेः। वरुणादयस्त्वनुग्राहका इति तेषामप्यातिवाहिकत्वेनान्वयो विद्युत इति।

विद्युत से ऊपर—उस अमानव आतिवाहक वैद्युत पुरुष की, उपासक को, ब्रह्म की ओर ले जाने की बात आती है।, "स एनान् ब्रह्म गमयति" इत्यादि श्रुति उसका ही आतिवाहकत्व वहाँ पर बतलाती है। वरुण इत्यादि तो उसके अनुग्राहक मात्र हैं इसलिए उनका भी अतिवाहक रूप से अन्वय हो सकता है।

५. कार्याधिकरणः—

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ।४।३।६।।

अर्चिरादिरेव गच्छति विद्वान्, अर्चिरादिरमानवांतश्च गण आतिवाहिको विद्वांसं ब्रह्म गमयतीत्युक्तम्। इदं इदानीं चिन्त्यते—किमयमर्चिरादिको गणः कार्यं हिरण्यगर्भमुपासीनान्नयति, उत् परमेव

ब्रह्म उपासीनान्, अथ परंब्रह्मोपासीनान् प्रत्यगात्मानं ब्रह्मात्मक तयोपासीनांश्च ? इति विशये–कार्यमुपासीनानेव गमयति इति बादरिराचार्यो मन्यते। कुतः ? अस्य हिरण्यगर्भमुपासीनस्यैव गत्युपपत्तेः, न हि परिपूर्णं सर्वज्ञं सर्वगतं सर्वात्मभूतम् परं ब्रह्मोपासीनस्य तत्प्राप्तये देशान्तरगतिरुपपद्यते, प्राप्तत्वादेव नित्य प्राप्त परब्रह्म विषयाविद्या निवृत्तिमात्रमेव हि परविद्याकार्यम्। कार्यं तु हिरण्यगर्भरूपं ब्रह्मोपासीनस्य परिच्छिन्नदेशवर्त्ति प्राप्त्यर्थं गमनमुपपद्यते। अतोऽर्चरादिरातिवाहिकगणस्तमेव नयति।

उपासक अर्चिरादि द्वारा जाता है, अमानव अर्चिरादि आतिबाहिक गण, उपासक को ब्रह्म तक पहुँचाते हैं' यह बतलाया गया। अब विचार यह होता है कि–अर्चिरादिगण, कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ के उपासकों को पहुँचाते हैं अथवा परब्रह्म के उपासकों को अथवा उपासकों में उनको ही पहुँचाते हैं जो ब्रह्मात्मक भाव से उपासना करते हैं ? इस संशय पर बादरि आचार्य का मत है कि–कार्यब्रह्म के उपासकों को ही पहुँचाते हैं। हिरण्यगर्भ के उपासक के गमन की बात हो सकती है, परिपूर्ण सर्वज्ञ सर्वगत, सर्वात्मभूत परब्रह्म के उपासकों को उसे प्राप्त करने के लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता ही क्या है, वह तो उन्हें प्राप्त ही है, नित्य प्राप्त परब्रह्म के विषय में जो अविद्या है' उसकी निवृत्ति करना ही तो परविद्या का कार्य है, उसकी निवृत्ति होते ही सर्वत्र ब्रह्मानुभूति होने लगती है। हिरव्यगर्भ रूप कार्यब्रह्म के उपासक को ही, देश-विशेष ब्रह्मलोक में जाने की बात हो सकती है। अतः अर्चिरादि आतिवाहिक गण उन्हीं को ले जाते हैं।

विशेषितत्वाच्च ।४।३।७॥

"पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति" इति लोक शब्देन बहुवचनेन च लोकविशेष वर्त्तिनं हिरण्यगर्भमुपासीनमेवामानवो गमयतीति विशेष्यते। किं च "प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये, इति

कार्यस्य हिरण्यगर्भस्य समीपगमनमर्चिरादिना गतः प्रत्यभिसंधत्ते ।

"अमानव पुरुष लेकर ब्रह्म लोक जाता है" इत्यादि वाक्य में जो लोक शब्द में बहुवचन का प्रयोग किया गया है, वह लोक विशेषवर्त्ती हिरण्यगर्भ के उपासक को ही ले जाता है, इस भाव का द्योतक है। "प्रजापति के सभामंडल में उपस्थित होते हैं" इत्यादि में, स्पष्ट रूप से अर्चिरादि द्वारा, कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ के निकट ले जाने की बात कही गई है।

नन्वेवं "तत्पुरुषोऽमानवः" स एनान् ब्रह्मगमयति" इत्यर्थं निर्देशो नोपपद्यते, हिरण्यगर्भनयने हि "स एनान् ब्रह्माणं गमयति" इति निर्देष्टव्यं स्यात् । अत आह—

"वह अमानव पुरुष इन्हें ब्रह्म के पास ले जाता है" ऐसा निर्देश नहीं हो सकता, हिरण्यगर्भ के पास ले जाने के प्रसंग में तो उक्त वाक्य के स्थान पर "वह इन्हें ब्रह्मा के पास ले जाते हैं" ऐसा पाठ होना चाहिए। इसका उत्तर देते हैं—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ।४।३।८॥

"यो ब्रह्माणं विदधाति" इति हिरण्यगर्भस्य प्रथमजत्वेन ब्रह्म सामीप्यात्तस्य ब्रह्मशब्देन व्यपदेश इति गत्यनुपपत्ति विशेषणादिभिरुक्तैर्हेतुभिर्निश्चीयत इत्यर्थः ।

"यो ब्रह्माणं विदधाति" इत्यादि में हिरण्यगर्भ का सर्वप्रथम अजरूप से वर्णन किया गया है, तथा ब्रह्म के समीपवर्ती होने से उन्हें भी ब्रह्म ही कहा गया है इसलिए उनके निकट ले जाने की बात कोभी "ब्रह्म के पास ले जाते हैं" ऐसा कहा गया है।

अथ स्यात्—अर्चिरादिना हिरण्यगर्भप्राप्तौ "एषदेवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" इत्यमृतत्वप्राप्त्यपुनरावृत्ति व्यपदेशो नोपपद्यते, हिरण्यगर्भस्य कार्यभूतस्य द्विपरार्धं कालावसाने विनाश शास्त्रात्

"आब्रह्म भुवनांल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुनः" इति वचनात् हिरण्यगर्भं प्राप्तस्य पुनरावृत्तेखर्जनीयत्वात्–इति । तत्राह–

यदि अर्चिरादि द्वारा हिरण्यगर्भ की प्राप्ति मानेंगे तो "इस देवमार्ग ब्रह्मपथ को प्राप्त मानव इस संसार में लौटकर नहीं आता" उससे ऊपर जाकर अमृतत्व प्राप्त करता है 'इत्यादि फलश्रुति की संगति नहीं होगी। कार्यभूत हिरण्यगर्भ का तो द्विपरार्ध के अवसान में, शास्त्र से ही विनाश निश्चित है–" हे अर्जुन ! ये ब्रह्मसहित सारेलोक पुनरावर्त्त होते हैं" इत्यादि से, हिरण्यगर्भ को प्राप्त व्यक्ति की पुनरावृत्ति निश्चित हो जाती है। इसका उत्तर देते हैं–

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।४।३।९॥

कार्यस्य–ब्रह्मलोकस्यात्यये तदध्यक्षेण–हिरण्यगर्भेणाधिकारिकेणावसिताधिकारेण विदुषासह स्वयमपि तत्राधिगतविद्यः अतः कार्याद् ब्रह्मलोकात् परंब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्चिरादिना गतस्यामृतत्व-प्राप्त्यपुनरावृत्त्यभिधानात् "ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यंति सर्वे" इति वचनाच्चावगम्यते ।

कार्य ब्रह्मलोक के अवसान होने पर उसके अध्यक्ष के सहित उपासक भी कृतार्थ होकर अर्चिरादि द्वारा पुनरावृत्ति रहित अमृतत्व प्राप्त करता है ऐसा –"वे ब्रह्मलोक से परार्धकाल में मुक्त होकर अमृतत्व प्राप्त करते हैं" इत्यादि से ज्ञात होता है।

स्मृतेश्च ।४।३।१०॥

स्मतेश्चायमर्थोऽवगम्यते–"ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे, परस्यान्ते कृतात्मनः प्रविशंति परं पदम्" इति । अतः कार्यमुपासीनमेवार्चिरादिकोगणो नयतीति बादरेर्मतम् ।

स्मृति से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है–"प्रत्येक प्रलय में वे सब ब्रह्मा के साथ कृतार्थ होकर परंपद प्राप्त करते हैं" इसलिए कार्य-ब्रह्म के उपासकों को ही अर्चिरादि गण ले जाते हैं, ऐसा बादरि का मत है।

अत्र जैमिनिः पक्षान्तर परिग्रहेण प्रत्यवतिष्ठते—

इस पर उत्तर पक्ष को लेकर जैमिन उपस्थित होते हैं—

परंजैमिनिर्मुख्यत्वात् ।४।३।११।।

परं ब्रह्मोपासीनानर्चिरादिर्नयतीति जैमिनिराचार्यो मन्यते, कुतः ? मुख्यत्वात् "तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति" इति ब्रह्म शब्दस्य परस्मिन्नेव ब्रह्मणि मुख्यत्वात्। प्रमाणान्तरेण कार्यस्य निश्चये सत्येव हि लाक्षणिकत्व युक्तम्। न च गमनानुपत्तिः प्रमाणम् परस्यब्रह्मणः सर्वगतत्वेऽपि विदुषो विशिष्टदेश गतस्येवाविद्या निवृत्ति शास्त्रात्। यथा हि विद्योत्पत्तिवर्णाश्रमधर्म शौचाचारदेशकालाद्यपेक्षा—"तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि शास्त्रादवगम्यते, तथा निःशेषाविद्यनिवर्त्तनरूपविद्या निष्पत्तिरपि विशिष्ट देशगतिसापेक्षे ति गतिशास्त्रादवगम्यते। विदुष उत्क्रांति प्रतिषेधादि तु पूर्वमेव परिहृतम्।

परब्रह्म के उपासकों को ही अर्चिरादिगण ले जाते हैं ऐसा जैमिनी आचार्य का मत है "तत्पुरुषोऽमानवः" इत्यादि में ब्रह्म शब्द का पर ब्रह्म में ही मुख्यार्थ है। प्रमाणान्तरों से कार्यब्रह्म का जो निर्णय होता है वह लाक्षणिक अर्थ है। जो यह कहा कि—सर्वगत परब्रह्म को प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता, वह असंगत बात है, शास्त्र तो विशिष्ट देश की प्राप्ति होने पर ही उपासक की अविद्या निवृत्ति बतलाते हैं। जैसे कि—विद्योत्पत्ति में, वर्णाश्रम धर्म शौच आचार देश काल आदि अपेक्षित है "तमेतं वेदानुवचनेन" से स्पष्ट है, वैसे ही-सम्पूर्ण अविद्या की निवृत्ति के लिए विशिष्ट देश की गति अपेक्षित है जो कि गति वर्णन करने वाले शास्त्र से ज्ञात होता है। उपासक की उत्क्रांति के प्रतिषेध आदि का तो पहिले ही परिहार हो चुका है।

यस्तु "ब्रह्मलोकान्" इति लोकशब्द बहुवचनाभ्यां विशेषणात् कार्यभूतहिरण्यगर्भप्रतीतिरिति, तदयुक्तम् निषादस्थपतिन्यायेन

ब्रह्मैव लोक इति कर्मधारस्यैव युक्तत्वात्, अर्थस्य चैकत्वे निश्चिते सति बहुवचनस्य "अदितिः पाशान्" इतिवदुपपत्तेः, परस्यब्रह्मणः परिपूर्णस्य सर्वगतस्य सत्यसंकल्पस्य स्वेच्छापरिकल्पिताः स्वासाधारणा अप्राकृताश्च लोका नात्यन्ताय न संति, श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रामाण्यात् ।

जो यह कहा कि—लोक शब्द और बहुवचन के प्रयोग से कार्यभूत हिरण्यगर्भ की ही प्रतीति होती है, यह कथन की असंगत है, निषादस्पति न्याय की तरह कर्मधारय करना ही सुसं- गत है, एकार्थता के निश्चित हो जाने पर "अदितिः पाशान्" की तरह बहुवचन की उपपत्ति हो जायेगी । श्रुतिस्मृति इतिहास पुराण के प्रमाणों से ज्ञात होता है कि— यह विशिष्ट लोक सर्वगत सत्यसंकल्प, परिपूर्ण परब्रह्म की स्वेच्छित परिकल्पना ही है, इस ब्रह्मलोक से भिन्न कोई भी असाधारण अप्राकृत लोक आत्यंतिक मुक्ति नहीं दे सकते ।

दर्शनाच्च ।४।३।१२।।

दर्शयति श्रुतिः मूर्धन्यनाड्या निष्क्रम्य देवयानेन गतस्य परब्रह्म प्राप्तिम्—"एष संप्रसादोस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूप संपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति ।

मुर्धन्य नाडी से निकलकर देवयान मार्ग से जाने वाले उपासक की ब्रह्मप्राप्ति का श्रुति इस प्रकार वर्णन करती है "यह जीव इस शरीर से उठकर परब्रह्म की सी ज्योति प्राप्ति कर अपने स्वरूप में आ जाता है ।

यदुक्तं—"प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये" इत्यर्चिरादिना गतस्य कार्ये प्रत्यभिसंधिदृश्यते इति—तत्रोत्तरम्—

जो यह कहा कि—"प्रजापति के सभामंडप को प्राप्त होते हैं" इत्यादि वर्णन से यह निश्चित होता है कि—अर्चिरादि कार्यब्रह्म की ओर ही ले जाते हैं। इसका उत्तर देते हैं—

न च कार्यैप्रत्यभिसंधिः ।४।३।१३॥

न चायं प्रत्यभिसंधिः कार्ये हिरण्यगर्भे, अपितु परस्मिन्नेव ब्रह्मणि वाक्यशेषे--"यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्" इति तस्याभिसंधातुः सर्वाविद्याविमोक्पूर्वक सर्वात्मभावाभिसंधानात् "अश्व शरीरमकृतं इवरोमाणि विधूयपापं चंद्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, धूत्वा कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि" इत्यभिसंभाव्यस्य ब्रह्मलोकस्याकृतत्वश्रवणात्, सर्वबन्धविनिर्मोकस्य च साक्षाच्छ्रवणात् । अतः परमेव ब्रह्मोपासीनमर्चिरादिरातिवाहिको गणोनयतीति जैमिनेर्मतम् ।

उक्त अभिसंधि कार्य हिरण्यगर्भ संबंधी नहीं है अपितु परब्रह्म संबंधी ही है, उक्त वाक्य के अंत में जो यह कहा गया कि-"मैं ब्राह्मणों का यश होता हूँ" इत्यादि, का तात्पर्य परमात्मा से अभिसंधान करने वाले की सारी अविद्या नष्ट हो जाती है और वह सर्वात्मभाव की भूमि पर पहुँच जाता है । "घोड़े की तरह पाप रूपीरोयों को झाड़कर राहु के मुख से मुक्त चन्द्र की तरह शरीर के पापों को धोकर कृतार्थ उपासक को ब्रह्मलोक ले जाता हूँ" इत्यादि में ब्रह्मलोक में जाने वाले के निष्पापता के वर्णन से तथा अविद्या के बंधनों की मुक्ति के वर्णन से यह निश्चित होता है कि परब्रह्म के उपासक को ही, अचिरादि आतिवाहिक गण ले जाते हैं, ऐसा जैमिनि का मत है ।

इदानीं बादरायणस्तु भगवान स्वमतेन सिद्धान्तमाह—

अब भगवान बादरायण अपने मतानुसार सिद्धान्त कहते हैं—

अप्रतीकालंबनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात्तक्रतुश्च ।४।३।१४॥

अप्रतीकालम्बनान् प्रतीकालम्बनव्यतिरिक्तान् नयत्यर्चिरादिरातिवाहिकोगण इति भगवान बादरायणो मन्यते, एतदुक्तं भवति-कार्यमुपासीनान्नयतीति नायं पक्षः संभवति, परमेवोपासीनानित्य-

यमपिनियमो नास्ति, न च प्रतीकालंबनानपि नयति, अपितु ये परंब्रह्मोपासते। ये चात्मानं प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासते, तानुभयविधान्नयति। ये तु ब्रह्मकार्यान्तर्भूतनामादिकं वस्तु देवदत्तादिषु सिंहादिदृष्टिवत् ब्रह्मदृष्ट्या, केवलं वा तत्तद्वस्तूपासते न तान्नयति। अतः परंब्रह्मोपासीनानात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनान्नयति--इति।

जो प्रतीकालम्बन नहीं करते, अर्चिरादि आतिवाहिक गण उन्हें ही ले जाते हैं, ऐसी भगवान बादरायण की मान्यता है। कहने का तात्पर्य यह है कि--कार्य ब्रह्म के उपासकों को ले जाते हैं यह तो कदापि संभव नहीं है, परब्रह्म के उपासकों को ही ले जाते हैं ऐसा कोई नियम नहीं है और न प्रतीकालम्बन वालों को ही ले जाते हैं, अपितु जो पर ब्रह्म के उपासक हैं या प्रकृति वियुक्त अपने आत्मा की ब्रह्मात्मभाव से उपासना करते हैं, इन दोनों को ले जाते हैं। जो लोग, देवदत्त में सिंह आदि दृष्टि की तरह ब्रह्म दृष्टि रखकर, व्यक्ति पूजा करते हैं, उनको नहीं ले जाते [अर्थात् जैसे कि--देवदत्त सिंह है इत्यादि भाव की तरह अमुक व्यक्ति भगवान है ऐसे भाव से जो लोग व्यक्ति पूजा करते हैं] इसका निष्कर्ष यह है कि--परब्रह्म के उपासक को तथा प्रकृति वियुक्त ब्रह्मात्मभाव के उपासक को ही ले जाते हैं।

कुतः ? उभयथा च दोषात्। कार्यमुपासीनान्नयतीति पक्षे "अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य" इत्यादिका श्रुतयः प्रकुप्येयुः परमेवोपासीनानिति नियमे--"तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवंति" इति पंचाग्निविदोऽर्चिरादिगणोनयतीति श्रुतिः प्रकुप्येत्। अतः, उभयस्मिन्नपि पक्षे दोषः स्यात्। तस्मादुभयविधान्नयतीति। तदेतदाह क्रतुश्च-इति। तत्क्रतुः तथोपासीनस्तथैव प्राप्नोतीत्यर्थः "यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति "तं यथायथोपासते" इति न्यायात्। पंचाग्निविदोऽप्यर्चिरादिना गति श्रवणात्, अर्चिरादिना

गतस्य ब्रह्मप्राप्त्यपुनरावृत्ति श्रवणात् । अतएव तत्क्रतुन्यायात् प्रकृतिविनिर्मुक्त ब्रह्मात्मकात्मानुसंधानं सिद्धम् । नामादि प्राणपर्यन्त प्रतीकालम्बनानां तूभयविधश्रुतिसिद्धोपासनाभावादचिन्मिश्रोपासने तत्क्रतुन्यायाच्चार्चिरादिना गतिः ब्रह्मप्राप्तिश्च न विद्यते ।

उक्त दोनों मतों में ही दोष है । कार्यब्रह्म के उपासकों को ले जाने वाले पक्ष को मानने से "इस शरीर से उठकर परंज्योति से संपन्न होकर" इत्यादि श्रुतियों से विरुद्धता होती है । तथा परब्रह्म के उपासकों को ही ले जाते हैं इसको मानने पर-"तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये" इत्यादि, पंचाग्नि विद्या के ज्ञाताओं को अर्चिरादि गणों द्वारा पहुँचाने वाली श्रुति से विरुद्धता होती है । इस प्रकार दोनों ही पक्षों में दोष है । इससे यह सिद्ध होता है कि दोनों ही प्रकार के उपासकों को ले जाते हैं । उसकी जिस प्रकार उपासना की जाती है, उसकी वैसी ही गति होती है जैसा कि-"इस लोक में जैसी उपासना करते हैं, मरने पर वैसी ही गति पाते हैं" इत्यादि । पंचाग्नि विद्या के ज्ञाताओं की भी अर्चिरादि गति का उल्लेख है तथा अर्चिरादिकों द्वारा पहुँचाये जाने पर ब्रह्म प्राप्ति होने पर पुनरावृत्ति नहीं होती इसका भी उल्लेख मिलता है । इसलिए उपासनानुसार गति होती है इस नियम से, प्रकृतिविनुर्मुक्त ब्रह्मात्मभाव वाले उपासक की मुक्ति भी सिद्ध है । नाम से लेकर प्राण तक प्रतीक का आश्रय लेकर उपासना करने वालों की अर्चिरादि गति नहीं होती, क्योंकि-जो दो प्रकार की अर्चिरादि गति बतलाई गई है उससे कहीं भी प्रतीकोपासकों की गति का उल्लेख नहीं है ।

तमिमं विशेषं श्रुति रेव दर्शयतीत्याह ।

उसके विषय में विशेष श्रुति का प्रदर्शन करते हैं-

विशेषं च दर्शयति ।४।३।१५॥—

"यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति" इत्यादिका श्रुतिः नामादिप्राणपर्यन्त प्रतीकमुपासीनानां गत्यनपेक्षं परिमित फलविशेषं च दर्शयति, तस्मादचिन्मिश्रं केवलं वाचिद्वस्तु ब्रह्म

दृष्ट्या तद्वियोगेन च य उपासते, न तान् नयति, अपितु परं ब्रह्मोपासीनानात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनानाति-वाहको गणो नयतीति सिद्धम् ।

"जो नामोपासना करते हैं, वे मरने के बाद यथेच्छ विचरण करते इत्यादि श्रुति नाम से लेकर प्राण तक प्रतीकोपासना करने वालों की गति होने पर परिमित फलविशेष का उल्लेख करती है। इससे यह निश्चित होता है कि-जो लोग अचिद् वस्तु या अचिद्मिश्रित वस्तु में ब्रह्म दृष्टि से उपासना करते हैं उनको अचिरादिगण नहीं ले जाते, अपितु ब्रह्मोपासकों और प्रकृतिवियुक्त में ब्रह्मात्मकभाव के उपासकों को ही ले जाते हैं।

तृतीय पाद समाप्त

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ पाद

१ संपद्याविर्भावाधिकरण :—

संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ।४।४।१॥

परंब्रह्मोपासीनानामात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनानामर्चिरादिना मार्गेण पुनरावृत्तिलक्षणा गतिरुक्ता, इदानीं मुक्तानामैश्वर्यप्रकारं चिन्तयितुमारभते ।

परब्रह्म के उपासकों और प्रकृति वियुक्त ब्रह्मात्म भाव के उपासकों को अर्चिरादि मार्ग से जाने पर पुनः लौटकर नहीं जाना पड़ता यह बतलाया गया। अब मुक्त जीवों के ऐश्वर्य के प्रकार पर विचार प्रारंभ करते हैं।

इदमाम्नायते--"एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति। किमस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपन्नस्य देवादि रूपवत्साध्येन रूपेण संबंधोऽनेन वाक्येन प्रतिपद्यते, उत स्वाभाविकस्य स्वरूपस्याविर्भावः ? इति संशये, साध्येन रूपेण संबंध इति युक्तम्। अन्यथा हि अपुरुषार्थावबोधित्वं मोक्षशास्त्रस्य स्यात्। स्वरूपस्य स्वतोऽपुरुषार्थत्वदर्शनात्। न हि सुषुप्तौ देहेन्द्रियव्यापारेषूपरेतषु केवल स्यात्मस्वरूपस्य पुरुषार्थसंबंधो दृश्यते, न च दुःखनिवृत्तिमात्रं परंज्योतिरूपसंपन्नस्य पुरुषार्थः, येन स्वरूपाविर्भाव एव मोक्षः, इत्युच्येत्। "स एको ब्रह्मण आनंदः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य"

रसं ह्येवायंलब्ध्वाऽनंदीभवति" इत्यादिभ्यो मुक्तस्यसुखानंत्या श्रवणात् ।

ऐसी श्रुति है-"यह जीव इस शरीर से उठकर परंज्योति को प्राप्त कर अपने रूप से आविर्भूत होता है।" संशय यह होता है कि-क्या इस शरीर से उठकर परं ज्योति को प्राप्त जीव को देवादि की तरह साध्य रूप से अपने रूप की प्राप्ति होती है अथवा स्वाभाविक रूप का आविर्भाव होता है ? विचारने पर तो साध्यरूप संबंध ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है ? यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो शास्त्र, अपुरुषार्थ का बोधक सिद्ध हो जायेगा । अपने स्वरूप को तो अपुरुषार्थं ही बतलाया गया है । सुषुप्तावस्था में जब देह इन्द्रिय आदि की चेष्टायें लुप्त हो जाती हैं केवल आत्मस्वरूप की ही स्थिति रहती है, उसे तो कहीं भी पुरुषार्थ नहीं कहा गया है और न दुःख निवृत्ति मात्र को परंज्योति प्राप्त रूप पुरुषार्थ माना गया है, जिससे कि-स्वरूपाविर्भाव को ही मोक्ष माना जा सके । "निष्काम श्रोत्रिय का वह एक ब्रह्मानंद है" इस रस को प्राप्त कर वह आनंद प्राप्त करता है" इत्यादि से मुक्त जीव के अनंत सुख प्राप्ति की बात ज्ञात होती है उससे भी स्वरूपाविर्भाव की बात समझ में नहीं आती ।

न चापरिच्छिन्नानंदरूपचैतन्यमेवास्य स्वरूपम्, तच्चसंसार-दशायामविद्या तिरोहितं परंज्योतिरूपसंपन्नस्याविर्भवतीति शक्यम् वक्तुम्, ज्ञानस्वरूपस्य तिरोधानासंभवात । प्रकाश पर्यायस्य ज्ञानस्य तिरोधानं तद्विनाश एवेति हि पूर्वमेवोक्तम् ।

यह भी नहीं कह सकते कि-अखंड आनंद स्वरूप चैतन्य ही, स्वरूप है जो कि संसार दशा में अविद्या से तिरोहित रहता है, परं-ज्योति को प्राप्त कर आविर्भूत हो जाता है; ज्ञान स्वरूप का तिरोधान नहीं हो सकता । ज्ञान, प्रकाश का ही दूसरा नाम है, प्रकाश के तिरोधान का तात्पर्य है प्रकाश या ज्ञान का नाश, जो वस्तु अविद्या से नष्ट हो चुकी उसके पुनराविर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता, यह हम पहिले भी कह चुके हैं ।

न च प्रकाशमात्रस्यानंदता संभवति, सुखस्वरूपता हि आनंदस्वरूपता, सुखस्वरूपत्वं चात्मनोऽनुकूलत्वं, प्रकाशमात्रात्मवादिनः कस्यप्रकाशोऽनुकूलवेदनीयो भवेदिति प्रकाशमात्रात्मवादिनः कथं चिदप्यानंदस्वरूपता दुरुपपादा। स्वरूपापत्तिमात्रे च साध्ये स्वरूपस्य नित्यनिष्पन्नत्वादुपसंपन्नस्य "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति वचनमनर्थकं स्यात्। अतो अपूर्वेण साध्येन रूपेण संपद्यते। एवं च "अभिनिष्पद्यते" इति वचनं मुख्यार्थमेव भवति। "स्वेन रूपेण" इत्यप्यानन्दैकांतेन स्वासाधारणेनाभिनिष्पद्यत इति संगच्छत इति।

प्रकाश मात्र वस्तु में आनंदता संभव भी नहीं है सुखस्वरूपता ही तो आनंद स्वरूपता है, अपनी अनुकूल अनुभूति को ही सुखरूपता कहा गया है, प्रकाशमात्र को आत्मा मानने वालों के प्रकाश की कैसी अनुकूल अनुभूति होती है ? क्या वे बतला सकते हैं ? वे लोग कभी भी, आनंद-स्वरूपता का विवेचन नहीं कर सकते हैं। स्वरूप तो नित्यनिष्पन्न वस्तु है, उसकी निष्पन्नता को बतलाने वाला वाक्य "स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" तो अनर्थक ही हो जावेगा, यदि केवल स्वरूपापत्ति को ही मुक्ति मानेंगे। इसलिए अपूर्व साध्य स्वरूप की निष्पन्नता होती है यही मानना चाहिए ऐसा मानने से ही "अभिनिष्पद्यते" वचन की मुख्यार्थता होती है। "स्वेन रूपेण" से भी अपने स्वरूप से भिन्न अखंड आनंदमयता का भाव प्रकट होता है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—"संपद्याविर्भावः" इति। अयं प्रत्यगात्माऽर्चिरादिना परंज्योतिरुपसंपद्य यंदशाविशेषमापद्यते स स्वरूपाविर्भावरूपः, नापूर्वाकारोत्पत्तिरूपः। कुतः ? स्वेन शब्दात् "स्वेनरूपेण" इति विशेषणोपादानादित्यर्थः। आगंतुक विशेष परिग्रहे हि "स्वेन रूपेण" इति विशेषणमनर्थकं स्यात्, अविशेषणेऽपि तस्य स्वकीयरूपत्वसिद्धेः।

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि-यह जीवात्मा अर्चिरादिकों द्वारा परमात्म ज्योति को प्राप्त कर जिस दशा विशेष को प्राप्त करता है वह स्वरूपाविर्भाव रूप ही है, अपूर्व आकारोत्पत्तिरूप नहीं है। श्रुति में स्पष्ट रूप से स्व शब्द का प्रयोग किया गया है "स्वेन रूपेण" इत्यादि। विशेषोउल्लेख से हमारा मत ही सिद्ध होता है। यदि, विशेष अपूर्व रूप प्राप्ति की बात मानेंगे तो, "स्वेन रूपेण" में कहा गया विशेषण अनर्थक हो जायगा यदि उसे विशेषण न भी मानें तो भी, स्वकीय रूपता तो उसकी सिद्ध ही है।

यत्तूक्तं स्वरूपस्य नित्यप्राप्तत्वात् "संपद्याभिनिष्पद्यते इति वचनमनर्थकम्–तत्रोत्तरम्–

जो यह कहा कि स्वरूप तो नित्य प्राप्त वस्तु है इसलिए "संपद्याभिनिष्पद्यते" वचन अनर्थक हो जायगा–उसका उत्तर देते हैं–

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ।४।४।२।।

कर्मसंबंधतत्कृतदेहादिविनिर्मुक्तः स्वाभाविकरूपेणावस्थितोऽत्र "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्युच्यते। अतो नित्यप्राप्तस्यापिस्वरूपस्य कर्मरूपाविद्यातिरोहितस्य तिरोधाननिवृत्तिरत्राभिनिष्पत्तिरुच्यते। कुतः? प्रतिज्ञानात्–सा हि प्रतिपाद्यतया प्रतिज्ञाता। कुतः इदमवगम्यते? "य आत्मा" इति प्रकृतं प्रत्यगात्मानं जागरिताद्यवस्थात्रितयविनिर्मुक्तं, प्रियाप्रियहेतुभूत कर्मारब्ध शरीरविनिर्मुक्तं च प्रतिपादयितुं–"एवं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि" इति पुनः पुनरुक्त्वा "एवमेवैषसंप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यभिधानात् अतः कर्मणा संबद्धस्य परंज्योतिरुपसंपद्य बन्धनिवृत्तिरूपामुक्तिः स्वेनरूपेणाभि निष्पत्तिरुच्यते। स्वरूपाविर्भावेऽप्यभिनिष्पत्तिशब्दो दृश्यते–"युक्त्यायमर्थो निष्पद्यते" इत्यादिषु।

कर्म संबंधी देह आदि से विमुक्त स्वाभाविक रूप से अवस्थित जीव को ही उक्त प्रसंग में "स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" पद से कहा गया है। स्वरूप के नित्य होते हुए भी, कर्म रूपा अविद्या से वह तिरोहित रहता है, उस तिरोधान की निवृत्ति होने को ही यहाँ निष्पत्ति कहा गया है। ऐसा प्रतिपादन की शैली से ही ज्ञात हो जाता है। "य आत्मा" से, जागरित आदि तीनों अवस्थाओं से रहित प्रकृत जीवात्मा का निर्देश करके पाप पुण्य के हेतु भूत कर्मारब्ध शरीर से रहित स्वरूप का प्रतिपाद न करने के लिए "इसकी मैं तुझे पुनः व्याख्या करता हूं" इत्यादि पुनःपुनः व्याख्या करते हुए "इस प्रकार यह जीव इस शरीर से उठकर परंज्योति को प्राप्त कर स्वरूप संपन्न होता है "इत्यादि विवेचन किया। इससे ज्ञात हुआ कि-कर्म से संबद्ध इस जीवात्मा को जब परंज्योति की प्राप्ति होती है तब वह, बंधनिवृत्तिरूपा मुक्ति प्राप्त कर अपने स्वाभाविक निष्पन्न रूप को प्राप्त करता है स्वरूपाविर्भाव के अर्थ में अभिनिष्पन्न शब्द का प्रयोग होता है जैसे कि— "युक्ति से यह अर्थ निष्पन्न हुआ" इत्यादि।

यच्चोक्तम्—आत्मस्वरूपस्य सुषुप्तावपुरुषार्थत्वदर्शनात् स्वरूपाविर्भावे मोक्षशास्त्रस्यापुरुषार्थावबोधित्वंस्यादिति कृत्स्वादेवाद्यवस्थावत् सुखसंबंध्यवस्थांतरप्राप्तिरभिनिष्पत्तिः-इति तत्रोत्तरम्-

जो यह कहा कि- सुषुप्तावस्था में भी तो देह इन्द्रियाँ आदि के निश्चेष्ट होने पर स्वरूप स्थिति रहती है उसे तो कोई मुक्ति नहीं कहता तथा स्वरूपाविर्भाव में—मोक्ष शास्त्र की अपुरुषार्थता होती है, इसलिए देवादि अवस्था की तरह सुख संबंधी दूसरी अवस्था की प्राप्ति को ही निष्पत्ति मानना चाहिए। इसका उत्तर देते हैं—

आत्माप्रकरणात् ।४।४।३।।

स्वरूपेणैवायमात्मा अपहतपाप्मत्वादि सत्यसंकल्पत्वपर्यन्त गुणकः प्रकरणादवगम्यते—"य आत्माऽपहतपाप्माविजरोविमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" इति हि प्रजापति वाक्यप्रक्रमः, इदं च प्रकरणं प्रत्यगात्मविषयमिति—

"उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु" इत्यत्र प्रतिपादितम् । अतो अपहत पाप्मत्वादिस्वरूप एवायमात्मा संसारदशायां कर्माख्याविद्यया तिरोहितः स्वरूपः परंज्योतिरुपसंपद्याविर्भूतस्वरूपो भवति । अतः प्रत्यगात्मनो अपहतपाप्मत्वादयः स्वाभाविक गुणाः परंज्योतिरुप-संपन्नस्याविर्भवंति, नोत्पद्यन्ते । यथोक्तं भगवताशौनकेनापि-"यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः, दोषप्रहाणान्न ज्ञान-मात्मनः क्रियते तथा। यथोदपानकरणात् क्रियते न जलांबरम्, सदेव नीयते व्यक्तिमसतः संभवः कुतः । तथा हेमगुणध्वंसात् अवबोधादयो-गुणाः प्रकाशंते न जन्यन्ते नित्या एव आत्मनो हि ते । "अतो ज्ञानानंदादिगुणानां कर्मणा आत्मनि संकुचितानां परंज्योतिरुप-संपद्य कर्मरूपबन्ध क्षये विकाशरूपाविर्भावो नानुपपन्न इति सुष्ठूक्तं-"संपद्याविर्भावः" इति ।

मुक्तावस्था में यह आत्मा स्वरूप प्राप्ति ही करता है, निष्पापता से लेकर सत्यसंकल्पत्व तक इसके स्वरूप गत स्वाभाविक गुणों का उल्लेख प्रकरण में मिलता है--"जो निष्पाप,, अजर, अमर विशोक भूख प्यास रहित सत्यकाम और सत्य संकल्प है" यह प्रजापति वाक्य का प्रसंग है, यह प्रकरण जीवात्मा संबंधी है, इसका प्रतिपादन "उत्तराच्चेदावि-र्भूतस्वरूपस्तु" में किया गया है । निष्पापता आदि गुणों वाला यह आत्मा, संसार दशा में कर्म नामक अविद्या से तिरोहित हो जाता है. परमात्म ज्योति को प्राप्त कर आविर्भूत स्वरूप होता है । जीवात्मा के, अपहत पाप्मता आदि स्वाभाविक गुण परमात्म ज्योति को प्राप्त कर आविर्भूत होते हैं, उत्पन्न नहीं होते । जैसा कि भगवान शौनक ने भी कहा है--"जैसे कि ज्योत्स्ना, मणि का मल प्रक्षालन नहीं करती अपितु अपने प्रकाश से मणि को प्रकाशित करती है, वैसे ही ज्ञान, आत्मा का प्रक्षालन नहीं करता अपितु उसे प्रकाशित मात्र करता है । जैसे कि--जल स्नान से व्यक्ति, शरीर से स्वच्छ हो जाता है, उसकी आत्म शुद्धि नहीं होती, वैसे ही, हेय गुणों के नष्ट होने से ज्ञान आदि गुणों का प्रकाश हो जाता है, उत्पन्न नहीं होते, वे तो आत्मा के स्वाभाविक नित्य गुण हैं ।" अतः

यही मानना होगा कि जीवात्मा के ज्ञान आनंद आदि गुणों का कर्म की आसक्ति से संकुचन हो जाता है, परमात्मज्योति को प्राप्त कर, कर्मरूप बंधन का क्षय हो जाने पर, विकास रूप आविर्भाव नहीं होता, अपितु वे गुण प्रकाशित हो जाते हैं। "सपंद्याविर्भाव:" यह कथन बिलकुल ठीक है।

२ अविभागेनदृष्टत्वाधिकरण:—

अविभागेन दृष्टत्वात् ।४।४।४॥

किमयं परंज्योतिरुपसंपन्न: सर्वबंधविनिर्मुक्त: प्रत्यगात्मा, स्वात्मानं परमात्मानं पृथग्भूतमनुभवति, उत तत्प्रकारतया तदविभक्तम् ? इति विशये—"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" "यदा पश्य: पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजन: परमं साम्यमुपैति "इदं ज्ञानमपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता:, सर्गेऽपि नोपजायंते प्रलये न व्यथंति च" इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यां मुक्तस्यपरेण साहित्य-साम्यसाधर्म्यावगमात् पृथग्भूतमनुभवति।

क्या यह—परमात्म ज्योति संपन्न बंधन विमुक्त जीवात्मा, अपने को परमात्मा से पृथक् अनुभव करता है, अथवा अपने को उसी का प्रकार मानकर अविभक्त समझता है ? इस संशय पर, इस संबंध की श्रुतियाँ सामने आती हैं—"वह ब्रह्म के साथ सभी कामनाओं को प्राप्त करता है" अपने कर्त्ता स्वर्णाभ परम पुरुष परमात्मा को देखकर उपासक, पुण्य पापों को त्याग कर परं निरंजन की समता प्राप्त करता है "मेरे इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे साधर्म्य को प्राप्त कर न सृष्टि में जन्मते हैं न प्रलय में नष्ट होते हैं "इत्यादि श्रुति स्मृतियों से, मुक्त जीवात्मा की परमात्मा के साथ, समता और साधर्म्यता ज्ञात होती है जिससे पता लगता है कि वह अपने से पृथक अनुभव करता है।

सिद्धान्त:—इति प्राप्त उच्यते—अविभागेन—इति। परस्माद् ब्रह्मण: स्वात्मानमविभागेनानुभवति मुक्त:। कुत: ? दृष्टत्वात्

परब्रह्मोपसंपत्त्या निवृत्ताविद्यातिरोधानस्य याथातथ्येनस्वात्मनो दृष्टत्वात् । स्वात्मनः स्वरूपं हि—"तत्त्वमसि" अयमात्माब्रह्म" ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" इत्यादि सामानाधिकरण्य निर्देशैः "य आत्मनि, तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" इत्यादिभिश्च परमात्मात्मकं तच्छरीरतया तत्प्रकारभूतमिति प्रतिपादितम् "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" इत्यत्र अतो अविभागेन "अहं ब्रह्मास्मि" इत्येवानु भवति । साम्यसाधर्म्यं व्यपदेशो ब्रह्मप्रकारभूतस्यैव प्रत्यगात्मनः स्वरूपं तत्समभिति देवादि प्राकृतरूप प्रहाणेन ब्रह्मसमान शुद्धिं प्रतिपादयति । सहश्रुति स्त्वेवंभूतस्य प्रत्यगात्मनः प्रकारिणा ब्रह्मणा सह तद्गुणानुभवं प्रतिपादयतीति न कश्चिद् विरोधः । ब्रह्म प्रकारतया तदविभागोक्तेर्हि "संकल्पादेवतच्छ्रुतेः" इत्यादि न विरुध्यते" अधिकन्तु भेदनिर्देशात् "अधिकोपदेशात्" इत्यादि च ।

उक्त मत पर "अविभागेन" इत्यादि सूत्र सिद्धान्त रूप से प्रस्तुत करते हैं । कहते हैं कि—मुक्तात्मा, अपने को ब्रह्म से अभिन्न अनुभव करता है । ब्रह्मोपसंपत्ति से अविद्या के तिरोहित होने पर उसे अपने यथार्थ रूप का परिज्ञान होता है तब वह अपने को, उनके समान पाकर अभिन्न ही मानता है । उसकी अभिन्नता "तत्त्वमसि" अयमात्मा ब्रह्म" ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" इत्यादि सामानाधिकरण निर्देशों से दिखलाई गई है । "य आत्मनितिष्ठन्" इत्यादि "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्" इत्यादि से ब्रह्मात्मक जीवात्मा को, उसका शरीर होने से, उस परमात्मा का प्रकार रूप बतलाया गया है—इसको "अवस्थितेरितिं का शकृत्सनः" सूत्र में निश्चित कर चुके । अतः वह जीवात्मा, अभिन्न रूप से "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा अनुभव करता है । जीवात्मा के लिए जो समता और साधर्म्य का निर्देश किया गया है, वह, ब्रह्म के प्रकार भूत जीवात्मा के स्वरूप का, देवादि रूप को छोड़कर, उसके समान शुद्ध होना सिद्ध करता है । जीव ब्रह्म के साहचर्य को बतलाने वाली श्रुति तो ऐसे

शुद्ध जीवात्मा का, प्रकारी ब्रह्म के साथ उसके गुणानुभवों का प्रतिपादन करती है, इसलिए वह अभिन्नता के विरुद्ध नहीं है। ब्रह्म का प्रकार जीव अभिन्नता प्रतिपादक श्रुतियों में प्रतिपाद्य है, ऐसा—"संकल्पादेवतच्छ्रुतेः" अधिकंतुभेद निर्देशात् |"अधिकोपदेशात्" इत्यादि सूत्रों में दिखला चुके हैं।

३. ब्राह्माधिकरणः—

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।४।४।५।।

प्रत्यगात्मनः परंज्योतिरुपसंपद्य निवृत्ततिरोधानस्य स्वरूपाविर्भाव एवेत्युक्तम्। तत्र येन स्वरूपेणायमाविर्भवति तत्स्वरूपं श्रुति वैविध्याद् विचर्यंते। किमपहृतपाप्मत्वादिकमेवास्य स्वरूपामिति तेन रूपेणायमाविर्भवति, उत विज्ञानमात्रमेवेति तेनरूपेण, अथोभयोरविरोध इत्युयभरूपेणेति ? किं तावत् प्राप्तम् ? ब्राह्मेणेति जैमिनिराचार्यो मन्यते। ब्राह्मेण अपहृतपाप्मत्वादिनेत्यर्थः। अपहृतपाप्मत्वादयो हि दहरवाक्ये ब्रह्म संबंधितया श्रुताः। ब्राह्मेणेति कुतोऽवगम्यते? उपन्यासादिभ्यः उपन्यस्यते हि ब्रह्म गुणाः, अपहृतपाप्मत्वादयः प्रत्यगात्मनो हि प्रजापतिवाक्ये "य आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादिना" सत्यसंकल्पः" इत्यंतेन। आदिशब्देन सत्यसंकल्पत्वादिगुणायत्ता जक्षणादयः "जक्षत्क्रीडन् रममाणः" इत्यादि वाक्यावगता व्यवहारा गृह्यन्ते। अतएभ्य उपन्यासादिभ्यः प्रत्यगात्मनो विज्ञानमात्र स्वरूपत्वं न संभवतीति जैमिनेर्मतम्।

जीवात्मा का, परंज्योति से संपन्न होकर, तिरोधान के निवृत्त हो जाने पर, स्वरूपाविर्भाव होता है, यह निश्चित हुआ। वह जिस स्वरूप से आविर्भूत होता है, उसका स्वरूप श्रुतियों में कई प्रकार का वर्णित है, अब उस पर विचार करते हैं कि—क्या अपहतपाप्मता आदि ही इसका आविर्भूत स्वरूप है, अथवा विज्ञान मात्र ही है, अथवा दोनों रूप

एक ही हैं इसलिए दोनों ही उसके आविर्भूत स्वरूप हैं ? इस पर जैमिनि आचार्य का मन है कि-ब्रह्म रूप, उसका स्वरूप है। अपहत पाप्मता इत्यादि ब्राह्म रूप है। अपहत पाप्मता इत्यादि को दहर वाक्य में ब्रह्म संबंधी बतलाया गया है और इन्हीं का प्रतापति वाक्य में, जीवात्मा के लिए उपन्यास किया गया है, सत्य संकल्पता आदि गुणों से संबद्ध जक्षण आदि भी हैं ऐसा "जक्षन्क्रीडन् रममाण:" इत्यादि वाक्य से अवगत व्यवहार से ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार के उपन्यास से निश्चित होता है कि जीवात्मा का स्वरूप विज्ञान मात्र ही नहीं हो सकता, यह जैमिनि का मत है।

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ।४।४।३।।

चैतन्यमात्रमेवास्य स्वरूपमिति तेनरूपेणाविर्भवतीत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। कुतः ? तदात्मकत्वात्–तावन्मात्रात्मकत्वादस्य प्रत्यगात्मनः। "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" "विज्ञानघन एव" इत्यवधारणात् विज्ञानमात्रमेवास्य स्वरूपमित्यवगम्यते। अतोऽस्यगुणान्तराभावात् 'अपहतपाप्मा" इत्यादयः शब्दाः विकार सुखदुःखाद्यविद्यात्मकधर्मव्यावृत्तिपरा इति चितितन्मात्ररूपेणाविर्भावइत्यौडुलोमेर्मतम्।

जीव का स्वरूप चैतन्य मात्र ही है वह उसी रूप से आविर्भूत होता है, ऐसी आचार्य औडुलोमि की मान्यता है। इस जीवात्मा का वैसा स्वरूप ही बतलाया गया है—"जैसे कि नमक का डला भीतर बाहर से संपूर्ण रसघन ही है, वैसे ही यह आत्मा अंतर बाह्य भेद से रहित संपूर्ण प्रज्ञान घन है "विज्ञानघन ही है" इत्यादि से, यह जीवात्मा विज्ञान घन स्वरूप वाला ही ज्ञात होता है। इसमें कोई भी दूसरे गुण नहीं हैं। "अपहत पाप्मा" इत्यादि शब्द तो सुख दुःख आदि अविद्यात्मक विकारों का राहित्य बतलाते हैं। जीवात्मा चैतन्य मात्र स्वरूप से आविर्भूत होता है ऐसा औडुलोमि आचार्य का मत है।

संप्रति भगवान बादरायणः स्वमतेन सिद्धान्तमाह—

अब भगवान बादरायण अपने मत से सिद्धान्त कहते हैं—

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ।४।४।७॥

एवमपि—विज्ञानमात्रस्वरूपत्व प्रतिपादनेन सत्यपि सत्यकामत्वादीनां गुणानामविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते । कुतः ? उपन्यासात् पूर्वभावात्—औपनिषादात्—"य आत्माऽपहतपाप्मा" इत्याद्युपन्यासात् प्रमाणात् पूर्वेषां, अपहतकामत्व सत्यकामत्वादीनामपि भावात्—विद्यमानत्वात् । तुल्यप्रमाणकानां इतरेतरबाधो न युज्यत इत्यर्थः ।

आचार्य बादरायण के मत से, मुक्तात्मा के विज्ञान मात्र स्वरूप मानने से, सत्यकामत्व आदि गुणों का कोई विरोध नहीं होता । अपहत पाप्मता आदि गुण उपनिषद् में प्रथम से ही उपन्यस्त हैं, विज्ञान मात्रत्व का भी मुक्त रूप से ही उल्लेख है, दोनों ही तुल्य हैं, बराबर के दो प्रमाणों में बाध नहीं होता ।

न च वस्तुविरोधादपहतपापमत्वादीनविद्यापरिकल्पितत्वं स्याद्यम्, विशेषाभावात्-"विपरीतं कस्मान्न भवति" इति न्यायात् । तुल्यबलत्वे हि अशक्यस्यावधारणस्यान्यपरत्वमेव स्याद्यम् । एवमप्यविरोध इत्यभ्युपगम्य वदन ज्ञानमात्रमेवास्य स्वरूपं नान्यत्किञ्चिदस्तीत्ययमर्थः "विज्ञानघन एव" इत्यादिभिर्न प्रतिपाद्यत इति मन्यते । कस्तर्हि—"विज्ञानघन एव" इत्यवधारणस्यार्थः ? कृत्स्नोऽप्यात्मा जडव्यावृत्तस्वप्रकाशः नान्यायत्तप्रकाशः स्वल्पोऽपि प्रदेशोऽस्तीत्ययमर्थो वाक्यादेव सुव्यक्तः "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन एव एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" इति ।

विज्ञानमात्र और अपहतपाप्मता आदि में नितान्त वस्तु विरुद्धता है अतः अपहत पाप्मता आदि को अविद्या परिकल्पित मान लिया जाय, यह न्याय्य न होगा, क्योंकि दोनों ही स्वरूप समान रूप से बतलाये गए हैं किसी का विशेषोल्लेख नहीं है; अतः इन दोनों में से किसी एक को, किसी भी आधार के बिना अविद्या परिकल्पित नहीं कहा जा सकता। जब समान बल वाले प्रमाण हों उनमें किसी की श्रेष्ठता का अवधारण न हो सके तो, दोनों की विभिन्नरूपता न्याय्य होती है। इसी भाव के आधार पर अविरोध मानकर ज्ञानमात्र ही इसका स्वरूप है, दूसरा कुछ नहीं इस अर्थ का प्रतिपादक "प्रज्ञानघन एव" वाक्य कहा गया, ऐसा मानना चाहिए। "विज्ञानघन एव" इस अवधारणार्थक वाक्य का तात्पर्य है कि यह अखंड आत्मा चैतन्य और स्वप्रकाश है, इसका प्रकाश किसी अन्य से आयत्त नहीं है, स्वल्प होते हुए भी इसका स्वतंत्र अस्तित्व है यही बात "स यथा सैन्धव......... प्रज्ञानघन एव" इत्यादि में कही गई है।

न चैवं प्रत्यगात्मनो धर्मिस्वरूपस्यकृत्स्नस्य विज्ञानघनत्वेऽप्यपहतपाप्मत्वसत्यसंकल्त्वादिधर्मसंबंधो वाक्यान्तरावगतो विरुध्यते, यथा सैन्धवघनस्यकृत्स्नस्य रसघनत्वे रसनेन्द्रियावगते चक्षुराद्यवगताः रूपकाठिन्यादयो न विरुध्यंते। इदमत्रवाक्य तात्पर्यम्—यथा रसवत्स्वाम्रफलादिषु त्वगादिप्रदेशभेदेन रसभेदे सत्यपि सैन्धवघनस्य सर्वत्रैकरसत्वम्, तथाऽत्मनोऽपि सर्वत्र विज्ञान स्वरूपत्वम्, स्वप्रकाशस्वरूपत्वमित्यर्थः।

धर्मी जीवात्मा के, अखंड विज्ञानघनस्वरूप से अन्यवाक्य में कहे गए अपहत पाप्मता आदि धर्मों से विरुद्धता भी नहीं माननी चाहिए, जैसे कि अखंड रस स्वरूप सेंधा नमक की रस रूपता का जिह्वेन्द्रिय से ही परिज्ञान होता है परन्तु नेत्र आदि इन्द्रियों से उसका आकार प्रकार भी जाना जाता है, उसमें कोई विरुद्धता नहीं होती। इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि जैसे आम के फल में छिलका आदि के भेद से भले ही भेद हो जाय पर, सैन्धव में तो सर्वत्र एकरसता है, वैसे ही जीवात्मा सर्वत्र विज्ञान स्वरूप अर्थात् स्व-प्रकाश स्वरूप ही है।

४. संकल्पाधिकरणः—

संकल्पादेव तच्छ्रुतेः ।४।४ ८।।

मुक्तः परं ब्रह्मोपसंपद्य ज्ञानस्वरूपोऽपहतपाप्मत्वादि सत्यसंकल्पत्व पर्यन्तगुणक आविर्भवतीत्युक्तम्, तमधिकृत्य सत्यसंकल्पत्व प्रयुक्ता व्यवहाराः श्रूयन्ते –"स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा" इति । किमस्य ज्ञात्यादि प्राप्तिः प्रयत्नान्तर सापेक्षा, उत परमपुरुषस्येव संकल्पमात्रादेव भवति ? इति विशये लोके राजादीनां सत्यसंकल्पत्वेनव्यवह्रियमाणानां कार्यं निष्पादने प्रयत्नान्तरसापेक्षत्वदर्शनादस्यापि तत्सापेक्षा ।

ज्ञान स्वरूप मुक्त जीवात्मा में, परब्रह्म के तेज से संपन्न होकर, निष्पापता सत्य संकल्पता आदि गुणों का आविर्भाव होता है. यह बतला दिया गया । उसी से संबद्ध "सतत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन्" इत्यादि में सत्य संकल्पता आदि के व्यवहार का भी वर्णन मिलता है इस पर संशय होता है कि--यह व्यवहार प्रयत्नान्तर सापेक्ष है, अथवा परमात्मा के संकल्प से ही होता है ? इस पर विचारने पर मत होता है, कि जैसे लोक में, राजा आदि के सत्य संकल्पता आदि व्यावहारिक कार्य प्रयत्नान्तर सापेक्ष होते हैं, वैसे ही मुक्त जीव के ये व्यवहार भी हैं ।

सिद्धांतः---इति प्राप्त उच्यते–संकल्पादेव–इति । कुतः ? तच्छ्रुतेः "स यदि पितृलोककामोभवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठंति" इति हि संकल्पादेव पित्रादीनां समुत्थानं श्रूयते । न च प्रयत्नान्तर सापेक्षत्वाभिधायिश्रुत्यन्तरं दृश्यते, येनास्य "संकल्पादेव" इत्यवधारणस्य "विज्ञानघन एव" इतिवद्व्यवस्थापनं क्रियते ।

उक्त मत पर सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं कि संकल्प से ही वे सब व्यवहार होते हैं, उसका श्रुति प्रमाण भी है "वह यदि पितृलोक की कामना करता है तो उसके संकल्प से ही पितर उपस्थित हो जाते हैं" इत्यादि में संकल्प मात्र से पितर आदि की उपस्थिति दिखलाई गई है ।

प्रयत्नान्तर सापेक्षता का किसी श्रुति में उदाहरण नहीं मिलता, जिससे कि "संकल्पादेव" इस अवधारण वाक्य की "विज्ञानघन एव" की तरह व्यवस्था करनी पड़े।

अतएव चानन्याधिपतिः ।४।४।९॥

यतो मुक्तः सत्यसंकल्पः अतएवानन्याधिपतिश्च । अन्याधिपतित्वं हि विधिनिषेधयोग्यत्वं, विधिनिषेधयोग्यत्वं हि प्रतिहत संकल्पत्वं भवेत् । अतः सत्यसंकल्पत्वश्रुत्यैवानन्याधिपतित्वं च सिद्धम् । अतएव "स स्वराड् भवति" इत्युच्यते ।

मुक्तात्मा सत्य संकल्प होने से ही अनन्याधिपति भी है। अन्याधिपतित्व का अर्थ होता है विधि निषेध योग्यता, विधि निषेध की योग्यता में सत्य संकल्पता समाप्त हो जाती है [अर्थात् विधि निषेध के बंधन को मानना ही पराधीनता है, जिस अवस्था में यह बंधन समाप्त हो जाता है वही अनन्याधिपतित्व अर्थात् स्वतंत्रता या मुक्ति की अवस्था होती है] इसलिए सत्य संकल्पता को बतलाने वाली श्रुति से ही, मुक्तात्मा का अनन्याधिपतित्व भी निश्चित होता है। इसीलिए उसके लिए कहा भी गया है कि "वह स्वतंत्र होता है" इत्यादि।

५ अभावाधिकरणः—

अभावं बादरिराह हि एवम् ।४।४।१०॥

किं मुक्तस्य देहेन्द्रियाणि न संति, उत सन्ति ? अथवा यथा संकल्पं संति न संति च ? इति विशये, शरीरेन्द्रियाणामभावं बादरि-राचार्यो मन्यते, कुतः ? आह ह्येवं—"न ह वै स शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति शरीरसंबंधे दुःखस्यावर्जनीयत्वमभिधाय "अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इति मुक्तस्याशरीरत्वं ह्याह श्रुतिः ।

मुक्त जीव के शरीर इन्द्रियादि होते हैं या नहीं अथवा संकल्प से होते भी हैं नहीं भी होते ? इत्यादि संशय होता है। आचार्य बादरि के अनुसार तो शरीर इन्द्रियादि नहीं होते उस पर वे श्रुति प्रस्तुत करते हैं--"सशरीर व्यक्ति के पाप पुण्यों का नाश नहीं होता, अशरीरी को पाप पुण्य स्पर्श नहीं कर सकते" इत्यादि में शरीर संबंध में दुःख की अनिवार्यता बतलाकर "इस शरीर से उठकर" इत्यादि में मुक्त जीव का अशरीरत्व दिखलाया गया है।

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ।४।४।११॥

मुक्तस्य शरीरेन्द्रियभावं जैमिनिराचार्यो मन्यने कुतः? विकल्पामननात्—विविधः कल्पो विकल्पः, वैविध्यमित्यर्थः—"स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पंचधा, सप्तधा" इत्यादि श्रुतेः। आत्मन एकस्यानेकधाभावासंभवात् त्रिधाभावादयः शरीरनिबंधन इत्यवगम्यते। अशरीरत्व वचनं तु कर्मनिमित्त शरीराभाव परम्, तदेव हि शरीरंप्रियाप्रिय हेतुः।

जैमिनि आचार्य, मुक्त जीव के शरीर इन्द्रिय आदि मानते हैं और अपने मत की पुष्टि में श्रुति प्रस्तुत करते हैं "वह एक होता है, तीन होता है, पांच, सात होता है" इत्यादि। वे कहते हैं कि इस श्रुति से, जीव के अनेक होने की बात कही गई है जिससे शरीर का अस्तित्व ज्ञात होता है। जो अशरीरत्व की बात है वह तो कर्मनिमित्तक शरीर के लिए है, वही शरीर पाप पुण्य का कारण होता है।

भगवांस्तु वादरायणः स्वमतेन सिद्धान्त माह—

भगवान बादरायण अपने मत से सिद्धान्त कहते हैं--

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ।४।४।१२॥

"संकल्पादेव" इत्येतदतःशब्देन परामृश्यते, अतएव संकल्पात्, उभयविधंसशरीरमशरीरं च मुक्तं भगवान बादरायणो मन्यते, एवं चोभयी श्रुतिरुपपद्यते—द्वादशाहवद्—यथा—"द्वादशाहमृ-

द्धिकामा उपेयुः" द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्" इत्युपैति यजति चोदनाभ्यां संकल्पभेदेन सत्रमहीनं च भवति ।

सूत्रस्थ अतः शब्द "संकल्पादेव" अर्थ का द्योतन करता है भगवान बादरायण का मत है कि मुक्तात्मा संकल्प से ही सशरीर और अशरीर होता है, दोनों को प्रमाणित करने वाली श्रुतियाँ मिलती हैं जैसे कि— "द्वादशाह अनुष्ठान समृद्धि कामना से कर्त्तव्य है" सन्तान कामना से द्वादशाह यजन करना चाहिए" इत्यादि में एक ही नियम से, द्विविध प्रकारों का विधान संकल्प भेद से बतलाया गया है, वैसे ही सशरीर अशरीर दोनों संकल्प से ही संभव है।

यदा शरीराद्युपकरणवत्वं, तदातानि शरीराद्युपकरणानि स्वेनैव सृष्टानीति नास्ति नियम, इत्याह—

जब मुक्तात्मा शरीरादि उप करणों से संपन्न होता है, तब उसके वे शरीरादि उपकरण, स्वतः ही सृष्ट होते हैं, ऐसा नियम नहीं है, यही बतलाते हैं।

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ।४।४।१३।।

स्वेनैव सृष्टतनुप्रभृत्युपकरणाभावे परमपुरुषसृष्टैरुपकरणै-र्भोगोपपत्तेः सत्यसंकल्पोऽपि स्वयं न सृजति । यथा स्वप्ने— "अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" इत्यारभ्य "अथ वेशं तान् पुष्करिण्यः सुवन्त्यः सृजते स हि कर्त्ता" इति "य एषु सुप्तेषुजागर्ति कामंकामं पुरुषो निर्मिमाणः तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते तस्मिन् लोकाश्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन्" इति ईश्वरसृष्टैः रथाद्युपकरणैः जीवो भुंक्ते, तथा मुक्तोऽपि लीलाप्रवृत्तेनेश्वरेण सृष्टैः पितृलोकादिभिर्लीलारसं भुंक्ते ।

स्वयं अपने ही सृष्ट शरीर आदि उपकरणों के अभाव में, पर-मात्मा द्वारा सृष्ट उपकरणों के भोगों की सृष्टि करना सत्य संकल्प होते हुए भी, इस मुक्तात्मा में संभव नहीं है। जैसे कि स्वप्नावस्था में

"रथ रथ के योग्य मार्ग, वागबावड़ी झरने आदि का वही कर्त्ता है" इत्यादि से ज्ञात होता है कि ईश्वर सृष्ट रथ आदि का जीव भोग करता है, वैसे ही मुक्तात्मा भी लीला प्रवृत्त ईश्वर द्वारा सृष्ट पितृलोक आदि लीला रस को भोगता है।

भावे जाग्रत्वत् ।४।४।१४॥

स्वसंकल्पादेव सृष्टतनु प्रभृतिपितृलोकाद्युपकरणभावे जाग्रत पुरुष भोगवन्मुक्तोऽपि लीलारसं भुंक्ते, परंपुरुषोऽपि लीलार्थं दशरथवसुदेवादि पितृलोकादिकमात्मनः सृष्ट्वा तैर्मनुष्यधर्म्म-लीलारसं यथाभुंक्ते तथा मुक्तानामपि स्वलीलायै पितृलोकादिकं स्वयमेव सृजति कदाचित्, कदाचिच्च मुक्ताः सत्यसंकल्पत्वात् परं पुरुष लीलान्तर्गतस्वपितृलोकादि स्वयमेवसृजन्तीति सर्वमुपपन्नम्।

मुक्तात्मा, अपने संकल्प से ही सृष्ट शरीर से पितृलोक आदि उपकरणों का जाग्रत पुरुषों की तरह लीला रस का भोग करता है, जैसे कि परंपुरुष लीला के लिए दशरथ वसुदेव आदि पितरों की स्वयं सृष्टि करके मनुष्यों की तरह लीला रस का भोग करते हैं, वैसे ही मुक्तात्मा भी अपनी लीला करने के लिए पितर आदि की सृष्टि करता है और कभी सत्य संकल्प होने के कारण वह मुक्तात्मा परमात्मा की लीला में अपने पितर आदि को स्वयं ही सृजन करते हैं।

नन्वात्माऽणुपरिमाण इत्युक्तम् कथमनेकशरीरेष्वेकस्याणो-रात्माभिमानसंभव इत्यत्राह—

आत्मा को अणु परिमाण का बतलाया गया है' संशय होता है कि—वह एक अणु अनेक शरीरों में कैसे व्यापक हो सकता है? इस पर कहते हैं—

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ।४।४।१५॥

यथा प्रदीपस्यैकस्यैकस्मिन्देशे वर्तमानस्य स्वप्रभया देशांतरावेशः तथात्मनोऽप्येकदेहस्थितस्यैव स्वप्रभारूपेण चैतन्येन

सर्वशरीरावेशो नानुपपन्नः, तथा चैकस्मिन्नपि देहेहृदयाद्येकप्रदेश वर्त्तिनोऽपि चैतन्यव्याप्त्या सर्वस्मिन्देह आत्माभिमानः तद्वत्।

इयान्विशेषः, अ कृस्य कर्मणा संकुचितज्ञानस्य देहान्तरेषु आत्माभिमानानुगुणाव्याप्तिः "इदम्" ग्रहणानुगुणा च नानुपपन्ना। तथाहि दर्शयति—"बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च, भागो जीवः स विज्ञेयः चानन्त्याय कल्पते" इति। अमुक्तस्यकर्मनियामकम्, मुक्तस्य स्वेच्छेति विशेषः।

जैसे एक स्थान पर रक्खा हुआ दीपक, अपने प्रकाश से अन्य स्थानों का प्रकाशित करता है, वैसे ही एक देह स्थित आत्मा अपने चैतन्य प्रकाश से सभी शरीरों में आविष्ट नहीं हो सकता। एक ही शरीर मेंहृदय आदि एक स्थान पर स्थित जीवात्मा, अपनी चैतन्य व्याप्ति से सपूर्ण देह में आत्माभिमान कर सकता है, अन्य देहों में वैसा करना संभव नहीं है।

कर्म से संकुचित ज्ञान वाले बद्ध जीव की अन्य देशों में जाने पर आत्माभिमान के अनुरूप व्याप्ति होती है इसलिये उसे "इदम्" ऐसा कहना कठिन है--जैसा कि श्रुति कहती भी है--"बाल के सौवें हिस्से के भी सौवें हिस्से की कल्पना की जाये तो उसे जीव कहा जा सकता है, वह जीव अनन्त है।" बद्ध जीव कर्म से आबद्ध है जबकि मुक्त स्वेच्छा-चारी होता है।

ननु परंब्रह्म प्राप्तस्यान्तरवाह्य ज्ञानलोपं दर्शयति श्रुतिः "प्राज्ञेनात्मा संपरिष्वक्तो न वाह्यं किंचन् वेदनान्तरम्" इति, तत्कथं मुक्तस्य सार्वज्ञमुच्यते ? तत्रोत्तरम्—

परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त जीवात्मा को तो वाह्यान्तर का कुछ भी ज्ञान नहीं होता ऐसा श्रुति का मत है—"परमात्मा से संसक्त आत्मा को न कुछ बाह्य ज्ञान रहता है न आन्तरिक" इत्यादि, फिर मुक्त को सर्वज्ञ कैसे कहा ? इसका उत्तर देते हैं—

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि।४।४।१६॥

नेदं वचनंमुक्तविषयम्, अपितु स्वाप्ययसंपत्योरन्यतरापेक्षम्।

स्वाप्ययः सुषुप्तिः, संपत्तिश्चमरणम्, "वाङ्मनसि संपद्यते" इत्यारभ्य "तेजः परस्यां देवतायाम" इति वचनात्। तयोश्चावस्थयोः प्राज्ञ प्राप्तिर्निस्संबोधत्वं च विद्येते। अतस्तयोरन्यतरापेक्षमिदं वचनं सुषुप्तिमरणयोर्निस्संबोधत्वं, मुक्तस्य च सर्वज्ञत्वं आविष्कृतं हि श्रुत्या "नाहं खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि" इति सुषुप्तिवेलायां निस्संबोधत्वमुक्त्वा तस्मिन्नेव वाक्ये मुक्तमधिकृत्य—"स वा एष दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोप" इति सर्वज्ञत्वमुच्यते। तथामरणे च निस्संबोधत्वम्—"एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति' इति। अतः "प्राज्ञेनात्मना" इति वचनं स्वाप्ययसंपत्त्य, रन्यतरापेक्षम्।

००० "प्राज्ञेनात्मना" इत्यादि वचन मुक्तात्मा विषयक नहीं है अपितु सुषुप्ति या मृत्यु से संबद्ध है। "वाङ्मनसि संपद्यते" से लेकर "तेजः परस्यां देवतायाम्" तक मरण का उल्लेख किया गया है, उन दो अवस्थाओं को प्राप्त जीव में ही अज्ञान रहता है। उन्हीं से संबद्ध यह वचन है। सुषुप्ति और मरण की अज्ञानता तथा मुक्त की सर्वज्ञता श्रुति में दिखलाई गई है। जैसे "इस अवस्था में तो निश्चय ही इसे यह भी ज्ञान नहीं होता कि" यह मैं हूं "और न यह इन अन्य भूतों को ही जानता है, यह मानों विनाश को प्राप्त हो जाता है, इसमें मुझे इष्ट फल नहीं दीखता" इत्यादि में सुषुप्तावस्था की अज्ञानता दिखलाकर उसी वाक्य में मुक्त के लिए—"वह आत्मा इस दिव्य चक्षु के द्वारा भोगों को देखता हुआ रमण करता है जो कि इस ब्रह्म लोकमें है" इत्यादि से सर्वज्ञता दिखलाई गई है। इसी प्रकार मरणावस्था की अज्ञानता "एतेभ्योभूतेभ्यः" इत्यादि में दिखलाई गई है। इसलिए "प्राज्ञेनात्मना" इत्यादिवचन इन्हीं दो में से किसी एक के विषय में है।

१६ जगद्व्यापारवर्जाधिकरणः—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।४।४।१७।।

किमुक्तैश्वर्यं जगत्सृष्ट्यादि परंपुरुषासाधारणं सर्वेश्वरत्वमपि, उत तदरहितं केवल परमपुरुषानुभवविषयमिति संशयः किम् युक्तम् ? जगदीश्वरत्वमपीति, कुतः ? "निरंजनः परमंसाम्युपैति" इति परंपुरुषेण परमसाम्यापत्तिः श्रुतेः, सत्यसंकल्पत्वश्रुतेश्च । नहि परमसाम्य सत्यसंकल्पत्वे सर्वेश्वरासाधारण जगन्नियमनेन विनोपपद्येते । अतः सत्यसंकल्पत्वपरमसाम्योपपत्तये समस्तजगन्नियमनरूपमपि मुक्तैश्वर्यमिति ।

मुक्त को क्या जगत की सृष्टि आदि का परमात्मा की तरह सर्वेश्वरत्व का असाधारण सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाता है अथवा केवल परमात्मा की तरह आनंदानुभव मात्र ही प्राप्त होता है ? इस संशय पर मत होता है कि—जगदीश्वरत्व भी प्राप्त हो जाता है "परम निरंजन की समता प्राप्त करता है" इत्यादि से ज्ञात होता है कि उसे परम पुरुष की समता प्राप्त हो जाती है, उसकी सत्य संकलपता बतलाने वाली श्रुति से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। सर्वेश्वर के असाधारण जगन्नियमन के विना, परमसाम्य और सत्यसंकल्पत्व धर्म हो नहीं सकते। परम साम्य और सत्य संकल्पत्व के आधार पर समस्त जगन्नियमन रूप ऐश्वर्य भी मुक्तात्मा में विद्यमान है, ऐसा मानना चाहिए।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—जगद्व्यापारवर्जमिति । जगद् व्यापारः निखिलचेतनाचेतनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदनियमनम् तद्वर्जं निरस्तनिखिलतिरोधानस्य निर्व्याजब्रह्मानुभव रूपं मुक्तैश्वर्यम् कुतः ? प्रकरणात् । निखिल जगन्नियमनं हि परंब्रह्म प्रकृत्याम्नायते—"यतो वा इमानि भूतानि जायते, येन जातानि जीवंति, यत्प्रयंत्यभिसंविशंति तद्विजिज्ञास्व तद्ब्रह्म" इति । यद्येतन्निखिलजगन्नियमनं मुक्तानामपि साधारणं स्यात्, ततश्चेदं

जगदीश्वरत्वरूपं ब्रह्मलक्षणं न संगच्छते, असाधारणस्य हि लक्षणत्वम् ।

तथा—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्"—ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत् तदेकं सन्न व्यभजत तुच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवक्षत्राणि इन्द्रोवरुणः सोमोरुद्रः पर्जन्योयमो मृत्युरीशान इति" "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किचन् मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमान् लोकानसृजत"-"एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्म नेशानो नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि नापो नाग्निर्न सोमो न सूर्यः स एकाकी न रमते तस्य ध्यानान्तरस्थस्यैका कन्यादशेन्द्रियाणि' इत्यादिषु । "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः" इत्यारभ्य—' "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादिषु च निखिलजगन्नियमनं परम पुरुषं प्रकृत्यैव श्रूयते । असन्निहितत्वाच्च—न चैतेषु निखिलजगन्नियमनप्रसंगेषु मुक्तस्यसंन्निधानमस्ति, येन जगद्व्यापारः तस्यापि स्यात् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि—जागतिक व्यापार से रहित मुक्त का, ऐश्वर्य होता है । समस्त जड चेतन की सृष्टि स्थिति और नियमन आदि को जगद् व्यापार कहते हैं, उससे रहित केवल ब्रह्मानु स्वरूप ही, मुक्तात्मा का ऐश्वर्य होता है । समस्त जगत के नियमन की प्रकृति, केवल परब्रह्म की ही बतलाई गई है—"जिससे ये सारे पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिससे स्थित और जिसमें विलीन हैं, उसे ही जानो वही ब्रह्म है" इत्यादि । यदि यह जगत् का नियमन कार्य, मुक्तात्माओं से भी साधारण रूप से साध्य हो जाय तो, यह जगदीश्वरत्व रूप से ब्रह्म के लिए नहीं कहा जा सकता, यह तो परमात्मा का असाधारण लक्षण है ।

तथा सदेव सोंम्येदमग्र ब्रह्म वा इदमेवाग्र" आत्मा वा इदमेक एवाग्र "एकोहवैनारायण आसीत्" इत्यादि एवं "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" य आत्मनितिष्ठन्" इत्यादि में, निखिल जगन्नियमन रूप प्रकृति परमपुरुष

की ही बतलाई गई है ! ये सारा निखिल जगन्नियमन का प्रसंग मुक्तात्मा के लिए कहा गया है, जिसके आधार पर जागतिक व्यापार उसका भी माना जा सके ।

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमंडलस्थोक्तेः ।४।४।१८॥

"स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" "इमान् लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्" इति प्रत्यक्षेण श्रुत्या मुक्तस्य जगद्व्यापार उपदिश्यते, अतो न जगद्व्यापार वर्जमिति चेत् तन्न, आधिकारिकमंडलस्थोक्तेः; आधिकारिकाः, अधिकारेषु नियुक्ता हिरण्यगर्भादयः, मंडलानि तेषां लोकाः, तत्स्थाः भोगाः मुक्तस्याकर्मवश्यस्य भवतीत्ययमर्थः "तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इत्यादिनोच्यते । अकर्मप्रतिहतज्ञानो मुक्तो विकारलोकान् ब्रह्मविभूति भूताननुभूय यथाकामं तृप्यतीत्यर्थः । तदेवं विकारान्तरवर्तिनः, आधिकारिकमंडलस्थान् सर्वान्भोगान् ब्रह्मविभूति भूताननुभवतीत्यनेन वाक्येनोच्यते, न जगद्व्यापारः ।

यदि कहो कि--"वह स्वतंत्र हो जाता है उसकी सभी लोकों में स्वच्छंद गति हो जाती है" इत्यादि में, स्पष्ट रूप से मुक्तात्मा का जगद्-व्यापार दिखलाया गया है, इसलिए उसके ऐश्वर्य को जगद् व्यापार रहित नहीं कह सकते । यह कथन भी ठीक नहीं है, यह तो आधिकारिक अर्थात् हिरणगर्भ आदिमंडलों के लोकों के जाने की बात है । जहाँ कर्म-वश्यता नहीं होती "तस्यकामचारो भवति" में यही बतलाया गया है। अर्थात् निष्काम भाव का त्याग कर, मुक्तात्मा, ब्रह्म के विभूति स्वरूप विकृत लोकों का यथेच्छ उपभोग कर तृप्त हो जाता है । उन्हीं विकारा-न्तरवर्ती आधिकारिक मंडलों के समस्त भोगों का जो कि ब्रह्म के विभूति स्वरूप हैं, अनुभव करता है, यही उक्त वाक्य का कथन है, जगद् व्यापार की चर्चा नहीं है ।

यदि संसारिवन्मुक्तोऽपि विकारान्तरवर्त्तिनो भोगान् भुंक्ते, तर्हि बद्धस्येव मुक्तस्यापि अन्तवदेव भोग्यजातं अल्पं च स्यात् तत्राह—

यदि संसारी लोगों की तरह, मुक्त भी, विकारान्तरवर्त्ती भोगों का भोग करता है तो यही मानना चाहिए कि—मुक्तात्मा की सारी भोग्य वस्तुएं, बद्ध की तरह अन्तवान् और अल्प हैं। इसका उत्तर—

विकारावर्त्ति च तथा हि स्थितिमाह ।४।४।१९॥

विकारे—जन्मादिके न वर्तत इति विकारावर्त्ति, निर्धूत—निखिलविकारं, निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानं, निरतिशयानंदंपरंब्रह्म, सविभूतिकं, सकलकल्याणगुणमनुभवति मुक्तः। तद्विभूत्यन्तर्गतत्वेन विकारवर्त्तिनां लोकानामपि भुक्तभोग्यत्वम्। तथाहि परस्मिन्ब्रह्मणि निर्विकारेऽनवाधिकातिशयानंदे मुक्तस्यानुभवितृत्वेन स्थितिमाह श्रुतिः—"यदा हि एवैष एतस्मिन्, दृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति" "रसो वैसः रसं ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति" इत्यादिका। तद्विभूतिभूतं च जगत्तत्रैव वर्त्तते "तस्मिल्लोकाश्रिताः सर्वेतदुनात्येति कश्चन" इति श्रुतेः। अतः सविभूतिकं ब्रह्मानुभवन् विकारान्तरवर्त्तिनः, आधिकारिमकमंडलस्थानपि भोगान्भुंक्त इति, "सर्वेषु लोकेषु कामचारः" इत्यादिनोच्यते, न मुक्तस्य जगद्व्यापारः।

जन्मादि विकार उसमें नहीं होंते। सारे ही विकारों से रहित समस्त हीनताओं से रहित, कल्याणैकतान, अत्यानंदमय परब्रह्म के विभूति सहित सभी कल्याणमय गुणों का, मुक्तात्मा अनुभव करता है उनकी विभूति के अन्तर्गत होने से उन विकारवर्त्ती लोकों के भोगों का भी भोग करता है। निर्विकार अत्यानंदमय परब्रह्म में मुक्तात्मा की अनुभविता के रूप से स्थिति श्रुति में दिखलाई गई है—"जब यह, इस अदृश्य, अनात्म्य, अनिरुक्त, अनिलयन, अभय में प्रतिष्ठित होता है, तब वह अभय हो जाता है" वह रस स्वरूप है उस रस को प्राप्त कर आनंदी होता है इत्यादि। उसका विभूति स्वरूप जगत वहीं रहता है "तस्मिल्लोकाश्रिताः सर्वे" इत्यादि में दिखलाया गया है। अतः यही मानना चाहिए कि—सार्वभूतिक ब्रह्मानुभव के लिए विकारान्तरवर्त्ती आधिका-

रिक मंडलों के भोगों को भोगता है यही "सर्वेषु लोकेषु कामचारो—" इत्यादि का तात्पर्य है, मुक्तात्मा के जगद् व्यापार की चर्चा नहीं है।

दर्शयतिश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ।४।४।२०॥

अस्य प्रत्यागात्मनोमुक्तस्य नियाम्यभूतस्य नियंतृभूतपरम-पुरुषासाधारणंजगद्व्यापारूपंनियमनं न संभवतीत्युक्तम्, निखिलजगन्नियमनरूपोव्यापारः परमपुरुषासाधारण इति दर्शयतः श्रुतिस्मृती—"भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषाऽस्मादग्निश्चन्द्रश्चमृत्युर्धावति पंचमः" इति "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इत्यादि तथा "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एष लोकानामसंभेदाय" इति च श्रुतिः। स्मृतिरपि "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्, हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते" इति "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति च। तथा मुक्तस्य सत्यसंकल्पत्वादिपूर्वकस्याप्यानन्दस्य परमपुरुष एव हेतुरिति श्रुतिस्मृती दर्शयतः "एष ह्येवानंदयाति" मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते, स गुणान समतीत्यैतान् ब्रह्म भूयाय कल्पते। ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च, शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकांतिकस्य च" इति।

नियम्य इस मुक्त जीवात्मा में, नियंता परमपुरुष की असाधारण जगद्व्यापार रूप नियमन आदि विशेषतायें नहीं हो सकतीं। निखिलजगन्नियमन रूप असाधारण विशेषतायें परमपुरुष परमात्मा की ही बतलाई गई है—"इनके भय से ही वायु चलता है, सूर्य उदय होता है, अग्नि, इन्द्र और पांचवां यम दौड़ता है"—हे गार्गि इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चंद्र टिके हुए हैं"—यही सर्वेश्वर हैं "यही भूताधिपति भूतपाल हैं और यही, प्राणियों की मर्यादा को रखने वाले सेतु हैं—" इत्यादि श्रुति तथा "मेरी ही अध्यक्षता में यह प्रकृति चर अचर का

प्रसव करती है, मैं इसी के हेतु से जगत का विस्तार करता हूँ–" मैं अकेला विस्तृतरूप से जगत में स्थित हूँ" इत्यादि स्मृति इसकी प्रमाण हैं। इस मुक्तात्मा की सत्यसंकल्पता और आनंद के हेतु भी परमात्मा ही हैं, ऐसा श्रुति स्मृति का मत है।" यही आनंदित करता है–"मुझे जो अव्यभिचारि भाव से भजते हैं, वे सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर ब्रह्म के समान हो जाते है, अव्यय अमृत मैं ब्रह्म ही शाश्वत धर्म और सुख का एकमात्र आश्रय हूँ" इत्यादि।

यद्यप्यपहृतपाप्मत्वादिः सत्यसंकल्प पर्यन्तो गुणगणः प्रत्यगात्मनः स्वाभाविक एवाविर्भूतः, तथाऽपि तस्य तथाविधत्वमेव परमपुरुषायत्तम्, तस्य नित्यस्थितिश्च तदायत्ता, परमपुरुषस्यैत-न्नित्यतायाः नित्येष्टत्वान्नित्यतया वर्तत इति न कश्चिद् विरोधः। एवमेव परमपुरुष भोगोपकरणस्य लीलोपकरणस्य च नित्यतया शास्त्रावगतस्य परमपुरुषस्य नित्येष्टत्वादेव तथावस्थानमस्तीति शास्त्रादवगम्यते। अतो मुक्तस्य सत्यसंकल्पत्वं परमपुरुष साम्यं च जगद्व्यापारवर्जम्।

यद्यपि निष्पापता से लेकर सत्यसंकल्पता आदि गुण जीवात्मा के स्वाभाविक रूप से आविर्भूत होते हैं, पर वे उन गुणों वाले परमात्मा से ही आयत्त होते हैं, उन गुणों की नित्य स्थिति भी परमात्मा के ही अधीन होती है। परमपुरुष में इनकी नित्यता, नित्य इष्ट होने से नित्य-रूप से स्थित रहती है। इसीप्रकार परमपुरुष के भोगोपकरण लीलोप-करणों की नित्यता भी शास्त्रों से ज्ञात होती है तथा परमपुरुष के लिए वह नित्य इष्ट होने से सदा उनमें स्थित रहते हैं ऐसा भी शास्त्र से ज्ञात होता है। इससे निश्चित होता है कि–मुक्तात्मा की सत्यसंकल्पता और परमपुरुष की समता, जगद्व्यापार से रहित है।

भोगमात्र साम्यलिंगाच्च ।४।४।२१॥

ब्रह्म याथात्म्यानुभवरूप भोगमात्रे मुक्तस्य ब्रह्मसाम्यप्रतिपाद-नाच्च लिंगाज्जगद्व्यापारवर्जमित्यवगम्यते "सोऽश्नुते सर्वान्

कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति । अतो मुक्तस्य परमपुरुष साम्यं सत्यसंकल्पत्वं च परमपुरुषासाधारणनिखिलजगन्नियमन श्रुत्यानुगुण्येन वर्णनीयमिति जगद्व्यापारवर्जमेव मुक्तैश्वर्यम् ।

मुक्तात्मा के ब्रह्म के यथार्थ अनुभवरूप भोगमात्र तथा ब्रह्मसाम्य के प्रतिपादन से, जगद् व्यापार वर्जन ज्ञात होता है-"वह समस्त कामनाओं को ब्रह्म के साथ भोगता है" इत्यादि । मुक्तात्मा की परमपुरुष समता, सत्यसंकल्पता और परमपुरुष के असाधारण जगन्नियमन आदि, शास्त्र के अनुसार ही मानना चाहिये । मुक्तात्मा का ऐश्वर्य जगद् व्यापार से रहित है ।

यदि परमपुरुषायत्तं मुक्तैश्वर्यम्, तर्हि तस्य स्वतंत्रत्वेन सत्यसंकल्पान्मुक्तस्य पुनरावृत्ति संभवाशंकेत्याह—

यदि मुक्त का ऐश्वर्य परमपुरुष के अधीन है तो, सत्य संकल्प होने से मुक्त की पुनरावृत्ति तो संभव है ? उत्तर—

अनावृत्तिशब्दादनावृत्तिशब्दात् ।४।४।२२॥

यथा निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानो जगज्जन्मादि कारणं समस्तवस्तुविलक्षणः सर्वज्ञः सत्यसंकल्पः, आश्रितवात्सल्यैकजलधिः, परमकारुणिको निरस्तसमाभ्यधिकसंभावनः परब्रह्माभिधानः परमपुरुषोऽस्तीति, शब्दादवगम्यते । एवमहरहरनुष्ठीयमानवर्णाश्रमधर्मानुगृहीततदुपासनरूपतत्समाराधनप्रीतः उपासीनानादिकालप्रवृत्तानंतदुस्तरकर्मसंचयरूपाविद्यां विनिवर्त्य स्वयाथात्म्यानुभवरूपानवधिकातिशयानन्दंप्रापय्य पुनरावर्तयतीत्यपि शब्दादेवावगम्यते । शब्दश्च—"स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्तते" इत्यादिकः तथा च भगवता स्वयमेवोक्तम्—"मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्, नाप्नुवंति महात्मानः संसिद्धिपरमांगताः । आ ब्रह्म

भुवनांल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन, मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते"। इति

जैसा कि--समस्त हींनताओं से रहित, कल्याणैकमूर्ति जगत् जन्मादि के कारण, समस्त वस्तुओं से विलक्षण, सर्वज्ञ, सत्य संकल्प शरणागतवत्सल, परमदयालु, न्यूनाधिकता रहित सदा एकरस, परब्रह्म परमपुरुष का अस्तित्व शास्त्र से ज्ञात होता है वैसे ही अहर्निश वर्णाश्रम धर्मानुसार अनुष्ठीयमान, उपासना रूप समाधान से प्रसन्न वे परमात्मा जीवात्मा के अनादिकाल संचित दुस्तर कर्मरूप अविद्या का निवारण करके उसे अपने यथार्थ आत्म्यानुभव रूप अत्यानंदमयता को प्राप्ति कराते हैं और पुनः संसार में नहीं जाने देते, यह भी शास्त्र से ही ज्ञात होता है। जैसे कि--"आजीवन वह इस प्रकार आचरण करते हुए ब्रह्म-लोक की प्राप्ति करता है पुनः लौटकर नहीं आता लौटकर नहीं आता" इत्यादि। भगवान ने स्वयं भी कहा है--"मुझे प्राप्त करके उपासक, इस दुःखालय अशाश्वत संसार को नहीं प्राप्त करता, परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। हे अर्जुन ! ब्रह्म सहित ये सारे लोक पुनः नष्ट हो जाते हैं पर मुझे प्राप्त करने वालों का पुनर्जन्म नहीं होता" इत्यादि।

न चोच्छिन्नकर्मबंधस्यासंकुचितज्ञानस्य परब्रह्मानुभवैकस्वभावस्य तदेकप्रियस्यानवधिकातिशयानन्दं ब्रह्माऽनुभवतोऽन्यापेक्षा-तदर्थारम्भाद्यसंभवात् पुनरावृत्ति शंका।

न च परमपुरुषः सत्यसंकल्पोऽत्यर्थं प्रियं ज्ञानिनं लब्ध्वा कदाचिदावर्त्तयिष्यति, य एवमाह--"प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ महं स च ममप्रियः, उदाराः सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्, बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" इति। सूत्राभ्यासः शास्त्र परिसमाप्तिं द्योतयति। इति सर्वं समंजसम्।

कर्मबन्धनों से मुक्त, विकसित ज्ञान, परंब्रह्मानुभव स्वभाव, एक-मात्र परमात्मा से ही प्रेम करने वाले, अत्यधिक आनंद में मग्न, एक-

मात्र ब्रह्मानुभव में ही रत, जीव की पुनरावृत्ति की शंका की भी नहीं जा सकती।

और न अत्यंत प्रिय सत्य संकल्प परमपुरुष को प्राप्त कर कभी लौट ही सकता है, जैसा कि कहा गया है—"मुझे ज्ञानी भक्त अत्यंत प्रिय है, और मैं उसे प्रिय हूँ, वैसे सारे ही उपासक उदार हैं, पर ज्ञानी उपासक तो मेरी आत्मा ही है। वह सही मार्ग में स्थित महात्मा मेरी ही गति को प्राप्त करता है, अनेकों जन्मों में ज्ञानी भक्त मुझे प्राप्त करते हैं, जो कि सब कुछ वासुदेव है ऐसा मानते हैं, ऐसे महात्मा बड़े सुदुर्लभ हैं।" इत्यादि। सूत्र में जो दो बार शब्द का अभ्यास किया गया है वह परिसमाप्ति का द्योतक है। सारे समाधान हो गए अस्तु।

चतुर्थ अध्याय चतुर्थ पाद समाप्त

ग्रन्थ पूर्ण

विशिष्ट परिशिष्ट

(श्री रामानुजाचार्य कृत प्रपत्ति चिन्तन)

सत्यकाम सत्यसंकल्प परब्रह्मभूत पुरुषोत्तम महाविभूते, श्रीमन् नारायण वैकुण्ठनाथ अपारकारुण्यशौशील्यवात्सल्यौदार्यैश्वर्य-सौंदर्यमहोदधे, अनालोचितविशेषादिशेषलोकशरण्य प्रणतार्तिहर आश्रितवात्सल्यजलधे, अनवरतविदितनिखिलभूतजातयाथात्म्य अशेषचराचरभूत निखिलनियमाशेषचिदचिद्वस्तुशेषिभूत निखिल-जगदाधाराखिलजगत्स्वामिन्, अस्मत्स्वामिन् सत्यकाम सत्य-संकल्प सकलेतरविलक्षण अर्थिकल्पक आपत्सख, श्रीमन्नारायण अशरणशरण्य, अनन्यशरणं त्वत्पादारविन्दयुगलं शरणमहं प्रपद्ये ।

हे पूर्णकाम, सत्यसंकल्प, परब्रह्मस्वरूप पुरुषोत्तम ! हे महान् ऐश्वर्ययुक्त श्रीमन्नारायण ! हे वैकुण्ठनाथ ! आप अपार करुणा, सुशीलता, वत्सलता, उदारता, ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि गुणों के महासागर हैं । छोटे-बड़े का विचार न करके सामान्यतः सभी लोगों को आप शरण देते हैं, प्रणत जीवों की पीड़ा हर लेते हैं । शरणागत के लिए तो आप वत्स-लता के समुद्र ही हैं । आप सदा ही समस्त भूतों की यथार्थता का ज्ञान रखते हैं । सम्पूर्ण चराचरभूतों, और समस्त जड़-चेतन वस्तुओं के आप अवयवी हैं (ये सब आपके अवयव हैं) आप समस्त संसार के आधार और समस्त जगत तथा हम सभी लोगों के स्वामी हैं । आपकी कामनायें पूर्ण और आपका सङ्कल्प सच्चा है । आप समस्त प्रपञ्च से इतर और विलक्षण हैं । याचकों के तो आप कल्पवृक्ष हैं, विपत्तिग्रस्त जीवों के सहायक हैं । ऐसी महिमा वाले तथा आश्रयहीनों को आश्रय देने वाले प्रभु श्रीमन्नारायण । मैं आपके चरणारविंद युगल की शरण में आता हूं, क्योंकि--उनकें सिवा मेरे लिए कहीं भी शरण नहीं है ।

पितरं मातरं दारान् पुत्रान् बन्धून् सखीन् गुरून् ।
रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च ॥
सर्वधर्मांश्च सन्त्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान् ।
लोकविक्रान्त चरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो ॥

हे प्रभो ! मैं माता, पिता, स्त्री, पुरुष, बन्धु, मित्र, गुरु, समस्त रत्न, धनधान्य, खेत, घर, सारे धर्म और अक्षर सहित सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर, समस्त ब्रह्माण्ड को आक्रान्त करने वाले आपके युगल चरणों की शरण में आया हूं ।

मनोवाक्कायैरनादिकाल प्रवृत्तानन्ताकृत्यकरणकृत्याकरण-भगवदपचारभागवतापचारासह्यापचाररूपनानाविधानन्तापचारानारब्धकार्यान् कृतान् क्रियमाणान् करिष्यमाणांश्च सर्वान् अशेषतः क्षमस्व ।

अनादिकालप्रवृत्तविपरीतज्ञानमात्मविषयं कृत्स्न जगद्विषयं च विपरीतवृत्तं चाशेषविषयमद्यापि वर्त्तमानं वर्त्तिष्यमाणं च सर्वं क्षमस्व ।

हे भगवन् ! मन, वाणी और शरीर के द्वारा अनादिकाल से अनेकों न करने योग्य कर्मों का करना, करने योग्य कर्मों का न करना, भगवान् का अपराध, भगवद् भक्तों का अपराध तथा और भी जो अक्षम्य अनाचार रूप अनेक प्रकार के अनन्त अपराध मुझसे हुए हैं, उनमें जो प्रारब्ध बन चुके हैं, अथवा जो प्रारब्ध नहीं बने हैं, उन सभी पापों को तथा जिन्हे मैं कर चुका हूं, कर रहा हूं और करने वाला हूं उन सबको आप क्षमा कर दें ।

आत्मा और सारे संसार के विषय में जो मुझे अनादि काल से विपरीत ज्ञान होता चला आ रहा है, तथा सभी विषयों में जो मेरा विपरीत आचरण आज भी है, और आगे भी रहने वाला है वह सबका सब आप क्षमा कर दें ।

मदीयानादिकर्मप्रवाहप्रवृत्तां भगवत्स्वरूपतिरोधानकरीं विपरीतज्ञानजननीं स्वविषयायाश्च भोग्यबुद्धेर्जननीं देहेन्द्रियत्वेन भोग्यत्वेन सूक्ष्मरूपेण चावस्थितां दैवीं गुणमयींमायां दासभूतः शरणागतोऽस्मि तवास्मि दास इति वक्तारं मां तारय ।

मेरे अनादि कर्मों के प्रवाह में जो चली आ रही है, जो मुझसे भगवान के स्वरूप को छिपा लेती है, जो विपरीत ज्ञान की जननी, अपने विषय में भोग्य बुद्धि को उत्पन्न करने वाली और देह, इन्द्रिय, भोग्य तथा सूक्ष्म रूप से स्थित रहने वाली है, उस दैवी त्रिगुणमयी माया से "मैं आपका दास हूं, किङ्कर हूं, आपकी शरण में आया हूं" इस प्रकार रट लगाने वाले मुझ दीन का आप उद्धार कर दीजिए ।